Political Theory

DPOL101

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

POLITICAL THEORY

Copyright © 2012 Laxmi Publications (P) Ltd.
All rights reserved

Produced & Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

DLP-7769-144-POLITICAL THEORY (H)
Typeset at : Goswami Associates, Delhi

C—4792/012/02
Printed at : Saras Graphics (P) Ltd., Delhi

(SYLLABUS)

(Political Theory)

उद्देश्य

राजनीतिक सिद्धांत की अवधारणाओं, विचारों तथा सिद्धांतों से अवगत कराना, कोर्स के अंतर्गत विभिन्न विचारकों के सिद्धांतों, विचारों व धारणाओं की ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक व्याख्या करना, विभिन्न वैचारिक पहलुओं की निरन्तरता व परिवर्तन, विभिन्न अवधारणाओं, सिद्धांतों व नजरिए में अन्तर की आलोचनात्मक व्याख्या को उद्देश्यपूर्ण ढंग से रखना जिससे निरन्तरता और बदलाव को समझा जा सके।

इस विषय के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक सिद्धांत की मूल अवधारणाओं को जानने में।
- राजनीतिक सिद्धांत के इतिहास और विकास के बारे में।
- मूल अवधारणाओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषित करने में।
- विभिन्न दृष्टिकोणों की तुलना करने में।
- विभिन्न दृष्टिकोणों के एकीकरण में।

Objectives

To provide the concepts, ideas and theories in political theory. This course seeks to explain the evolution and usage of the concepts, ideas and theories with reference to individual thinkers both historically and analytically. The different ideological standpoints with regard to various concepts and theories are to be critically explained with the purpose of highlighting the differences in their perspectives and in order to understand their continuity and change.

The main objective of this course is to enable the student:

- To comprehend the basic concepts of political theory.
- The acquire the information about the history and development of these concepts.
- To analyze the different viewpoints regarding the basics concepts.
- To compare different viewpoints.
- To synthesize different viewpoints.

Sr. No.	Topics
1.	**Nature and Significance of Political Theory:** Meaning, nature, characteristics and varieties of political theory; importance of the classics of political theory; uses of political theory.
2.	**Power and Authority**: Authority, power and coercion; the nature of authority; social theories of power.
3.	**State**: The state in political philosophy, the economic theory of the state, the organic theory of the state
4.	**Sovereignty:** Concept, characteristics and history, Austin's theory of sovereignty, pluralism and state sovereignty.
5.	**Rights**: Rights in political theory; human rights, economic and social rights.
6.	**Liberty:** Meaning, negative and positive liberty, liberty as autonomy, John Stuart Mill and the value of liberty.
7.	**Equality:** The equality principle, human nature and equality, equality of opportunity.
8.	**Justice:** Meaning, procedural justice, social justice and Rawls's theory of justice.
9.	**Welfare and Welfare State**: The origins and rise of welfare theory, contemporary welfare arguments, the market and welfare; equality, liberty and the welfare state.
10.	**The Public Interest and Democracy:** The public interest, democracy, procedural democracy and the public interest.

(Units)	(CONTENTS)	(Page No.)

1.	राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति एवं महत्त्व (Nature and Significance of Political Theory)	1
2.	शक्ति एवं सत्ता (Power and Authority)	29
3.	राज्य (State)	53
4.	प्रभुसत्ता (Sovereignty)	91
5.	बहुलवाद (Pluralism)	110
6.	अधिकार (Rights)	122
7.	आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार (Economic and Social Rights)	144
8.	स्वतंत्रता (Liberty)	150
9.	समानता (Equality)	180
10.	न्याय (Justice)	190
11.	सामाजिक न्याय (Social Justice)	222
12.	लोककल्याण एवं कल्याणकारी राज्य (Public Welfare and Welfare State)	227
13.	बाज़ार एवं लोककल्याण (The Market and Public Welfare)	241
14.	सार्वजनिक हित एवं लोकतंत्र (The Public Interest and Democracy)	279

नोट

इकाई–1: राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति एवं महत्त्व (Nature and Significance of Political Theory)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 राजनीतिक सिद्धांत का अर्थ, प्रकृति, विशेषताएँ एवं प्रकार (Meaning, Nature, Characteristics and Variety of Political Theory)

1.2 राजनीतिक सिद्धान्तों की परम्पराएँ (Traditions of Political Theory)

1.2.1 क्लासिकी राजनीतिक सिद्धांत (Classics Political Theory)

1.3 राजनीतिक सिद्धांत की उपयोगिता (Uses of Political Theory)

1.4 सारांश (Summary)

1.5 शब्दकोश (Keywords)

1.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक सिद्धांत का अर्थ एवं प्रकृति समझने हेतु।
- विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने हेतु।
- राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रयोग का वर्णन करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

राज्य, राजनीतिक संस्थाओं और सरकार की प्रकृति, कार्यों एवं उद्देश्यों का क्रमबद्ध अध्ययन काफी पुराना है। राजनीतिक गतिविधि एक ऐसी गतिविधि है जो राज्य के माध्यम से व्यक्ति के सामूहिक जीवन को नियमित करती

नोट

है। ग्रीक राज्यों के समय से ही राजनीतिक चिन्तन कुछ मूल प्रश्नों के उत्तर तलाश करता चला आ रहा है, जैसे–राजनीतिक गतिविधियाँ कितनी मौलिक और महत्त्वपूर्ण है? यह मानव सभ्यता के कौन से आधार उपलब्ध करवाती है जो व्यक्ति को बाकी सभी जीवों से अलग करते हैं? मानव जीवन की समुदाय में मिलकर रहने की मौलिक समस्या को कैसे सुलझाया जा सकता है क्योंकि समुदाय में रहना मानव प्रकृति के लिए आवश्यक ही नहीं बल्कि उसके व्यक्तिगत जीवन का सार भी है।

राजनीतिक सिद्धान्त समाज की राजनीतिक घटनाओं तथा प्रक्रियाओं का वर्णन, व्याख्या और विश्लेषण करते हैं तथा उनकी कमियों को दूर करने के उपाय करते हैं। राजनीतिक सिद्धान्त थोड़ा जटिल विषय है क्योंकि पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, जिसका ये सिद्धान्त एक अभिन्न अंग हैं, 2400 वर्षों से भी अधिक पुराना है तथा इसमें विभिन्न राजनीतिक दार्शनिकों, धर्मशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, राजाओं तथा अन्य लोगों ने अपना-अपना योगदान दिया है। राजनीतिक सिद्धान्तकारों की सूची काफी लम्बी है और इन लोगों की विषय के प्रति रुचि और लगन इतनी व्यापक एवं भिन्न रही है कि एक छोटे से प्रश्न–'राजनीतिक सिद्धान्त क्या है?'–का उत्तर देना काफी पेचीदा काम है। इसके अतिरिक्त, राजनीतिक चिन्तन के लम्बे इतिहास में सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में विभिन्नता तथा परिवर्तनों के कारण राजनीतिक सिद्धान्तों के विषय-क्षेत्र तथा अध्ययन पद्धति दोनों में काफी अन्तर आता रहा है।

अध्ययन के दृष्टिकोण से राजनीतिक सिद्धान्तों को हम कुछ विशिष्ट धाराओं में बाँट लेते हैं जैसे क्लासिकी, उदारवादी, मार्क्सवादी, व्यवहारवादी, समकालीन आदि। उदाहरण के लिए, जहाँ क्लासिकी राजनीतिक सिद्धान्तों पर दर्शनशास्त्र का अत्यधिक प्रभाव था और सिद्धान्तों का उद्देश्य राजनीतिक घटनाओं का वर्णन, व्याख्या, निर्धारण और मूल्यांकन सभी कुछ था, वहाँ व्यवहारवाद ने राजनीतिक सिद्धान्तों में विज्ञान को अधिक महत्त्व दिया और इन्हें केवल राजनीतिक वास्तविकता के वर्णन और व्याख्या तक ही सीमित रखा। पिछले कुछ वर्षों से समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त दार्शनिक और वैज्ञानिक पक्षों में समन्वय करवाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं।

राजनीति क्या है? 'राजनीतिक' का सैद्धान्तीकरण
(What is Politics–Theorizing the 'Political')

राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ क्या है–इसे सही ढंग से समझने के लिए 'राजनीतिक' तथा 'सिद्धान्त' इन दोनों शब्दों को अलग-अलग समझना आवश्यक है। यहाँ शब्द 'सिद्धान्त' तथा 'राजनीतिक' एक दूसरे की विशेषता बताते हैं कि राजनीति सिद्धान्त या राजनीति का सिद्धान्त किसी विशिष्ट विषय की तरफ इशारा करते हैं। आइये इन्हें थोड़ा बारीकी से समझें। पहला, सिद्धान्त का अर्थ क्या है? शब्द 'थ्यूरी' (*Theory*) एक ग्रीक शब्द है जहाँ यह दो अन्य शब्दों में सम्बन्धित था जो विचार करने योग्य है–(*i*) थ्यूरिया (*Theoria*) जिसका अर्थ है जो हमारे आसपास घटित हो रहा है उसे समझने की क्रिया अथवा प्रक्रिया; इसे 'सैद्धान्तीकरण' (*Theorizing*) कहा जाता है तथा (*ii*) थ्योरमा (*Theorema*) जिसका अर्थ है वह निष्कर्ष जो इस सैद्धान्तीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निकलते हैं, इन्हें थ्योरम (*Theorem*) कहा जाता है। इन दोनों शब्दावलियों की पहली विशिष्टता यह है कि ये सैद्धान्तीकरण प्रक्रिया (activity of theorizing) तथा इस प्रक्रिया से निकलने वाले निष्कर्षों (outcome of the activity) में अन्तर करती हैं। अर्थात् शब्द सैद्धान्तीकरण का सम्बन्ध किसी घटना को समझने का प्रयत्न है। इसका अभिप्राय किसी परिणाम अथवा निष्कर्ष को सिद्ध करना अथवा उसे वैध ठहराना नहीं है। यह केवल खोज, अन्वेषण अथवा जाँच की प्रक्रिया है। सैद्धान्तीकरण उन घटनाओं के इर्द-गिर्द आरम्भ होता है जो हमारे आसपास घटित हो रही होती है और जिनके बारे में हम थोड़ा-बहुत जानते हैं और सैद्धान्तीकरण की प्रक्रिया इसलिए आरम्भ होती है क्योंकि सिद्धान्तकार इन घटनाओं के प्रति अधूरे ज्ञान से असंतुष्ट होता है और वह इसे विस्तारपूर्वक एवं तार्किक स्तर पर

नोट

समझना चाहता है। सैद्धान्तीकरण शोध की प्रक्रिया के माध्यम से समझने की प्रक्रिया हैं। इस सैद्धान्तीकरण के परिणामस्वरूप प्राप्त किए गए निष्कर्ष अर्थात् 'थ्योरम' किसी घटना की बेहतर समझ होगी जिसके बारे में हम पहले केवल अस्पष्ट रूप से जानते थे। अत: सैद्धान्तीकरण का अभिप्राय किसी विषय अथवा घटना को समझने का निरन्तर, अविरल, अबाध प्रयत्न होता है। यह ऐसे विषय अथवा घटना से आरम्भ होता है जिसके बारे में हम थोड़ा बहुत जानते हैं परन्तु जिसे विस्तारपूर्वक और स्पष्ट रूप से जानने की आवश्यकता है अर्थात् यह किसी घटना अथवा विषय के बारे में और अधिक जानने तथा ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है और इसका मूल मन्त्र है–'समाप्त' शब्द का नाम मत लो (Never say the end); अर्थात् समझने की यह प्रक्रिया उतनी देर तक चलती रहेगी जब तक कि घटनाएँ अथवा विषय पूरी तरह पारदर्शी नहीं हो जाते; जब तक रहस्यों की आखिरी गुत्थी नहीं सुलझ जाती या जब तक सिद्धान्तकार के पास पूछने लायक प्रश्न समाप्त नहीं हो जाते एक सिद्धान्तकार का कार्य किसी अनुभव अथवा घटना के तथ्य को कुछ एक अवधारणाओं या यदि हो सके तो अवधारणाओं की व्यवस्था के आधार पर समझना होता है अर्थात् सम्बद्ध अवधारणाओं के समूह के आधार पर जैसे विचारमन्थन, उद्देश्य, मन्शा, निष्कर्ष, औचित्य, स्वतन्त्रता, समानता, सन्तुष्टि आदि।

दूसरा, यदि सैद्धान्तीकरण का अर्थ किसी विषय को समझने की इच्छा है तो 'राजनीतिक' वस्तुत: वह शर्त, सीमा अथवा केन्द्रबिन्दु है जिसका सैद्धान्तीकरण किया जाना है। राजनीतिक सिद्धान्त में–'राजनीतिक' का अभिप्राय राजनीतिक से है। थ्योरी (सिद्धान्त) की तरह 'पॉलिटिक्स' (राजनीतिक) शब्द भी एक ग्रीक शब्द है जो शब्द 'पोलिस' (*Polis*) से निकला है जिसे 'नगर-राज्य' (*city-state*) कहा जाता है अर्थात किसी भी समुदाय के अच्छे जीवन से सम्बन्धित सभी पक्षों के लिए निर्णय लेने की सामूहिक शक्ति। अरस्तु जैसे सिद्धान्तकारों ने राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा उनके कार्यान्वयन को समझने के सन्दर्भ में राजनीतिक को परिभाषित करने की कोशिश की। अरस्तु का यह कथन–कि 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है'– समाज की अन्तर्निहित मानवीय आवश्यकता की तरफ इशारा करता है तथा इस तथ्य की तरफ भी कि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आत्म-सिद्धि केवल राजनीतिक समुदाय के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है। अरस्तु के लिए 'राजनीतिक' महत्त्वपूर्ण इसलिए था क्योंकि यह एक ऐसे साझे राजनीतिक स्थान का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें सभी नागरिक भाग ले सकते हैं।

अपने आधुनिक रूप में 'राजनीतिक' शब्द राज्य तथा इससे सम्बन्धित संस्थाओं जैसे सरकार, विधानमंडल अथवा सार्वजनिक नीति का प्रतिनिधित्व करता है। विभिन्न विचारधाराओं के बावजूद, 'राजनीतिक' के सदर्भ में अभी हाल तक आधुनिक 'नगर राज्य' अथवा राज्य अधिकतर राजनीतिक सिद्धान्तकारों का साझा विषय रहा है। जैसे कि विल किमिलिका लिखते हैं, 'अधिकतर पश्चिमी राजनीतिक सिद्धान्तकार नगर-राज्य के एक ऐसे आदर्शवादी मॉडल पर कार्य करते आये हैं जिसमें सभी नागरिक एक सामान्य वंश, भाषा तथा संस्कृति साझी करते हैं।' यहाँ राजनीतिक सिद्धान्त के 'राजनीतिक' पक्ष का सम्बन्ध रहा है–राज्य तथा सरकारों के स्वरूप, प्रकृति तथा संगठन एवं इन सभी का व्यक्तिगत नागरिकों के साथ सम्बन्ध का अध्ययन।

क्या आप जानते हैं अन्तर्सम्बन्धित होने के बावजूद 'राजनीतिक' को एक विशिष्ट क्षेत्र माना जाता है जो अन्य क्षेत्रों– जैसे अर्थव्यवस्था, समाज, संस्कृति आदि–से भिन्न तथा प्रभेदकारी है।

राजनीतिक सिद्धान्तों की उदारवादी परम्परा का यह प्रमुख फोकस रहा है। इसके विपरीत मार्क्सवादी विचारधारा प्रबल रूप से उदारवाद के इस 'राजनीतिक' तथा 'गैर-राजनीतिक' अन्तर को पूरी तरह रद्द कर देता है और यह तर्क देता है कि राजनीतिक शक्ति और कुछ नहीं, केवल आर्थिक शक्ति की दास होती है। परन्तु समस्त रूप से, अवधारणा के स्तर पर असमंजसता के बावजूद, राजनीति के सैद्धान्तीकरण का साझा आधार अभी भी राज्य ही है।

नोट

तथापि, पिछले तीन दशकों में, राजनीतिक की स्थापित अवधारणाओं के प्रति असन्तोष बढ़ता जा रहा है, मुख्यत: इन आधारों पर कि ये समकालीन जीवन के अनेक तथ्यों के साथ मेल नहीं खाती या ये 'राजनीतिक' की समकालीन धारणा की उचित अभिव्यक्त नहीं कर पा रही। अत: 'राजनीतिक' की राज्य तथा सरकार की अवधारणाओं के अतिरिक्त 'राजनीतिक' के वर्तमान अन्य दावेदार–(*i*) समानता, स्वतंत्रता, तार्किकता, निष्पक्षता तथा न्याय की साझी धारणाओं पर आधारित राजनीतिक का विचार तथा (*ii*) शक्ति, वर्ग, लिंग, औपनिवेशिक अथवा विशिष्ट वर्गीय राजनीतिक के साथ सम्बन्ध। साथ ही, 'राजनीतिक' की वर्तमान धारणा में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्र भी निहित है जैसे उदारवाद, मार्क्सवाद, संकीर्णवाद, समुदायवाद, अस्मिता, नारीवाद, नागरिकता, प्रजातन्त्र, शक्ति, सत्ता, वैधता, राष्ट्रवाद वैश्वीकरण तथा पर्यावरण। राजनीतिक सिद्धान्त से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों का उद्देश्य विद्यार्थियों को ऐसे व्यक्तियों के अनुभव के साथ अवगत करवाना होता है जो दिन-प्रतिदिन की राजनीतिक से सम्बद्ध रहे हैं या ऐसे व्यक्तियों के विचारों के साथ जिन्होंने इसका गहन अध्ययन किया है।

1.1 राजनीतिक सिद्धांत का अर्थ, प्रकृति विशेषताएँ एवं प्रकार (Meaning, Nature, Characteristics and Variety of Political Theory)

राजनीतिक सिद्धान्त-कुछ परिभाषायें (Political Theory–Some Definitions)

'राजनीतिक' तथा 'सिद्धान्त' शब्दों के स्पष्टीकरण के बाद अब हम राजनीतिक सिद्धान्तों को कुछ परिभाषाओं के माध्यम से समझने का प्रयत्न करते हैं। सर्वसाधारण स्तर पर, राजनीतिक सिद्धान्त राज्य से सम्बन्धित ज्ञान है जिसमें 'राजनीतिक' का अर्थ है 'सार्वजनिक हित के विषय' तथा सिद्धान्त का अर्थ है 'क्रमबद्ध ज्ञान'। डेविड हैल्ड के अनुसार, राजनीतिक सिद्धान्त "राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित धारणाओं और सामान्य नियमों का वह समूह है जिसमें सरकार, राज्य और समाज की प्रकृति, उद्देश्य तथा प्रमुख विशेषताएँ एवं व्यक्ति की राजनीतिक क्षमताओं के बारे में विचार, परिकल्पनायें और विवरण निहित होता है।" ऐन्ड्रू हैकर के अनुसार, "राजनीतिक सिद्धान्त जहाँ एक तरफ अच्छे समाज और अच्छे राज्य से सम्बन्धित नियमों की निष्पक्ष खोज है, वहाँ दूसरी तरफ ये राजनीतिक और सामाजिक वास्तविकता का निष्पक्ष ज्ञान है।" एक अन्य लेखक जॉर्ज कैटलिन के अनुसार, "राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक विज्ञान और राजनीतिक दर्शनशास्त्र दोनों का मिश्रण है। जहाँ विज्ञान सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के नियन्त्रण के विभिन्न स्वरूपों की प्रक्रिया की तरफ ध्यान दिलाता है, अर्थात्, इसका सम्बन्ध साधनों से है, वहाँ राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध उन साध्यों तथा मूल्यों से है जब व्यक्ति इस तरह के प्रश्नों पर विचार करता है–राष्ट्रीय हित क्या होता है? या "एक अच्छा समाज क्या होता है?" इसी तरह कोकर के अनुसार, 'राजनीतिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध राजनीतिक सरकार, इसके स्वरूपों तथा गतिविधियों के उस अध्ययन से है जो केवल उन तथ्यों के आधार पर नहीं किया जाता जिनकी व्याख्या, तुलना तथा परख का सम्बन्ध तत्काल तथा अस्थायी प्रभावों से है बल्कि उन तथ्यों तथा मूल्यांकन के आधार पर भी किया जाता है जो व्यक्ति की चिरस्थायी आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा विचारों से सम्बन्धित होते हैं।' राजनीतिक सिद्धान्तों को हम गुल्ड और कोल्ब की व्यापक परिभाषा से बेहतर समझ सकते हैं। उनके अनुसार, 'राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र का वह भाग है जिसके निम्नलिखित अंग हैं:

(*i*) राजनीतिक दर्शनशास्त्र-यह राजनीतिक विचारों के इतिहास का अध्ययन और नैतिक मूल्यांकन से सम्बन्धित है;

(*ii*) एक वैज्ञानिक पद्धति;

(*iii*) राजनीतिक विचारों का भाषा विषयक विश्लेषण; तथा

(*iv*) राजनीतिक व्यवहार के सामान्य नियमों की खोज तथा उनका क्रमबद्ध विकास।

नोट

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राजनीतिक सिद्धान्त मुख्यत: दार्शनिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से राज्य का अध्ययन है। सिद्धान्तों का सम्बन्ध केवल राज्य तथा राजनीतिक संस्थाओं की व्याख्या, वर्णन तथा निर्धारण से ही नहीं हैं बल्कि उसके नैतिक उद्देश्यों का मूल्यांकन करने से भी है। इनका सम्बन्ध केवल इस बात का अध्ययन करना ही नहीं है कि राज्य कैसा है बल्कि यह भी कि राज्य कैसा होना चाहिये। एक लेखक के अनुसार, राजनीतिक सिद्धान्तों को एक गतिविधि के रूप में देखा जा सकता है जो व्यक्ति के सार्वजनिक और सामुदायिक जीवन से सम्बन्धित प्रश्न पूछती है, उसके सम्भव उत्तर तलाश करती है तथा काल्पनिक विकल्पों का निर्माण करती है। अपने लम्बे इतिहास में ये इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर खोजते रहे हैं जैसे—राज्य की प्रकृति और उद्देश्य क्या है? एक राज्य दूसरे राज्य से श्रेष्ठ क्यों? राजनीतिक संगठनों का उद्देश्य क्या है? इस उद्देश्यों के मानदण्ड क्या होते हैं? राज्य तथा व्यक्ति में सम्बन्ध क्या है? आदि। प्लेटो से लेकर आज तक राजनीतिक चिन्तक इन प्रश्नों के उत्तर तलाश रहे हैं क्योंकि इन उत्तरों के साथ व्यक्ति का भाग्य अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। आरम्भ से ही सिद्धान्त उन नियमों की खोज में लगे हुए हैं जिनके आधार पर व्यक्ति एक ऐसे राजनीतिक समुदाय का विकास कर सके जिसमें शासक और शासित दोनों सामान्य हित की भावना से प्रेरित हों। यह आवश्यक नहीं कि राजनीतिक सिद्धान्त सभी राजनीतिक प्रश्नों के कोई निश्चित व अन्तिम हल ढूँढ़ने में सफल हो जायें परन्तु ये हमें उन प्रश्नों के हल के लिये सही दिशा संकेत अवश्य दे सकते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्तों की विशेषतायें (Characteristics of Political Theory)

उपरोक्त चर्चा के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्तों की कुछ सामान्य विशेषताएँ स्पष्ट की जा सकती हैं। राजनीतिक सिद्धान्त मूलत: व्यक्ति की बौद्धिक और राजनीतिक कृति हैं। सामान्यत: यह एक व्यक्ति का चिन्तन होते हैं जो एक राजनीतिक वास्तविकता अर्थात् राज्य की सैद्धान्तिक व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक सिद्धान्त अपने-आप में एक परिकल्पना होता है जो सही अथवा गलत दोनों हो सकता है और जिसकी आलोचना की जा सकती है। अत: सिद्धान्तों के अंतर्गत हम विभिन्न चिंतकों द्वारा किये गये अनेक प्रयत्न पाते हैं जो राजनीतिक जीवन के रहस्यों का उद्घाटन करते रहे हैं। इन चिन्तकों ने अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जो हो सकता है हमें प्रभावित न करे, परंतु जिनके बारे में हम कोई अन्तिम राय (सही अथवा गलत) स्थापित नहीं कर सकते। राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक जीवन के उस विशेष सत्य की व्याख्या करते हैं जैसा कोई चिंतक उसे देखता या अनुभव करता है। ऐसे राजनीतिक सत्य की अभिव्यक्ति हमें प्लेटो के '*रिपब्लिक*', अरस्तु के '*पॉलिटिक्स*' अथवा रॉल्स की '*ए थ्योरी ऑफ जस्टिस*' में मिलती है।

दूसरे, राजनीतिक सिद्धान्तों में व्यक्ति, समाज तथा इतिहास की व्याख्या होती है। ये व्यक्ति और समाज की प्रकृति की जाँच करते हैं: एक समाज कैसे संगठित होता है और कैसे काम करता है, इसके प्रमुख तत्त्व कौन से हैं, विवादों के विभिन्न स्रोत कौन से हैं, उन्हें किस प्रकार हल किया जा सकता है आदि।

तीसरे, राजनीतिक सिद्धान्त किसी विषय-विशेष पर आधारित होते हैं, अर्थात्, हालाँकि एक विचारक का उद्देश्य राज्य की प्रकृति की व्याख्या करना ही होता है परंतु वह विचारक एक दार्शनिक, इतिहासकार, अर्थशास्त्री, धर्मशास्त्री अथवा समाजशास्त्री कुछ भी हो सकता है। अत: हम कई तरह के राजनीतिक सिद्धान्त पाते हैं जिनमें इन विषयों की अद्वितीयता के आधार पर अंतर किया जा सकता है।

चौथे, राजनीतिक सिद्धान्तों का उद्देश्य केवल राजनीतिक वास्तविकता को समझना और उसकी व्याख्या करना ही नहीं है बल्कि सामाजिक परिवर्तन के लिये साधन जुटाना और ऐतिहासिक प्रक्रिया को तेज करना भी है। जैसा कि लास्की लिखते हैं, राजनीतिक सिद्धान्तों का कार्य केवल तथ्यों की व्याख्या करना नहीं हैं। परन्तु यह निर्धारण करना

नोट

भी है कि क्या होना चाहिए। अत: राजनीतिक सिद्धान्त सामाजिक स्तर पर सकारात्मक कार्य तथा उनके कार्यान्वयन के लिए सुधार, क्रांति अथवा संरक्षण जैसे साधनों की सिफारिश करते हैं। इनका संबंध साधन तथा साध्य दोनों से है। ये दोहरी, भूमिका निभाते हैं: 'समाज को समझना और उसकी गलतियों में सुधार करने के तरीके जुटाना।'

पांचवें, राजनीतिक सिद्धान्तों में विचारधारा का समावेश भी होता है। आम भाषा में विचारधारा का अर्थ विश्वासों, मूल्यों और विचारों की उस व्यवस्था से होता है जिससे लोग शासित होते हैं। आधुनिक युग में हम कई तरह की विचारधाराएँ पाते हैं जैसे उदारवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद आदि। प्लेटो से लेकर आज तक सभी राजनीतिक सिद्धान्तों में किसी-न-किसी विचारधारा का प्रतिबिम्ब अवश्य है। राजनीतिक विचारधारा के रूप में राजनीतिक सिद्धान्तों में उन राजनीतिक मूल्यों, संस्थाओं और व्यवहारों की अभिव्यक्ति होती हैं जो कोई समाज एक आदर्श के रूप में अपनाता है। उदाहरण के लिये, पश्चिमी यूरोप और अमरीका के सभी राजनीतिक सिद्धान्तों में उदारवादी विचारधारा प्रमुख रही है। इसके विपरीत चीन और पूर्व सोवियत यूनियन में एक विशेष प्रकार के मार्क्सवाद का प्रभुत्व रहा। इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक विचारधारा स्वयं को सर्वव्यापक और परम सत्य के रूप में प्रस्तुत करती हैं और दूसरों को अपनाने के लिये बाध्य करती हैं। परिणामस्वरूप, वैचारिक संघर्ष आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों का एक विशेष अंग रहा है।

नोट्स

राजनीतिक सिद्धान्तों का संबंध राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या और मूल्यांकन से है और इनका अध्ययन विचारों तथा आदर्शों के विवरण के रूप में, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के साधन के रूप में अथवा विचारधारा के रूप में किया जा सकता है।

महत्त्व (Significance)

राजनीतिक सिद्धान्तों के महत्त्व को इसके द्वारा किये जाने वाले कार्यों और इनमें निहित उद्देश्यों के आधार पर समझा जा सकता है। राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक मूल्यों की वह व्यवस्था है जो कोई समाज अपनी राजनीतिक वास्तविकता को समझने और आवश्यकता पड़े तो, इसमें परिवर्तन करने के लिये अपनाता है। यह अच्छे जीवन की प्रकृति, इसे प्राप्त करने के लिये संभव संस्थाएँ, राज्य के उद्देश्य, इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये सर्वोत्तम राज्य-प्रबंध जैसे विषयों का उच्च स्तरीय अध्ययन है। राजनीतिक सिद्धान्तों का महत्त्व इस बात में है कि ये ऐसे नैतिक मानदण्ड प्रदान करते हैं जिनसे राज्य की नैतिक योग्यता की जाँच की जा सके। आवश्यकता पड़ने पर ये वैकल्पिक राजनीतिक प्रबन्ध और व्यवहार का ढाँचा भी प्रदान करते हैं। समग्र रूप में, राजनीतिक सिद्धान्त (*i*) राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या करते हैं, (*ii*) इस व्याख्या के दार्शनिक और वैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं, (*iii*) राजनीतिक उद्देश्यों और कार्यों का चयन करने में सहायता करते हैं तथा (*iv*) राजनीतिक व्यवस्था का नैतिक आधार प्रदान करते हैं।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, मानव समाज की मौलिक समस्या समुदाय में इकट्ठा रहना है। इस संदर्भ में राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है जो समाज के सामूहिक कार्यकलापों को प्रबंधित करती है। सिद्धान्तों का महत्त्व उन दृष्टिकोणों और पद्धतियों की खोज करना है जो राज्य और समाज की प्रकृति, सरकार का सर्वश्रेष्ठ रूप, व्यक्ति और राज्य में संबंध तथा स्वतंत्रता, समानता, संपत्ति, न्याय आदि की धारणाओं का विकास कर सकें। इन अवधारणाओं का विकास उतना ही आवश्यक है जितना समाज की शान्ति, व्यवस्था, सामन्जस्य, स्थायित्व और एकता। वास्तव में सामाजिक स्तर पर शान्ति और व्यवस्था बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि हम स्वतंत्रता, समानता और न्याय जैसी धारणाओं की व्याख्या और इनका कार्यान्वयन कैसे करते हैं।

नोट

समकालीन समाज में हम कई तरह की समस्याओं का सामना कर रहे हैं जैसे गरीबी, अत्यधिक जनसंख्या, भ्रष्टाचार, जातीय तनाव, प्रदूषण, व्यक्ति-समाज और राज्य में विवाद आदि। राजनीतिक सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण कार्य इन समस्याओं का गहराई से अध्ययन और विश्लेषण करके राजनेताओं को वैकल्पिक साधन प्रदान करना होता है। डेविड हैल्ड के अनुसार, राजनीतिक सिद्धान्तों का महत्त्व इस बात से प्रकट होता है कि एक क्रमबद्ध अध्ययन के अभाव में राजनीति उन स्वार्थी और अनभिज्ञ राजनीतिक नेताओं के हाथ का खिलौना मात्र बन कर रह जायेगी जो इसे शक्ति प्राप्त करने के एक यन्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं समझते।

संक्षेप में, राजनीतिक सिद्धान्तों का महत्त्व निम्नलिखित आधारों पर समझा जा सकता है:

1. ये राज्य और सरकार की प्रकृति तथा उद्देश्यों का क्रमबद्ध ज्ञान उपलब्ध करवाते हैं,
2. ये सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकता तथा किसी भी समाज के आदर्शों एवं उद्देश्यों में संबंध स्थापित करने में सहायता करते हैं।
3. ये व्यक्ति को सामाजिक स्तर पर अधिकार, कर्तव्य, स्वतंत्रता, समानता, सम्पत्ति, न्याय आदि के बारे में सचेत करवाते हैं।
4. ये सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को समझने तथा उससे संबंधित समस्याओं, जैसे गरीबी, हिंसा, भ्रष्टाचार, जातिवाद आदि के साथ जूझने के सैद्धान्तिक विकल्प प्रदान करते हैं।
5. सिद्धान्तों का कार्य केवल स्थिति की व्याख्या करना नहीं होता। ये सामाजिक सुधार अथवा क्रांतिकारी तरीकों से परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त भी प्रस्तुत करते हैं।

जब किसी समाज के राजनीतिक सिद्धान्त अपनी भूमिका सही तरीके से निभाते हैं तो वे मानवीय विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन जाता है। जनसाधारण को सही सिद्धान्तों से परिचित करवाने का अर्थ केवल उन्हें अपने उद्देश्य और साधनों को सही तरीके से चुनने में सहायता करना ही नहीं है। बल्कि उन रास्तों से भी बचाना है जो उन्हें निराशा की तरफ ले जा सकते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्तों के मुद्दे (Issues in Political Theory)

राजनीतिक सिद्धान्तों की प्रकृति समझने के लिए उन विषयों और मुद्दों पर ध्यान देना भी ज़रूरी है जो पिछले 2400 सालों में इसके अध्ययन का अंग रहे हैं। यद्यपि राजनीतिक सिद्धान्तों का मुख्य विषय राज्य है तथापि राजनीतिक चिंतन के इतिहास के विभिन्न चरणों में राज्य से संबंधित अलग-अलग विषय महत्त्वपूर्ण रहे हैं। क्लासिकी राजनीतिक सिद्धान्तों का मुख्य विषय 'एक आदर्श राजनीतिक व्यवस्था' (perfect political order) की खोज था। अत: ये राजनीतिक के मूल सिद्धान्तों के विश्लेषण और निर्माण में जुटे रहे, जैसे राज्य की प्रकृति और उद्देश्य, राजनीतिक सत्ता के आधार, राजनीतिक आज्ञापालन की समस्या, राजनीतिक अवज्ञा आदि। इनका संबंध 'राज्य कैसा होना चाहिए' और एक आदर्श राज्य की स्थापना जैसे विषयों से अधिक रहा।

औद्योगिक क्रांति और आधुनिक राष्ट्र-राज्य के निर्माण ने एक नये समाज, नयी अर्थव्यवस्था और राज्य के नये स्वरूप को जन्म दिया। आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों का आरंभ व्यक्तिवाद से होता है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और इसकी सुरक्षा राजनीतिक का सार माने गये। परिणामस्वरूप, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों में अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, सम्पत्ति, न्याय, प्रजातन्त्र, जन सहभागिता, राज्य और व्यक्ति में संबंध आदि मुद्दे प्रमुख हो गये। इस सन्दर्भ में विभिन्न अवधारणाओं में संबंध, जैसे स्वतंत्रता और समानता, न्याय और समानता अथवा न्याय और सम्पत्ति पर भी बल दिया गया।

बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक सिद्धान्तों को राज्य, सरकार और सरकार की संस्थाओं तथा राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन माना गया। इस संदर्भ में राज्य का एक कानूनी संस्था के रूप में अध्ययन, संविधान, सरकार तथा सरकार

नोट

के विभिन्न स्वरूप और कार्य, लोक, प्रशासन, राजनीतिक प्रक्रिया, राजनीतिक दल-व्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवहार, जन सहभागिता, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति जैसे विषय राजनीतिक सिद्धान्तों का विषय क्षेत्र माने गये।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार पर आधारित आनुभविक-वैज्ञानिक (Empirical-Scientific) सिद्धान्त काफी लोकप्रिय हुआ। इस सिद्धान्त ने अन्य सामाजिक विज्ञानों से प्रेरणा लेकर कई नई राजनीतिक अवधारणाओं की रचना की जैसे शक्ति, सत्ता विशिष्ट-वर्ग समूह, राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक समाजशास्त्र, राजनीतिक संस्कृति आदि। इन अवधारणाओं को भी राजनीतिक सिद्धान्तों का अभिन्न अंग माना जाता है।

पिछले कुछ सालों में राजनीतिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत कुछ और नये विषय उभरकर आये है। मूल्यात्मक राजनीति की पुनर्स्थापना के बाद सिद्धान्तों के स्तर पर स्वतंत्रता, समानता और न्याय जैसी अवधारणाओं को दोबारा से प्रतिष्ठित किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य नये विषय राजनीतिक सिद्धान्तों का भाग बन रहा है, जैसे नारीवाद, पर्यावरण, समुदायवाद, बहुसंस्कृतिवाद, उत्तर-आधुनिकवाद, विकास तथा सम्पोषित विकास, उपाश्रित वर्ग समूह आदि। आगे आने वाले अध्यायों में इन विषयों पर प्रकाश डाला जायेगा।

समकालीन सिद्धान्तों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अब सिद्धान्तों के अध्ययन में किसी एक एकल दृष्टिकोण (उदारवादी अथवा मार्क्सवादी) के प्रयोग को महत्त्व नहीं दिया जाता। इस पद्धति को गलत तो नहीं परंतु अधूरा अवश्य माना जाता है। उदाहरण के लिये उदारवाद और मार्क्सवाद दोनों स्वतंत्रता की समस्या को पुरुष-प्रधान समाज के संदर्भ में ही परिभाषित करते रहे हैं तथा नारी और परिवार के संदर्भ में स्वतंत्रता एवं न्याय की समस्या की अवज्ञा करते रहे। इसी तरह समुदायवदी लेखक भी इस एकल दृष्टिकोण को अपेक्षाकृत कमज़ोर मानते हैं। समकालीन सिद्धान्त स्वतंत्रता, समानता और न्याय के सिद्धान्तों को सार्वजनिक भलाई के संदर्भ में पुनः परिभाषित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

राजनीति सिद्धान्त के अध्ययन के उपागम–आदर्शी तथा आनुभविक (Approaches to the Study of Political Theory: Normative and Empirical)

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है राजनीतिक सिद्धान्तों में काफी विभिन्नता है। पश्चिमी राजनीतिक परम्परा में राजनीतिक सिद्धान्त एक निरन्तर संवाद की तरह है जो सदियों से चलता आ रहा है। हालांकि राजनीतिक सिद्धान्तों की विषयवस्तु में लगभग निरन्तरता बनी हुई है परन्तु इसके अध्ययन के उपागमों में पिछले कुछ दशकों में काफी अन्तर आया है। व्यापक स्तर पर हम इन्हें दो प्रमुख उपागमों में विभाजित करते हैं। ये हैं आदर्शी तथा आनुभविक। आइये इनका विस्तार से अध्ययन करें।

आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त (Normative Political Theory)

राजनीतिक सिद्धान्तों में आदर्श तथा वास्तविकता (Ideals and reality), मूल्य एवं तथ्य (Value and fact) दोनों का समावेश है। अतः राजनीति सिद्धान्त के अध्ययन के लिए हम जिन दो उपागमों में अंतर करते हैं वे हैं–आदर्शी तथा आनुभविक। आदर्शी सिद्धान्त का सम्बन्ध राजनीति, राज्य, न्याय, स्वतंत्रता आदि के बारे में विभिन्न राजनीतिक विचारकों के व्यापक चिन्तन से है। यह चिन्तन जो अधिकतर दार्शनिक प्रकृति का होता है, ग्रीक राज्यों से लेकर वर्तमान समय तक सार्वजनिक राजनीतिक चिन्तन की एक सुस्पष्ट परंपरा रही है। राजनीति सिद्धान्त की इस धारणा को राजनीतिक दर्शन या आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त भी कहा जाता है।

आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त को काल्पनिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसमें राजनीतिक सिद्धान्त नैतिकशास्त्र, दर्शन अथवा नैतिकता के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुये होते हैं। इसमें नैतिक मुद्दे उठाये जाते हैं, इस विश्वास के साथ कि व्यक्ति अनिवार्यतः एक अच्छा प्राणी है और वह अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों स्तरों पर अच्छा कार्य करना चाहता है। इसका विश्वास है कि इस विश्व एवं इसकी घटनाओं के तर्क, उद्देश्य तथा लक्ष्य

नोट

को सिद्धान्तकार की तर्कबुद्धि, अन्तर्बोध, अनुभव तथा अन्तर्दृष्टि के आधार पर की गई व्याख्या द्वारा समझा जा सकता है। यह नैतिक मूल्यों की दार्शनिक कल्पना की योजना है। उत्पत्तिमूलक शब्द के रूप में, आदर्शी सिद्धान्तों में ऐसे सिद्धान्तों का समावेश किया जाता है जिनका सम्बन्ध मुख्यत: मानकों का मूल्यांकन करना व्यवहार के स्वरूपों का निर्धारण करना तथा जीवन के स्वरूप एवं सस्थांगत ढांचों के बारे में परामर्श देना है। आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त का राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) की तरफ काफी झुकाव है क्योंकि इसके अच्छे जीवन (good life) की धारणा का स्रोत वही है और सम्पूर्ण आदर्शों के निर्माण के प्रयत्नों के एक ढाँचे के रूप में भी इसी का ही प्रयोग करता है। जॉन प्लैमनाज़ ने राजनीतिक सिद्धान्त को सरकार के उद्देश्यों से सम्बन्धित क्रमबद्ध चिन्तन के रूप में पारिभाषित किया है। उसने राजनीतिक सिद्धान्त को नैतिक सिद्धान्त के साथ निकटता से जोड़ा है।

आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त की शानदार परम्परा रही है जो ग्रीक राज्यों के प्लेटो एवं अरस्तु से आरंभ होकर 20वीं शताब्दी की उदारवादी एवं मार्क्सवादी परम्परा तक निर्बाध चलती आ रही थी जब द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसे आनुभविक सिद्धान्त ने चुनौती दी। आनुभविक सिद्धान्त ने सिद्धान्तों के परीक्षण तथा तथ्यों पर आधारित क़ानून, जैसे सामान्यीकरण के माध्यम से राजनीतिक जीवन के क्रमबद्धिकरण, पर बल दिया। ऐसी परिस्थितियों में आदर्शी सिद्धान्तों की सुसंगतता काफी का हो गई जिनका पुनर्जागरण 1970 के दशक में सम्भव हुआ।

आदर्शी सिद्धान्त की जड़ें क्लासिकी युग में हैं। राजनीतिक सिद्धान्तों के पुराने दार्शनिकों की राजनीति में रुचि व्यापक जाँच पड़ताल के एक अंग के रूप में थी। अत, राजनीति–जो राजनीतिक सिद्धान्त का राजनीतिक पक्ष था–का वर्णन एवं चर्चा बड़े व्यापक स्तर पर की गई। क्लासिकी राजनीतिक सिद्धान्तों में ग्रीक, रोमन तथा ईसाई चिन्तकों तथा दर्शनिकों का समावेश किया जाता है। क्लासिकी राजनीतिक चिन्तन के दो महान दार्शनिक प्लेटो तथा अरस्तु है। उनके युग में राजनीति सिद्धान्त में (*i*) राजनीति, (*ii*) सिद्धान्त का विचार तथा (*iii*) दर्शनशास्त्र की परम्परा तीनों को निहित किया जाता था। राजनीति से अभिप्राय था सार्वजनिक कार्यों में हिस्सेदारी, सिद्धान्त का अभिप्राय था पर्यावेषण के आधार पर प्राप्त किया गया क्रमबद्ध ज्ञान तथा दर्शनशास्त्र से अभिप्राय था विश्वस्त ज्ञान की खोज–एक ऐसा ज्ञान जो लोगों को सामूहिक जीवन में व्यवहार के स्तर पर अधिक समझदार बना सकें। **अत: राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ था सार्वजनिक कार्यों से सम्बन्धित विश्वस्त ज्ञान प्राप्त करने लिए किया जाने वाला क्रमबद्ध अध्ययन या जाँच पड़ताल।**

आदर्शी सिद्धान्त की कुछ विशेषताओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है:

1. राजनीतिक सिद्धान्तों पर दर्शनशास्त्र का प्रभुत्व था। प्लेटो, अरस्तु, हॉब्स, रॉल्स जैसे महान दार्शनिक अपने चिन्तन के कार्यक्षेत्र की व्यापकता एवं विषयक्षेत्र के कारण महान है। वे राजनीतिक चिन्तकों से बढ़कर है। यहाँ राजनीतिक सिद्धान्तों में इनका वर्णन, व्याख्या, आदेशात्मकता तथा मूल्यांकन सभी निहित हैं।
2. आदर्शी सिद्धान्त सर्वोत्तम अच्छाई (Ultimate good) में विश्वास करता है तथा राजनीतिक अच्छाई को इसका एक भाग मानता है। राज्य का उद्देश्य अच्छे जीवन को प्रोत्साहित करना है, हालाँकि यह भी एक चर्चा का विषय रहा है कि वरीयता किसे दी जानी चाहिए–व्यक्तिगत अच्छाई को या सामूहिक अच्छाई को। जहाँ क्लासिकी परम्परा का विचार था कि सामूहिक अच्छाई में समाज का एक सदस्य होने के नाते व्यक्ति की अच्छाई समाविष्ट है और व्यक्ति इसे केवल एक सामाजिक सदस्य के रूप में ही प्राप्त कर सकता है, वहाँ उदारवाद ने इस परम्परा को स्वीकार नहीं किया तथा सामूहिक अच्छाई को व्यक्तिगत अच्छाई पर निर्भर कर दिया अर्थात् व्यक्ति की भलाई में ही समाज की भलाई है।
3. आदर्शी सिद्धान्त राजनीतिक सम्पूर्णता (Political whole) में विश्वास करता है अर्थात् सिद्धान्त सम्पूर्ण, व्यापक तथा अन्तर्विष्ट होने चाहिए। इसमें शासन, युद्धकला, धार्मिक रीति रिवाज, आर्थिक समस्याएँ या वर्ग–सम्बन्ध तथा अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, न्याय जैसी धारणाएँ सभी निहित होने चाहिए। सरकार के सर्वश्रेष्ठ स्वरूप की खोज क्लासिकी राजनीतिक सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है।

नोट

4. आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त मुख्यत: जिस स्तर पर सैद्धान्तीकरण करते हैं वह है–राजनीतिक जीवन में क्या होना 'चाहिए' न कि क्या 'है'; अर्थात् इसमें इसका सम्बन्ध नैतिक दर्शन से सम्बन्धित प्रश्नों तथा सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित करने वाले आधारभूत प्रश्नों के उत्तर देना है। इनकी चिन्ता "क्या हो रहा है" के प्रति कम तथा "क्या होना चाहिए" के प्रति अधिक है। ये राज्य के सदस्यों के लिए स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार, न्याय, सहयोग, शन्ति आदि जैसे मूल्यों के महत्त्व पर बल देते हैं।

5. आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त आदेशात्मक (prescriptive) होते हैं क्योंकि ये मूल्यांकन के कुछ मानक निश्चित करते हैं जिनके माध्यम से हम किसी व्यवस्था की कमियों की जाँच कर सकते हैं और उनमें सुधार करने के उपाय सुझा सकते हैं। इनका चरित्र आदर्शात्मक है क्योंकि ये समाज के लिए कुछ नैतिक आदर्शों का निर्माण करते हैं। कोबान के अनुसार, आदर्शात्मक सिद्धान्त का कार्य एक मानदण्ड अथवा निर्णय प्रदान करना होता है। इसी तरह प्लेमनाज़ भी लिखते हैं कि इस प्रकार के सिद्धान्त का उद्देश्य कुछ एक मूल्यों के प्रति कटिबद्धता आश्वस्त करना होता है।

6. आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण विषय "आदर्श राज्य" (Ideal state) तथा सरकार का सर्वश्रेष्ठ स्थायी स्वरूप ढूँढ़ना रहा है। क्लासिकी परम्परा के लेखकों की रचनाओं में इस प्रकार के प्रश्न बार-बार पूछे जाते रहे जैसे–शासन किसे करना चाहिए तथा क्यों? सरकार का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप कौन-सा है? राजनीतिक संस्थाओं का उद्देश्य क्या होना चाहिए? सरकार को किन नियमों अथवा कानूनों का पालन करना चाहिए आदि। राजनीतिक सिद्धान्तों का मुख्य सम्बन्ध समाज में होने वाले विवादों/संघर्षों के कारणों की जाँच पड़ताल करना, उनका विश्लेषण करना तथा न्याय के उन नियमों का पालन करना था जो राजनीतिक संस्थाओं के लिये भौतिक एवं गैर-भौतिक पदार्थों के वितरण के लिए एक मार्ग निर्देशक का कार्य कर सकें। एक आदर्श राज्य की खोज ने किसी सिद्धान्त को व्यावहारिक स्तर पर लागू करने तथा इस प्रक्रिया का अनुभव प्राप्त करने का अमूल्य साधन प्रदान किया है। समग्र रूप से आदर्शात्मक राजनीतिक सिद्धान्त आदेशात्मक, काल्पनिक, 'मूल्यात्मक' (value-laden) तथा 'क्या होना चाहिए' (ought) से सम्बद्ध है।

7. आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त कुछ नियामक चिन्ताओं (regulative concerns) पर आधारित है अर्थात् वे आधार जिन पर सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सकता है। ये मान्यताएँ इस दृष्टिकोण से मौलिक है कि उन्हें पहले से ही मानकर चला जाता है। उदाहरण के लिए, हॉब्स की राजनीतिक प्रबंधों के बारे में चर्चा मानवीय विवेक तथा नीयत की कुछ निरंकुश मान्यताओं पर आधारित है। दूसरा, आदर्शी सिद्धान्त यह आश्वस्त करने का प्रयत्न करते हैं कि इन आधारभूत मूल्यों के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार स्थापित की जाए। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं को इन आधारभूत मान्यताओं में से किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और उन्हें उचित ठहराया जा सकता है। वर्तमान राजनीतिक सिद्धान्तों में प्रमुख आदर्शी सिद्धान्त है: उदारवाद तथा इच्छास्वातंत्र्यवाद के विभिन्न स्वरूप, समुदायवाद, नारीवाद, मानवीय एवं विश्लेषणात्मक मार्क्सवाद तथा गणराज्यवाद।

आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त की प्राय: इस आधार पर आलोचना की जाती है कि ये काल्पनिक, अमूर्त, कारण-कार्य, निगमनिक, मीमांसात्मक, परिकल्पित तथा स्वप्नदर्शी है। आनुभविक सिद्धान्त के समर्थक आदर्शी सिद्धांत की इस आधार पर आलोचना करते हैं कि आदर्श अथवा मूल्य सापेक्षिक होते हैं सर्वमान्य नहीं तथा वे किसी संस्कृति से जुड़े हुए तथा वैचारिक होते हैं। तथापि आदर्शी सिद्धान्त का गुण यह है कि यह किसी लक्ष्य से प्रेरित होते हैं। ये राजनीति को 'अच्छाई' तथा 'न्याय' के साथ जोड़ते हैं। जैसा कि लियो स्ट्रॉस लिखते हैं, 'सभी प्रकार की राजनीतिक क्रियाएँ 'परिवर्तन' अथवा 'यथास्थिति' को बनाये रखने से प्रेरित होती है। जब हम यथास्थिति को बनाये रखना चाहते हैं तो हमारा उद्देश्य किसी बुरे परिवर्तन को रोकना होता है और जब हम परिवर्तन कर रहे होते हैं, हम कुछ वर्तमान

नोट

से बेहतर प्राप्त करना चाहते हैं अर्थात् सभी प्रकार की राजनीतिक क्रियाएँ 'बेहतर' अथवा 'बुरे' के विचारों से प्रभावित होती है परन्तु इन दोनों के पीछे अच्छे का विचार ही कार्यरत होता है।

आनुभविक-वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धान्त (Empirical-Scientific Political Theory)

बीसवीं शताब्दी में अमरीका में राजनीतिक सिद्धान्तों की एक नयी शाखा का विकास हुआ जो बाद में आनुभविक-वैज्ञानिक सिद्धान्त के नाम से प्रचलित हुई। हालांकि वैज्ञानिक तरीके से (बजाय दार्शनिक के) और तथ्यों पर आधारित (बजाय सामाजिक और नैतिक मूल्यों के) राजनीतिक सिद्धांतों का अध्ययन काफी पुराना है परन्तु इसे अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण पद्धति बनाने का श्रेय अमरीका के समाजशास्त्रियों को जाता है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मैक्स वेबर, ग्राहस वालास तथा बैन्टले आदि ने राजनीतिक सिद्धांतों के आनुभविक दृष्टिकोण का विकास किया और इस बात पर बल दिया कि राजनीति का अध्ययन तथ्यों (facts) पर आधारित होना चाहिए। इसी तरह एक अन्य लेखक जॉर्ज कैटलिन का विचार था कि राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों—जैसे समाजशास्त्र, मानोविज्ञान, मानव-विज्ञान—के साथ अन्तर्सम्बन्धित होना चाहिए। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमरीका के शिकागो विश्वविद्यालय के कुछ राजनीति-वैज्ञानिकों ने एक नये राजनीतिक सिद्धान्त का ही विकास कर दिया। इन राजनीति-वैज्ञानिकों में, जिन्हें 'शिकागो स्कूल' का नाम भी दिया गया, चार्ल्स मरियम, हैरोल्ड लासवैल, गोस्नैल, स्टुअर्ट राईस, वी.ओ., की, डेविड एप्टर, डेविड ईस्टन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन नये राजनीतिक सिद्धान्तों ने राजनीति के अध्ययन को राजनीतिक आदर्शों, मूल्यों और संस्थाओं से हटाकर इसे 'व्यक्ति और समूहों के व्यवहार के सन्दर्भ में राजनीतिक का अध्ययन' के साथ जोड़ दिया। इस नये दृष्टिकोण का यह विचार था कि राजनीति का अध्ययन राजनीतिक समुदाय में रहते हुए व्यक्ति के व्यवहार पर आधारित होना चाहिए। राजनीतिक सिद्धान्तों का उद्देश्य 'राजनीतिक व्यवहार के विज्ञान' की धारणा को क्रमबद्ध करना है जो आनुभविक शोध पर आधारित होगी न कि राजनीतिक दर्शनशास्त्र पर। जैसा कि डेविड ईस्टन ने लिखा है, चिन्तन के स्तर पर, क्रमबद्ध सिद्धान्त दैनिक जीवन की वास्तविक अनुभवजन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं के अनुकूल हैं।

आनुभविक-वैज्ञानिकों के सिद्धांत की कुछ खास विशेषताएँ हैं जो इसे अन्य धाराओं से अलग करती हैं। **पहली,** इस सिद्धान्त का विश्वास है कि राजनीतिक सिद्धांतों का उद्देश्य राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या करना, उन्हें क्रमबद्ध तरीके से व्यवस्थित करना और इस आधार पर कुछ भविष्यवाणी करना है; इनका काम मूल्यांकन करना नहीं होता और न ही किसी आदर्श राज्य की स्थापना। ध्यान देने योग्य बात यह है कि आनुभविक-वैज्ञानिक सिद्धान्त ने दर्शनशास्त्र से नाता तोड़ लिया। इनके अनुसार, राजनीतिक सिद्धान्त वहीं तक ही अर्थपूर्ण होते है जहाँ तक उनकी जाँच की जा सकती है। **दूसरी,** राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन मूल्यविहीन (value-free) होना चाहिए; इनका सम्बन्ध केवल तथ्यों से है। सिद्धांतों का काम वर्तमान राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषण करना है; इस बात का मूल्यांकन करना नहीं कि क्या हो रहा है और क्या होना चाहिए। इनका सम्बन्ध इससे नहीं होना चाहिए कि 'कौन शासन करता है,' किसे शासन करना चाहिए और क्यों' राजनीतिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध समाज में व्यक्तियों, समूहों और संस्थाओं के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन होना चाहिए, इस बात की परवाह किये बिना कि यह व्यवहार अच्छा है या बुरा। **तीसरी,** व्यवहारवादी सिद्धान्तों का सम्बन्ध केवल राज्य के अध्ययन से न होकर राजनीतिक प्रक्रिया के अध्ययन से भी है। **चौथी,** आनुभविक सिद्धान्तों का आलोचनात्मक कार्यों में विश्वास नहीं है। सिद्धान्तों का काम राज्य के आधारों पर प्रश्न चिह्न लगाना नहीं है बल्कि इनका सम्बन्ध यथास्थिति को बनाये रखने, स्थायित्व, सन्तुलन और सामन्जस्य से है। **पांचवीं,** इस सिद्धान्त ने अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा विकसित कई धारणाओं को राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन के लिये अपनाया जैसे शक्ति, विशिष्ट-वर्ग, नीति निर्माण, राजनीतिक व्यवस्था, संस्कृति आदि।

वैज्ञानिक पद्धति तथा मूल्य-विहीन राजनीतिक पर अत्यधिक बल और महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथा राजनीतिक मुद्दों की अवज्ञा के कारण, आनुभविक-वैज्ञानिक सिद्धान्त 1960 के दशक के बाद अधूरा प्रतीत होना लगा। ऐसा अनुभव

नोट

किया जाने लगा कि किसी भी राजनीतिक ढाँचे में मानव जीवन से सम्बन्धित कुछ मूल्य और उद्देश्य होते हैं जिसे आनुभविक सिद्धान्त ने अनदेखा किया है। रॉल्स, नोज़िक, हैबरमास जैस लेखकों न राजनीतिक सिद्धान्त के केन्द्रीभूत मुद्दों-जैसे स्वतंत्रता, समानता, न्याय आदि को दोबारा से उठाना शुरू किया जिसके परिणामस्वरूप नैतिक मूल्यों पर आधारित राजनीतिक पुनर्जीवित हो उठी। राजनीति के इस नवीनीकरण को समकालीन राजनीतिक सिद्धांत कहा जाता है।

आदर्शी तथा आनुभविक सिद्धांतों में सम्बन्ध
(Relation between Normative and Empirical Political Theory)

ऐसा माना जाता है कि आदर्शी तथा आनुभविक सिद्धान्तों में अन्तर केवल विश्लेषणात्मक है। व्यावहारिक स्तर पर ऐसा कोई ही राजनीतिक सिद्धान्त होगा जो अनन्य रूप से केवल 'है' से सम्बन्धित हो और उसमें 'चाहिए' का तत्त्व पूर्णतया अनुपस्थित हो। इसी तरह ऐसा भी कोई सिद्धान्त नहीं होगा जो केवल आदर्शों अर्थात् 'क्या होना चाहिए' तक सीमित हो और उसमें 'है' का तत्त्व न हो। दूसरे शब्दों में, आदर्शी तथा आनुभविक सिद्धान्तों में अन्तर केवल 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' के मिश्रण के अनुपात का है। आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त में 'चाहिए' का तत्त्व अधिक तथा 'है' का तत्त्व अपेक्षाकृत कम है जबकि आनुभविक सिद्धान्त में 'है' का अनुपात अधिक तथा 'चाहिए' का तत्त्व अपेक्षाकृत कम है। दूसरा, ऐसा भी सम्भव है कि एक ही लेखक अपनी एक रचना में आनुभविक अधिक हो और आदर्शी कम और अपनी अन्य रचना में वह अधिक आदर्शी हो और आनुभविक कम। उदाहरण के लिए, मार्क्स का यूरीपीय पूँजीवाद का विश्लेषण आनुभविक तथा तथ्यात्मक है। जबकि उसके द्वारा किया गया समाजवादी-साम्यवादी समाज का भावी निरूपण अपेक्षाकृत अधिक आदर्शी, काल्पनिक तथा आदेशात्मक है। दूसरे शब्दों में, मार्क्स के विचारों का एक अंश अत्यधिक आनुभविक है जबकि दूसरा आदर्शी। केवल यही नहीं, पूँजीवादी वर्ग द्वारा मज़दूर वर्ग के शोषक की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए मार्क्स ने 'अधिशेष' मूल्य के सिद्धान्त की रचना की जो कारण-कार्य सिद्धान्त (causal) अधिक है। तीसरा, हम दोनों में कुछ अन्तर कर सकते हैं। लियो स्ट्रॉस ने आदर्शी सिद्धान्त के लिए 'राजनीतिक दर्शन' तथा आनुभविक सिद्धान्त के लिए 'राजनीतिक सिद्धान्त' शब्दों का प्रयोग किया है। उसका तर्क है कि राजनीतिक सिद्धांत हमें राजनीतिक चिन्तन के बारे में बताता है जबकि राजनीतिक दर्शन बुद्धिमत्ता की तलाश है। दूसरे शब्दों में, स्ट्रॉस ने राजनीतिक सिद्धान्त शब्द का प्रयोग राजनीतिक चिन्तकों के वर्णनात्मक लेखा जोखों तथा राजनीतिक दर्शन शब्द का प्रयोग 'राजनीतिक घटनाओं के आदर्शी चिन्तन' के लिए किया है और उच्च स्तर पर, ऐसा तर्क दिया जाता है कि जिसे हम आनुभविक राजनीतिक सिद्धान्त कहते हैं वह हमें राजनीतिक वास्तविकता के पक्ष के बारे में बताते हैं जबकि राजनीतिक दर्शन उसका सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस तर्क की एक अन्य व्याख्या यह है कि जहाँ राजनीतिक सिद्धान्त हमें केवल विशिष्ट (particular) के बारे में अवगत करवाते हैं, वहाँ राजनीतिक दर्शन हमें सर्वव्यापक (universal) ज्ञान से परिचित करवाते हैं। एक अन्य तर्क यह भी दिया जाता है कि आनुभविक वास्तविकता जो हमें देती है वह राजनीतिक घटनाओं की केवल सूचना मात्र होती है जबकि राजनीति दर्शन या आदर्शी राजनीतिक सिद्धांत उस राजनीतिक वास्तविकता के मूल को समझने में सहायता करता है।

भीखू पीख ने राजनीतिक दर्शन तथा राजनीतिक सिद्धान्त के एक अन्य आयाम की तरफ ध्यान दिलाने की कोशिश की है। उसके अनुसार दोनों में अन्तर केवल इस बात का है कि हम राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन किस प्रकार करते हैं। राजनीतिक दर्शन 'राजनीतिक' का अध्ययन दार्शनिक तरीके से है। दार्शनिक प्रणाली का अभिप्राय है घटनाओं की आलोचनात्मक छानबीन तथा व्याख्या जबकि आनुभविक प्रणाली केवल उस घटना का तथ्यात्मक वर्णन होता है।

समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त (Contemporary Political Theory) नोट

1970 के बाद अमरीका, यूरोप तथा अन्य देशों में राजनीतिक चिन्तकों ने नैतिक मूल्यों पर आधारित राजनीतिक सिद्धान्तों में दोबारा रुचि लेनी आरम्भ की। इस पुनर्जागरण के महत्त्वपूर्ण कारण जहाँ एक तरफ नैतिक मूल्यों में उभरता हुआ संघर्ष था, वहाँ दूसरी तरफ सामाजिक विज्ञानों तथा साहित्य में परिवर्तन थे। इसके अतिरिक्त द्वितीय विश्व युद्ध के सायों की समाप्ति, यूरोप के पुनरुत्थान तथा मार्क्सवाद और समाजवाद की विचारधारा में संकट ने राजनीतिक विचारधाराओं में अनिश्चितता सी ला दी। चाहे वह उदारवाद था या प्रजातंत्र, मार्क्सवाद था या समाजवाद, उभरते हुए सामाजिक आन्दोलनों ने सबको चुनौती दी—वे आन्दोलन जो राजनीतिक सिद्धान्तों के विषयक्षेत्र का पुनः प्रलेखन करना चाहते थे।

व्यवहारवाद के प्रभुत्व के युग में राजनीतिक सिद्धान्तों को राजनीति विज्ञान ने अभिभूत किया हुआ था। सिद्धान्तों में ज्ञान और खोज को न्यायसंगत स्थान नहीं दिया गया। हालांकि व्यवहारवाद की धारणा राजनीतिक सिद्धान्तों पर अधिक देर तक हावी नहीं रही, तथापि राजनीतिक और सामाजिक विज्ञानों के विकास में यह 'विज्ञानवाद' (scienticism) के रूप में अपनी अमिट छाप छोड़ गई। राजनीतिक सिद्धान्तों के पुनर्जागरण की प्रक्रिया के कई स्रोत हैं। जहाँ एक तरफ कई चिन्तकों (जैसे टॉमस कून) ने 'विज्ञान' के सम्पूर्ण मॉडल को ही चुनौती दे दी, वहाँ कुछ अन्य लेखकों का विचार था कि सामाजिक मुद्दों को समझने की कुछ विशिष्ट समस्याएँ होती हैं जो एकीकृत विज्ञान (unified science) के मॉडल द्वारा नहीं समझी जा सकती। इसके दो कारण हैं—**पहला,** सामाजिक विज्ञानों का उद्देश्य सामाजिक व्यक्ति और सामाजिक समस्याओं का अध्ययन है और विभिन्न चिन्तक इनकी व्याख्या विभिन्न तरीकों से करते हैं तथा **दूसरा,** राजनीतिक सिद्धांतों को राजनीति के क्रमबद्ध विवरण तक सीमित नहीं किया जा सकता; सिद्धांन्तों को अपनी आलोचनात्मक भूमिका अवश्य निभानी चाहिए, अर्थात इन्हें राजनीति के वे स्पष्टीकरण भी देने चाहिए जो आम व्यक्ति की समझ से बाहर होते हैं। विभिन्न चर्चाओं के परिणामस्वरूप, राजनीतिक सिद्धान्तों में कई परिवर्तन हुए। यद्यपि इन सभी परिवर्तनों की विस्तृत व्याख्या सम्भव नहीं है, फिर भी इनकी मुख्य विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं **पहली,** आनुभविक सिद्धान्तों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उनकी इतिहास से विमुखता थी। समकालीन राजनीतिक चिन्तकों का मानना है कि सिद्धान्तों को इतिहास से अलग नहीं किया जाना चाहिए। इन सिद्धांतों ने राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के अध्ययन को पुनर्जीवित किया है। **दूसरी,** मानव क्रियाओं से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञान की कई तरह की व्याख्याएँ हो सकती हैं। अतः, मूल्यविहीन और तटस्थ राजनीतिक सिद्धांतों की धारणा मूलतः गलत है। **तीसरी,** राजनीतिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध अवधारणाओं के विश्लेषण से भी है। इस सन्दर्भ में राजनीतिक सिद्धान्तों का कार्यक्षेत्र कुछ मुख्य अवधारणाओं जैसे प्रभुसत्ता, अधिकार, स्वतंत्रता, न्याय आदि का क्रमबद्ध अध्ययन करना है। **चौथी,** राजनीतिक सिद्धान्तों में आदर्शक तत्त्व (normative element) भी महत्त्वपूर्ण है। समकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध एक तरफ हमारी राजनीतिक और नैतिक गतिविधियों के मूल ढाँचों का क्रमबद्ध विस्तार करना है, वहाँ दूसरी तरफ न्याय, स्वतंत्रता, सार्वजनिक भलाई, सामुदायिक जीवन जैसे प्रमुख राजनीतिक मूल्यों का परीक्षण और उनकी पुनर्व्याख्या करना भी है। **पांचवीं,** राजनीतिक सिद्धांतों का सम्बन्ध अमूर्त सैद्धान्तिक प्रश्नों और विशिष्ट राजनीतिक मुद्दों दोनों से होता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि उन परिस्थितियों का व्यापक परीक्षण किये बिना, जो इनकी उपलब्धि के लिये आवश्यक हैं, राजनीतिक धाराणाओं को उनके सही अर्थों में नहीं समझा जा सकता। राजनीतिक सिद्धान्तों को समस्याओं के समाधान के प्रति जागरूक होना चाहिए और इन्हें प्रजातंत्र, बाज़ार-अर्थव्यवस्था, समान अवसर जैसी समस्याओं के संदर्भ में जाँच करनी चाहिए। राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक विज्ञान का सैद्धान्तिक पक्ष है, जो प्रेक्षण के आधार पर सिद्धान्त निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं और **अन्त में,** डेविड हैल्ड के अनुसार, समकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों की चार विशिष्ट विशेषताएँ हैं: (*i*) ये दार्शनिक है अर्थात् ये नैतिक और वैचारिक ढाँचों से सम्बन्धित हैं, (*ii*) ये आनुभविक है, अर्थात् इसका सम्बन्ध विभिन्न अवधारणाओं की व्याख्या करना है, (*iii*) ये ऐतिहासिक है अर्थात् राजनीतिक सिद्धान्त विभिन्न राजनीतिक धाराओं को

नोट

ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझना चाहते हैं; (*iv*) इनका सामरिक महत्त्व भी है अर्थात् ये इस सम्भावना का भी मूल्यांकन करते हैं कि हम इतिहास के किस मोड़ पर खड़े हैं और कहाँ पहुँच सकते हैं इन चारों तत्त्वों के योग से ही राजनीतिक सिद्धान्त की मूलभूत समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं।

राजनीतिक सिद्धान्तों के पुनर्जागरण के बाद वे विषय जो अधिक उजागर हुये हैं, वे हैं: नीतिशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत सामाजिक न्याय तथा कल्याणकारी-अधिकार सिद्धान्त, प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त तथा बहुलवाद, नारीवाद, उत्तर-आधुनिकवाद, नये सामाजिक आन्दोलन, नागरिक समाज तथा उदारवाद-समुदायवाद विवाद। वास्तव में समुदायवाद ने मार्क्सवाद की घटती लोकप्रियता से रिक्त होने वाले स्थान को भरने का प्रयास किया है यह पुनर्जागरण यह दर्शाता है कि राजनीतिक सिद्धान्तों के पतन (decline of political theory) के बारे में की गई सभी घोषणाएँ गलत थीं। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि राजनीतिक सिद्धान्त का पुनर्जागरण सम्बन्धी यह जोश केवल उदारवादी विचारधारा तक ही सीमित है क्योंकि यह केवल उदारवाद ही है जो विचारों के मुक्त आदान-प्रदान का समर्थन करता है। यह सिद्धान्त को व्यवहार के अनुसार समन्वित करने और अपनाने को प्रयत्न करता है तथा रूढ़िवादी हुये बिना उन तत्त्वों की पहचान करने का प्रयत्न करता है जो एक न्यायपूर्ण राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सहायक हो सकते हैं। तथापि अधिकतर उदारवादी सिद्धांतों का सम्बन्ध पुरानी राजनीतिक मान्यताओं को ही और अधिक स्पष्ट एवं परिष्कृत करता रहा है। साम्यवाद के पतन के बाद, उदारवाद को आज समुदायवाद, नारीवाद तथा उत्तर-आधुनिकवाद की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त आदर्शी तथा आनुभविक राजनीति की परम्परागत विभाजन को स्वीकार नहीं करते और यह न ही किसी विशेष परम्परा के साथ स्वयं को जोड़ना चाहते हैं।

टास्क आदर्शी एवं आनुभविक सिद्धांतों में सम्बन्धों पर विचार व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. अरस्तु की ..... नामक पुस्तक में राजनीतिक सत्य की अभिव्यक्ति मिलती है।
2. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार पर आधारित ..... सिद्धांत काफी लोकप्रिय हुआ।
3. आदर्शी राजनीतिक सिद्धांत की प्राय: इस आधार पर ..... की जाती है कि ये काल्पनिक एवं अमूर्त हैं।

1.2 राजनीतिक सिद्धान्तों की परम्पराएँ (Traditions of Political Theory)

उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्त (Liberal Political Theory)

पुनर्जागरण, धार्मिक सुधारवाद तथा औद्योगिक क्रान्ति ने क्लासिकी परम्परा के लम्बे सम्मोहन को तोड़ा। पुनर्जागरण ने एक नया बौद्धिक वातावरण पैदा किया जिसने आधुनिक विज्ञान, आधुनिक दर्शनशास्त्र और नये राजनीतिक विचारों को जन्म दिया जिसे समग्र रूप से उदारवाद के नाम से जाना गया। इसी नयी विचारधारा की उत्तम अभिव्यक्ति ग्रेशियम, एडम स्मिथ, हॉब्स, लॉक, जैफरसन, टॉमस पेन, बन्थम, जे.एस. मिल. हरबर्ट स्पेन्सर तथा कई अन्य लेखकों की रचनाओं में हुई। जहाँ परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तों ने व्यक्ति के नैतिक विकास तथा समुदाय के विकास को सम्बन्धित माना, वहाँ उदारवाद ने एक 'स्वायत्त और सार्वभौम व्यक्ति' (autonomous and

नोट

sovereign individual) की धारणा विकसित की। उदारवादी विचारधारा का केन्द्रीय तत्त्व इसका उग्र व्यक्तिवाद (extreme individualism) था। इसकी **पहली** विशेषता मानव व्यक्तित्व में पूर्ण आस्था, सभी व्यक्तियों की आध्यात्मिक समानता तथा मानव इच्छा की स्वायत्तता थी। **दूसरे,** उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्तों ने व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता का समर्थन किया चाहे वह क्षेत्र राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक हो अथवा बौद्धिक या धार्मिक। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ लिया गया व्यक्ति की उन सभी प्रकार की सत्ताओं से मुक्ति जो उसकी मर्जी के बिना उस पर थोपी जाती हैं और अपनी तर्कबुद्धि के आधार पर कार्य करने की स्वतंत्रता। **तीसरे,** उदारवाद ने व्यक्ति के अधिकारों की धारणा की रचना की, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की उत्पत्ति से पहले कुछ प्राकृतिक अधिकार मिले हुए थे जिनमें जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकार प्रमुख हैं। क्योंकि इन अधिकारों को राज्य नहीं देता, अत: वह इन्हें ले भी नहीं सकता। ये व्यक्ति के अदेय अधिकार हैं। राज्य की उत्पत्ति वास्तव में इन अधिकारों की रक्षा लिए हुई है। **चौथे,** उदारवादी सिद्धान्त ने यह घोषणा की कि राज्य कोई प्राकृतिक संस्था न होकर व्यक्ति द्वारा निर्मित और व्यक्ति की सहमति पर आधारित संस्था है। राज्य और व्यक्ति में सम्बन्ध उनके आपसी समझौते का परिणाम है। यदि राज्य समझौते का उल्लंघन करते हैं तो व्यक्ति का यह अधिकार ही नहीं बल्कि कर्त्तव्य भी है कि वह इसका विरोध करके तथा इसमें परिवर्तन करे। राज्य प्राकृतिक न होकर एक मशीन है जिसे व्यक्ति ने अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति के लिए बनाया है, जैसे क़ानून, व्यवस्था, सुरक्षा, न्याय, अधिकारों की रक्षा आदि। राज्य एक साधन है, साध्य नहीं। **पाँचवें,** उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्तों ने 'सार्वजनिक हित' तथा 'सामूहिक समुदाय' की धारणाओं को अस्वीकार कर दिया। इसका विचार था कि वह सरकार सबसे अच्छी है जो कम से कम काम करती है और समुदाय का अर्थ है समुदाय में रहने वाले व्यक्ति। उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्तों का उद्देश्य राज्य की खोज नहीं था बल्कि व्यक्ति को सामाजिक और आर्थिक बन्धनों तथा तानाशाही और गैर-प्रतिनिधि सरकारों से मुक्ति दिलाना था। इस सन्दर्भ में इसने राज्य तथा राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों जैसी धारणाओं को पुन: परिभाषित किया तथा व्यक्ति के लिए अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, सम्पत्ति, न्याय, प्रजातन्त्र जैसी धारणाओं का विकास किया।

क्योंकि उदारवादी व्यक्ति को एक स्वायत्त, अहंकारी तथा स्वार्थी जीव मानता है तथा समाज को एक ऐसा स्थान जहाँ व्यक्ति एवं हितों के लिए संघर्ष करते हैं अत: यह राजनीति को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया मानता है जो समाज में विवादों का निबटारा करती है, क़ानून एवं व्यवस्था का निर्माण करती है, एकता तथा सामन्जस्य लाती है, समाज के सामान्य हित की सेवा करती है तथा शान्तिपूर्ण सामाजिक परिवर्तन के लिए रास्ता स्पष्ट करती है। यह सामाजिक विवादों को जिन तरीकों से हल करती है, वे हैं–(*i*) संवैधानिक क़ानून, (*ii*) राजनीतिक संस्थायें, (*iii*) सामाजिक कल्याण, (*iv*) सांस्कृतिक परम्परायें। सामाजिक झगड़ों में संवैधानिक क़ानून अन्तिम निर्णायक भूमिका निभाते हैं। ये समाज में सबसे शक्तिशाली साधन होते हैं क्योंकि इनके पीछे सजा का डर होता है। इसमें मूल संवैधानिक अनुच्छेद तथा विधानमन्डल द्वारा समय-समय पर बनाये जाने वाले क़ानून-दोनों निहित होते हैं जो समाज में व्यक्ति एवं समूहों द्वारा की जाने वाली प्रतिस्पर्धा की सीमायें निश्चित करते हैं। इन कानूनों के अतिरिक्त उदारवाद ने पिछले 300 सालों में राजनीतिक प्रक्रिया में भागेदारी के लिए कई राजनीतिक संस्थाओं का विकास किया है जैसे प्रजातन्त्र, प्रतिनिधि संस्थायें, राजनीतिक भागीदारी, राजनीतिक दल, सर्वव्यापक व्यस्क मताधिकार, नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार (जैसे स्वतंत्रता, सम्पत्ति आदि), दबाव समूह जैसे स्वायत्त संस्थायें, वाणिज्यिक समुदाय, ट्रेड यूनियन समुदाय आदि। इस संस्थाओं में भागीदारी के माध्यम से लोग राजनीतिक तथा सामाजिक प्रक्रिया के साथ संघटित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उदारवादी राजनीति ने अब कल्याणकारी रूप ले लिया है। झगड़ों के निवारण के लिये उदारवाद व्यक्ति के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में भी सकारात्मक दृष्टिकोण से हस्तक्षेप करता है। पूँजीवादी समाज को नियमित करके तथा नि:शुल्क शिक्षा, स्वास्थ्य बीमा, सामाजिक सुरक्षा जैसे तरीके अपनाकर यह समाज में झगड़ों के स्रोतों को कम कारने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त यह समाज में व्यापक सहमति का निर्माण करने के लिये शिक्षा, मास मीडिया, प्रोपेगन्डा, धर्म आदि जैसे वैचारिक तथा सांस्कृतिक साधनों का भी सहारा लेता है। यह सहयोग तथा सामन्जस्य को बढ़ावा देता है तथा वार्तालाप, चर्चा तथा समझा-बुझाकर एक स्वतंत्र एवं

नोट

मुक्त वातावरण में हितों में सामन्जस्य लाने पर ज़ोर देता है। आर्थिक स्तर पर यह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था तथा कल्याणकारी राज्य का समर्थन करता है।

मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त (Marxist Political Theory)

उदारवादी-व्यक्तिवादी राजनीतिक सिद्धान्तों को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मार्क्स, एंगेल्स तथा उनके अनुयायियों ने 'वैज्ञानिक समाजवाद' (Scientific Socialism) के माध्यम से चुनौती दी। आज कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त मार्क्सवाद द्वारा की गई इतिहास, समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति आदि की व्याख्या की अवज्ञा नहीं कर सकता। मार्क्सवाद ने सामाजिक और आर्थिक विकास की प्रक्रिया को क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बेहतर समझने में हमारी सहायता की है। सम्पूर्ण मानव मुक्ति के रूप में मार्क्सवाद ने दर्शनशास्त्र की नयी धारणा प्रस्तुत की। इसके अनुसार ज्ञान का मुख्य उद्देश्य केवल इस संसार को समझना ही नहीं है बल्कि मानव जीवन की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करना भी है। मार्क्स का विचार था कि व्यक्ति की मुक्ति इसी संसार में हैं और यह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके और समाजवादी समाज की स्थापना करके प्राप्त की जा सकती है। उदारवादी-पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध मार्क्स की मुख्य शिकायत यह थी कि यह सम्पत्ति, असमानता और कुछ सम्पत्तिशाली परिवारों के ऐश्वर्य की सभ्यता है जो जनसाधारण के लिए निम्न और शोषणकारी परिस्थितियाँ पैदा करती है। इसके विपरीत समाजवाद व्यक्ति की मुक्ति की यदि सारी नहीं तो काफी हद तक, परिस्थितियाँ पैदा करने का प्रयास है। यह एक ऐसे समाज की स्थापना का प्रयत्न करता है जिसमें व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण समाप्त होगा और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपना व्यक्तित्व एवं क्षमताएँ विकसित करने का उचित अवसर मिलेगा। यह एक ऐसा वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का विकास सारे समाज के विकास की आवश्यक शर्त होगा।

मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त मूलत: सामाजिक परिवर्तन और समाज के क्रान्तिकारी पुन: निर्माण का सिद्धान्त है। इस सन्दर्भ में मार्क्सवाद के तीन अन्तर्सम्बन्धित तत्त्व हैं: (*i*) वर्तमान तथा अतीत के समाजों का परीक्षण और आलोचना। इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम दिया गया है: (*ii*) वर्ग-विभाजित और शोषणकारी समाज के विपरीत एक नये समाज का विकल्प। यह एक ऐसा समाज होगा जो उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित होगा। यह एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज होगा; तथा (*iii*) इस नये वैकल्पिक समाज का निर्माण कैसे होगा। पूँजीवादी समाज के विरुद्ध यह परिवर्तन सर्वहारा-वर्ग द्वारा क्रान्ति के माध्यम से सम्पन्न होगा जो अन्य वर्गों को समाप्त करके एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज की स्थापना करेगा।

मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त के मूल तत्त्व हैं: उत्पादन का ढाँचा, वर्ग-विभाजन, वर्ग संघर्ष, सम्पत्ति सम्बन्ध, राज्य एक वर्ग के यंत्र के रूप में, क्रान्ति आदि। मार्क्सवाद ने भी अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, सम्पत्ति, न्याय, प्रजातंत्र आदि का विश्लेषण किया परन्तु यह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि एक वर्ग-विभाजित समाज में ये सम्पत्तिशाली वर्ग के विशेषकारों में बदल जाते हैं। सच्ची स्वतंत्रता और समानता केवल एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज में ही प्राप्त हो सकती है।

मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और व्यक्ति का सार उसके सामाजिक सम्बन्धों की संपूर्णता में है व्यक्ति का अर्थ है समाज-में-व्यक्ति (man-in society)। समाज एक जीवन्त संस्था है जो उत्पादन के ढाँचे पर आधारित है। उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर समाज ऐतिहासिक दृष्टिकोण से एक वर्ग विभाजित समाज रहा है—एक ऐसा समाज जो उत्पादन के साधनों के मालिकों तथा गैर-मालिकों अथवा सम्पत्तिशाली तथा सम्पत्तिहीनों के बीच विभाजित रहा है। इन वर्गों के हित परस्पर विरोधी होने के कारण, यह वर्ग विभाजन वर्ग संघर्ष तथा झगड़ों को जन्म देता है। मार्क्सवाद के लिये भी समाज में राजनीति की धारणा झगड़े अथवा संघर्ष से ही आरम्भ

नोट

होती है परन्तु यह संघर्ष एक वर्ग संघर्ष होता है जो वर्ग आधिपत्य को जन्म देता है; अर्थात् वह वर्ग जो उत्पादन के साधनों का मालिक है वह राज्य, धर्म, समाज तथा अर्थव्यवस्था पर भी प्रभुत्व जमा लेता है। राजनीति एक वर्ग का आधिपत्य होने के कारण सारे समाज के हितों की सेवा नहीं कर सकती और यह प्रभुताशाली वर्ग के हाथ में आधिपत्य का एक साधन बन जाती है। अत: वर्ग आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष तथा क्रान्ति के माध्यम से एक वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना करना राजनीति का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसके लिये मार्क्सवाद के अनुसार मज़दूर वर्ग द्वारा, क्रान्ति के माध्यम से सत्ता हथियाना, सम्पत्तिशाली वर्ग का सफाया करना, वर्ग संघर्ष को समाप्त करना, समाजवादी उत्पादन के ढाँचें तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना करना आवश्यक है जो एक वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज को जन्म देगी। अत: जहाँ उदारवादी राजनीति का उद्देश्य आधुनिक उदारवादी पूँजीवादी प्रजातांत्रिक राज्य की स्थापना करना था, वहाँ मार्क्सवादी राजनीति का सम्बंध क्रान्तिकारी माध्यम से समाजवादी राज्य की स्थापना करना तथ अन्ततोगत्वा एक वर्गविहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना करना है।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार के रूप में मार्क्सवाद मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं से आरम्भ होता है जिसे बाद में कई दार्शनिकों, राजनीतिक नेताओं, क्रान्तिकारियों, शिक्षाशास्त्रियों आदि द्वारा समृद्ध किया गया। बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवाद के अन्तर्गत कई अन्य शाखाएँ और व्याख्याएँ उत्पन्न हुई। मार्क्सवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तकार हैं: लेनिन, स्टालिन, बुखारिन, माओ, रोज़ा लग्ज़मबर्ग, ग्राम्शी, लूकाच, आस्ट्रो-साम्यवादी, फ्रैन्कफर्ट स्कूल, नव-वामपन्थ, यूरो-साम्यवाद आदि। प्रथम विश्व महायुद्ध तक मार्क्सवाद अत्यधिक निश्चयवादी था और यह एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की धारणा का प्रतिनिधित्व कर रहा था जिसकी पराकाष्ठा रूसी क्रान्ति में हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मार्क्सवाद में क्रान्तिकारी पक्ष पर कम और वर्तमान सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की आलोचना पर अधिक बल दिया जाने लगा। 'समकालीन मार्क्सवाद' के नाम से प्रचलित यह सिद्धान्त ऊपरी ढाँचे (superstructure), संस्कृति, कला, सौन्दर्यशास्त्र, विचारधारा, अलगाववाद की समस्याओं के प्रति अधिक सचेत रहा।

संकीर्णवादी परम्परा (Conservative Tradition)

सामान्यत: संकीर्णवाद एक ऐसा राजनीतिक दर्शन है जो वह सब कुछ संरक्षित करना चाहता है जिसे वह किसी भी समाज में श्रेष्ठ पाता है। यह किसी भी प्रकार के उग्रवादी परिवर्तन के विरुद्ध हैं। आधुनिक यूरोपीय संकीर्णवाद का विकास 1750-1850 के बीच हुआ जो यूरोपीय समाजों में होने वाले द्रुत परिवर्तनों तथा परिवर्तन की प्रवृत्ति के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया था। इन परिवर्तनों में प्रमुख थे: प्रबुद्धवाद (Enlightenment) के विचार, फ्रांस की क्रान्ति, औद्योगीकरण (विशेषत: इंग्लैण्ड में) तथा सर्वव्यापी (मुख्यत: पुरुषों के लिए) मताधिकार। इन उग्रवादी परिवर्तनों ने ऐसे लोगों में प्रतिक्रिया उत्पन्न की जिन्हें लगा कि ये परिवर्तन बहुत जल्दी और बहुत दूरगामी हो रहे हैं।

संकीर्णवादी समाज में परिवर्तनों का विरोध करते हैं। उनका तर्क है कि ये परिवर्तन परम्परागत विश्वासों, परम्परागत नैतिकता तथा सामाजिक ढाँचों को क्षति पहुँचाते हैं। संकीर्णवादी का मूल मंत्र है कि जो परम्पराएँ अतीत में सफल रही है, ऐसी आशा की जाती है कि वे भविष्य में भी सफल रहेगी, जब जक कि उनके विरुद्ध कोई ठोस तर्क प्रस्तुत नहीं किया जाता और यदि ऐसी नौबत आती भी है तो भी किन्हीं प्रकार के परिवर्तन धीरे-धीरे तथा विकासवादी तरीके से होने चाहिए ताकि वे समाज के सहज विकास का एक अंग प्रतीत हो।

संकीर्णवाद की प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति एडमन्ड बर्क के विचारों में मिलती है जो उसने फ्रांस की क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अभिव्यक्त किये। बर्क ने अपने विचार अमूर्त तर्क से प्रेरित समाज के प्रबुद्ध विचारों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में जाहिर किये, हालाँकि उसने शब्द संकीर्णवाद का प्रयोग नहीं किया। इस शब्द का प्रयोग 19वीं शताब्दी के अन्त में डच धार्मिक संकीर्णवाद लेखक अब्राहम कूपर द्वारा प्रयुक्त किया गया। बर्क प्रबुद्धवाद के युग से काफी चिन्तित था और इसके विरुद्ध उसने परम्परागत संस्थाओं तथा रीतियों का समर्थन किया। बर्क का

नोट

तर्क था कि कई लोगों का बौद्धिक विकास दूसरों से कम होता है, इसी तरह कुछ लोग, यदि वे अपनी बुद्धि का प्रयोग करे तो अन्य से बेहतर शासन कर सकते हैं। बर्क के अनुसार किसी भी सरकार का निर्माण अमूर्त तर्क के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसका निर्माण अनुभव पर आधारित क्रमिक विकास तथा महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं–जैसे परिवार, चर्च आदि–की सतत निरन्तरता है। उसका तर्क था कि परम्परा कई पीढ़ियों के अनुभव का निचोड़ तथा समय की कसौटी पर खरी उतरी हुई होती है जबकि तर्क किसी एक व्यक्ति विशेष के पूर्वाग्रहों का एक मुखौटा हो सकता है और यह अधिक-से-अधिक किसी एक पीढ़ी की बुद्धिमत्ता की अभिव्यक्ति होती है। हालांकि बर्क ने यह भी स्वीकार किया कि कोई भी राज्य जिसके पास परिवर्तन के साधन नहीं है, वह संरक्षण के साधनों से विहीन है, तथापि उसका विचार था कि किसी भी प्रकार के परिवर्तन सहज होने चाहिए क्रांतिकारी नहीं। किसी सिद्धान्त अथवा मत के नाम पर मानवीय समाज का निर्माण करने वाले मानवीय अन्तर-सम्बन्धों के क्लिष्ट ताने-बाने में परिवर्तन लाने के परिणाम काफी खतरनाक हो सकते हैं।

संकीर्णवादियों का मानना है कि परिवर्तन का कार्यान्वयन न्यूनतम तथा क्रमिक होना चाहिए। ये इतिहास के प्रशंसक है तथा आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी है। अपने सहज स्वरूप में ये जिन तत्त्वों को निहित करते हैं, वे हैं–परम्पराओं के प्रति श्रद्धा, समुदाय, स्तर विन्यास, आज्ञाकारी निम्नवर्ग तथा पितृसुलभ परोपकारिता। परन्तु एक विरोधाभासी स्वरूप में संकीर्णवादी का अभिप्राय स्वेच्छाचारी विचारधारा, अत्यधिक व्यक्तिवाद, मुक्त बाज़ार, क़ानून व्यवस्था, सरकार की न्यूनतम भूमिका जिसमें समुदाय, परम्परा अथवा परोपकारिता न के बराबर है, से भी लिया जाता है। संकीर्णवाद की इन दो धाराओं में सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों स्तरों पर कोई मेल नहीं है।

विचारधारा (Ideology)

संकीर्णवाद की परम्परा उदारवाद के सर्वव्यापी सिद्धान्तों तथा एकीकरण विवेक में विश्वास नहीं करती। इसके विपरीत, इसका विश्वास ऐसी संस्थाओं में है जो सदियों से आदर का पात्र रही हैं। राजनीतिक दृष्टिकोण से दार्शनिक संकीर्णवादी राजनीतिक व्यवहार तथा संस्थाओं के स्वरूप के साथ किसी भी प्रकार की छेड़छाड़ करने के विरुद्ध है। किसी भी प्रकार के सामूहिक परिवर्तन को वे विशेषत: शंका के दृष्टिकोण से देखते हैं। ये परम्पराओं का आदर करते हैं, इसलिए नहीं कि वे परम्परा हैं बल्कि इसलिए कि उन सामाजिक मूल्यों, जिनका विकास कई पीढ़ियों के अनुभव के परिणामस्वरूप हुआ है और जिन्हें लोगों ने अपनाया हुआ है, के व्यापक स्तर पर पुन: निर्माण की मानवीय योग्यता को वे शंका के दृष्टिकोण से देखते हैं।

वैचारिक दृष्टिकोण से संकीर्णवादियों के समक्ष **पहला** मुद्दा यह है कि क्या संरक्षित किया जाना चाहिए, उदाहरण के लिए किसी लोकप्रिय परन्तु भटके विद्रोह के विरुद्ध। दार्शनिक संकीर्णवाद का सम्मान प्राप्त करने के लिए किसी संस्था के अस्तित्व की निरन्तरता की अवधि कितनी होनी चाहिए? जहाँ उदारवादी तर्क का सहारा लेते हैं जो उनके अनुसार, मानवीय समाजों का एकीकरणीय तत्त्व है, वहाँ संकीर्णवादी मानते हैं कि तर्क को अत्यधिक सम्मान देना गलत है क्योंकि यह किसी एक व्यक्ति विशेष का होता है और यह उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियों, गलतियों, पूर्वाग्रहों आदि से प्रेरित हो सकता है। संकीर्णवादियों के अनुसार, किसी संस्था का महत्त्व वर्तमान पीढ़ी की तार्किक विशेषता के आधार पर नहीं आंका जा सकता। बुद्धिवादी इन परम्पराओं को 'व्यक्ति के अधिकारों के आधार पर' या 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' या 'सामाजिक न्याय' अथवा 'महान समाज' जैसी धारणाओं से बदलना चाहते हैं। तथापि बर्क माईकल ऑकशाट तक सभी संकीर्णवादी इस बात पर ज़ोर देते आए हैं कि इस प्रकार की राजनीति मानवीय मुक्ति की कुँजी न होकर केवल ग़ैर-लचीलेपन तथा रूढ़िवादिता का फार्मूला हैं। इनका दृढ़ विश्वास है कि तर्क किसी काल्पनिक राज्य के निर्माण का नक्शा तैयार नहीं कर सकता क्योंकि यह वर्तमान राजनीतिक परम्पराओं के निचोड़ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। इनका मानना है कि वैचारिक राजनीतिक में अन्तर्निहित रीतिरिवाजों तथा परम्पराओं के प्रति घृणा ऐच्छिक सामाजिक बन्धनों को क्षति पहुँचाती है जिसके परिणामस्वरूप समाज को बाँधकर रखने का एकमात्र तरीका जोर-जबरदस्ती ही रह जाता है।

नोट

दूसरा, उदारवादियों के विपरीत, संकीर्णवादी सामाजिक समझौते के विचार को नहीं मानते। क्योंकि मानव समाजों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से क्रमिक विकास होता है, अत: वर्तमान समाज के केवल कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व ही है जिनकी उत्पत्ति तथा मूल तर्क अतीत में कहीं खो चुके हैं परन्तु जिन्हें, कुछ लेखकों के अनुसार, अभी स्वीकार करने की आवश्यकता है। संस्थाओं एवं मूल्यों का क्योंकि विकास होता है, अत: उनकी कमज़ोरियाँ तथा कमियाँ उजागर होना स्वाभाविक है और जैसे-जैसे जनता का उनके विरुद्ध दबाव बढ़ता है वैसे-वैसे उनमें धीरे-धीरे परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है।

तीसरी, संकीर्णवादी केवल सुधारों को रद्द ही नहीं करते बल्कि वे इस बात पर भी शंका जाहिर करते हैं कि वर्तमान पीढ़ी अथवा व्यक्तियों में इतनी योग्यता है कि वे कई पीढ़ियों के परिणामस्वरूप विकसित हुए मानव व्यवहार एवं संस्थाओं में परिवर्तन कर सकें। अत: वे किसी भी प्रकार की व्यापक योजनाओं के विरुद्ध है, चाहे वे संवैधानिक हो या आर्थिक अथवा सांस्कृतिक। अत: बर्क का अनुसरण करते हुए संकीर्णवादी किसी भी प्रकार की क्रान्ति अथवा विद्रोह की निन्दा करते हैं क्योंकि ये सभी हिंसा और खून खराबे को जन्म देते हैं।

चौथे, संकीर्णवाद का तर्क है कि एक क्रान्तिविहीन शान्तिपूर्ण समाज के लिए सामाजिक पदार्थों के पुन: वितरण का कोई तरीका होना चाहिए। जहाँ आधुनिक उदारवादी इस पुनर्वितरण के आधार को मानवीय विकास के लिए प्रारम्भिक नींव बनाने के उद्देश्य से उचित ठहराते हैं, वहाँ संकीर्णवादियों का पुनर्वितरण इस पर आधारित है कि गरीब, भूखे-नंगे लोग गुस्से में आकर कहीं यथास्थिति के विरुद्ध खड़े न हो जाये, जैसा कि फ्रांस की क्रान्ति के समय हुआ था। आधुनिक संकीर्णवादी स्वीकार करते हैं कि गरीबों के विपरीत, संकीर्णवादी राज्य निर्देशित केन्द्रीय पुन: वितरण की अपेक्षा स्थानीय तथा प्रदत्त पुन: वितरण का समर्थन करते हैं।

पाँचवें, परम्परागत उदारवादियों की तरह संकीर्णवादी भी सामाजिक सम्बंधों में सम्पत्ति के अधिकार पर अत्यधिक महत्त्व देते हैं। जहाँ उदारवादी सम्पत्ति के अधिकार को उपयोगिता के आधार पर उचित ठहराते हैं, वहाँ संकीर्णवादी इसे राज्य की शक्ति अथवा किसी व्यक्ति विशेष की शक्ति पर सीमा लगाने के दृष्टिकोण से उचित ठहराते हैं। संकीर्णवादी सम्पत्ति का एक स्वतन्त्र तथा समृद्ध समाज के लिए एक पवित्र तथा मूलत: मूल्यवान आधारशिला मानते हैं। सम्पत्ति के अधिकार का व्यापक वितरण तथा संकीर्णवाद का यह सिद्धान्त कि व्यक्ति तथा सामाजिक समुदाय अपनी आवश्यकताओं तथा समस्याओं का दूर बैठे नौकरशाहों से बेहतर आकलन कर सकते हैं—ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। क्योंकि संकीर्णवाद मूलत: राज्य को शंका के दृष्टिकोण से देखते हैं अत: वे सभ्य मानव जीवन की परिपक्वता के समर्थन, निर्देशन तथा सहायता के लिए वैकल्पिक सामाजिक संस्थाओं को वरीयता देते हैं जैसे परिवार, निजी सम्पत्ति, धर्म तथा व्यक्ति की स्वयं गलतियाँ कर के सीखने की स्वतन्त्रता आदि।

छठे, संकीर्णवादी इस धारणा की भी आलोचना करते हैं कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सामन्जस्य के लिए आधुनिक लोक प्रभुसत्ताधारी राज्य एक केन्द्रीयभूत संस्था है। इसका अभिप्राय है कि लोक प्रभुसत्ता स्वयमेव अच्छी सरकार तथा विश्व शान्ति को आश्वस्त कर देती है क्योंकि इसका अर्थ यह निकलता है कि आत्म-शासन तथा आत्म-शासित लोग एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करते। इसके विपरीत संकीर्णवादियों का तर्क है कि प्रजातंत्र को स्वयमेव स्वतन्त्रता तथा अच्छी सरकार के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, जनमतसंग्रह का सहारा लेकर कुछ व्यक्ति को भी वैध ठहरा सकते हैं।

संकीर्णवाद के स्वरूप (Forms of Conservatism)

1789 से लेकर 1945 तक क्रान्तिकारी राजनीति बार-बार उभरती रही जैसे बौलशॅविक क्रान्ति, फासीवादी आन्दोलन, कल्याणकारी उदारवादी आदि, जिनसे संकीर्णवादी काफी दु:खी रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दशकों में इसे उदारवादी पूँजीवादी राज्यों में कल्याणकारी राज्य के रूप मे समाजवादी चुनौती का सामना करना पड़ा। इन सभी घटनाओं के प्रति संकीर्णवादी प्रतिक्रिया अलग-अलग रही परन्तु इन सबका समान आधार था—परिवर्तन के लिए दिए

नोट

जाने वाले कुछ औचित्यों का विरोध जो आदर्शवादी थे या जिन्हें अमूर्त विचारों के आधार पर किया गया था और जो वर्तमान व्यवहारों के विकास का परिणाम नहीं थे। वैचारिक दृष्टिकोण से संकीर्णवाद के कई रूप हो सकते हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

(*i*) **उदारवादी संकीर्णवाद:** संकीर्णवाद का यह रूप संकीर्णवादी नीतियों एवं मूल्यों के साथ कुछ उदारवादी तत्त्वों का मिश्रण है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, इस शब्दावली में आर्थिक उदारवाद, जो स्वेच्छाचारी बाज़ार व्यवस्था का समर्थन करता है तथा परम्परागत संकीर्णवाद, जो स्थापित परम्परागत उदारवाद से भिन्न है जिसने आर्थिक तथा सामाजिक दोनों क्षेत्रों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। अधिकतर इसे मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था तथा व्यैक्तिक उत्तरदायित्व, नागरिक अधिकारों की सुरक्षा तथा सीमित कल्याणकारी राज्य के साथ जोड़ा जाता है।

(*ii*) **संकीर्णवादी उदारवाद:** यह उदारवाद का वह स्वरूप है जिसमें कुछ संकीर्णवादी तत्त्वों का मिश्रण किया गया है। यह परम्परागत उदारवाद का अधिक सकारात्मक परन्तु कम उग्रवादी रूप है।

(*iii*) **इच्छास्वातंत्र्यवादी संकीर्णवाद:** इस प्रकार का संकीर्णवाद अमेरीका तथा कनाडा में लोकप्रिय है जिसमें इच्छास्वातंत्र्यवादी आर्थिक मुद्दों को संकीर्णवाद के कुछ तत्त्वों के साथ जोड़ा गया है। ये स्वेच्छाचारी नीतियाँ जैसे मुक्त व्यापार का समर्थन, संघीय निधि (Federal Reserve) का विरोध तथा सभी प्रकार के व्यापारिक नियन्त्रणों का विरोध करता है। इसी तरह ये सभी प्रकार के पर्यावरण नियमों, सामूहिक कल्याण, सब्सिडी तथा अन्य आर्थिक हस्तक्षेप का भी विरोध करते हैं।

(*iv*) **सांस्कृतिक संकीर्णवाद:** संकीर्णवाद का यह स्वरूप किसी देश अथवा संस्कृति की विरासतों को संरक्षित करने का समर्थन करता है। इस प्रकार की संस्कृति पश्चिमी, चीनी अथवा भारतीय जैसी विशाल संस्कृति हो सकती है या तिब्बत जैसी छोटी। सांस्कृतिक संकीर्णवाद अतीत् के नैतिक नियमों का पालन करने के पक्ष में है और ये नैतिक नियम रोमान्टिक, सांस्कृतिक, संस्थागत, आर्थिक अथवा राजनीतिक कुछ भी हो सकता है। सामाजिक संकीर्णवाद के सदर्भ में, ये नियमों की नैतिकता से जुड़े सवाल भी हो सकते हैं कुछ एक संस्कृतियों मे समलैंगिकता को अनैतिक माना जाता है। सांस्कृतिक संकीर्णवादी का तर्क है कि पुरानी संस्थाएँ किसी एक सांस्कृतिक तथा स्थान से जुड़ी हुई होती है, अत: उन्हें संरक्षित किया जाना आवश्यक है। कुछ अन्य लेखकों का विचार है कि लोगों को अपने सांस्कृतिक सिद्धान्तों, अपनी भाषा तथा अपनी परम्पराओं को संरक्षित करने का अधिकार है।

(*v*) **धार्मिक संकीर्णवाद:** इस प्रकार का संकीर्णवाद किसी विशिष्ट विचारधारा को संरक्षित करना चाहते हैं, कभी सामाजिक स्तर पर इसके नैतिक मूल्यों का प्रचार करके अथवा कई बार इन्हें राज्य के क़ानून का एक भाग बनाकर। धार्मिक संकीर्णवाद धर्मनिरपेक्ष रीति-रिवाजों का भी समर्थन कर सकते हैं या इसे उनका समर्थन भी मिल सकता है। कई बार और कई स्थानों पर धार्मिक संकीर्णवाद को उन संस्कृतियों से चुनौती भी मिल सकती है जहाँ वे कार्यरत होते हैं।

(*vi*) **हरित संकीर्णवाद:** इस शब्द का प्रयोग उन संकीर्णवादियों के लिए किया जाता है जिन्होंने पर्यावरण को अपनी विचारधारा का एक अंग बना लिया है। ये लोग एक ऐसे हरित कार्यक्रम का समर्थन करते हैं जिसमें कार्यालय स्थानों, पार्किंग स्थलों पर अधिकाधिक टैक्स लगाया जाये, हवाई अड्डों के विकास को रोका जाये तथा भारी एवं हल्के सभी वाहनों पर टैक्स लगाया जाये।

समग्र रूप से, संकीर्णवाद मानव प्रकृति के नकारात्मक तथा निराशावादी दृष्टिकोण पर आधारित हैं। सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए परम्परागत शासन व्यवस्था का समर्थन इस विचार पर आधारित है कि व्यक्ति मूलत: स्वार्थी, अविवेकी तथा हिंसात्मक प्रकृति वाला प्राणी है। इन घटिया प्रवृत्तियों को समाज में खुले तौर पर कार्य करने की छूट नहीं दी जा सकती है और इनके विरुद्ध केवल एक ही विकल्प है–शक्तिशाली सरकार तथा परम्परागत मूल्य क्योंकि इन्होंने ही अभी तक समाजों को जिन्दा तथा सुरक्षित रखा है। इस विचार की उदारवाद के साथ तुलना

नोट

की जा सकती है जिसका मानना है कि यदि उचित वातावरण तैयार किया जाये तो व्यक्ति को आदर्श व्यक्ति बनाया जा सकता है (सामान्यत: सामाजिक इन्जिन्यरी के तरीकों द्वारा)। संकीर्णवाद के आलोचकों का मानना है कि यह धनिक वर्ग की निम्न वर्ग के विरुद्ध अपना वंशानुगत सम्मान तथा विशेषाधिकारों को बनाये रखने की चाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 19वीं शताब्दी में संकीर्णवाद की सबसे बड़ी चिन्ता थी कि अधिकारों का विस्तार निम्न वर्ग की ओर किया जा रहा है जबकि 20वीं शताब्दी में यह समाजवाद के विरुद्ध संघर्ष में इतना उलझा रहा कि कुछ लोगों ने संकीर्णवाद को सभी प्रकार की विरोधी (anti) प्रवृत्तियों के साथ जोड़ना आरम्भ कर दिया। वर्तमानकाल के सभी विचार एवं आन्दोलन—जैसे नारीवाद, पर्यावरण, उग्रवादी प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त, मानव अधिकार—संकीर्णवादी विचारधारा के विरुद्ध है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)—

4. ऐसे संकीर्णवादियों के लिए कौन-सा शब्द प्रयोग किया जाता है, जिन्होंने पर्यावरण को अपनी विचारधारा का अंग बना लिया है?

   (अ) सांस्कृतिक संकीर्णवाद (ब) धार्मिक-संकीर्णवाद

   (स) उदारवादी संकीर्णवाद (द) हरित संकीर्णवाद

5. लेनिन का सम्बन्ध किससे है?

   (अ) पूँजीवाद (ब) समाजवाद

   (स) मार्क्सवाद (द) इनमें से कोई नहीं

6. उदारवादी राजनीतिक सिद्धांतों ने व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किस चीज का समर्थन किया?

   (अ) न्याय (ब) समानता

   (स) स्वतंत्रता (द) इनमें से कोई नहीं

1.2.1 क्लासिकी राजनीतिक सिद्धांत (Classics Political Theory)

जो राजनीतिक सिद्धांत छठी सदी ई. पूर्व में उदित होकर यूनानियों, रोमनों तथा प्रारंभिक यूरोपीय चिंतकों और दार्शनिकों के माध्यम से विकसित हुआ उसे क्लासिकी राजनीतिक सिद्धांत कहते हैं। यूनानियों में अफलातून और अरस्तु दो ऐसे चिंतक हैं जिनके विचारों को आज भी पढ़ा जाता है और जिनका प्रभाव आज तक है। क्लासिकी राजनीतिक सिद्धांत पर दर्शन का गहरा प्रभाव था और पूरा जोर सर्वाधिक सामान्य सत्यों की तलाश के लिए जीवन की समग्रता में देखने पर था। इसलिए दार्शनिक, धर्मतात्विक और राजनीतिक प्रश्नों के बीच भेद करना कठिन था और राजनीति विज्ञान या राजनीतिक चिंतन को विधा की एक अलग शाखा के रूप में नहीं देखा जाता था। राजनीतिक सिद्धांत का काम प्रश्नों की छानबीन करना, महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछना और राजनीति के सद्विवेक के एक प्रकार के रक्षक का था। अंतर्निहित तलाश सरकार के यथासंभव अच्छे से अच्छे रूप की थी। राज्य और सरकार को भी मनुष्य और समाज के नैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति और अच्छाई को बढ़ावा देने के साधन माना जाता था। इस प्रकार राज्य को समुदाय के सदस्यों में उच्च नैतिक मानों के प्रतिष्ठापक का काम करना था। इस संबंध में कुछ बहस चली कि व्यक्ति की भलाई को प्राथमिकता दी जाए या सामान्यत: सबकी भलाई को। सबकी भलाई को व्यक्ति की निजी भलाई से ज्यादा जरूरत महसूस की गई। क्लासिकी परंपरा ने एक आदर्श राज्य और स्थिर प्रणाली के उपायों की

नोट

भी तलाश की। क्लासिकी परंपरा ने जो मुख्य प्रश्न पूछे वे ये थे–सबसे अच्छी सरकार कौन है? शासन किसे करना चाहिए और क्यों? विभेद की स्थितियों का समाधान कैसे किया जाए?

1.3 राजनीतिक सिद्धांत की उपयोगिता (Uses of Political Theory)

राजनीति में राजनीतिक सिद्धांत का अपना ही विशेष महत्त्व रहा है हालांकि पिछली शताब्दी के अंतिम दशक तक कुछ विद्वानों द्वारा राजनीतिशास्त्र, राजनीतिक दर्शन, राजनीतिक सिद्धांत तथा राजनीति को एक-दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है लेकिन 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में शुरू हुई व्यवहारवादी क्रांति के कारण राजनीतिक विद्वान ने इन सभी शब्दावलियों को स्पष्ट शब्दरुचि देने में सफलता प्राप्त की। अत: आज इन शब्दों को एक निश्चित अर्थ के रूप में ही प्रयोग किया जाता है। जहाँ तक राजनीतिक सिद्धांत का प्रश्न है, इसका अर्थ जानने के लिए इसे दो भागों में विभक्त किया जाता है। राजनीति के लिए Politics (पॉलिटिक्स) शब्द का प्रयोग किया जाता है। राजनीति में सामान्यत: औपचारिक संरचनाओं जैसे–राज्य, शासक व शासन तथा उनके परस्पर संबंधों का अध्ययन तो किया जाता है साथ ही साथ अनौपचारिक संरचनाओं जैसे–राजनीतिक दल, दबाव समूह, युग संगठन, जनमत आदि का अध्ययन भी किया जाता है। अत: राजनीति का संबंध संकीर्ण न होकर विस्तृत है।

'सिद्धांत' को अंग्रेजी में Theroy (थ्योरी) कहा जाता है। इस शब्द की उत्पत्ति वस्तुत: ग्रीक भाषा के शब्द थ्योरिया (Theoria) से हुई है जिसका अर्थ है **'भावनात्मक चिंतन'** जिसका अभिप्राय है, एक ऐसी मानसिक दृष्टि जो कि एक वस्तु के अस्तित्व और उसके कारणों को प्रकट करती है लेकिन वर्णन मात्र ही सिद्धांत नहीं कहलाता। इस विषय में आर्नोल्ड ब्रेस्ट का कहना है कि किसी भी विषय के संबंध में एक लेखक की पूरी की पूरी सोच या समझ शामिल रहती है। उनमें तथ्यों का वर्णन, उनकी व्याख्या, लेखक का इतिहास बोध, उसकी मान्यताएँ और वे लक्ष्य शामिल हैं जिनके लिए किसी भी सिद्धांत का प्रतिपादन किया जाता है।

अत: कहा जा सकता है कि राजनीतिक विद्वानों द्वारा जिस विषय से संबंधित सिद्धांत का निर्माण किया जाता है। उस विषय के बारे में उसको उसका पूर्ण ऐतिहासिक ज्ञान रखना पड़ता है, साथ ही साथ पूर्ण तथ्यों को एकत्रित कर वह मूल्यांकन करते हुए निष्कर्षों को जन्म देता है।

राजनीतिक सिद्धांत को विभिन्न लेखकों ने अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है जैसे–

कार्ल पोपर के अनुसार–"सिद्धांत एक प्रकार का जाल है जिससे संसार को पकड़ा जा सकता है ताकि उसे समझा जा सके। यह एक अनुभवपूरक व्याख्या के प्रारूप की अपने मन की आँख पर बनाई गई रचना है।"

एन्ड्यू हेकर के अनुसार–"राजनीतिक सिद्धांत में तथ्य और मूल्य दोनों समाहित हैं। वे एक-दूसरे के पूरक हैं।"

डेविड हैल्ड–"राजीतिक सिद्धांत राजनीतिक जीवन से संबंधित अवधारणाओं और व्यापक अनुमानों का एक ऐसा ताना-बाना है जिसमें शासन, राज्य और समाज की प्रकृति व लक्ष्यों और मनुष्यों की राजनीतिक क्षमताओं का विवरण शामिल है।"

बर्नाड क्रिक–"राजनीतिक सिद्धांत साधारणतया राजनीतिक जीवन से उत्पन्न दृष्टिकोण व क्रियाओं की व्याख्या करने का प्रयास करता है।"

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीतिक सिद्धांत में मुख्य तीन तत्त्वों का समावेश होता है। प्रथम तत्त्व अवलोकन कहलाता है जिसके अन्तर्गत कोई सिद्धांतशास्त्री राज्य और शासन से संबंधित तथ्यों व आंकड़ों को एकत्रित कर उसमें से उपयुक्त घटनाओं और तथ्यों का चयन करता है जिनका प्रयोग वह अपने विचारों की पुष्टि के लिए करता है। उदाहरण के तौर पर प्लेटो, हॉब्स, लॉक, मैक्यावली, मार्क्स आदि सभी विद्वानों ने तत्कालीन परिस्थितियों का विवेचन इस कारण किया क्योंकि वे उन परिस्थितियों से असंतुष्ट थे तथा उनमें से कोई

नोट

मार्ग निकालना चाहते थे। हॉब्स ने अपने समय की अराजकता की परिस्थिति को देखते हुए निरंकुश राजतंत्र का समर्थन किया था। दूसरा तत्त्व व्याख्या से संबंधित है, इसके अन्तर्गत जिन तथ्यों और घटनाओं को सिद्धांतशास्त्रियों द्वारा एकत्रित किया जाता है उसमें से अनुचित और अनावश्यक सामग्री को दूर किया जाता है जिसके पश्चात् उचित सामग्री को विभिन्न श्रेणी में विभक्त कर उसका विश्लेषण किया जाता है और तत्पश्चात् 'कारण' और 'कार्य' के बीच संबंध स्थापित किया जाता है। इससे जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उसे ही सिद्धांत कहा जाता है। अत: इस प्रकार अवलोकन में जहाँ सिर्फ तथ्यात्मकता तक सीमित रहता है वही अन्तर्गत तथ्यों के चयन से परे जाकर एक सिद्धांत का रूप धारण कर लेती है। वास्तव में किसी भी सिद्धांत की वैज्ञानिकता इस बात पर निर्भर करती है कि तथ्यों के चयन और व्याख्या में कितनी विलासता और ईमानदारी का पालन किया जाता है। राजनीति का सिद्धांत का अंतिम तत्त्व मूल्यांकन है। तथ्य और मूल्य का सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया में विशेष महत्त्व है। जिसमें किसी एक के अभाव में सिद्धांत का निर्माण संभव नहीं है। इसीलिए सिद्धांतशास्त्रियों को एक साथ वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों की भूमिका निभानी पड़ती है। जिसके अन्तर्गत उसे जहाँ एक तरफ तथ्यों और घटनाओं को एकत्रित करना होता है वहीं दूसरी ओर मूल्यों के रूप में अपने आदर्शों व लक्ष्यों को निर्धारित करना होता है। हालांकि, लोकतंत्र, मताधिकार, स्वतंत्रता, समानता और न्याय का मूल्यांकन करते समय वह अपने रुचियों से बँधा होता है लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाला सिद्धांतशास्त्री स्वयं की रुचि और आदर्शों को एक तरफ रखकर वैज्ञानिक विधियों के आधार पर सिद्धांत का निर्माण कर सकता है। इतना होते हुए भी दोनों परिस्थितियों में मूल्य-निर्धारण का महत्त्व कम नहीं होता।

राजनीतिक सिद्धांत का विषय क्षेत्र

आज के युग में राजनीति का क्षेत्र उतना ही व्यापक हो गया है जितनी कि मनुष्य की गतिविधियाँ, जीवन के प्रत्येक पहलू को राजनीति स्पर्श करती है। इसी कारण राजनीतिक सिद्धांत का विषय क्षेत्र भी व्यापक हो गया है, राजनीतिक सिद्धांतशास्त्री को अनेक विषयों से संबंधित सिद्धांत का निर्माण करना पड़ता है। अत: उदारवादी और मार्क्सवादी निश्चित विषयों से कहीं आगे निकलकर अनेक विषयों को राजनीतिक सिद्धांत के कार्य क्षेत्र में शामिल किया जाता रहा है। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतशास्त्री मुख्यत: निम्न मसलों को अपने निष्कर्षों का विषय-क्षेत्र बनाते हैं–

1. राज्य और सरकार का अध्ययन: राजनीतिक सिद्धांत के विषय क्षेत्र के अंतर्गत सर्वप्रथम राज्य और सरकार का अध्ययन आता है। प्राचीनकाल से ही राजनीतिक सिद्धांत द्वारा राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, विकास तथा कार्यक्षेत्र के बारे में विचार होता रहा है इसके साथ-साथ ही सरकार के विभिन्न रूपों जैसे–राजवंश, कुलीनतंत्र, लोकतंत्र, संसदीय अध्यक्षीय, एकात्मक, संघात्मक आदि का भी अध्ययन किया गया है तथा इनसे संबंधित कई समस्याओं जैसे–विधानमंडल एक सदनीय हो या द्विसदनीय, कुशल कार्यपालिका के क्या लक्षण हैं तथा अधिकारी तंत्र की क्या भूमिका होनी चाहिए आदि समस्याओं को राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत उठाया जाता है और उनसे संबंधित निर्णयों का भी निर्धारण किया जाता है।

2. मानवीय समूहों, वर्गों और संस्थाओं का अध्ययन: राजनीतिक सिद्धांत में राज्य और सरकार के अध्ययन के साथ-साथ समाज में निहित मानवीय समूहों विभिन्न वर्गों, संस्थाओं का भी अध्ययन किया जाता है क्योंकि समाज के इन विभिन्न रूपों से अलग रखकर राज्य या सरकार का अध्ययन संभव नहीं है। समाज में कोई भी समुदाय या वर्ग स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता इसलिए उनका दूसरे वर्गों से भी संबंध होता है। बहुलवादियों ने राज्य के अन्य समुदायों जैसे मज़दूर संघ, व्यावसायिक संघ, छात्र व महिला संघों, परिवार आदि के अध्ययन पर विशेष बल दिया है। मार्क्सवादियों का वर्ग संरचना व संघर्ष का सिद्धांत तो इसका केन्द्रबिन्दु बन गया है।

3. राजनीतिक दल प्रणाली, मताधिकार तथा चुनावी राजनीति से जुड़े प्रश्नों का अध्ययन व समीक्षा: राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत राजनीतिक दल, उनकी सरंचना व कार्यों का भी अध्ययन किया जाता है। मुख्य रूप से एकदलीय प्रणाली, द्विदलीय प्रणाली तथा बहुदलीय प्रणाली की विस्तृत चर्चा की जाती है। इसके साथ-साथ लोगों

नोट

को प्राप्त होने वाले मताधिकार और प्रतिनिधित्व के विषय में भी बहुत से सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्णयन प्रणाली जैसे विषय भी इसके अंतर्गत आते हैं।

4. मानवीय व्यवहार का अध्ययनः मानव ही समस्त गतिविधियों का केन्द्र होता है इसलिए राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत मानवीकरण व्यवहार का भी अध्ययन किया जाता है। व्यवहारवादी राजनीतिक सिद्धांतशास्त्रियों ने मानवीय व्यवहार को ही अपने अध्ययन की मूल इकाई माना है। इस मानवीय व्यवहार के अंतर्गत मनुष्य की न केवल प्रत्यक्ष क्रियाओं को बल्कि मनुष्य की प्रवृत्तियों, आस्थाएँ और आकांक्षाओं को शामिल किया जाता है। राजनीतिक सिद्धांत के अन्तर्गत ही मनुष्य की गतिविधियों को निश्चय करते हुए उनके विकास में बाधक बनने के स्थान पर उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के अनुकूल ही सिद्धांतों का निर्माण किया जाता है। इस क्षेत्र में **लासवैल, जी आमण्ड, जी मोस्का, परेटो, डेविड ईस्टन** आदि विद्वानों का विशेष योगदान रहा है।

5. राजनीतिक शक्ति का अध्ययनः राजनीतिक सिद्धांत के अन्तर्गत राजनीति शक्ति का भी अध्ययन किया जाता है। अनेक विद्वानों ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान कहा है। **मैक्स वेबर, हेरोल्ड लासवेल, जार्ज कैटालिन, राबर्ट ए. डहल आदि विद्वान शक्ति सिद्धांत के पक्षधर** रहे हैं। राजनीति शक्ति का सिद्धांत उतना ही प्राचीन है जितना की राजनीतिशास्त्र है। इसका अध्ययन प्लेटो की रिपब्लिक से लेकर आजतक हो रहा है। इस अवधारणा को विशेष बल राष्ट्र-राज्य के उदय से प्राप्त हुआ है।

6. विकास और आधुनिकीकरण की समस्याओं का अध्ययनः समाज शास्त्र के बढ़ते प्रभाव के कारण राजनीतिक सिद्धांत में कुछ नवीन अवधारणाओं को भी अपनाया गया है जिसमें समाजीकरण, विकास, गरीबी, असमानता तथा आधुनिकीकरण शामिल है। विकास और आधुनिकीकरण से उत्पन्न समस्याएँ राजनीतिक सिद्धांतों के प्रमुख संदर्भ-बिन्दु बन गए हैं। इसी कारण आज के अधिकांश सिद्धांतशास्त्री पिछड़े हुए देशों के विकास व राष्ट्र निर्माण के लिए निरंतर शोध करने में लगे हुए हैं।

जी. आमंड, डेविड एप्टर, डेविड ईस्टन, माइरन वीनर, ग्राहम वालाम, चार्ल्स मेरियम आदि का क्षेत्र में योगदान रहा है। **रजनी कोठारी** ने भारत के सामाजिक, राजनीतिक विकास का क्रमबद्ध अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि जातिवाद, सम्प्रदायवाद तथा दलित राजनीति अब भारतीय राजनीति के मुख्य केन्द्रबिन्दु बन गए हैं।

नोट्स आधुनिकीकरण से उत्पन्न एक अन्य समस्या दूषित पर्यावरण की है जिसका अध्ययन भी किया जा रहा है और ऐसे उपाय सुझाये जा रहे जिनसे न केवल पर्यावरण स्वच्छ हो बल्कि प्राकृतिक संसाधनों का भी संरक्षण किया जा सके।

7. नारीवादी सिद्धांतः राजनीतिक सिद्धांतकारों को पिछले कुछ वर्षों से नारीवादी आंदोलन काफी आकर्षित कर रहा है, आदिकाल से ही नारियों की स्थिति बड़ी ही दयनीय रही है वह परिवार की सदस्य होते हुए भी परिवार के मामले में उसका हस्तक्षेप असहनीय रहा है। न केवल समाज की उपलब्धियों से वंचित रही है बल्कि उसे पुरुष प्रधान समाज द्वारा उत्पीड़न का भी शिकार होना पड़ा है। सतीप्रथा, बालविवाह और देवदासी प्रथा ने तो उनकी स्थिति और दयनीय कर दी थी।

लेकिन 1970 के दशक में नारी मुक्ति के सवालों को लेकर बहुत गंभीर प्रयास किए गए। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं की क्या स्थिति है और राजनीतिक क्षेत्रों में उनकी भागीदारी कैसे सुनिश्चित की जाए आदि जैसे विषयों पर गहन अध्ययन होने लगा। वर्तमान में राजनीतिक सिद्धांतशास्त्री एक ऐसे समाज के निर्माण के चिन्तन में लगे जिसमें समाज के प्रत्येक पुरुष और स्त्री को राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में समान रूप से भागीदारी मिले।

नोट

8. सार्वभौमिक मूल्यों का अध्ययन: प्राचीन काल से लेकर आज तक विभिन्न विचारधाराओं का जन्म हुआ है उदारवाद, आदर्शवाद, व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, समाजवाद और गाँधीवाद ऐसी ही कुछ विचारधाराएँ हैं। इन विचारधाराओं का एकमात्र लक्ष्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जो कि स्वतंत्रता, समानता और न्याय के आदर्शों पर आधारित हो। उदारवादियों ने राजनीतिक स्वतंत्रता और नागरिक अधिकारों का समर्थन किया जिसका समर्थन मार्क्स ने भी किया लेकिन वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना के लिए उन्होंने समाज के वर्ग-भेद को समाप्त करने की बात कही। विकेन्द्रीयकरण का समर्थन गाँधीवाद द्वारा भी किया गया। वास्तव में ये भी विचारधाराएँ और उनके आदर्शों का अध्ययन राजनीतिक सिद्धांत में आज भी विशेष महत्त्व रखता है।

राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति

राजनीतिक सिद्धांत की परंपरा बहुत प्राचीन है। राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति इसके अर्थ के साथ जुड़ी है जबकि राजनीतिक सिद्धांत के अर्थ में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इसीलिए इसकी प्रकृति के बारे में भी भिन्न-भिन्न विचार पाए जाते हैं। इसलिए अध्ययन की दृष्टि से राजनीतिक चिंतन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–

परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति: परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति को शास्त्रीय चिंतन के नाम से भी जाना जाता है परंपरावादी विचारकों में मुख्यत: **प्लेटो, अरस्तु, हॉब्स, लॉक, कांट, हीगेल, मांटेस्क्यू, मिल, कार्ल मार्क्स** के नाम उल्लेखनीय है परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत की मुख्य विशेषताओं का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है–

1. वर्णनात्मक अध्ययन: परंपरागत चिंतन की मुख्य विशेषता यह है कि यह मुख्यत: वर्णनात्मक है। जिसका अभिप्राय यह है कि इसमें केवल राजनीतिक संस्थाओं और उससे संबंधित समस्याओं का वर्णन मात्र किया जाता था। उस संस्था में सुधार व समस्याओं को दूर करने के लिए कोई सुझाव या समाधान प्रस्तुत नहीं किया जाता था। अत: इस प्रकार का अध्ययन न तो व्याख्यात्मक था और न ही विश्लेषणात्मक, मात्र वर्णनात्मक था।

2. समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना: परंपरागत लेखकों के द्वारा जिन रचनाओं की रचनाएँ की गई हैं उसमें मुख्य उन समस्याओं का वर्णन किया गया है जोकि तत्कालीन समाज में मौजूद थी, अत: इन विद्वानों द्वारा उन समस्याओं के लिए स्थायी समाधान ढूँढ़ने की कोशिश की गई है। **प्लेटो** ने यूनानी नगर राज्यों में व्याप्त राजनीतिक भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए 'दार्शनिक राजा' की बात कही है वहीं दूसरी तरफ मैक्यावली ने इटली की तत्कालीन दुर्दशा को देखकर, राजा को अपने राज्य को विस्तृत तथा मज़बूत करने के लिए झूठ, कपट, हत्या अन्य सभी प्रकार के साधनों के प्रयोग करने का अधिकार व आदेश देता है। इसी प्रकार **हॉब्स** भी अराजकता की स्थिति को समाप्त करने के लिए अपनी पुस्तक 'लोवियाथन' में निरंकुश राजतंत्र का समर्थन करता है। इस प्रकार परंपरागत चिंतकों द्वारा मुख्यत: तत्कालीन समाज में मौजूद समस्याओं के समाधान की तरफ ही ध्यान दिया गया। और उनसे ही संबंधित रचना की।

3. दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र का प्रभाव: परंपरागत चिंतन की एक अन्य विशेषता यह रही कि वे धर्म और दर्शन से विशेष रूप से प्रभावित रहे हैं तथा उनमें नैतिक मूल्य विद्यमान रहे हैं। **प्लेटो** और **अरस्तु** के चिंतन में इनका कम प्रभाव दिखाई पड़ता है जबकि मध्ययुग में ईसाई धर्म ने चिंतकों के चिंतन को बहुत प्रभावित किया है। राज्य और धर्म के झगड़ों में यूरोप के कई विद्वानों द्वारा धर्म का पक्ष लिया गया है और कहा कि धर्म राज्य से प्रथम या श्रेष्ठ है तथा धर्माधिकारी राज्य के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है। इसका समर्थन सर्वप्रथम थामस एक्वीनास द्वारा किया गया। बाद में विलियम आकम ने भी इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया।

4. क़ानूनी, औपचारिक तथा संस्थागत अध्ययन: परंपरागत अध्ययन मुख्यत: क़ानून द्वारा निर्मित औपचारिक संस्थाओं के अध्ययन तक ही सीमित था तथा संस्थाओं का मात्र संरचनात्मक अध्ययन किया गया था इन विचारों

नोट

के द्वारा औपचारिक संस्थाओं के बाहर जाकर अध्ययन करने का प्रयास नहीं किया गया। लॉस्की और मुनरो आदि जैसे विद्वानों ने भी अपने अध्ययन में संस्थाओं के क़ानूनी व औपचारिक रूप का ही अध्ययन किया है।

5. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृतिः जहाँ तक आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति का सवाल है तो इसके निर्धारण में सबसे बड़ा योगदान आनुभविक पद्धतियों को रहा है। जिनके द्वारा इस बात पर बल दिया गया कि राजनीतिक अध्ययन के लिए वैचारिक पद्धति अपनाई जाए। जिसके अंतर्गत सिद्धांतों में तथ्यों और मूल्यों पर बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अब समाजशास्त्र और मनोविज्ञान जैसी विधाओं से भी खुलकर सहायता ली जाने लगी है। इनके पहले प्रभाव के कारण ही शक्ति, प्रभाव, सत्ता राजनीतिक अभिजन, राजनीतिक संस्कृति तथा राजनीतिक विकास जैसे विभिन्न अवधारणाओं का जन्म हो पाया है। शक्ति सिद्धांत विशेष योगदान चार्ल्स मेरियम और हैरोल्ड लासवैल का रहा है **वहीं मोस्का, पेरेटो और राबर्ट मिचेल्स ने 'राजनीतिक अभिजन' की धारणा को विकसित किया है। डेविड ईस्टन** ने भी 'व्यवस्था विश्लेषण' सिद्धांत के अंतर्गत निर्णय लेने की प्रक्रिया को निवेश एवं निर्गत के माध्यम से समझाया है।

निष्कर्ष (Conclusion)

राजनीतिक सिद्धान्त एक निरंतर चलने वाला संवाद है। राजनीतिक चिन्तन और परिकल्पना चलती रहेगी क्योंकि यह जीवन के उन मूल्यों के साथ सम्बन्धित है जो व्यक्ति के लिए जीने और मरने के प्रश्न होते हैं। सिद्धान्तों का उद्देश्य सामाजिक वास्तविकता के प्रति हमारी समझ में विस्तार करना और अच्छे जीवन की परिस्थितियाँ पैदा करना होता है। यह उपयुक्त सामाजिक जीवन के लिए विचार विमर्श है। यह शक्ति के सार्वजानिक प्रयोग द्वारा परिभाषित राजनीतिक जीवन की समझ है। राजनीति सिद्धान्तों का सम्बन्ध 'राजनीतिक' से है तथा 'राजनीतिक' से सम्बन्धित खोज परम्परागत दृष्टिकोण से 'अच्छे जीवन' की प्रकृति की जाँच पड़ताल रही। राजनीतिक सिद्धान्तकारों को इस प्रश्न का जवाब देना होता है कि 'राजनीतिक, क्या है? यह क्या हो सकता है और एक ऐसे विश्व में जहाँ लगातार एवं तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं, 'राजनीतिक' का अर्थ क्या हो सकता है। राजनीतिक सिद्धान्त एक उच्चतम राजनीतिक व्यवस्था का मॉडल तैयार करते हैं तथा राजनीतिक आकड़ों के क्रमबद्ध संचय तथा विश्लेषण में सहायता करते हैं । यह उस विश्व को भी प्रभावित करते हैं जिसमें हम जी रहे हैं तथा उन चयनों को भी प्रभावित करते हैं जो हम करते हैं। ये हमारे सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के सुधार एवं परिशुद्धन में भी सहायता करते हैं।

राजनीति सिद्धान्त, जहाँ तक ये तथ्यों पर आधारित है, इतिहास है; जहाँ तक यह घटनाओं का मूल्यांकन करते हैं, यह दर्शनशास्त्र है और जहाँ तक ये घटनाओं की वैज्ञानिक दृष्टिकोण की जाँच करते हैं, यह अनुभववादी है। जैसा कि डेविड हेल्ड लिखता है, समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त दार्शनिक है अर्थात् इसका सम्बन्ध अवधारणाओं एवं आदर्शों से है, यह अनुभववादी है क्योंकि यह व्याख्या एवं वर्णन से भी सम्बन्धित है तथा यह सामाजिक है क्योंकि ये इस प्रकार के मूल्यांकन से साथ जुड़े हुए हैं कि हम कहाँ हैं और कल कहाँ जा सकते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्तों का विकास दार्शनिक आदर्शवादी अतीत से आरम्भ होकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अनुभववादी सिद्धान्त तक आता है। 1970 के दशक में आदर्शवादी सिद्धान्त को एक बार फिर से जीवित किया गया। परन्तु साथ ही 1970 तथा 1980 के दशकों में इसे उत्तर-आधुनिकतावाद तथा अन्य कई प्रकार के सामाजिक आन्दोलनों, जैसे नारीवाद की चुनौती का सामना करना पड़ा। यह पुनरुत्थान मुख्यतः रॉल्स, नोज़िक तथा हैबरमास जैसे दार्शनिकों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हुआ। पुनरुत्थान के बाद राजनीतिक सिद्धान्तों में जिन विषयों को विशेष रूप से उठाया गया है, वे हैं सामाजिक न्याय तथा कल्याणकारी अधिकार। परन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया इस प्रकार का जोश हमें केवल उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्तों में ही देखने को मिलता है। वस्तुतः उन सभी विचारधाराओं, जिसमें 20वीं शताब्दी में प्रतिस्पर्धा रही, में से केवल उदारवाद ने ही विचारों के मुक्त आदान-प्रदान की आज्ञा दी।

नोट

समकालीन युग पहले के युग से काफी भिन्न है क्योंकि यह सूचना प्रौद्योगिक तथा वैश्वीकरण का युग है। जैसे-जैसे राष्ट्र-राज्य अधिकाधिक सरंध्र तथा बाहरी प्रभावों को आत्मसात कर रहे हैं, राजनीतिक सिद्धान्तों को वैश्वीकरण की आंधी तक सूचना प्रौद्योगिक की भूमिका के साथ तालमेल बिठाना है। समुदायवाद, राष्ट्रवाद, बहुसंस्कृतिवाद, विभिन्नता सिद्धान्त, अन्तर्संस्कृतिवाद, उत्तर उपनिवेशवाद, उत्तर-आधुनिकतावाद जैसे विषयों पर समकालीन चर्चाओं ने ऐसे प्रश्न उठाये हैं जिनमें राजनीति का चरित्र तथा स्थान एक राज्य की सीमाओं से बाहर है। दूसरे शब्दों में, आज राजनीतिक सिद्धान्त केवल राज्य तथा सरकार का अध्ययन मात्र नहीं रह गया है। जैसा कि लेफ्टविच लिखता है: राजनीति का अध्ययन वास्तव में सम्भावना के इतिहास तथा इतिहास की सम्भावनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताइए (State whether the following Statements are True/ False)–

7. भावनात्मक चिंतन का अर्थ है एक ऐसी मानसिक दृष्टि जो कि एक वस्तु के अस्तित्व और उसके कारणों को प्रकट करती है।
8. प्लेटो ने यूनानी नगर राज्यों में व्याप्त राजनीतिक भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए 'दार्शनिक राजा' की बात कही है।
9. मैक्स वेबर राजनीतिक शक्ति सिद्धांत के पक्षधर नहीं थे।

1.4 सारांश (Summary)

- राजनीतिक सिद्धान्त समाज की राजनीतिक घटनाओं तथा प्रक्रियाओं का वर्णन, व्याख्या और विश्लेषण करते है तथा उनकी कमियों को दूर करने के उपाय करते हैं।
- राजनीतिक सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण कार्य इन समस्याओं का गहराई से अध्ययन और विश्लेषण करके राजनेताओं को वैकल्पिक साधन प्रदान करना होता है।
- आदर्शी तथा आनुभविक सिद्धान्तों में अन्तर केवल विश्लेषणात्मक है। व्यावहारिक स्तर पर ऐसा कोई ही राजनीतिक सिद्धान्त होगा जो अनन्य रूप से केवल 'है' से सम्बन्धित हो और उसमें 'चाहिए' का तत्त्व पूर्णतया अनुपस्थित हो।
- राजनीतिक सिद्धान्तों को एक गतिविधि के रूप में देखा जा सकता है जो व्यक्ति के सार्वजनिक और सामुदायिक जीवन से सम्बन्धित प्रश्न पूछती है, उसके सम्भव उत्तर तलाश करती है तथा काल्पनिक विकल्पों का निर्माण करती है।
- राजनीति में सामान्यत: औपचारिक संरचनाओं जैसे–राज्य, शासक व शासन तथा उनके परस्पर संबंधों का अध्ययन तो किया जाता है साथ ही साथ अनौपचारिक संरचनाओं जैसे–राजनीतिक दल, दबाव समूह, युग संगठन, जनमत आदि का अध्ययन भी किया जाता है।
- आज के युग में राजनीति का क्षेत्र उतना ही व्यापक हो गया है जितनी कि मनुष्य की गतिविधियाँ, जीवन के प्रत्येक पहलू को राजनीति स्पर्श करती है।
- प्राचीनकाल से ही राजनीतिक सिद्धांत द्वारा राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, विकास तथा कार्यक्षेत्र के बारे में विचार होता रहा है इसके साथ-साथ ही सरकार के विभिन्न रूपों जैसे–राजवंश, कुलीनतंत्र, लोकतंत्र, संसदीय

नोट

अध्यक्षीय, एकात्मक, संघात्मक आदि का भी अध्ययन किया गया है तथा इनसे संबंधित कई समस्याओं जैसे–विधानमंडल एक सदनीय हो या द्विसदनीय, कुशल कार्यपालिका के क्या लक्षण हैं तथा अधिकारी तंत्र की क्या भूमिका होनी चाहिए आदि समस्याओं को राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत उठाया जाता है।

- आधुनिकीकरण से उत्पन्न एक अन्य समस्या दूषित पर्यावरण की है जिसका अध्ययन भी किया जा रहा है और ऐसे उपाय सुझाये जा रहे जिनसे न केवल पर्यावरण स्वच्छ हो बल्कि प्राकृतिक संसाधनों का भी संरक्षण किया जा सके।

1.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **समकालीन (Contemporary):** एक ही समय का, समसामयिक।
2. **उत्पीड़न (Oppression):** सताना, दबाना, अत्याचार करना।

1.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. राजनीतिक सिद्धांत से क्या अभिप्राय है? राजनीतिक सिद्धांत की विशेषताएँ बताइए।
2. राजनीतिक सिद्धांतों की परम्पराओं की व्यवस्था कीजिए।
3. राजनीतिक सिद्धांत की उपयोगिता को समझाइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. पॉलिटिक्स	2. आनुभविक वैज्ञानिक	3. आलोचना
4. (द)	5. (स)	6. (स)
7. सत्य	8. सत्य	9. असत्य।

1.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. द पॉलिटिकल थ्योरी–आर. के. परूथी।
2. पॉलिटिकल थ्योरी–एस. रामास्वामी।

नोट

इकाई–2 : शक्ति एवं सत्ता (Power and Authority)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 शक्ति का बल, प्रभाव और सत्ता से भेद (Distinction of Power with Force, Influence and Authority)

2.2 सत्ता, वैधता और प्रभाव (Authority, Legitimacy and Influence)

2.2.1 सत्ता की प्रकृति (The Nature of Authority)

2.3 औचित्यपूर्णता या वैधता (Legitimacy)

2.3.1 प्रभाव (Influence)

2.4 सारांश (Summary)

2.5 शब्दकोश (Keywords)

2.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

2.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- शक्ति को परिभाषित करने हेतु।
- सत्ता को परिभाषित करने हेतु।
- शक्ति और सत्ता में भेद बताने हेतु।
- औचित्य एवं प्रभाव को समझने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के अन्तर्गत यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे द्वारा मानव के सार्वजनिक व्यवहार को निर्धारित करने वाले और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन किया जाये और यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया जाये तो इस सम्बन्ध में जो तत्व सबसे प्रमुख रूप में उभरकर हमारे सामने आता है, वह निश्चित रूप से 'शक्ति' ही है। प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक राजनीतिक विज्ञान विषय के विद्वानों द्वारा शक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया जाता रहा है। भारत में राजनीतिक विज्ञान के जनक **कौटिल्य** ने 'दण्ड-शक्ति' जो कि शक्ति का ही पर्याय है, को राजनीति का मूल आधार माना है। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि **"समस्त सांसारिक जीवन का मूल आधार दण्ड-शक्ति ही है।"** वस्तुतः समस्त भारतीय साहित्य दण्ड-शक्ति के महत्त्व से भरा पड़ा है। पाश्चात्य राजनीतिक विज्ञान के अन्तर्गत भी यही बात देखी जा सकती है। **बैकर** (Becker) के अनुसार, **"राजनीति शक्ति से अपृथकनीय है" और कैटलिन** ने राजनीति को **'शक्ति का विज्ञान'** माना है। **बर्ट्रेण्ड रसल** ने तो शक्ति को समाज विज्ञान की मूलभूत अवधारणा के रूप में माना है और **एल. एस. अलमर** के कथनानुसार, **"सभी सामाजिक विज्ञानों में शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई भी नहीं है जितना कि राजनीतिक विज्ञान है। अरस्तु से लेकर आज तक के राजनीतिक लेखकों की विषय-वस्तु का विश्लेषण करने पर यह निस्सन्देह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति इसमें एक केन्द्रीय धारणा रही, जिसके सहारे राजनीतिक विज्ञान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया" आर. एम. मैकाइवर, बायर्सटेड, ह्वाटकिन्स** और **विलियम ए. रोबसन** आदि के द्वारा भी ऐसे विचार व्यक्त किये गये हैं।

राजनीतिक विज्ञान में शक्ति की धारणा को समझना इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि इस सम्बन्ध में जो मिथ्या विचार प्रचलित हैं, उन्हें दूर किया जा सके। **लार्ड एक्टन** का प्रसिद्ध कथन कि **'शक्ति भ्रष्ट करती है और निरंकुश शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट कर देती है',** हमारे मन और मस्तिष्क में शक्ति के प्रति एक दुर्भावना को जन्म देती है। वस्तुस्थिति यह है कि शक्ति तो सामाजिक व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक है और शक्ति के बिना किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती, केवल शक्ति अति या शक्ति के दुरुपयोग के साथ ही भ्रष्टाचार को जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार एक नैतिक धारणा के रूप में **'सत्यमेव जयते'** नितान्त औचित्यपूर्ण विचार है और मानवीय जीवन में हमारा आदर्श यही होना चाहिए, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि सत्य के पीछे शक्ति के बल होने पर ही उसके विजय की आशा की जा सकती है। यथार्थवादी दृष्टिकोण से सत्य और शक्ति एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् पूरक हैं और **पास्कल** (Pascal) ने इस आधार पर ही न्याय और शक्ति के संयोजन की आवश्यकता के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

शक्ति का अर्थ और व्याख्या

रॉबर्ट ए. डैल के मतानुसार, शक्ति के अध्ययन की प्रमुख कठिनाई यह है कि इसके अनेक अर्थ होते हैं। वस्तुस्थिति यही है और शक्ति को विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग रूप से परिभाषित किया है। शक्ति की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं:

रॉबर्ट बायर्सटेड के अनुसार, "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"[1]

मैकाइवर "शक्ति होने से हमारा अर्थ व्यक्तियों या व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने, विनियमित करने या निर्देशित करने की क्षमता से है।"

मॉर्गेन्थाउ "शक्ति का प्रयोग करने वालों तथा उनके बीच, जिन पर इसे लागू किया जा रहा है, एक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध होता है। शक्ति में वह प्रत्येक वस्तु सम्मिलित है, जिसके माध्यम से व्यक्तियों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता तथा उसे बनाये रखा जाता है।"

नोट

गोल्डहैमर तथा शिल्स के अनुसार, "एक व्यक्ति को उतना ही शक्तिशाली कहा जाता है जितना कि वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है।"

आर्गेन्सकी "शक्ति से दूसरे के आचरण को अपने लक्ष्यों के अनुसार प्रभावित करने की क्षमता है।"

लासवेल, केपलान और **हरबर्ट साइमन** ने शक्ति को **'प्रभाव प्रक्रिया'** (Influence Process) के रूप में परिभाषित किया है। उसके मतानुसार शक्ति का उपयोग करते हुए दूसरों की नीतियों और कार्यों को प्रभावित किया जाता है तथा इस प्रक्रिया में दोनों पक्षों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। **राबर्ट ए. डैल** के अनुसार, "शक्ति के लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी विशेष स्थिति का नाम है जिसके अन्तर्गत एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को प्रभावित कर उससे कुछ ऐसे कार्य कराये जा सकते हैं जो उसके द्वारा अन्यथा न किये जाते।"

लासवेल और केपलान की उपर्युक्त धारणाओं के अन्तर्गत शक्ति को प्रभाव का पर्यायवाची माना गया है। कुछ परिस्थितियों में यह सत्य होता है, लेकिन सभी परिस्थितियों में नहीं। शक्ति और प्रभाव एक ही व्यक्ति में पाये जा सकते हैं और अलग-अलग व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों में स्थित भी हो सकते हैं।

नोट्स हिटलर और चंगेज खाँ केवल शक्ति के प्रतीक थे, किन्तु नेपोलियन और लिंकन आदि में शक्ति और प्रभाव दोनों के दर्शन किये जा सकते हैं।

शक्ति और प्रभाव दोनों प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार को परिवर्तित करते हैं, किन्तु उस व्यक्ति का व्यवहार शक्ति के कारण परिवर्तित हुआ या प्रभाव के कारण इसका निर्णय स्वयं वही कर सकता है। ये दोनों एक-दूसरे के लिए वर्द्धनकारी भी हो सकते हैं।

वास्तव में शक्ति मानव जीवन का एक सरल तत्व होने के स्थान पर बहुत अधिक जटिल और **मैकाइबर** के अनुसार एक **बहुपक्षीय तत्व** है। उदाहरण के लिए, जब यह कहा जाता है कि प्रधानमन्त्री की मन्त्रिमण्डल पर कुछ शक्तियाँ हैं तो यह कथन पूर्णतया निरर्थक न होते हुए भी बहुत अधिक उपयोगी नहीं है। शक्ति का सही रूप जानने के लिए, अनेक बातों का उल्लेख करना होगा। उदाहरण के लिए, प्रधानमन्त्री की शक्ति का स्रोत, क्षेत्र एवं आधार क्या है, मन्त्रिमण्डल पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए प्रधानमन्त्री द्वारा कौन-कौन से साधन अपनाये जाते हैं, मन्त्रिमण्डल पर उसकी शक्ति की मात्रा कितनी है तथा यह शक्ति कितनी व्यापक है।

निष्कर्ष रूप में राजनीतिक शक्ति के सम्बन्ध में तीन बातें कही जा सकती हैं। **प्रथम,** राजनीतिक शक्ति धारण करने वालों में उच्च-अधीनस्थ सम्बन्ध प्रकट होना स्वाभाविक है। **द्वितीय,** राजनीतिक शक्ति का प्रयोग अन्ततोगत्वा सामान्य जनता पर होता है और उसे सत्ता का प्रयोग करने वालों की बात माननी होती है। **तृतीय,** राजनीतिक शक्ति मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध प्रकट करती है, न कि भौतिक सम्बन्ध।

2.1 शक्ति का बल, प्रभाव और सत्ता से भेद (Distinction of Power with Force, Influence and Authority)

शक्ति और बल (Power and Force)

सामान्यतया शक्ति और बल को एक ही समझ लिया जाता है, किन्तु वास्तव में इन दोनों में अन्तर है। शक्ति बल का पर्याय नहीं है, क्योंकि शक्ति प्रच्छन्न बल है और बल प्रकट शक्ति। शक्ति की पृष्ठभूमि में बल रह सकता है, किन्तु वह बिल्कुल अलग है। शक्ति अप्रकट तत्व है, बल प्रकट तत्व है। बल का अर्थ है शास्तियों (Sanctions)

नोट

की प्रयुक्ति या प्रतिबन्धों की व्यवस्था, जिसमें साधारण जुर्माने से लेकर प्राणदण्ड तक शमिल है। इस दृष्टि से शक्ति एक मनोभाव अथवा पूर्ण क्षमता है जो कि बल को सम्भव बनाती है।

रॉबर्ट बायर्सटेड के अनुसार, **"शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"** वास्तव में, बल शक्ति का एक रूप है, किन्तु बल ही शक्ति नहीं है। बायर्सटेड ने शक्ति के तीन रूप बताये हैं: बल, प्रभाव तथा प्रभुत्व। बल शक्ति के दमन में उसी प्रकार रहता है, जैसे बादल में बिजली रहती है। जब बल अमर्यादित तथा लक्ष्यहीन होता है, तब उसे दमन कहा जाता है। स्वीकृत, सीमित तथा नियन्त्रित बल को शस्तियाँ कहा जाता है, इस प्रकार शक्ति बल की तुलना में निश्चित रूप से एक व्यापक तत्व है।

राजनीतिक शक्ति एवं सैनिक शक्ति में अन्तर (Distinction between Political Power and Military Power)–यद्यपि राजनीतिक शक्ति और सैनिक शक्ति दोनों व्यापक दृष्टिकोण से शक्ति के ही प्रकार हैं, किन्तु इन्हें एक ही नहीं समझ लिया जाना चाहिए। राजनीतिक शक्ति एक जटिल शब्द है जिसमें सदैव ही शक्ति के अन्य रूप भी सम्मिलित होते हैं जैसे धन, शस्त्र-सामग्री, नागरिक सत्ता, मत पर प्रभाव आदि। सैनिक शक्ति एक स्पष्ट तत्व है तो सैन्य बल पर आधारित होता है। राजनीति में सैनिक शक्ति का स्थान अत्यन्त गौण रहता है क्योंकि शक्ति वास्तविक बल प्रयोग नहीं, वरन् बल प्रयोग की क्षमता है। **मोर्गेन्थाउ** ने राजनीतिक शक्ति को मनोवैज्ञानिक शक्ति माना है जिसके अनुसार मनुष्य दूसरे मनुष्य की क्रियाओं तथा मस्तिष्कों पर नियन्त्रण रखता है सैनिक शक्ति दमन का वास्तविक प्रयोग है। जब हिंसा या दमन का वास्तविक प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ है कि सैनिक या अर्द्ध-सैनिक शक्ति के पक्ष में राजनीतिक शक्ति ने अधित्याग (addiction) कर दिया है, किन्तु **डायक** सैनिक शक्ति को भी राजनीतिक शक्ति के अन्तर्गत रखने के पक्ष में है। उसके अनुसार संघर्ष राजनीति का मूल सार है चाहे वह शब्दों द्वारा या हिंसा द्वारा किया जाय। इस दृष्टि से सैनिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति का एक उप-विभाग समझा जाना चाहिए। फिर भी सैनिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की पृष्ठभूमि में ही रहती है।

क्या आप जानते हैं शस्त्रों, हिंसा या दमन द्वारा स्थापित सुव्यवस्था आदिम-कालीन समाज का प्रतीक है जो किसी भी सभ्य राजनीतिक समाज के लिए प्रतिष्ठा की वस्तु नहीं हो सकती है।

राजनीतिक शक्ति मनोवैज्ञानिक प्रभाव, नेतृत्व तथा स्वेच्छा जैसे तत्वों पर आधारित हो सकती हैं।

शक्ति एवं प्रभाव (Power and Influence)

समानताएँ–शक्ति और प्रभाव, यदि कुछ आधारों पर एक-दूसरे के समान हैं तो दूसरी और इनमें महत्त्वपूर्ण असमानताएँ भी हैं। **ब्रचाश और बारात** (Brachach and Barat) ने अपनी पुस्तक *'Political Power'* में इन दोनों में अनेक असमानताएँ बतायी हैं। इन लेखकों के अनुसार शक्ति एवं प्रभाव, दोनों ही बौद्धिक एवं सम्बन्धात्मक है तथा एक-दूसरे को सबलता प्रदान करते हैं। दोनों औचित्यपूर्ण हो जाने के पश्चात् ही प्रभावशाली होते हैं। प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है तथा शक्ति प्रभाव को। दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता पड़ती है। शक्ति और प्रभाव अलग-अलग व्यक्ति में हो सकते हैं और शक्ति तथा प्रभाव दोनों के दर्शन एक ही व्यक्ति में किये जा सकते हैं। शक्ति एवं प्रभाव दोनों प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं, किन्तु वह व्यक्ति शक्ति के कारण परिवर्तित हुआ या प्रभाव के कारण, यह मालूम करना कठिन होता है। इसका निर्णय तो वास्तव में स्वयं वही कर सकता है। ये दोनों एक-दूसरे के लिए वर्द्धनकारी भी हो सकते हैं।

असमानताएँ–शक्ति और प्रभाव एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी इनमें महत्त्वपूर्ण भेद हैं:

(1) शक्ति दमनात्मक होती है और उसके पीछे कठोर भौतिक बल एवं प्रतिबन्धों का प्रयोग होता है। जब शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो शक्ति से प्रभावित होने वाले व्यक्ति या समूह के पास उसे स्वीकार करने के अलावा और कई विकल्प नहीं होता। प्रभाव अनुनयात्मक, स्वेच्छापूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक होता है।

नोट

(2) शक्ति प्राय: शक्तिधारक के पास एक स्वतन्त्र तत्व के रूप में रहती है। उसका प्रयोग शक्तिधारक दूसरों की इच्छा के विरुद्ध एवं प्रतिरोध के रहते हुए कर सकता है। प्रभाव सम्बन्धात्मक होता है और उसकी सफलता का आधार प्रभावित व्यक्ति की सहमति या स्वीकृति होती है अर्थात् प्रभाव प्रभावित व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर होता है।

(3) शक्ति को अप्रजातन्त्रात्मक माना जाता है। वह प्रति-शक्ति (counter-power) को आमन्त्रित करती है तथा भय पर आधारित होती है। इसके विरुद्ध प्रभाव पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक माना जाता है। उसका अनुपालन स्वेच्छा से किया जाता है। 'प्रभाव' का प्रभाव विचार की समानताओं और मूल्यों की समरूपता के कारण होता है।

(4) शक्ति और शक्ति के प्रयोग पर अनेक सीमाएँ लगी होती हैं। शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो, उसे किसी-न-किसी तरह के प्रभाव के सहारे की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा शक्ति के दुर्बल होते ही या प्रतिबन्धों के अभाव में उसका अनुपालन नहीं किया जाएगा। प्रभाव की शक्ति असीम होती है और प्रभाव प्राप्त कर लेने पर उसका खुलकर लाभ उठाया जा सकता है क्योंकि प्रभावक और प्रभावित के बीच एक सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है सच्चे रूप में प्रभाव प्राप्त हो जाने पर शक्ति अनावश्यक हो जाती है।

(5) शक्ति का सभ्यता एवं संस्कृति के बाहरी तत्व के रूप में समझा जाना चाहिए। उसका प्रयोग निश्चित, सीमित और विशिष्ट रूप से ही किया जा सकता है। उसके प्रयोगकर्ता का स्वरूप प्राय: सुनिश्चित होता है जबकि प्रभाव प्राय: व्यक्तिगत, अमूर्त तथा अस्पष्ट होता है।

कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनमें शक्ति और प्रभाव एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् रहते हैं। एक व्यक्ति शक्ति रखते हुए भी प्रभावहीन हो सकता है। उदाहरण के लिए, 25 मार्च, 1971 से 16 दिसम्बर, 1971 तक याह्य खाँ की पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में यही स्थिति थी। उन्हें पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में केवल शक्ति प्राप्त थी, प्रभाव नहीं दूसरी ओर शेख मुजीबुर्रहमान को दिसम्बर 1971 के पूर्व पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में प्रभाव ही प्राप्त था, शक्ति या सत्ता नहीं। अत: प्रभाव को शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती और शक्ति भी बिना प्रभाव के रह सकती है।, लेकिन यह स्थिति साधारणतया लम्बे समय तक नहीं रहती। शेख मुजीब जिन्हें 16 दिसम्बर, 1971 के पूर्व केवल प्रभाव प्राप्त था, उन्होंने दिसम्बर 1971 में बंगलादेश के सम्बन्ध में शक्ति भी प्राप्त कर ली।

टास्क शक्ति और बल में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

शक्ति और सत्ता (Power and Authority)

राजनीतिक संगठन उन संरचनाओं द्वारा निर्मित होते हैं जो कि बल के प्रयोग का नियमन करती हैं तथा सामाजिक सहयोग और नेतृत्व से सम्बन्धित होती हैं। इनमें शक्ति और सत्ता का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। शक्ति व्यक्तियों, समूहों तथा भौतिक परिस्थितियों के प्रतिरोध के होते हुए भी स्वतन्त्र कार्य करने की क्षमता का नाम है। यह आदेश देने की क्षमता है। उसे अपनी इच्छा को प्रभावशाली ढंग से पूर्ण करने की योग्यता के रूप में देखा जा सकता है और यदि आवश्यकता पड़े तो दूसरों पर थोपा जा सकता है। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें दूसरे राज्यों पर अनधिकृत रूप से अधिकार किया गया अथवा उन पर विजय प्राप्त की गयी, किन्तु बाद में धीरे-धीरे उन्हें जनस्वीकृति प्राप्त हो गयी और वे सत्ता बन गये। सत्ता के बिना शक्ति असंस्थायीकृत, असाधनात्मक, परिस्थितिजन्य एवं अनिश्चित होती है। सत्ता संस्थायीकृत होने के कारण विषय-क्षेत्र और प्रकृति से निश्चित होती है।, उसके निर्देशों को बाध्यकारी मानकर पालन किया जाता है। सत्ता निश्चित, स्पष्ट तथा प्रकट होती है, इसलिए उसका विभिन्न स्तरों पर व्यक्तियों, संस्थाओं अथवा समूहों में प्रत्यायोजन किया जा सकता है। शक्ति में इस प्रकार की स्पष्टता एवं निश्चितता का अभाव होता है।

नोट

चार्ल्स ई. मेरियम ने *'Political Power'* में शक्ति और सत्ता का कोई भेद नहीं किया है, लेकिन वास्तव में इस प्रकार का दृष्टिकोण उचित नहीं है। शक्ति दमन का एक यन्त्र है और इसका प्रभाव भौतिक होता है। सत्ता सहमति पर आधारित हो सकती है और इसके साथ ही अधिक प्रभावदायक हो सकती है अनेक राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ ऐसी हैं जो कि बहुत अधिक सत्ता का प्रयोग करती हैं, किन्तु केवल सहमति पर आधारित हैं। शिक्षक, पत्रकार और जनसेवक की सत्ता शक्ति पर आधारित नहीं होती, फिर भी उसका बहुत अधिक सम्मान किया जाता है।

राजनीतिक व्यवस्थाओं और संगठनों में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि वरिष्ठ व्यक्ति के पास शक्ति, लेकिन यह अवांछित स्थिति ही है। इन दोनों का उचित सन्तुलन राजनीति की एक शाश्वत समस्या है, जिसे सफल नेतृत्व के द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था और संगठनों में सत्ता और शक्ति को सामान्य रूप से संयुक्त किया जाता है। और ऐसा किया जाना आवश्यक है क्योंकि अत्यन्त लोकप्रिय शासक को भी शासन सत्ता के संचालन के लिए सत्ता और शक्ति दोनों की आवश्यकता होती है।

शक्ति के स्रोत

शक्ति का अर्थ स्पष्टता के साथ समझने के लिए शक्ति के स्रोतों का अध्ययन किया जा सकता है। वस्तुत: शक्ति अनेक स्रोतों से उत्पन्न होकर विभिन्न रूपों में अपने-आपको प्रकट करती है। **नेपोलियन, हिटलर, लेनिन** और **गाँधी** ये सभी शक्तिशाली थे, लेकिन इतनी शक्ति के स्रोतों में भेद था। शक्ति के स्रोतों की कोई पूर्ण सूची तो देना सम्भव नहीं है, क्योंकि विचारकों में इस सम्बन्ध में बहुत अधिक मतभेद है फिर भी शक्ति के कुछ प्रमुख स्रोतों का उल्लेख निम्न रूपों से किया जा सकता है:

(1) **ज्ञान** (Knowledge)-शक्ति का प्रथम स्रोत ज्ञान है। ज्ञान अपने साधारण अर्थ में व्यक्ति को अपने लक्ष्यों को पुन: प्रबन्धित करने और मिलने की योग्यता प्रदान करता है। ज्ञान द्वारा व्यक्ति की अन्य विशेषताओं को इस प्रकार संचलित किया जाता है कि वे शक्ति का साधन बन सकें। व्यक्ति के नेतृत्व का गुण, उसकी इच्छा-शक्ति, उसकी सहन-शक्ति, अपने-आपको अभिव्यक्त करने की शक्ति आदि विभिन्न तत्व शक्ति के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। इन तत्वों में से किसी भी एक की कमी शक्ति के समस्त रूप को अकार्यकुशल बना सकती है और उसे पूरी तरह नष्ट कर सकती है।

(2) **प्राप्तियाँ** (Possessions)-ज्ञान शक्ति का आन्तरिक स्रोत हैं। इसके अतिरिक्त शक्ति का निर्धारण करने वाले बाहरी तत्व भी होते हैं, जिनमें प्राप्तियाँ सर्वाधिक प्रमुख हैं। साधारण बोलचाल के अन्तर्गत इसे ही आर्थिक शक्ति का नाम दिया जा सकता है प्राप्तियों के अन्तर्गत भौतिक सामग्री, स्वामित्व एवं सामाजिक सामग्री की शक्ति, एक व्यक्ति को समाज में प्राप्त स्थिति और स्तर आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। प्राप्तियाँ या सम्पत्ति शक्ति का एक स्रोत अवश्य है, लेकिन न तो यह एकमात्र स्रोत है और न ही निश्चित रूप से प्रभाव डालने वाला स्रोत। बिना सम्पत्ति के भी एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के कार्यों को प्रभावित कर सकता है और सम्पत्ति के होने पर भी आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों के कार्यों को प्रभावित कर सकेगा।

(3) **संगठन**-संगठन अपने-आप में शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। कहावत भी है कि **'संगठन ही शक्ति है'** (Unity is strength)। विभिन्न प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण इकाइयाँ आपस में मिलकर संघ बना लेती हैं, तो उनकी शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। आधुनिक युग के मज़दूर संघ तथा व्यापारिक संघ इसके उदाहरण हैं। शक्ति की दृष्टि से सबसे बड़ा संघ स्पष्टतया राज्य ही है और इसका एक प्रमुख कारण राज्य का सर्वाधिक संगठित स्वरूप ही है।

(4) **आकार**-अनेक बार आकार को शक्ति का परिचायक मान लिया जाता है और यह सोचा जाता है कि एक संगठन का जितना बड़ा आकार होगा, उसके द्वारा उतनी ही अधिक शक्ति का परिचय दिया जा सकेगा। आकार के साथ यदि संगठन का मेल हो, तो ऐसा होता भी है, लेकिन सभी परिस्थितियों में ऐसा नहीं होता अनेक बार ऐसा

नोट

भी होता है कि उसका बड़ा आकार उसे उलझा दे, उसे असन्तुलित बना दे और उसे परिस्थितियों के अनुकूल न रहने दे। इसी कारण अनेक बार कुछ राजनीतिक दलों द्वारा अपने आकार को घटाने के लिए **'शुद्धि आन्दोलनों'** (Purges) का आश्रय लिया जाता है।

शक्ति के स्रोत एवं आधार के रूप में विश्वास का भी पर्याप्त महत्त्व है। तलवार की शक्ति भी अन्तिम रूप से विश्वास पर ही आधारित होती है। शक्ति का एक अन्य स्रोत सत्ता होती है। शक्ति की महानता इस बात से निर्धारित की जाती है कि वह मानव मस्तिष्क पर प्रभाव डालने में कितनी सक्षम है। **प्रो. मैकाइबर** ने शक्ति के इन विभिन्न तत्वों का वर्णन करने के बाद कहा कि **"शक्ति की कार्य-कुशलता उन विभिन्न परिस्थितियों के द्वारा बढ़ती या कम होती रहती है, जिनके अधीन उसे कार्य करना है।"**

शक्ति के प्रकार

शक्ति नानारूपिणी होती है तथा इसके विभिन्न प्रकार होते हैं। शक्ति के प्रकार के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा भी अलग-अलग विचार व्यक्त किये गये हैं। **गोल्डहेमर** एवं **एडवर्ड शिल्स** के अनुसार, **"एक व्यक्ति की शक्ति उतनी ही कही जा सकती है, जितनी मात्रा में वह अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे के व्यवहार को परिवर्तित कर सके।"** व्यवहार में परिवर्तन की इस धारणा के अनुसार शक्ति तीन प्रकार की होती है: **बल, प्रभुत्व और चातुर्य** (Manipulation)। शक्तिवान व्यक्ति बल का प्रयोग करता हुआ उस समय कहा जाता है, जिस समय वह अधीनस्थ व्यक्तियों के व्यवहार को भौतिक शक्ति के माध्यम से प्रभावित करता है। जब शक्तिवान व्यक्ति अपनी इच्छा को प्रकट कर दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करता है, तो वह प्रभुत्व कहलायेगा। **'प्रभुत्व'** आदेश या आग्रह के रूप में हो सकता है। **चातुर्य** दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने का तरीका है जिसमें प्रभावित होने वाले व्यक्तियों को स्पष्ट रूप में यह नहीं बताया जाता कि शक्तिवान व्यक्ति आखिर उनसे क्या चाहता है। इस अन्तिम प्रक्रिया में विभिन्न तरीकों और प्रतीकों (symbols) का प्रयोग करते हुए प्रचार की प्रणाली को अपनाया जाता है।

मैक्स वेबर केवल औचित्यपूर्ण शक्ति का अध्ययन करता है और उसे वह सत्ता कहता है। जिसे व्यक्तियों या अधीनस्थों द्वारा स्वीकार किया जाता है या अधिकारपूर्वक माना जाता है, उसे औचित्यपूर्ण सत्ता कहते हैं। जो शक्ति औचित्यपूर्ण नहीं है उसे वेबर दमन (coercion) कहता है। वेबर ने औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख रूप बताये हैं: (*i*) **कानूनी या वैधानिक,** (*ii*) **परम्परागत,** (*iii*) **करिश्मावादी** (charismatic)। जब अधीनस्थ लोग शक्तिवान व्यक्तियों द्वारा निर्मित क़ानूनों, निर्देशों एवं डिक्रियों (Decrees) की वैधानिकता में विश्वास करते हैं, तो यह औचित्यपूर्ण शक्ति वैधानिक कहलाती है। जब शक्तिवान द्वारा प्रसारित आदेशों को परम्परा के आधार पर पवित्र माना जाये अथवा परम्परा के कारण ही वह शक्ति का प्रयोग करे, तो इसे औचित्यपूर्ण शक्ति का परम्परागत रूप कहा जायेगा। तीसरे, जब औचित्य की मान्यता का आधार शक्तिवान के व्यक्तिगत गुणों के प्रति भक्ति होती है, तो वह करिश्मावादी औचित्यपूर्ण शक्ति कही जाती है। करिश्मावादी औचित्यपूर्ण शक्ति के अन्तर्गत अनुयायियों को अपने नेता की विशेषताएँ प्राय: अद्वितीय प्रतीत होती हैं और उसके सम्मुख वे पूर्ण समर्पण कर देते हैं। पं. नेहरू को अपने प्रधानमंत्री काल के अधिकांश वर्षों में और 1971-72 **के वर्षों में श्रीमती गाँधी को भारतीय जनता पर करिश्मावादी शक्ति ही प्राप्त थी।**

बायर्सटेड ने भी शक्ति के अनेक आधारों पर कई प्रकार बताये हैं: (*i*) दृश्यता के आधार पर शक्ति अदृश्य या प्रकट हो सकती है शक्ति के अदृश्य रूप को प्रच्छन्न (latent) शक्ति कहा जायेगा तथा उसका प्रकट रूप अभिव्यक्त होने पर उसे सत्ता, बल आदि कहा जायेगा। (*ii*) दमन की दृष्टि से शक्ति **दमनात्मक या अदमनात्मक** हो सकती है, (*iii*) औपचारिकता की दृष्टि से वह औपचारिक तथा अनौपचारिक हो सकती है, (*iv*) शक्ति प्रयोग की दृष्टि से यदि शक्ति का प्रयोग स्वयं धारक द्वारा किया जाय तो उसे प्रत्यक्ष और अधीनस्थों द्वारा प्रयुक्त हो, तो उसे अप्रत्यक्ष कहा जायेगा।

नोट

(1) शक्ति प्रवाह या दिशा की दृष्टि से वह एकपक्षीय, द्विपक्षीय या बहुपक्षीय हो सकती है।

(2) केन्द्रीकरण के दृष्टिकोण से वह केन्द्रित, विकेन्द्रित अथवा विस्तृत हो सकती है। केन्द्रित में केन्द्रीय सत्ता का नियन्त्रण होता है, विकेन्द्रित होने पर शक्तियाँ अनेक अधीनस्थ निकायों का स्वायत्त या अर्द्ध-स्वायत आधारों पर प्रदान की जाती हैं। विस्तृत शक्ति का स्वरूप बिखरा हुआ, अस्पष्ट एवं प्रस्तुत होता है जैसे जनशक्ति।

(3) क्षेत्रीयता के आधार पर वह अन्तर्राष्ट्रीय या भूखण्ड विशेष से संबंधित होती है।

(4) शक्ति की मात्रा एवं प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न राज्यों को महान, मध्यम तथा निम्न शक्तियाँ कहा जाता है। इस प्रकार की शक्ति के अनेक स्वरूप हो सकते हैं।

शक्ति का प्रयोग एवं सीमाएँ

शक्ति का प्रयोग विभिन्न प्रकार की शास्तियों (sanctions) या साधनों के आधार पर किया जाता है; जैसे पुरस्कार, दण्ड, आर्थिक लाभ देना या रोकना आदि। इन साधनों की मात्रा एवं प्रकार देश, काल तथा संस्कृति विशेष के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। शक्ति का प्रयोग करते हुए पिटाई, जेल, जुर्माना, अपदस्थीकरण या अपमान इसमें से किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है। इसी प्रकार संस्था पर शक्ति का प्रयोग करते हुए धमकी या प्रलोभन में से किसी को भी आवश्यकतानुसार चुना जा सकता है। उदाहरण के लिए, अमरीका का राष्ट्रपति वहाँ की कांग्रेस पर अपना प्रभाव जमाने के लिए या तो काँग्रेस सदस्यों एवं उनके अनुयायियों को पदों का प्रलोभन देता है अथवा विशेष सम्मेलन बुलाने या मतदाताओं से सीधे अपील करने की बात कहता है अथवा विधेयक विशेष पर निषेधाधिकार के प्रयोग की धमकी देता है। इनमें से एक साधन के असफल रहने पर दूसरे साधन को अपनाया जा सकता है। सामान्यतया शक्ति प्रयोग में सफलता प्राप्त होती है, लेकिन कभी-कभी इसमें असफल भी रहना होता है।

किन्तु शक्ति का प्रयोग स्वच्छन्द नहीं होता और उसके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध तथा सीमाएँ आदि होती हैं। ये सीमाएँ अनेक बातों से सम्बन्ध रखती हैं जैसे **इतिहास और परम्पराएँ, सहमति या स्वीकृति प्राप्त करने की आवश्यकता के तरीके, राजनीतिक विकास का प्रभाव, धर्म, नैतिकता एवं समूहों का दबाव आदि।** शक्ति की सीमाएँ प्रयोगकर्ता के लक्ष्य एवं उद्देश्यों, उसकी क्षमता, पारस्परिक सम्बन्धों, प्रतियोगिता, कार्य-पद्धतियों और वातावरण सम्बन्धी कारणों आदि से भी उत्पन्न होती हैं।

राजनीति विज्ञान में शक्ति का दृष्टिकोण

राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक प्रमुख उद्देश्य यह जानना होता है कि शक्ति किसके हाथ में है और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है। इसी कारण वर्तमान समय के राजनीतिक विचारक राज्य के विचार को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा शक्ति की धारणा व्यक्त करने में अधिक रुचि ले रहे हैं। वस्तुत: शक्ति राजनीतिक अनुसन्धान का हृदय है और इसका स्पष्ट लाभ यह है कि इसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने वाली क्रिया को समझा जा सकता है, लेकिन कुछ समय पूर्व तक शक्ति के विचार को राजनीतिक अध्ययन में उचित स्थान प्राप्त था। प्राचीन काल में शक्ति की धारणा को असीमित या निरंकुश शक्ति से सम्बद्ध समझा जाता था और इसी कारण इसके प्रति सन्देह उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था।

वर्तमान समय में शक्ति की धारणा ने पर्याप्त महत्त्व और लोकप्रियता प्राप्त कर ली है और **जार्ज कैटलिन** तथा **हैरल्ड डी. लासवेल** ने इस धारणा पर विस्तार से विचार व्यक्त किये हैं। **लासवेल वर्तमान युग का सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली शक्ति शोधकर्ता है।**

जार्ज कैटलिन के विचार–राजनीति शास्त्र में **जार्ज कैटलिन** वह प्रथम व्यक्ति था, जिसने शक्ति को केन्द्रबिन्दु बनाकर व्यवस्थित सिद्धान्त अथवा संकल्पनात्मक संरचना का विकास किया। जार्ज कैटलिन ने शक्ति को राजनीतिक

नोट

जीवन का प्राथमिक तत्व माना है। कैटलिन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अपनी कामनाओं को पूरा करने की इच्छा होती है और यही इच्छा उसके समस्त कार्यों का आधार है। अपनी इच्छा लागू करने के लिए अन्य लोगों की इच्छाओं को नियन्त्रित करना आवश्यक हो जाता है और व्यक्ति जब इस दिशा में चेष्टा करता है, तभी शक्ति या संघर्ष के तत्व का उदय हो जाता है।

शक्ति का अध्ययन पूर्णरूप से यह स्पष्ट नहीं करता कि सरकार समाज को किस प्रकार नियन्त्रित करती है अथवा व्यवस्था की स्थापना कैसे करती है, वरन् इसके द्वारा इस व्यापक समस्या पर विचार किया जाता है कि एक व्यक्ति या समूह दूसरों की इच्छाओं को किस प्रकार प्रभावित करता है। कैटलिन का विचार है कि **"इच्छाओं के संघर्ष को राजनीति विज्ञान का आधार बनाया जाए तो राजनीति विज्ञान की शेष विषय-वस्तु स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी।"**

लासवेल के विचार-शक्ति की अवधारणा का सबसे विस्तृत विश्लेषण हमें लासवेल और कैपलान की रचनाओं में मिलता है। यद्यपि कैटलिन और लासवेल दोनों ही विचारक शक्ति पर ज़ोर देने के सम्बन्ध में एकमत हैं, लेकिन लासवेल ने राजनीति के अध्ययन को कैटलिन की अपेक्षा कुछ व्यापक दृष्टि से देखा है और इसलिए उनके निष्कर्ष भी भिन्न प्रकार के हैं।

लासवेल का विचार है कि राजनीति विज्ञान मूल रूप से एक शक्ति प्रक्रिया नहीं है, वरन् यह समाज के मूल्यों की स्थिति एवं बनावट में परिवर्तन का अध्ययन है, अत: राजनीति विज्ञान में शक्ति एवं मूल्य दोनों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए और इन दोनों की परस्पर-निर्भरता को भी स्पष्ट किया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी पुस्तक **'कौन, कब, क्या, कैसे प्राप्त करता है'**(*Who gets, What, When and How*) में स्पष्ट किया है कि उच्च राजनीतिक वर्ग के पास जो शक्ति होती है, उसका स्रोत क्या होता है? यह पुस्तक मुख्य रूप से उन साधनों का वर्णन करती है, जिसके माध्यम से उच्च वर्ग के लोग शक्ति के पद पर पहुँचते हैं और कायम रहते हैं तथा अपनी सुरक्षा, आय और आदर को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यदि हम राजनीतिक विचार को बदलते हुए मूल्यों के रूप का अध्ययन मानें तो लासवेल की यह पुस्तक सम्पूर्ण प्रक्रिया के केवल एक छोटे भाग मात्र को अभिव्यक्त करने वाली समझी जायेगी। अनेक विचारकों ने लासवेल की धारणा को एक संकीर्ण विचारधारा माना है, क्योंकि इनके आधार पर लासवेल ने राजनीति विज्ञान की सम्पूर्ण विषय-वस्तु को शक्ति के लिए संघर्ष मान लिया है। इसके बाद लासवेल की एक अन्य पुस्तक **'शक्ति और समाज '**(*Power and Society*) प्रकाशित हुई और इस पुस्तक में उन्होंने मूल्यों के वितरण को भी राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन में सम्मिलित कर लिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)-

1. 'शक्ति निर्दिष्ट प्रभावों की उत्पत्ति है' इस कथन के लेखक हैं:
   (अ) लासवेल (ब) बर्ट्रेण्ड रसेल
   (स) लास्की (द) प्लेटो
2. बायर्सटेड ने शक्ति के प्रकार बतलाए हैं:
   (अ) तीन (ब) चार
   (स) पाँच (द) छ:
3. अनुपालना की प्रत्याशा और इच्छा होती है:
   (अ) सत्ता में (ब) स्वतन्त्रता में
   (स) समानता में (द) न्याय में

नोट

2.2 सत्ता, वैधता और प्रभाव (Authority, Legitimacy and Influence)

"सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है।" —बायर्सटेड

राजनीति में सत्ता की भूमिका

सत्ता को **राज व्यवस्था रूपी 'शरीर की आत्मा'** कहा जा सकता है। यह शक्ति, प्रभाव और नेतृत्व का मूल उपकरण है और नीति निमार्ण, समन्वय, अनुशासन और प्रत्यायोजन (delegation) आदि राजनीतिक प्रक्रियाएँ सत्ता के आधार पर ही सम्भव होती हैं। औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकार के संगठनों में सत्ता को महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है और राजनीतिक जीवन में सत्ता की अवहेलना नहीं की जा सकती। कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह बिना औपचारिक सत्ता के होते हुए भी एक विशेष परिस्थिति में सत्ता धारण किये रह सकता है। लोकतन्त्र में सत्ता का अधीनस्थों अर्थात् जनता के द्वारा स्वीकृत किया जाना महत्त्वपूर्ण होता है। राज व्यवस्थाओं एवं राजनीति में सत्ता की मात्रा को बढ़ाना आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण होता है, राजनीतिक लक्ष्यों की सिद्धि इसी से सम्बन्धित होती है और बहुत अधिक सीमा तक इसी पर निर्भर करती है।

सत्ता की अवधारणा : अर्थ एवं व्याख्या

समाज विज्ञानों के अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान कोश के अनुसार सत्ता को कई प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। सत्ता की अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं, किन्तु अपने सभी रूपों में सत्ता शक्ति, प्रभाव एवं नेतृत्व से जुड़ी हुई है। सत्ता की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं:

बायर्सटेड 'सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है।'

बीच (Beach) के अनुसार, "दूसरों के कार्य निष्पादन को प्रभावित या निर्देशित करने का औचित्यपूर्ण अधिकार सत्ता है।"

हेनरी केयोल के अनुसार, ''सत्ता आदेश देने का अधिकार और आदेश का पालन करवाने की शक्ति है।''

ऐलन के अनुसार, "सौंपे गये कार्यों के निष्पादन को सम्भव बनाने हेतु प्रदान की गई शक्तियाँ एवं अधिकार सत्ता कहलाते हैं।"

थियो हैमेन ने सत्ता की परिभाषाएँ कुछ अधिक स्पष्टता के साथ दी हैं। उनके अनुसार, "सत्ता वह वैधानिक शक्ति है जिसके आधार पर अधीनस्थों को काम करने के लिए कहा जाता है तथा उन्हें बाध्य किया जा सकता है और आदेश के उल्लंघन पर आवश्यकतानुसार प्रबन्धक उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है। यहाँ तक कि उनको कार्य से भी पृथक् कर सकता है।"

उपर्युक्त सभी विद्वानों ने सत्ता को निर्णय लेने, आदेश देने और आदेश का पालन कराने वाली उच्च स्तरीय शक्ति के रूप में परिभाषित किया है। इन सभी परिभाषाओं में सत्ता के औपचारिक पक्ष को या मात्र कानूनी पक्ष को ही दृष्टि में रखा गया है तथा इस प्रकार ये परिभाषाएँ सत्ता के केवल एक ही पक्ष को स्पष्ट करती हैं। सत्ता आदेश देनी वाली उच्चस्तरीय शक्ति है, लेकिन केवल इस स्थिति के कारण ही सत्ताधारी के आदेशों का पालन नहीं होता है। आदेशों के पालन का एक आधार अधीनस्थ अथवा जिन्हें निर्देश दिए जाते हैं, उनकी सहमति होता है। अधीनस्थ जब इस बात को स्वीकार करते हैं कि आदेशों के स्रोत सही या उचित है, तब ही आदेश देने वाले अधिकारी को 'प्राधिकारी' (सत्ताधारी) कहा जाता है। सत्ता शक्ति के समान 'शास्तियों' (Sanctions) के आधार पर नहीं अपितु उचित होने के कारण दूसरों के व्यवहार को अपने अनुकूल बनाकर प्रभावित करने का साधन है। **यूनेस्को** की एक रिपोर्ट के अनुसार, **"सत्ता वह शक्ति है जो कि स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण हो।"**

मेरी पार्कर फॉलेट, चेस्टर बर्नार्ड और **साइमन** आदि के विद्वान जिनके द्वारा व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष को दृष्टि में रखते हुए सत्ता की व्याख्या की गई है, वे सत्ता के प्रसंग में औचित्य तथा अधीनस्थों की सहमति को अधिक महत्त्व देते हैं। इन विद्वानों के अनुसार सत्ता आदेश देने वाली उच्च स्तरीय शक्ति और आदेशों का पालन

नोट

करने वाले अधीनस्थों के बीच सहमति पर आधारित सम्बन्धों को जन्म देती है। इस दृष्टि से **साइमन** की परिभाषा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार, "अधिकार सत्ता, निर्णय लेने एवं अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं को मार्गदर्शित करने की शक्ति है। यह दो व्यक्तियों के बीच उच्चाधिकारी एवं अधीनस्थ का सम्बन्ध है। उच्चाधिकारी निर्णय लेता है और आशा करता है कि अधीनस्थ द्वारा उसका पालन किया जाएगा। अधीनस्थ ऐसे ही निर्णयों की आशा करते हैं और उनके व्यवहार इन निर्णयों से निर्धारित होते हैं।"

इस प्रकार सत्ता के दो पक्ष हैं: प्रथम, निर्णय लेने और आदेश देने वाली उच्च शक्ति तथा द्वितीय, उच्च शक्ति को प्राप्त अधीनस्थों की सहमति। इन दोनों तत्वों को दृष्टि में रखते हुए अपने शब्दों में सत्ता को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है:

"अधिकार-सत्ता, निर्णय लेने, आदेश देने तथा उनका पालन करवाने की वह शक्ति, स्थिति या अधिकार है, जिसे अधीनस्थों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है और संगठनात्मक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अधीनस्थों द्वारा जिसका पालन आवश्यक होता है।"

2.2.1 सत्ता की प्रकृति (The Nature of Authority)

सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार भेद है और इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों ही सिद्धान्त **प्रो. बीच** (Beach) द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं जो निम्न प्रकार हैं:

1. **औपचारिक सत्ता सिद्धान्त** (Formal Theory)-इस सिद्धान्त के अनुसार सत्ता को आदेश देने का अधिकार माना जाता है और सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर चलता है। यह अधिकार व्यवस्थाओं एवं संगठनों में विशिष्ट एवं वरिष्ठ अधिकारियों को दिया जाता है और इससे आदेश या सत्ता का पदक्रम बन जाता है।

सत्ता के पीछे व्यवस्था या संगठन की औचित्यपूर्ण शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण उसे स्वीकार किया जाता है। सत्ता आवश्यक रूप से सत्ताधारी की व्यक्तिगत श्रेष्ठता को नहीं बतलाती। सत्ताधारी तो व्यवस्था या संगठन में अन्तर्निहित शक्ति का कार्यशील प्रतीक मात्र है। **मैकाइवर** ने इसे **'शासन का जादू'** कहा है कि एक व्यक्ति जो आदेश देता है, वह भले ही अपने अधीनस्थों से अधिक बुद्धिमान न हो, अधिक योग्य न हो और किसी भी दृष्टि से अपने सामान्य साथियों से श्रेष्ठ न हो, कभी-कभी तो उसका स्तर इन सबसे हीन भी हो सकता है, लेकिन वह सत्ता की स्थिति में होने के कारण आदेश-निर्देश देता है और उसके आदेशों का पालन किया जाता है।

2. **स्वीकृति सिद्धान्त** (Acceptance Theory)-व्यवहारवादी या मानव सम्बन्धवादी औपचारिक सत्ता सिद्धान्त में विश्वास न रखते हुए 'स्वीकृति सिद्धान्त' का प्रतिपादन करते हैं। इन यथार्थवादी अध्ययनकर्ताओं के अनुसार, सत्ता कानूनी रूप से तो केवल औपचारिक होती है, किन्तु वास्तव में सत्ता या आदेश के अधिकार की सफलता अधीनस्थों की स्वीकृति पर निर्भर करती है। जब अधीनस्थ अपनी समझ और योग्यता के दायरे में आदेशों को स्वीकार कर लेते हैं तो यह स्थिति 'सत्ता स्थिति' बन जाती है। **बर्नार्ड** अपनी रचना *'The Functions of the Executive'* में लिखते हैं कि अधीनस्थ आदेशों को स्वीकार करें, इसके लिए चार शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं: (*i*) अधीनस्थ अधिकारी आदेश अथवा सूचना को समझता या समझ सकता हो, (*ii*) अपने निश्चय करने के समय उसका यह विश्वास हो कि आदेश संगठन के उद्देश्यों के साथ असंगत नहीं है, (*iii*) निर्णय लेने के समय में वह यह सोचता हो कि एक समग्रता के रूप में सम्बन्धित आदेश उसके व्यक्तिगत हितों के अनुकूल है तथा (*iv*) वह मानसिक और शारीरिक दृष्टि से उस आदेश के अनुपालन की क्षमता रखता हो।

वस्तुत: सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रतिपादित इन दोनों ही सिद्धान्तों की अपनी दुर्बलताएँ हैं और इन्हें अतिवादी कहा जा सकता है। इन दोनों सिद्धान्तों की सत्यताओं को ग्रहण करते हुए एक सन्तुलित दृष्टिकोण का विकास हुआ है, जिसके अन्तर्गत सत्ता की अवधारणा में **संस्थाकृत औचित्यपूर्ण शक्ति** और **अधीनस्थों की स्वीकृति** दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। यही उचित दृष्टिकोण है और राजनीति विज्ञान में सामान्यतया इसी को अपनाया गया है।

नोट

सत्ता के स्रोत या सत्ता के प्रकार

सत्ता की अवधारणा की विवेचना सुकरात, प्लेटो, ऑगस्टाइन आदि के समय से होती रही है, किन्तु इसकी विस्तृत विवेचना बीसवीं सदी में राजनीतिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषक **मैक्स वेबर** द्वारा प्रस्तुत की गयी है। सत्ता एवं औचित्यपूर्णता का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और मैक्स वेबर ने इस सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए औचित्यपूर्ण के आधार पर सत्ता के स्रोतों एवं प्रकारों का वर्णन किया है। उसके अनुसार अपने स्रोत के आधार पर सत्ता तीन प्रकार की होती है:

1. **परम्परागत** (Traditional)-जब प्रजा या अधीनस्थ वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ऐसा सदैव से होता आया है, तो सत्ता का यह प्रकार परम्परागत कहा जायगा। इस प्रकार परम्परागत सत्ता का अभिप्राय शासन के उस अधिकार से है जो राजनीतिक शक्ति से अनवरत प्रयोग से उभरता है। इस प्रकार की सत्ता में 'प्रत्यायोजन' (delegation) मात्र अस्थायी रूप से किया जाता और पूर्ण रूप से सर्वोच्च सत्ताधारी की इच्छा पर निर्भर करता है। अधीनस्थ सेवक समझे जाते हैं और वे आज्ञापालन परम्पराओं के प्रतीक विशेष व्यक्ति के कारण करते हैं, जैसे, राजतन्त्र में राजा।

2. **बौद्धिक कानूनी या वैधानिक नौकरशाही सत्ता** (Rational Legal or Legal Bureaucratic Authority)-जब अधीनस्थ किसी नियम को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि वह नियम उन उच्चस्तरीय अमूर्त नियमों के सम्मत है जिसे वे औचित्यपूर्ण समझते हैं, तब इस स्थिति में सत्ता को बौद्धिक-कानूनी माना जाता है। यह सत्ता संवैधानिक नियमों के अन्तर्गत धारण किये गये पद से प्राप्त होती है। अमेरिका में जब राष्ट्रपति पद का कोई उम्मीदवार निर्वाचक मण्डल का बहुमत प्राप्त कर लेता है अथवा जब भारत में लोकसभा के बहुमत सदस्य किसी को भी अपना नेता निर्वाचित कर उसे प्रधानमन्त्री पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं; तब यह सत्ता का बौद्धिक-तार्किक आधार ही होता है। इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन बौद्धिक आधार पर किया जाता है और कर्मचारीगण वैधानिक रूप से स्थापित निर्वैयक्तिक आदेशों के आधार पर आज्ञापालन करते हैं। सत्ता का यह रूप आधुनिक नौकरशाही को अपने विशुद्ध रूप में प्रकट करता है।

3. **करिश्मात्मक सत्ता** (Charismatic Authority)-जब अधीनस्थ वरिष्ठ सत्ताधारी के आदेशों को इस आधार पर न्यायसंगत मानते हैं कि उन पर सत्ताधारी का व्यक्तिगत प्रभाव है, तब इसे करिश्मात्मक सत्ता कहते हैं। इस सत्ता की स्थिति में प्राय: कोई प्रत्यायोजन नही होता और अधीनस्थ कर्मचारी सत्ताधारी के व्यक्तिगत सेवक के रूप में आचरण करते हैं। अधीनस्थ अनुयायी होते हैं और अपने प्रिय नेता के करिश्माती एवं आदर्शवादी व्यक्तित्त्व के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं। स्पष्टतया मैक्स वेबर केवल औचित्यपूर्ण सत्ता का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। मैक्स वेबर बतलाता है कि बौद्धिक-कानूनी सत्ता कमज़ोर एवं भंजनशील होती है, अत: उसे सबलता प्रदान करने के लिए उसमें परम्परागत एवं करिश्माती तत्वों को शामिल किया जाना चाहिए।

संगठनात्मक सत्ता के विभिन्न प्रतिमान

(मैक्स वेबर के आधार पर)

सत्ता का प्रकार	*कर्मचारी वर्ग का संगठनात्मक प्रकार*	*सत्ता प्रयोग की प्रकारात्मक विधि*	*जिसके प्रति कर्मचारी वर्ग आज्ञापालक है।*
परम्परागत	सेवक	तदर्थ प्रत्यायोजन	नेता का व्यक्तित्व और परम्परा
बौद्धिक-कानूनी	ब्यूरो/विभाग	बौद्धिक प्रत्यायोजन	कानूनी रूप से स्थापित व्यक्तिगत व्यवस्था
करिश्मात्मक	व्यक्तिगत कर्मचारी सेवक	प्रत्यक्ष प्रत्यायोजन नहीं	नेता का आदर्शीकृत और चमत्कारिक व्यक्तित्व

नोट

संस्थात्मक शक्ति की दृष्टि से सत्ता का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है और इस सत्ता के आधार पर व्यापक सन्दर्भ में सत्ता के और भी प्रकार हो सकते हैं: (*i*) क्षेत्रीयता की दृष्टि से राष्ट्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय, (*ii*) अपेक्षाकृत व्यापक सन्दर्भ की दृष्टि से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय, (*iii*) संवैधानिक दृष्टि से संविधान से प्राप्त अथवा साधारण कानूनों से प्राप्त, (*iv*) सरकार के परम्परागत अंगों के आधार पर कार्यपालिका व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका सम्बन्धी, (*v*) राजनीतिक दृष्टि से राजनीतिक तथा प्रशासनिक, (*vi*) विभिन्न विषयों की दृष्टि से सत्ता आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, तकनीकी आदि हो सकती है।

सत्ता के ये विभिन्न रूप सत्ता-प्रयोग की दृष्टि से ही बतलाये जा सकते हैं और सत्ता के इन तथाकथित रूपों में परस्पर कोई मूल अन्तर नहीं है।

सत्ता के आधार

सत्ता एक ऐसा स्वतन्त्र परिवर्त्य है जिसका शक्ति, प्रभाव आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सत्ता के अनेक स्रोत एवं आधार होते हैं। सत्ता का मूल आधार तो औचित्यपूर्णता ही है क्योंकि सत्ता के आदेशों का पालन सत्ताधारी और अधीनस्थ के बीच मूल्यों की समानता के आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त विश्वास, विचारों की एकरूपता, विभिन्न दण्ड विधान, अधीनस्थों की प्रकृति, पर्यावरणात्मक दबाव आदि भी सत्ता के आधार रूप में कार्य करते हैं। पर्यावरणात्मक दबाव आन्तरिक और बाहरी दोनों ही रूपों में होते हैं। राज व्यवस्थाओं में आन्तरिक दबाव आन्तरिक राजनीतिक संरचनाओं जैसे, संविधान, प्रशासनिक संगठन, पदानुक्रम में आयोजित विभिन्न पदों तथा इन पदाधिकारियों के अधिकार तथा शक्तियों के रूप में होते हैं। इसके अतिरिक्त सत्ताधारी की कार्यकुशलता और वैयक्तिक गुण भी सत्ता के आधार के रूप में कार्य करते हैं। अपने राज्य का भलीभाँति अस्तित्व बनाये रखने की इच्छा, बाहरी दबाव के रूप में सत्ता के आधार का कार्य करती है।

सत्ता को स्वीकार करने के लिए अधीनस्थ के पास एक **'तटस्थता का क्षेत्र'** (Zone of indifference) होता है जिसके अन्तर्गत आने वाले मामलों में वह सत्ता के आदेशों को आँख मींचकर स्वीकार करता है। स्वीकृति का क्षेत्र सीमित होता है तथा घटता-बढ़ता रहता है। सामान्यतया अधीनस्थ की यह प्रवृत्ति रहती है कि वह प्रत्येक विषय में प्राधिकारी के आदेशों का पालन करे, क्योंकि ऐसा करने में वह उत्तरदायित्व से बच जाता है। अधीनस्थ की दृष्टि से आवश्यक है कि आदेश समस्त संगठन के लिए हितकारी हों तथा उसके व्यक्तिगत हित में भी हों। वह पुरस्कार, प्रशंसा, लालच या दण्ड के भय से भी आदेशों को पालन कर सकता है। जब सत्ताधारी में कोरी सत्ता के अलावा, नेतृत्व तथा अन्य व्यक्तिगत गुण हों, तब अधीनस्थ के लिए आदेशों का पालन स्वाभाविक हो जाता है। सत्ता की कुशलता उस समय सर्वाधिक हो जाती है जबकि सत्ताधारी और अधीनस्थों के बीच मूल्यों की समानता स्थापित हो जाती है। सत्ता की स्वीकृति का यह क्षेत्र असीमित नहीं होता और न ही अपरिवर्तित रहता है। सत्ताधारी की स्थिति, सत्ताधारी और अधीनस्थ के बीच सम्बन्धों की स्थिति और अन्य तत्वों के आधार पर इसमें कमी और वृद्धि होती रहती है।

सत्ता पालन के आधार

सत्ता के प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि व्यक्ति सत्ता का पालन क्यों करते हैं। सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से प्रतिपादित दो सिद्धान्तों: औपचारिक सत्ता सिद्धान्त और स्वीकृति सिद्धान्त, में इस प्रश्न की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त **मैक्स वेबर, मेरी पार्कर फॉलेट** और **चेस्टर बर्नार्ड** के द्वारा भी इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त किए गये हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में **साइमन** के विचार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। साइमन ने सत्ता पालन के प्रमुख रूप से चार आधार बतलाए हैं, जो इस प्रकार हैं:

1. **विश्वास**-विश्वास, सत्ता के पालन के सम्भवतया सबसे प्रमुख आधार है। अधीनस्थ सत्ताधारी के प्रति विश्वास के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं। इसी कारण सत्ताधारी के प्रति अधीनस्थों का विश्वास जितना गहरा

नोट

होता है सत्ताधारी के आदेशों का पालन उतना ही सरल और स्वाभाविक हो जाता है, लेकिन जब विश्वास की स्थिति को आघात पहुँचता है तो सत्ताधारी के लिए आदेशों का पालन करवाना उतना ही कठिन हो जाता है और आदेशों का पालन करवाना उतना ही कठिन हो जाता है और आदेशों का पालन करवाने के लिए दबाव की शक्ति का सहारा लेना होता है।

2. **एकरूपता:** यह मानव स्वभाव है कि वह उन लोगों के परामर्श, सुझाव और आदेशों को अधिक महत्त्व देता है जो उसके साथ विचारों और आदर्शों की एकरूपता रखते हैं। सत्ता पालन के प्रसंग में एकरूपता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए ही राज व्यवस्थाएं उदारवाद, साम्यवाद या फासीवाद में से अपने अनुकूल किसी विचारधारा का प्रतिपादन करती हैं तथा राजनीतिक नेतृत्व अधीनस्थों एवं सामान्य नागरिकों को अपने अनुकूल ढालने का प्रयत्न करता है।

3. **दबाव:** अनेक बार दबाव और बाध्यकारी शक्ति सत्ता पालन के आधार के रूप में कार्य करते हैं। प्रत्येक संगठन और प्रत्येक राज व्यवस्था में अल्प संख्या में ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन पर विश्वास या एकरूपता का प्रभाव कम पड़ता है और जो दमन और दबाव की भाषा ही समझते हैं। सत्ताधारी का प्रयत्न यह होना चाहिए कि सत्ता पालन के प्रमुख आधार के रूप में दबाव को अपनाने की आवश्यकता न पड़े। इस दृष्टि से आवश्यक है कि सत्ताधारी के आदेशों का औचित्य स्वत: स्पष्ट हो।

4. **वैधानिकता:** प्रत्येक संगठन में एक पद सोपानात्मक व्यवस्था होती है और इस पद सोपान में सत्ताधारी को उच्च स्थिति प्राप्त होने के कारण सत्ता और सत्ताधारी के आदेशों को वैधता प्राप्त हो जाती है। **साइमन** के मत में, 'सत्ता को इस मान्यता के कारण स्वीकार किया जाता है कि उच्च प्राधिकारी के आदेशों का पालन किया जाना चाहिए।' वैधानिकता का महत्त्व इस बात से स्पष्ट है कि जब कभी सत्ता के प्रसंग में **'वैधता का संकट'** खड़ा हो जाता है, तब सत्ता की प्रभावशीलता को गहरा आघात पहुँचता है।

वस्तुत: ये सभी तत्व सत्ता पालन के मिले-जुले आधार के रूप में कार्य करते हैं। कभी विश्वास प्रमुख आधार बन जाता है और कभी दबाव। व्यवस्था की श्रेष्ठता का प्रतीक और प्रमाण यह होता है कि विश्वास सत्ता पालन का प्रमुख आधार हो और दबाव इस प्रसंग में गौण तत्व बना रहे।

सत्ता की सीमाएं

सत्ता के बिना व्यवस्थित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, लेकिन सभ्य और सुसंस्कृत समाज सत्ता की कुछ सीमाएं निर्धारित कर देता है, जिनका पालन किया जाना नितान्त आवश्यक होता है। सत्ता की सीमाओं का आशय है, सत्ता के प्रयोग और परिचालन पर प्रतिबन्ध जिससे सत्ता का मनमाना प्रयोग न किया जा सके। सत्ता को संवैधानिक कानूनों एवं राजनीतिक परिस्थितियों में रहकर कार्य करना होता है तथा वह संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं और नैतिक अवधारणाओं का उल्लंघन नहीं कर सकती। सत्ता की ये सीमाएं प्राकृतिक, नैतिक, उद्देश्यगत, आन्तरिक, बाहरी या प्रक्रिया सम्बन्धी भी हो सकती है। सत्ता की सीमाओं का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है:

1. **प्राकृतिक सीमा:** संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख हो अथवा न हो; किसी भी राज व्यवस्था को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह नागरिकों को उनके जीवन, सामान्य स्वतन्त्रताओं और सीमित सम्पत्ति से भी वंचित कर दे। यह सत्ता की प्रथम प्राकृतिक और अनिवार्य सीमा है और इस सीमा का उल्लंघन करने वाली सत्ता का पतन निश्चित है।

2. **नैतिक-धार्मिक विश्वास:** नैतिकता और धार्मिक विश्वास भी सत्ता की अनिवार्य सीमा है। जब कोई सत्ता नैतिकता और धार्मिक विश्वासें के प्रतिकूल आदेश देती है, तब उसका पालन करवाना बहुत अधिक कठिन हो जाता है।

नोट

3. **संस्कृतिः** संस्कृति लोगों के उस जीवन ढंग का नाम है जो अपने-आपको कला, साहित्य, धर्म, फैशन, संगीत और आचार-विचार के रूप में प्रकट करती है। सत्ता को संस्कृति या समाज के सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं हो सकता और न ही संस्कृति के क्षेत्र में उसके द्वारा कुछ किया जा सकता है।

4. **संविधान, नियम और उपनियमः** संविधान राजसत्ता का अन्तिम स्रोत होता है, अतः सर्वोच्च सत्ता के लिए भी संविधान के प्रावधानों का पालन आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक व्यवस्था कुशल कार्य-संचालन के लिए नियम-उपनियम बना लेती है। ये नियम-उपनियम भी सत्ता की सीमाएं निर्धारित कर देते हैं।

5. **आर्थिक सीमाएं:** प्रत्येक राज-व्यवस्था के आर्थिक साधन और आर्थिक क्षमताएं सीमित होती हैं। अतः ये आर्थिक साधन और क्षमताएं सत्ता को सीमित करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

6. **अधीनस्थों की क्षमताएं और अधीनस्थों द्वारा निर्मित संघः** कोई भी सत्ता अपने निर्णयों को लागू करने और आदेश मनवाने का कार्य अधीनस्थों के माध्यम से करती है। अतः अधीनस्थों की क्षमता की सीमाएं सत्ता की सीमा निर्धारित कर देती हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यवस्थाओं में प्रायः उनमें कार्य करने वाले कर्मचारी अपने निजी हितों की वृद्धि के लिए संघ आदि बनाकर सामूहिक सौदेबाजी करते हैं, यह स्थिति भी सत्ता पर अवरोध लगा देती है।

7. **अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनः** वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की आंशिक मान्यता ने भी सत्ता पर सीमाएं लगा दी हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को बाध्यकारी शक्ति प्राप्त नहीं है, लेकिन साथ ही यह सत्य है कि राजसत्ता द्वारा मनमाने तौर पर इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

इन सबके अतिरिक्त भी सत्ता की कुछ सीमाएं हैं। प्रत्येक राज-व्यवस्था के कुछ निर्धारित और उद्घोषित लक्ष्य होते हैं तथा सत्ता इन लक्ष्यों एवं आदर्शों का उल्लंघन नहीं कर सकती। सत्ता की कुछ तकनीकी सीमाएं और कुछ मनोवैज्ञानिक सीमाएं भी होती हैं।

राजनैतिक चिन्तन की सार्थकता सत्ता को सामर्थ्य प्रदान करने तथा साथ-ही-साथ उस पर सीमाएँ लगाने में ही है, जिससे सत्ता की जनहितकारिणी स्थिति बनी रहे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

4. सत्ता को राजव्यवस्था रूपी ..... कहा जा सकता है।
5. सत्ता की प्रकृति से संबंधित स्वीकृति सिद्धांत ..... द्वारा प्रतिपादित है।
6. ..... की एक रिपोर्ट के अनुसार, ''सत्ता वह शक्ति है, जो कि स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण है।''

2.3 औचित्यपूर्णता या वैधता (Legitimacy)

औचित्यपूर्णता या वैधता का महत्त्व (Importance of Legitimacy): औचित्यपूर्णता की धारणा अत्यन्त प्राचीन है, लेकिन वर्तमान समय और सन्दर्भों में इसने नवीन अर्थ प्राप्त कर लिये हैं। सभ्यता और संस्कृति तथा राजनीतिक विकास के साथ-साथ मानवीय जीवन और व्यवहार में दमनात्मक शक्ति सम्बन्धों की भूमिका कम होती जा रही है और शक्ति के अदमनात्मक तत्वों जैसे, प्रभाव, सत्ता और नेतृत्व की भूमिका निरन्तर बढ़ती जा रही है। शक्ति के दमनात्मक और अदमनात्मक-दोनों ही श्रेणी के तत्वों पर यह बात समान रूप से लागू होती है कि जब वे वैधता या औचित्यपूर्णता के साथ जुड़ जाते हैं तो उनकी शक्ति और प्रभाव बहुत बढ़ जाता है, लेकिन जब उन्हें औचित्यपूर्णता की स्थिति प्राप्त नहीं होती अथवा जब उनकी औचित्यपूर्णता पर सन्देह उत्पन्न हो जाता है, तब

नोट

मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने के सम्बन्ध में उनकी सीमाएँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। शक्ति, प्रभाव और सत्ता–औचित्यपूर्णता की स्थिति प्राप्त करके ही प्रभावशाली और दूसरों के व्यवहार को परिवर्तित करने में सफल होते हैं। **डैल** के अनुसार, राजनेतागण अपने कार्यों को औचित्यपूर्णता के वस्त्र पहनाते हैं और ऐसा हो जाने पर ही उन्हें सत्ता की स्थिति प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, प्रभाव को सत्ता के रूप में स्थापित करने का कार्य औचित्यपूर्णता के आधार पर ही सम्भव होता है। यह तथ्य इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि **मैक्स वेबर** ने केवल औचित्यपूर्ण सरकारों और सत्ताओं का ही विश्लेषण करना अपना मूल विषय माना है।

लोकतन्त्र में विशेष महत्व: सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रभावशीलता औचित्यपूर्णता पर निर्भर करती है, लेकिन लोकतन्त्रीय व्यवस्था में औचित्यपूर्णता का महत्त्व सर्वाधिक है। लोकतन्त्र जन सहमति पर आधारित शासन होता है, अत: लोकतन्त्र में भय और आतंक के आधार पर जनता से आज्ञापालन करा पाना बहुत अधिक कठिन हो जाता है, इसलिए लोकतन्त्रीय व्यवस्था को औचित्यपूर्णता की सर्वाधिक आवश्यकता पड़ती है। बल, दमन आदि का प्रयोग बहुत कम मात्रा में होना चाहिए, इनका अधिक प्रयोग किये जाने पर सत्ता अपनी औचित्यपूर्णता खो बैठती है जो कालान्तर में समस्त राजनीतिक व्यवस्था के लिए घातक स्थिति होती है। व्यक्ति और सत्ता के बीच अच्छे सम्बन्धों की स्थापना के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सत्ता के द्वारा अधिक–से–अधिक सम्भव सीमा तक औचित्यपूर्णता की स्थिति प्राप्त की जाय। अत: राजनीतिक व्यवस्थाएँ सदैव और सर्वत्र औचित्यपूर्णता की तलाश में रहती हैं। **एस. एम. लिपसेट** का कथन है कि "किसी विशिष्ट लोकतन्त्र की स्थिरता न केवल आर्थिक विकास पर ही, अपितु वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था की वैधता और क्षमता पर भी निर्भर करती है।"

औचित्यपूर्णता : अवधारणा का विकास

इस शब्द की व्युत्पत्ति, लैटिन भाषा के 'Legitumus' से हुई है और मध्यकाल में इसे 'Legitimitas' या आंग्ल भाषा में 'Lawful' अर्थात् 'वैधानिक' कहा गया। औचित्यपूर्णता के विचार या धारणा का अपना एक लम्बा इतिहास है। प्लेटो ने 'न्याय' भावना के अन्तर्गत औचित्यपूर्णता का बीजारोपण कर दिया था। उसके अनुसार प्रत्येक शासन का बुद्धिपूर्ण आधार होना चाहिए तथा उसकी जड़ें नैतिक मूल्यों, दीर्घकालीन विश्वासों और सामान्य स्वीकृति की गहराई में गयी हुई होनी चाहिए। **अरस्तु** ने कानून–शासन या संवैधानिक शासन के रूप में इस अवधारणा का चित्रण किया है। **सिसरो** ने 'Legitimum' शब्द का प्रयोग 'विधि द्वारा गठित शक्तियों या न्यायाधीशों' के लिए किया है। बाद में इसका प्रयोग प्राचीन परम्पराओं के प्रति अनुकूलता, रूढ़िगत क्रियाविधियों, संवैधानिक नियमों एवं सुव्यवस्था के तत्वों के लिए ग्रहण किया जाने लगा। मध्यकाल में अत्याचारी अथवा अपहर्ता शासक तथा न्याययुक्त शासक के बीच अन्तर बतलाते हुए इसका उल्लेख किया गया। अरस्तु से तर्क ग्रहण करते हुए **मार्सीलियो ऑफ पेडुआ** ने इस शब्द की धर्मशास्त्रीय व्याख्या के स्थान पर संवैधानिक व्याख्या प्रस्तुत की। **लॉक** ने सहमति एवं समझौते की धारणा के माध्यम से इस विचार का दृढ़ समर्थन किया।

आधुनिक युग में एक सार्वभौमिक धारणा के रूप में इसका पहली बार प्रतिपादन मैक्स वेबर द्वारा किया गया। उसके अनुसार औचित्यपूर्णता विश्वास पर आधारित होती है और राजनीतिक व्यवस्था के लिए आज्ञापालन की स्थिति प्राप्त करती है। मैक्स वेबर ने औचित्यपूर्णता के आधारों पर भी विस्तृत विचार किया है। उसने औचित्यपूर्णता के तीन आधार बतलाये हैं: परम्परागत, बौद्धिक–कानूनी और करिश्मात्मक। एक अन्य विचारक **कार्ल स्कमिट** (Carl Schmitt) ने लोकतान्त्रिक औचित्यपूर्णता की समस्या पर विचार किया है। **गुगलील्मो फैरो** (Gugleilmo Ferro) ने लोकतान्त्रिक औचित्यपूर्णता के दो आधार, (1) बहुमत तथा (2) अल्पसंख्यक विरोधी दल बताये हैं। वह मतैक्य को औचित्यपूर्णता का अनिवार्य तत्व नहीं मानता। लोकतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत औचित्यपूर्णता के प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि एक सीमित मात्रा में विरोध का अस्तित्व भी औचित्यपूर्णता का परिचायक समझा जाता है।

नोट

औचित्यपूर्णता : व्याख्या

औचित्यपूर्णता एक ऐसी स्थिति का नाम है जिसके अन्तर्गत एक राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य जन को यह विश्वास होता है कि सत्ता धारक की सत्ता और उसका प्रयोग सामान्य स्वीकृत नियमों और क्रियाविधियों पर आधारित है। **डोल्फ स्टर्नबर्जर** (Dolf Sternberger) ने इसे शासकीय शक्ति की नींव माना है जिसके अनुसार सरकार को यह चेतना रहती है कि उसे शासन करने का अधिकार है तथा दूसरी ओर शासितों द्वारा उस अधिकार को स्वीकार किया जाता है।

औचित्यपूर्णता की कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :

एस. एम. लिपसेट के अनुसार, "औचित्यपूर्णता का अभिप्राय व्यवस्था की उस योग्यता और क्षमता से है जिसके द्वारा यह विश्वास उत्पन्न किया और स्थिर रखा जाता है कि वर्तमान राजनीतिक संस्थाएँ समाज हेतु सर्वाधिक समुचित हैं।"

प्रसिद्ध आधुनिक विचारक **जीम ब्लोण्डैल** के विचारानुसार, "औचित्यपूर्णता से अभिप्राय वह सीमा है जिस सीमा तक लोग उस संगठन को, जिससे वह सम्बन्धित हैं, बिना पूछताछ के तथा स्वाभाविक रूप में ही स्वीकार करते हैं–सहमति या स्वीकृति का क्षेत्र जितना विशाला होगा, उस संगठन का उतना ही अधिक औचित्य होगा।"

कूहन एल्फ्रेड के कथनानुसार–"औचित्यपूर्णता का अर्थ शासकों और शासितों के मध्य एक समझौते की स्वीकृति है। इसके अत्यन्त आरम्भिक रूप से यह लोगों का एक ऐसा समझौता है जिसके अधीन लोग जीवित रहने और बन्दीगृह से बाहर रहने के बदले सरकार के आदेशों का पालन करना और कर देना स्वीकार करते हैं।"

औचित्यपूर्णता की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि औचित्यपूर्णता का अर्थ उस सहमति या स्वीकृति से है जो लोगों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में दी जाती है। यदि किसी राजनीतिक व्यवस्था या किसी संस्था को लोगों की ऐसी स्वीकृति प्राप्त नहीं होती, तो उस व्यवस्था में वैधता की कमी हो जाती है और ऐसी व्यवस्था अधिकांश समय तक अस्तित्व में नहीं रह सकती। शक्ति के प्रयोग से या शक्ति का प्रयोग करने की धमकी से प्राप्त की गयी लोगों की स्वीकृति किसी राजनीतिक व्यवस्था या संस्था को वैधता प्रदान नहीं कर सकती। दूसरे शब्दों में, लोगों की यह स्वीकृति उनके इस विश्वास पर आधारित होनी चाहिए कि वह राजनीतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक उचित एवं समीचीन है, यह राजनीतिक व्यवस्था लोगों के मानसिक मूल्यों के अनुसार है और उस राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा लोगों की उचित आवश्यकताएँ वैध रूप में पूर्ण होती हैं। यदि किसी भय या लालसा के कारण लोग राजनीतिक व्यवस्था या अन्य संस्थाओं के प्रति सहमति व्यक्त करते हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि उस व्यवस्था को वैधता या औचित्यपूर्णता प्राप्त है। साधारण शब्दों में, औचित्यपूर्णता का स्रोत भय या प्रलोभन के आधार पर प्राप्त की गयी लोगों की स्वीकृति नहीं; अपितु उनके 'विश्वासों एवं मूल्यों' (Beliefs and Values) पर आधारित ऐच्छिक स्वीकृति है।

औचित्यपूर्णता की विशेषताएँ (Characteristics of Legitimacy)

वैधता या औचित्यपूर्णता कोई भौतिक वस्तु नहीं है जिसके कोई निश्चित निर्धारक तत्व या निर्माणकारी तत्व बतलाये जा सकें; अपितु यह तो एक धारणा है, राजनीतिक जीवन की एक स्थिति है जिसकी अपनी कुछ विशेषताएँ बतलायी जा सकती हैं। औचित्यपूर्णता की विशेषताओं का स्तर और प्रभाव विश्व के समस्त देशों में एक जैसा नहीं हो सकता; अपितु ये विशेषताएँ सम्बन्धित देश के लोगों के मानसिक स्तर, राजनीतिक मूल्य-विश्वास और आदतें तथा उनकी राजनीतिक चेतना की मात्रा पर निर्भर करती हैं।

नोट

औचित्यपूर्ण की कुछ मुख्य और सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत बतलायी जा सकती हैं :

1. **औचित्यपूर्णता की धारणा में एक विशेष विश्वास विकसित करने की व्यवस्था की क्षमता सम्मिलित है:** किसी राजनीतिक व्यवस्था का औचित्य इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ के लोग अपने विश्वासों के आधार पर उस प्रणाली को किस सीमा तक वैध समझते हैं। यदि कुछ व्यक्तियों ने अपने संकुचित हितों को सामने रखकर रक्त क्रान्ति या अन्य किसी अवैधानिक साधन द्वारा शासन शक्ति को अपने हाथ में ले लिया है, तो ऐसे व्यक्तियों की शक्ति को लोगों की स्वाभाविक स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु सम्भव है कि कुछ समय पश्चात् लोग यह स्वीकार करने लगें कि नयी सरकार उनके हितों के अनुकूल है। यदि लोगों में ऐसा विश्वास उत्पन्न हो जाये तो उस राजनीतिक व्यवस्था को वैधता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार औचित्यपूर्णता की धारणा में राजनीतिक व्यवस्था की यह योग्यता सम्मिलित है कि वह लोगों में इस विश्वास को उत्पन्न करें और बनाये रखें कि यह राजनीतिक व्यवस्था और उसके अन्तर्गत स्थापित की गयी संस्थाएँ उनके हितों की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त हैं।

2. **औचित्य की धारणा के साथ प्रभावकता की धारणा सम्बद्ध है-प्रो. लिपसेट** का कथन है कि किसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता और उसकी वैधता, उसकी प्रभावकता पर निर्भर है। किसी व्यवस्था को वैधता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि उसने कुछ सीमा तक प्रभावकता प्राप्त कर ली है। वैधता की स्थिति प्राप्त करने के लिए जरूरी है कि राजनीतिक व्यवस्था केवल कहने भर के लिए ही नहीं हो, वरन् उसके द्वारा नागरिकों के जीवन पर आवश्यक प्रभावी नियन्त्रण रखा जा सके। 'सज्जन की रक्षा और हित वृद्धि तथा दुर्जन को दण्ड' कौटिल्य के अनुसार राज्य का आवश्यक कार्य है और राजनीतिक व्यवस्था को वैधता तभी प्राप्त होती है जबकि उसके द्वारा प्रभावशाली रूप में इस कार्य को सम्पन्न किया जाए।

3. **किसी व्यवस्था का औचित्य सम्बन्धित लोगों के मूल्यों पर निर्भर करता है:** किसी व्यवस्था को लोगों की स्वाभाविक या ऐच्छिक सहमति; दूसरे शब्दों में, वैधता तभी प्राप्त होती है जबकि वह देश की सर्वसामान्य जनता के मूल्यों और विश्वासों पर आधारित हो। उदाहरण के लिए, यदि किसी देश में लोकतन्त्र की जड़ें गहरी जमी हुई हैं तो ऐसी सरकार को वैधता की स्थिति प्राप्त होना बहुत अधिक कठिन हो जाता है जिसने गैर-लोकतान्त्रिक और गैर-संवैधानिक तरीकों से सत्ता प्राप्त की हो।

4. **वैधता शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करने का गुण है:** एक राजनीतिक कहावत है, **'उचित शक्ति ही सत्ता होती है'** (Legitimate Power is Authority), इसका आशय यह है कि शक्ति को सत्ता की स्थिति तभी प्राप्त होती है जबकि उसने जनसामान्य की दृष्टि में वैधता को प्राप्त कर लिया हो। यदि किसी व्यक्ति या संस्था के पास शक्ति का अस्तित्व है और उसके द्वारा दबाव या भय के आधार पर अपने आदेशों का पालन करवाया जाता है तो इसका आशय यह है कि वह व्यक्ति या संस्था केवल शक्ति-सम्पन्न है, सत्ता-सम्पन्न नहीं। यदि शक्ति लोगों की विवेकयुक्त कसौटी पर पूरी नहीं उतरती, तो उसे सत्ता का नाम नहीं दिया जा सकता। इसका अभिप्राय यह है कि वैधता ही एक ऐसा गुण हे जो शक्ति को सत्ता में परिणत करता है।

5. **वैधता विशाल सामाजिक स्वीकृति पर आधारित:** किसी व्यवस्था की वैधता कुछ-एक विशेष व्यक्तियों की सहमति पर नहीं, वरन् विशाल सामाजिक सहमति पर निर्भर होती है। यह विशाल सहमति या स्वीकृति किसी बाहरी दबाव या प्रभाव के कारण नहीं होनी चाहिए, वरन् इसका आधार सम्बन्धित लोगों की विवेकशीलता और उनके अपने विश्वास या विचार होने चाहिए।

इस प्रकार वैधता कुछ विशेष लोगों या केवल अभिजन पर निर्भर नहीं करती, वरन् विशाल सामाजिक स्वीकृति पर आधारित होती है।

वैधता की धारणा मूलत: उस योग्यता पर आधारित है जिस योग्यता द्वारा लोगों को राजनीतिक व्यवस्था के अच्छे होने के प्रति विश्वास करवाया जा सकता है। वैधता की धारणा मुख्यतया विशाल सामाजिक स्वीकृति पर आधारित

नोट

है और वैधता वह गुण है जो शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करता है। किसी व्यवस्था की वैधता इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी कार्यप्रणाली और स्वरूप सम्बद्ध लोगों के मूल्यों और विश्वासों के अनुकूल होने चाहिए। इस सम्बन्ध में **प्रो. लिपसेट** लिखते हैं कि "समूह राजनीतिक व्यवस्था को वैध या अवैध इस आधार पर समझते हैं कि राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों का उनके अपने मूल्यों से सामंजस्य है अथवा नहीं"

2.3.1 प्रभाव (Influence)

प्रभाव का महत्त्व

रॉबर्ट डहल के अनुसार, राजनीतिक विश्लेषण में शक्ति और प्रभाव केन्द्रीय अवधारणाएँ हैं न केवल क्रियात्मक राजनीति वरन् सामान्य सामाजिक जीवन में भी प्रभाव बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। व्यावहारिक जीवन का एक तथ्य यह है कि मानव की सांस्कृतिक प्रगति के साथ-साथ शक्ति की तुलना में प्रभाव का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज की सर्वाधिक लोकप्रिय शासन-व्यवस्था लोकतन्त्र का रथ तो प्रभाव के घोड़े ही खींचते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी प्रभाव की भूमिका निरन्तर बढ़ती जा रही है। प्रत्येक व्यक्ति, समुदाय, समूह या संस्था अपना प्रभाव बढ़ाने में लगी रहती है। सभी अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सभी यह जानना चाहते हैं कि दूसरों की तुलना में उनका प्रभाव कितना है, कौन सबसे अधिक प्रभावशाली है, वे अपने प्रभाव को कब और कैसे बढ़ा सकते हैं आदि।

राजनीतिक नेताओं और उम्मीदवारों आदि के लिए तो प्रभाव जीवन-मरण का प्रश्न है। स्वयं अपने और विपक्षियों के प्रभाव का सही-सही मूल्यांकन न कर पाने पर राजनीतिक नेताओं के राजनीतिक जीवन की इतिश्री हो जाती है। वस्तुत: प्रभाव का आकलन एक समस्या है और राजनीति विज्ञान में प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए अब तक किसी समुचित उपागम, सिद्धान्त या विचारबन्ध का विकास नहीं हो पाया है।

प्रभाव : अर्थ और व्याख्या

प्रभाव के अर्थ के सम्बन्ध में राजवेत्ता एकमत नहीं है। विभिन्न व्यक्तियों, गुटों, समुदायों, संस्थाओं तथा राज्यों के बीच विद्यमान अन्तर्सम्बन्ध को प्रभाव की संज्ञा दी जाती है। **रॉबर्ट ए. डहल** के अनुसार, **"विभिन्न कर्ताओं के मध्य व्याप्त सम्बन्ध ही प्रभाव है जिसमें एक कर्ता दूसरे कर्ताओं को ऐसा कुछ करने के लिए प्रेरित करता है जैसा वह पहले नहीं करते थे।" ब्रचाश** की मान्यता है कि कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट क्षेत्र में उस सीमा तक दूसरे पर प्रभाव रखता है कि वह व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से, बिना किसी उग्र रूप से वंचित करने की धमकी दिये, उसको अपना कार्य या कार्य करने का ढंग बदलने के लिए विवश कर दे। लासवेल ने भी प्रभाव की इसी प्रकार से व्याख्या की है। इस विवेचना के आधार पर प्रभाव वह क्षमता है जिसके माध्यम से बिना बल प्रयोग किये दूसरों के व्यवहार को बदला जा सके। यह सर्वमान्य विचार है कि प्रभाव में बल प्रयोग एवं दमन की प्रवृत्तियाँ नहीं होती हैं।

प्रभाव की प्रकृति

रोवे के अनुसार, राजनीतिक जीवन का एक तथ्य यह है कि प्रभाव सर्वत्र असमान रूप से बँटा हुआ होता है। रोवे ने राजनीतिक प्रभाव की असमानता का विशेष रूप से उल्लेख किया है। व्यवहार के अन्तर्गत सामान्यतया विशाल जनसंख्या का प्रभाव कम हो सकता है, जबकि अल्पसंख्यक अभिजन अधिक प्रभावशाली होते हैं। यह स्थिति विकसित और विकासशील दोनों ही श्रेणी के देशों में देखी जा सकती है, यद्यपि विकासशील देशों में अभिजन की प्रभावशीलता अधिक होती है।

नोट

अरस्तु, रूसो, मार्क्स आदि अनेक राजनीतिक विचारकों ने अपने-अपने ढंग से राजनीतिक प्रभाव के असमान वितरण की विवेचना की है। अरस्तु इस सम्बन्ध में शिक्षा-दीक्षा को अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व मानता है, लेकिन मार्क्स के अनुसार राजनीतिक प्रभाव आर्थिक शक्ति अर्थात् सम्पत्ति का अनुगमन करता है। समाज में जिन व्यक्तियों को उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है, उन्हें अधिक आर्थिक शक्ति प्राप्त होती है और उन्हें ही अधिक राजनीतिक प्रभाव भी प्राप्त हो जाता है।

रोवे के अनुसार, राजनीतिक प्रभाव के स्रोत हैं: सम्पत्ति, शिक्षा, महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ, स्वास्थ्य, व्यक्तिगत आकर्षण और कुशलता आदि। राजनीतिक प्रभाव की असमानता के प्रमुख कारण निम्न हैं:

1. **राजनीतिक साधनों का भेद:** राजनीतिक प्रभाव की प्राप्ति राजनीतिक साधनों पर निर्भर करती है। जीवन में कुछ लोगों को उत्तराधिकार में ही महत्त्वपूर्ण साधन, सम्पत्ति, ख्यातिप्राप्त कुल आदि प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन कुछ व्यक्ति इनसे वंचित रहते हैं। एक निश्चित आयु के बाद व्यक्ति सामान्य साधन और राजनीतिक साधन जुटाने की प्रक्रिया में लगते हैं। इस प्रक्रिया में कुछ आगे निकल जाते हैं, कुछ सामान्य प्रगति कर पाते हैं जबकि कुछ बहुत पीछे रह जाते हैं। स्वाभाविक रूप से जो व्यक्ति अधिक राजनीतिक साधन जुटा लेते हैं, उन्हें ही अधिक राजनीतिक प्रभाव प्राप्त हो जाता है। राजनीतिक साधनों पर असमान नियन्त्रण राजनीतिक प्रभाव की असमानता का सबसे प्रमुख कारण है।

2. **कार्यों का विशेषीकरण:** प्रत्येक समाज में कार्यों का विशेषीकरण होता है और कुछ लोग विशेष कार्यों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान और कुशलता रखते हैं तथा विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर अन्य कुछ कार्य कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। यदि अन्य बातें समान हों तो जो व्यक्ति अपना सामान्य व्यवसाय करते हुए अधिक संख्या में व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं और समाज में अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करतें हैं, स्वाभाविक रूप से उन्हें राजनीतिक प्रभाव की प्राप्ति हो जाती है। सभी देशों में वकील और पत्रकार अन्य व्यक्तियों की तुलना में राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से लाभकारी स्थिति में देखे गये हैं।

3. **लक्ष्यों और अभिप्रेरणाओं का भेद:** व्यक्तियों के लक्ष्य और अभिप्रेरणाएँ भी अलग-अलग होती हैं। यदि व्यक्तियों को समुचित साधन जुटा दिये जायें, तो भी अनेक कर्ता उसका उपयोग राजनीतिक प्रभाव की प्राप्ति के लिए करते हैं, जबकि अन्य कुछ अपने-आपको सम्पत्ति जुटाने तक सीमित कर लेते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में कुछ लोग सरकार के द्वारा अपनाई और लागू की जाने वाली नीतियों, नियमों तथा विनियमों पर विशेष प्रभाव रखने का प्रयास करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे राजनीतिक प्रभाव प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहते हैं और राजनीतिक प्रभाव के क्षेत्र में उनके आगे बढ़ने की सम्भावना अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त, कुछ व्यक्ति प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभाव प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, लेकिन कुछ व्यक्ति प्रत्यक्ष प्रभाव प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को देखकर या अन्य कारणों से अपने-आपको परोक्ष प्रभाव तक सीमित कर लेते हैं।

4. **कार्यकुशलता का भेद:** विभिन्न व्यक्ति जो अपने साधनों के आधार पर राजनीतिक प्रभाव प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहते हैं, उनमें राजनीतिक साधनों का प्रयोग करने की कुशलता में भी विभिन्नता होती है। आवश्यक साधन जुटा लेने पर भी, कुछ कर्ता दूसरों की तुलना में उनका प्रयोग अधिक कुशलतापूर्वक तथा प्रभावपूर्ण ढंग से कर लेते हैं। राजनीतिक प्रभाव के क्षेत्र में सहायकों की कुशलता एवं उन्हें प्राप्त साधनों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस सम्बन्ध में एक तथ्य यह है कि अधिक कार्यकुशल व्यक्ति ही अधिक क्षमतावान और साधन-सम्पन्न सहायक जुटाने में सफल रहते हैं।

वर्तमान और वास्तविक प्रभाव बनाम सम्भावित प्रभाव: वर्तमान अथवा वास्तविक प्रभाव, प्रभाव के क्षेत्र में वस्तुत: विद्यमान वर्तमान स्थिति का नाम है, जबकि सम्भावित प्रभाव के अन्तर्गत भविष्य की सम्भावनाओं का अध्ययन किया जाता है। प्रभावक का वर्तमान प्रभाव उसके सम्भावित प्रभाव से भिन्न हो सकता है। अवसर पाते ही

नोट

एक साधारण व्यक्ति नेता बन सकता है। ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर पर वर्तमान समय में राजनीतिक प्रभाव न रखता हो, लेकिन उसके पास जो साधन हैं और अपने साधनों को वर्तमान समय में वह जो दिशा प्रदान कर रहा है, उनके आधार पर उसके भविष्य में अधिक प्रभावी होने की सम्भावनाएँ दिखाई दे सकती हैं। इसी प्रकार किसी औद्योगिक क्षेत्र में वर्तमान समय में एक विशेष मज़दूर संघ अधिक प्रभावी हो सकता है, लेकिन भविष्य में किसी अन्य मज़दूर संघ के प्रभावी होने की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आज अमरीका और रूस महाशक्तियाँ हैं, जबकि चीन और भारत को सम्भावित महाशक्तियाँ समझा जाता है।

वर्तमान प्रभावधारी और सम्भावित प्रभावधारी उस समय विशेष रूप से अलग-अलग हो जाते हैं जबकि वर्तमान प्रभावधारी को निरन्तर सफलताएँ प्राप्त न हो रही हों, सम्भावित प्रभावधारी के पास भी पर्याप्त साधन हों और सम्भावित प्रभावधारी द्वारा वर्तमान प्रभावधारी को गम्भीर चुनौती दी जा रही हो। दिसम्बर, 1982 में आन्ध्र की राजनीति में एन. टी. रामाराव और उनका दल 'तेलगू देशम' सम्भावित प्रभावधारी का ही उदाहरण है। राजनीति में वास्तविक एवं वर्तमान प्रभाव तो महत्त्वपूर्ण है ही, लेकिन सम्भावित प्रभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भविष्य की राजनीतिक स्थिति की कल्पना सम्भावित प्रभाव के सन्दर्भ में ही की जा सकती है।

प्रभाव मापन की समस्या

प्रभाव के स्रोत प्राय: गुप्त, जटिल एवं अस्पष्ट होते हैं। अत: प्रभाव का मापन प्राय: एक कठिन समस्या बन जाता है, लेकिन लोकतन्त्र खुली राजनीतिक प्रतियोगिता और प्रभाव पर आधारित शासन-व्यवस्था होने के कारण प्रभाव का मापन आवश्यक हो जाता है। प्रभाव व्यक्तियों, समूहों, संघों आदि के बीच में एक सम्बन्ध है। इनके बीच में स्थापित प्रभाव के सम्बन्ध को तथा उसकी दिशा एवं अस्तित्व को जाना जा सकता है। लोकतन्त्र में सदैव ही यह जानना आवश्यक होता है कि विशिष्ट राजनेताओं और सामान्य नागरिकों के बीच प्रभाव की स्थिति क्या है। राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तु ने भी जब राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण संख्यात्मक आधार पर किया, तब इस वर्गीकरण के आधार पर उसका आशय यह जानना था कि उस राजव्यवस्था में एक व्यक्ति का प्रभाव है, अल्पसंख्या का प्रभाव है या बहुमत का प्रभाव। राजनीतिक विश्लेषण में प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन सदैव ही महत्त्वपूर्ण होता है।

रॉबर्ट डहल ने प्रभाव की एक सामान्य परिभाषा दी है जो तुलना की सम्भावनाओं को बताती है। यदि 'ए' 'बी' को प्रभावित करता है और उसकी मात्रा 'एक्स' है तो हम 'ए' का 'बी' पर 'एक्स-1' प्रभाव कहेंगे। यदि प्रभाव की मात्रा 'एक्स-2' है तो हम कहेंगे कि प्रभाव की मात्रा अधिक बढ़ गयी है। इसी आधार पर सभी प्रभावों की तुलना की जा सकती है।

डहल के अनुसार, प्रभाव मापन और इस प्रसंग में तुलना का कार्य निम्नलिखित आधार पर किया जा सकता है:

(1) प्रभावित व्यक्तियों की स्थिति में परिवर्तन की मात्रा का ज्ञान प्राप्त किया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत यह मालूम किया जाता है कि विभिन्न प्रभावित व्यक्तियों की प्रारम्भिक स्थिति क्या थी तथा बाद में उसमें क्या और कितना अन्तर आया।

(2) प्रभाव की मात्रा को उसके अनुपालन में खर्च की जाने वाली मनोवैज्ञानिक कीमत की दृष्टि से भी ज्ञात किया जा सकता है। जब कोई हड़ताल होती है तब हड़ताल में भाग लेने वाले सभी कर्मचारियों की मानसिक प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है।

(3) यह मालूम किया जा सकता है कि विभिन्न व्यक्तियों में कार्यपालन की सम्भावना की कितनी मात्रा है। व्यवस्थापिकाओं में किसी विधेयक पर प्राप्त होने वाले पक्ष और विपक्ष में मतों का अनुमान इसी प्रकार लगाया जाता है।

नोट

(4) अनेक बार अनुक्रियाओं के विस्तार की भिन्नता से प्रभाव का अनुमान लगाया जाता है। जैसे, चुनावों में खड़े होने वाले विभिन्न उम्मीदवार जितनी संख्याओं में मत प्राप्त करते हैं, उनकी संख्याओं को उनके निर्वाचन क्षेत्र में पाये जाने वाले प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है।

(5) प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। चुनावों के समय अमरीकी राष्ट्रपति, ब्रिटिश अथवा भारतीय दलों की विजय-पराजय की भविष्यवाणियाँ इन्हीं आधारों पर की जाती हैं।

रॉबर्ट डहल ने प्रभाव मापन के प्रसंग में कुछ सावधानियाँ बरते जाने का निर्देश भी दिया है:

(*i*) सापेक्ष प्रभाव को निश्चित करने के लिए जितने मापन सम्भव हों, उनके लिए सभी सूचनाएँ एकत्रित की जायें। (*ii*) उपलब्ध सूचना के अनुसार तुलनात्मक विधि अपनायी जाये। (*iii*) स्पष्टता और सूक्ष्मता के लिए एक विचार चित्र (Puradigun) सम्मुख रखा जाय। (*iv*) अधिक प्रामाणिक सूचनाएँ प्राप्त होने पर वर्तमान मापन को छोड़ देने के लिए तैयार रहना चाहिए।

वस्तुत: प्रभाव-सिद्धान्त की दिशा में अनेक कठिनाइयाँ हैं। ये स्वरूप-निर्धारण से लेकर इकाई-परिसीमन, विश्लेषण, सत्यापन, तुलना, परिचालन और मापन तक फैली हुई हैं। इन कठिनाइयों और समस्याओं के कारण प्रभाव सिद्धान्त विकसित करने के लिए बहुत थोड़े राज-वैज्ञानिकों ने प्रयास किया है। ये भी लघुस्तरीय एवं सीमित प्रयास ही माने जा सकते हैं।

प्रभाव और सत्ता

सामान्य बोलचाल और व्यवहार में प्राय: प्रभाव और सत्ता को पर्यायवाची मान लिया जाता है, परन्तु राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत इन दोनों शब्दों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। प्रभाव को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जो अनिवार्यतया सम्बन्धात्मक होती है और जिसमें अनेक तत्व विद्यमान होते हैं। प्रभाव एक ऐसी उपलब्धि है, जिसमें निश्चितता, स्थिरता और स्थायित्व के तत्व का सदैव ही अभाव होता है। प्रभाव औपचारिक या सीमित नहीं होता। प्रभाव का उदय संगत तथा सम्बद्ध सूचनाओं के आधार पर होता है। एक व्यक्ति द्वारा अन्य को प्रभावित करने की चेष्टा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से की जा सकती है। प्रभावित करने की इस चेष्टा के अन्तर्गत वाद-विवाद, अनुनय-विनय, प्रचार और व्यक्तिगत प्रभाव आदि का सहारा लिया जाता है। कई बार यह समस्त प्रक्रिया ऐसे रूप में सम्पन्न होती है कि प्रभावित को शायद पता ही न पड़े कि वह प्रभावित हो रहा है। प्रभाव एक सम्बन्धात्मक प्रक्रिया है और उसमें प्रभावक तथा प्रभावित के मध्य अनेक तत्व विद्यमान रहते हैं; जैसे, समान मूल्य, वातावरण, शैली, प्रभावक एवं प्रभावित का व्यक्तित्व, आवश्यकताएँ, तात्कालिक लक्षण आदि। राजनीतिक नेता अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रभाव का विस्तार करने के प्रयत्नों में लगे रहते हैं और इस हेतु उनके द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग शैलियाँ तथा साधन अपनाये जाते हैं। राजनेता जानते हैं कि प्रभाव एक अत्यन्त गतिशील, परिवर्तनशील और अनिश्चित स्थिति है, इसलिए वे अपने प्रभाव को सत्ता में परिणत करने के प्रयासों में लगे रहते हैं। **डहल** इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए लिखते हैं कि **"सत्ता सर्वाधिक कार्यक्षम प्रभाव का रूप है।"**

ब्रेख्त के अनुसार, सत्ता के लिए अधिकारी-अधीनस्थ सम्बन्धों की स्थिति आवश्यक है। सामान्यतया अधीनस्थ बिना किसी आलोचना, सोच-विचार, वाद-विवाद, तर्क या अपनी ओर से बुद्धि का प्रयोग किये बिना अधिकारी के आदेशों को अपने आचरण का आधार बना लेता है। सत्ता संस्थाकृत होने के कारण अधीनस्थों के व्यवहार और आचरण में घुल-मिल जाती है। वह स्वीकृत, निश्चित, औपचारिक, वस्तुपरक तथा शीघ्र प्रभावशील होती है। सत्ता प्राय: पद, प्रस्थिति, संगठन आदि के साथ विभिन्न स्तरों पर स्थापित रहती है। यही कारण है कि राजनेता अपने प्रभाव को सत्तापूर्ण बनाकर आश्वस्त हो जाते हैं। सत्ता अनेक बार बिना किसी योग्यता, सामर्थ्य और प्रभाव के भी रहती है और

नोट

रह सकती है। अनेक उदाहरणों में एक साधारण, अप्रतिभाशाली, अप्रभावशील और यहाँ तक कि अयोग्य व्यक्ति भी सत्ता पद पर स्थित होकर सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों को आदेश-निर्देश देता है और उनका पालन किया जाता है। इस कारण सत्ता को सामान्यतया एक स्वतन्त्र कारक माना गया है, किन्तु यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक नहीं रह पाती। सत्ता तभी तक रहती है जब तक कि अधीनस्थों के द्वारा उसे स्वीकार किया जाय तथा यदि सत्ता के साथ प्रभाव जुड़ा हुआ नहीं है, तो लम्बे समय तक अधीनस्थ उसे स्वीकार नहीं कर सकते। लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत सत्तारूढ़ व्यक्तियों को चुनाव में पराजित हो जाने पर सत्ता से अलग होना पड़ता है और सैनिक तन्त्र या तानाशाही के अन्य किसी रूप में उन्हें विद्रोह की स्थिति का सामना करना पड़ता है। साधारण परिस्थितियों में भी प्रभाव के बिना सत्ता निष्क्रिय बनी रहती है।

वस्तुत: सत्ता दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने के अनेक उपायें में से एक है। जब अन्य उपाय शक्ति, प्रभाव और अनुशास्तियाँ (Sanctions) आदि सत्ताधारी के साथ संयुक्त होते हैं, तब सत्ताधारी के आदेशों की अवहेलना का प्रश्न ही नहीं उठता, लेकिन जब अन्य उपाय सत्ताधारी से अलग हो जाते हैं, तब सत्ताधारी के लिए अपने आदेशों का पालन कराना कठिन और कालान्तर में असम्भव हो जाता है। लोकतन्त्र में तो लम्बे समय की दृष्टि से सत्ता की तुलना में प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। चाहे लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था हो या शासन-व्यवस्था का अन्य कोई रूप, सत्ताधारी द्वारा सत्ता की सीमाओं को भलीभाँति समझ लिया जाना चाहिए। जब सत्ताधारी इन सीमाओं को नहीं समझ पाता, तब उसे विद्रोह और विनाश की स्थिति का सामना करना पड़ता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य बताइए (State whether the following Statements are True/ False)–

7. औचित्यपूर्णता कोई भौतिक वस्तु नहीं है, जिसके कोई निश्चित तत्व या निर्माणकारी तत्व बतलाये जा सकें।
8. प्रभाव मापन के स्रोत प्राय: आसान होते हैं।
9. प्रभाव और सत्ता दोनों पयार्यवाची हैं।

2.4 सारांश (Summary)

- शक्ति और प्रभाव, यदि कुछ आधारों पर एक-दूसरे के समान हैं तो दूसरी ओर इनमें महत्त्वपूर्ण असमानताएँ भी हैं।
- प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है तथा शक्ति प्रभाव को। दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता पड़ती है।
- शक्ति का प्रथम स्रोत ज्ञान है। ज्ञान अपने साधारण अर्थ में व्यक्ति को अपने लक्ष्यों को पुन: प्रबन्धित करने और मिलने की योग्यता प्रदान करता है।
- तलवार की शक्ति भी अन्तिम रूप से विश्वास पर ही आधारित होती है। शक्ति का एक अन्य स्रोत सत्ता होती है।
- शक्ति का अध्ययन पूर्ण रूप से यह स्पष्ट नहीं करता कि सरकार समाज को किस प्रकार नियन्त्रित करती है अथवा व्यवस्था की स्थापना कैसे करती है।
- व्यवहारवादी या मानव सम्बन्धवादी औपचारिक सत्ता सिद्धान्त में विश्वास न रखते हुए 'स्वीकृति सिद्धान्त' का प्रतिपादन करते हैं।

नोट

2.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रभाव (Influence):** अस्तित्व में आना, उद्‌भव, सामर्थ्य, शक्ति।
2. **सत्ता (Authority):** अस्तित्व, हस्ती (जैसे मानव की सत्ता, सत्ता का होना) शक्ति, सामर्थ्य (जैसे सामाजिक सत्ता, सत्ता का अभाव)।

2.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सत्ता की धारणा की व्याख्या कीजिए। इसे आप प्रभाव (Influence) से किस प्रकार पृथक् कर सकते हैं?
2. प्रभाव और सत्ता की परिभाषा करते हुए इन दोनों में अन्तर तथा सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
3. सत्ता की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। सत्ता की प्रकृति के विषय में प्रो. बीच द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
4. सत्ता के स्रोत या प्रकारों का वर्णन कीजिए। सत्ता के आधार और सीमाएँ बताइए।
5. वैधता या औचित्यपूर्णता की अवधारणा की विशेषताएँ बताइए।
6. 'प्रभाव' से आप क्या समझते हैं? प्रभाव की प्रकृति का वर्णन कीजिए।
7. वर्तमान और वास्तविक प्रभाव बनाम 'सम्भावित प्रभाव' पर प्रकाश डालिए। 'प्रभाव मापन की समस्या' का वर्णन कीजिए।
8. प्रभाव और सत्ता में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. (ब)	2. (ब)	3. (अ)
4. शरीर की आत्मा	5. प्रो. बीच	6. यूनेस्को
7. सत्य	8. असत्य	9. सत्य

2.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. द पॉलिटिकल थ्योरी–आर. के. परूथी।
2. पॉलिटिकल थ्योरी, आइडियाज एंड कान्सेप्ट–एस. रामास्वामी।

नोट

इकाई–3: राज्य (State)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 राज्य (State)

3.1.1 राज्य के आवश्यक तत्व (Important Elements of the State)

3.1.2 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत (Origin Theory of the State)

3.2 सारांश (Summary)

3.3 शब्दकोश (Keywords)

3.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

3.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राज्य का अर्थ जानने हेतु।
- राज्य के लिए आवश्यक तत्वों को जानने हेतु।
- राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांतों को समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय राज्य है। अतः यह आवश्यक है कि राज्य शब्द पर सूक्ष्मता के साथ विचार किया जाए। हिन्दी में राज्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। फ्रांस, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, भारत आदि राज्य कहे जाते हैं, पर साथ ही न्यूयार्क, कैलिफोर्निया आदि जो प्रान्त संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत हैं, वे भी

नोट

राज्य कहलाते हैं। स्वतन्त्र भारत के संविधान के अनुसार उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, काश्मीर आदि भी 'राज्य' हैं। यही नहीं, अनेक जमींदार व ताल्लुकेदार अपनी भूसम्पत्ति को भी राज्य व राज कहते हैं। बलरामपुर, महमूदाबाद आदि केवल जमींदारियां थीं, यद्यपि उन्हें भी राज्य कहा जाता था और उनके स्वामी अपने को महाराजा व राजा कहते थे।

मध्यकाल में सामन्त पद्धति के युग में न केवल राजाधिराजाओं द्वारा शासित प्रदेश ही राज्य कहलाते थे, बल्कि सामन्त राजाओं व ठाकुरों द्वारा अधिकृत प्रदेशों को भी राज्य कहा जाता था। अंग्रेजी शासन के समय में राजपूताना के अन्तर्गत जयपुर, जोधपुर आदि भी राज्य कहते थे। इतना ही नहीं, जयपुर के महाराजा के अधीन जो अनेक रावराजा आदि थे, उनके प्रदेश भी राज्य कहे जाते थे।

केवल हिन्दी भाषा में ही नहीं, अंग्रेजी में भी राजनीतिशास्त्र की अनेक संज्ञाओं का उपयोग इसी प्रकार अनिश्चित व विविध अर्थों में होता है। राज्य को अंग्रेजी में 'स्टेट' कहते हैं। जहाँ फ्रांस, ब्रिटेन आदि को स्टेट कहते हैं, वहां कश्मीर, जयपुर, न्यूयार्क आदि भी स्टेट कहे जाते हैं।

पर राजनीतिशास्त्र में हमें जिस राज्य व स्टेट का प्रतिपादन करना है, उसमें प्रभुता व सर्वोपरिता (Sovereignty) का होना आवश्यक है। जो प्रदेश किसी अन्य के अधीन हो, जो सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न न हो और जिस पर किसी बाह्य सत्ता का नियंत्रण हो, वह राजनीतिशास्त्र की दृष्टि में राज्य नहीं होता। न्यूयार्क, काश्मीर, बिहार आदि को यद्यपि सामान्यतया 'राज्य' कहा जाता है, पर राजनीतिशास्त्र जिस 'राज्य' पर विचार करता है, वह इनसे भिन्न है। फ्रांस, चीन, भारत आदि जो राज्य सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (सॉवरेन) हैं, वे ही राजनीतिशास्त्र की दृष्टि में 'राज्य' हैं और उन्हीं पर यह शास्त्र विचार करता है।

राज्य और सरकार–हम साधारण भाषा में यह भी कहते हैं कि राज्य को धर्म के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए या व्यवसायों पर राज्य का नियन्त्रण उपयोगी है। इन वाक्यों में राज्य का अभिप्राय 'सरकार' से है। राज्य और सरकार दो भिन्न वस्तुएं हैं। राज्य के उद्देश्यों व प्रयोजनों की पूर्ति के लिये जो साधन व संगठन बनाया जाता है, उसे 'सरकार' कहते हैं। राज्य साध्य है और सरकार उसका साधन। जब हम कहते हैं कि राज्य को व्यवसाय पर नियंत्रण रखना चाहिये, तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि सरकार को व्यवसायों पर नियन्त्रण रखना चाहिये।

राज्य स्थिर रहता है, यद्यपि सरकार में परिवर्तन होता रहता है। रूस में पहले एकतन्त्र सम्राटों का शासन था। 1917 में वहाँ राज्य क्रान्ति हुई। पहले लोकतन्त्र सरकार की स्थापना हुई और बाद में साम्यवादी (कम्युनिस्ट) सरकार की। पर ज़ारशाही सरकार, लोकतन्त्र सरकार और साम्यवादी सरकार की स्थापना से रूसी राज्य की सत्ता में कोई अन्तर नहीं आया। रूसी राज्य स्थायी रहा, यद्यपि सरकार में परिवर्तन आते रहे।

14 अगस्त, 1947 तक भारत में ब्रिटिश सरकार विद्यमान थी। 15 अगस्त, 1947 को भारत की शासनसत्ता भारतीयों के हाथ में आ गई और स्वतन्त्र भारतीय सरकार की स्थापना हो गई। यद्यपि सरकार में परिवर्तन आ गया, पर भारतीय राज्य की सत्ता कायम रही।

3.1 राज्य (State)

मनुष्य के अन्य समुदायों के समान राज्य भी एक समुदाय है। इसके भी निश्चित उद्देश्य व निश्चित प्रयोजन है। उन उद्देश्यों व प्रयोजनों की पूर्ति के लिये जब एक साधन (एक ही प्रकार की सरकार) उपयुक्त नहीं रहता, तो नये साधन (एक नई सरकार) का अवलम्बन किया जाता है। यही कारण है कि सरकार में बहुधा परिवर्तन होते रहते हैं। इतिहास में हम देखते हैं कि एकतन्त्र शासन (मोनार्की) का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन (डेमोक्रेसी) की स्थापना होती है। 1781 में फ्रांस में राज्य क्रान्ति हुई। बूर्बो वंश के स्वेच्छाचारी निरंकुश राजाओं का अन्त होकर वहाँ लोकतन्त्र सरकार की स्थापना हुई। हम यह भी देखते हैं कि लोकतन्त्र शासन की सब शक्ति को कोई एक व्यक्ति अपने हाथ में करके स्वयं एकाधिपति (डिक्टेटर) बन जाता है। जर्मनी में हिटलर और इटली में मुसोलिनी इसी प्रकार एकाधिपति बन

नोट

गये। राज्य-क्रान्ति, षड्यन्त्र आदि द्वारा राज्यों की सरकार में बहुधा परिवर्तन होते रहते हैं। पर इससे राज्य की स्थायित्व में बाधा नहीं पड़ती। जिन राज्यों में लोकतन्त्र शासन होता है, उनमें भी संसद (पार्लियामेंट) में विद्यमान विविध दलों के पारस्परिक संघर्ष के कारण सरकार प्रायः बदलती रहती है। ग्रेट ब्रिटेन में कभी मज़दूर दल की सरकार बनती है, कभी कन्जर्वेटिव दल की। अमेरिका में डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दल अपनी सरकारें बनाते रहते हैं। पर सरकार में हुए इन परिवर्तनों के कारण ब्रिटेन व अमेरिका की सत्ता व स्थायित्व में अंतर नहीं आता। राज्य सदा स्थायी रहता है, स्थायित्व उसका एक आवश्यक गुण है। इसके विपरीत सरकार अस्थायी व परिवर्तनशील होती है, उसमें बहुधा परिवर्तन होते रहते हैं।

फ्रांस का राजा 14वां लुई (1643-1715) कहा करता था—"राज्य क्या है? मैं ही तो राज्य हूँ।" पर 14वें लुई की मृत्यु के साथ फ्रेंच राज्य का अन्त नहीं हो गया। वस्तुतः, लुई राज्य नहीं था। हाँ, वह फ्रेंच सरकार का अधिपति अवश्य था। फ्रेंच सरकार की सब शक्ति उसमें निहित थी, पर लुई राज्य से भिन्न था। इसी कारण उसके मरने पर फ्रांस की मृत्यु नहीं हो गई। फ्रेंच राज्य स्थिर रहा, यद्यपि फ्रेंच सरकार में परिवर्तन हो गया।

राज्य सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) होता है, सरकार नहीं। सरकार के पास जो भी शक्ति, अधिकार व सत्ता होती हैं, वह सब उसे राज्य द्वारा ही प्राप्त होती हैं। संविधान (कॉन्स्टिट्यूशन) द्वारा जो शक्ति सरकार को प्रदान की जाती है, सरकार उससे अधिक शक्ति प्रयोग में नहीं ला सकती। राज्य को अधिकार होता है कि सरकार को दी हुई शक्ति में वृद्धि व कमी कर सके। अभिप्राय यह है कि वास्तविक प्रभुता (सॉवरेन्टी) राज्य में निहित होती है, सरकार में नहीं, क्योंकि सरकार तो राज्य के हाथ में एक साधन मात्र है।

राज्य का लक्षण—राजनीतिशास्त्र के विविध आचार्यों ने राज्य के लक्षण भिन्न-भिन्न रीति से किये हैं। जर्मन विद्वान शुल्ज ने ठीक ही लिखा है कि राज्य के इतने अधिक लक्षण किये गये हैं कि उनका परिगणन कर सकना कठिन है। प्रत्येक विद्वान ने राज्य का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है। इसके दो कारण हैं—(1) भिन्न-भिन्न समयों में राज्य के स्वरूप की भिन्नता—प्राचीन समय में एथेन्स, वज्जिगण, स्पार्टा आदि जो गणराज्य थे, उनका स्वरूप वर्तमान युग के विशाल राज्यों की अपेक्षा बहुत कुछ भिन्न था। अतः यदि प्राचीन पण्डितों और अर्वाचीन विद्वानों के राज्य-संबंधी लक्षणों में भेद हो, तो यह स्वाभाविक ही है। (2) कानून का पण्डित राज्य को जिस दृष्टि से देखता है, राजनीतिशास्त्र के विद्वान की दृष्टि उससे भिन्न होती है। विभिन्न विद्वान् राज्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं को महत्त्व देते हैं। इसी कारण उनके द्वारा किये गए राज्य के लक्षणों में भी भेद आ जाता है:

प्राचीन विचारकों द्वारा किये गए राज्य के लक्षण—पाश्चात्य संसार में राजनीतिशास्त्र का सबसे प्राचीन आचार्य अरस्तु (चौथी सदी ई० पू०) था। वह ग्रीस का निवासी था और राजनीतिशास्त्र पर उसने उनके ग्रन्थों की रचना की थी। उसने राज्य का लक्षण इस प्रकार किया था—"राज्य कुलों और ग्रामों के उस समुदाय का नाम है, जिसका उद्देश्य पूर्ण और सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है।" अरस्तु के इस लक्षण के अनुसार राज्य की उत्पत्ति से पूर्व मनुष्यों के अन्य समुदायों का विकास हो चुका था। मनुष्य पहले कुलों में संगठित हुआ। फिर अनेक कुलों के मिलने पर ग्राम की रचना हुई। मनुष्य अकेला रहते हुए जीवन की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। समुदाय में संगठित होने पर उसके लिये यह संभव हो जाता है कि वह जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर सके। जिन्हें हम सद्गुण कहते हैं, वे समुदाय में रहते हुए मनुष्य के लिये ही संभव है। उपकार, दया, सत्य, अस्तेय आदि गुणों की सत्ता तभी संभव है, जब मनुष्य समुदाय (समाज) में निवास करे। पर कुल व ग्राम सदृश समुदाय में मानव-जीवन पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अधिक विशाल व अधिक पूर्ण समुदाय में संगठित हों। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समुदाय में ही अपने जीवन का भलीभांति विकास कर सकता है। समुदाय का सबसे अधिक उत्कृष्ट रूप राज्य है, जिसमें कुल, ग्राम आदि भी अंगरूप से अन्तर्गत रहते हैं। प्राचीन ग्रीक लोग यह मानते थे कि व्यक्ति की सत्ता समाज के लिये है। व्यक्ति के हितों को समूह के लिये न केवल कुर्बान कर देना उचित है, अपितु व्यक्ति का चरम विकास व पूर्णता ही इस बात में है कि वह अपने को समूह (समष्टि) में लीन कर दे। इसीलिये अरस्तु

नोट

ने राज्य (जो कि समूह या समुदाय का उत्कृष्ट रूप है) द्वारा पूर्ण वह सम्पन्न जीवन को प्राप्त करने की बात का प्रतिपादन किया था। इसीलिए उसने लिखा था–"प्रत्येक समुदाय का उद्देश्य यही होता है, कि वह किसी हित का सम्पादन करे। राज्य एक ऐसा समुदाय है जो अन्य सब समुदायों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है और अन्य सब समुदाय जिसके अन्तर्गत होते हैं। अत: राज्य का उद्देश्य सर्वाधिक हित को सम्पादित करना है।"

रोमन साम्राज्य में **सिसरो** एक प्रसिद्ध राज्यशास्त्री हुआ है। उसने राज्य का लक्षण इस प्रकार किया था–"राज्य उस समुदाय को कहते हैं, जिसमें यह भावना विद्यमान हो कि सबको उस (समुदाय) के लाभों का परस्पर साथ मिलकर उपभोग करना है।" सिसरो के इस लक्षण में यह विचार प्रधान है कि राज्य रूपी समुदाय में जो मनुष्य संगठित हैं, वे सब समान रूप से उन लाभों को व उन हितों को प्राप्त करते हैं, जो राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय व संगठन द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। राज्य की उत्पत्ति व विकास के कारण मनुष्य कुछ ऐसे लाभों को प्राप्त करने में समर्थ हुआ है, जो उसे पहले प्राप्त नहीं थे या जो राज्य के बिना उसे प्राप्त नहीं हो सकते थे।

मध्यकालीन यूरोप पर रोमन विचारधारा का बहुत प्रभाव रहा। इसी कारण इस काल के अन्य राज्यशास्त्रियों पर सिसरो के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। सिसरो के विचारणीय सार का अनुसरण करते हुए **ग्रोसिअस** ने राज्य का लक्षण इस प्रकार किया था–"राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यों के पूर्ण समुदाय का नाम है, जिन्होंने अपना संगठन सर्वसामान्य लाभों व उपयोगिता की प्राप्ति के लिये किया हो।" मध्यकालीन यूरोप के अन्य विचारक भी राज्य का लक्षण प्राय: इसी प्रकार से करते रहे। उनकी दृष्टि में राज्य की ये विशेषताएं होती थीं–(1) राज्य अन्य सब समुदायों की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण (उच्चतम) समुदाय है। (2) उसका प्रयोजन व उद्देश्य यह है कि मनुष्य सम्मिलित रूप से उन लाभों को प्राप्त करें, जो केवल राज्य द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

आधुनिक विचारकों द्वारा किये गए राज्य के लक्षण–अर्वाचीन युग में राज-शास्त्रियों ने राज्य पर विचार करना शुरू किया, तो उन्होंने राज्य के निम्नलिखित तत्वों का प्रतिपादन किया–(1) जनता, (2) प्रदेश व भूमि, (3) शासन और (4) प्रभुता या सर्वोपरिता। किसी ऐसे समुदाय को राज्य नहीं कहा जा सकता, जिसमें ये चारों बातें न हों। समुदाय मनुष्यों का होना चाहिये, उस समुदाय के पास कोई अपना निश्चित प्रदेश या भूमिखण्ड होना चाहिये, जो केवल उस मानव समुदाय का हो और उस उस पर किसी अन्य बाह्य शक्ति का अधिकार व नियन्त्रण न हो। यह भी आवश्यक है कि यह समुदाय किसी राजनीतिक संगठन में संगठित हो और इसकी सत्ता सर्वोपरि हो, अन्य कोई समुदाय इसकी अपेक्षा अधिक शक्ति न रखता हो।

आधुनिक विचारकों ने राज्य के जो लक्षण किये, उनमें उन्होंने राज्य की इन्हीं चार विशेषताओं को प्रगट करने का प्रयत्न किया। यहां यह उपयोगी होगा कि हम कतिपय विद्वानों द्वारा किये गए राज्य के लक्षणें को उद्धृत करें।

अंग्रेज विद्वान हालैण्ड ने राज्य का लक्षण इस प्रकार किया है–"राज्य मनुष्यों के उस समूह व समुदाय को कहते हैं, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ हो और जिसमें किसी एक श्रेणी व बहुसंख्या की इच्छा अन्य सबके मुकाबले में क्रिया में परिणत होती हो।" हालैण्ड द्वारा किये गए राज्य के इस लक्षण में निम्नलिखित बातों पर ज़ोर दिया गया है–(1) राज्य मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो। (2) इस समुदाय में कुछ लोगों की इच्छा चलती हो, अन्य सबको इस इच्छा के सम्मुख सिर झुकाना पड़े। अन्य लोग चाहे इस 'इच्छा' के विरोधी भी क्यों न हों, पर उन्हें दबाना पड़े। यह इच्छा किसी अल्पसंख्यक श्रेणी की भी हो सकती है और बहुसंख्यक जनता की भी। लोकतन्त्र राज्यों में बहुसंख्यक जनता की इच्छा क्रिया में परिणित होती है। कतिपय राज्यों में यह भी होता है कि कोई असाधारण शक्ति-सम्पन्न मनुष्य या कोई श्रेणी अपने धन, बुद्धि व शौर्य के बल पर स्वयं अल्पसंख्या में होते हुए भी बहुसंख्यक लोगों पर शासन करे और अपनी इच्छा के सम्मुख अन्य लोगों की इच्छा को न चलने दे।

नोट

जर्मन विद्वान **ब्लुंयुंशली** के अनुसार "मनुष्य जाति के राजनीतिक दृष्टि से संगठित हुए एक विशिष्ट भाग का नाम ही राज्य है।" इस लक्षण में जनता और शासन इन दो तत्वों का भलीभांति समावेश हो गया है, पर प्रभुता व सर्वोपरिता का समावेश इसमें नहीं हुआ। जिस समय ब्लुंशली ने अपने विचारों का प्रतिपादन किया था, तब जर्मनी में बहुत-से छोटे-बड़े राज्य थे, यद्यपि एशिया इन विविध राज्यों को अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्नशील था। 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की सत्ता भी तब तक पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी। यूरोप के बहुत-से शक्तिशाली व स्वतन्त्र राजा किसी-न-किसी अंश में पवित्र रोमन सम्राट् के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। इस दशा में प्रभुता व सर्वोपरिता की बात की ब्लुंशली ने यदि महत्त्व न दिया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

बर्गेस ने ब्लुंशली के सदृश ही राज्य को मानव-समाज का एक ऐसा विशिष्ट भाग माना है, जिसे एक संगठित इकाई समझा जा सके। मानव-समाज अनेक भागों में विभक्त है। जिस भाग को एक पृथक् सुसंगठित समुदाय समझा जा सके, वही एक पृथक् राज्य है। इस दृष्टि से फ्रांस, चीन, भारत आदि मानव-समाज के ऐसे विशिष्ट भाग हैं, जिन्हें पृथक् रूप से संगठित इकाई समझा जा सकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने एक मुकदमे का निर्णय करते हुए राज्य का लक्षण इस प्रकार किया था—"राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों के ऐसे समुदाय का नाम है, जो इस उद्देश्य से संगठित हो कि सबका हित सम्पादित हो सके, जो कुछ उन मनुष्यों का अपना है, उसका वे शान्तिपूर्वक उपभोग कर सकें और दूसरों के प्रति न्याय कर सकें।" एक अन्य अवसर पर अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने राज्य का लक्षण कुछ भिन्न प्रकार से किया था—"राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों के ऐसे राजनीतिक समुदाय को कहते हैं, जो किसी ऐसे प्रदेश में बसा हुआ हो, जिसकी सीमाएं निश्चित हों और जिसका संगठन किसी ऐसी सरकार के अधीन हो, जिसकी स्थापना शासित लोगों की अनुमति द्वारा हुई हो और जिसकी शक्ति एक लिखित संविधान द्वारा मर्यादित होती हो।" इस लक्षण से राज्य का स्वरूप भलीभांति स्पष्ट हो जाता है, यद्यपि इसके अनुसार उन राज्यों को 'राज्य' नहीं कहा जा सकेगा, जिनमें किसी एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजा का शासन हो या जिनका कोई निश्चित व लिखित संविधान न हो। संयुक्त राज्य अमेरिका में आजकल जैसी सरकार है और वहाँ संविधान का जो रूप है, उसका इस लक्षण पर प्रभाव स्पष्ट है। सम्भवतः, संसार के अनेक पुरातन व वर्तमान राज्यों पर यह लक्षण लागू नहीं हो सकेगा।

फिलिमोर ने राज्य का जो लक्षण किया है, यह सम्भवतः राज्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करता है। उसके अनुसार, "राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है जो कि निश्चित प्रदेश व भूमिखंड पर स्थायी रूप में बसा हुआ हो और जो एक कानून, एक अभ्यास और एक रीति-रिवाज द्वारा एक सुदृढ़ संगठन में भलीभांति संगठित हो और जो सुव्यवस्थित सरकार द्वारा उस प्रदेश की सीमा में बसने वाले सब मनुष्यों व उस प्रदेश में विद्यमान सब पदार्थों पर पूरा नियन्त्रण, अधिकार व प्रभुत्व रखता हो और जिसे संसार के अन्य किसी भी समुदाय से सन्धि व विग्रह करने का या किसी अन्य प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार हो।" फिलिमोर ने राज्य का जो यह लक्षण किया है, उसमें जहाँ भूमि, जनता, सरकार और प्रभुता—इन चारों तत्वों का भलीभांति समावेश हो गया है, वहां साथ ही एक अन्य बात को भी सूचित किया गया है। राज्य के सब निवासियों को एक कानून, एक अभ्यास व एक रीति-रिवाज द्वारा भलीभांति सुसंगठित भी होना चाहिए। एक कानून, एक अभ्यास, एक रीति-रिवाज व एक परम्परा मनुष्यों व उस विशेषता को उत्पन्न करती है, जिसे राष्ट्रीयता कहा जाता है। इतिहास के विविध राज्यों में यह प्रवृत्ति रही है कि एकसदृश लोग एक समुदाय में संगठित हों, एक राज्य के सब निवासी एक राष्ट्रीयता के अंग हों। फिलिमोर ने राज्य के इस लक्षण में इसी तथ्य को सूचित किया है। पर इस लक्षण के अनुसार उन राज्यों को 'राज्य' नहीं कहा जा सकेगा, जिनमें विविध जातियों व राष्ट्रीयताओं के लोग निवास करते हों। उन्नीसवीं सदी के आस्ट्रिया-हंगरी राज्य में आस्ट्रियन, हंगेरियन, चेकोस्लोवाक आदि कितनी ही राष्ट्रीयताओं का निवास था। इन सबके कानून, अभ्यास और रीति-रिवाज भी भिन्न-भिन्न थे।

नोट

गार्नर ने राज्य का जो लक्षण किया है, वह शायद सबसे अधिक स्पष्ट व उत्तम है। उसके अनुसार "राज्य मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है, जो संख्या में चाहे अधिक हो या न्यून, पर जो किसी निश्चित भूखण्ड पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, जो किसी भी बाह्यशक्ति के नियन्त्रण से पूर्णतया व प्रायः स्वतन्त्र हो और जिसमें एक ऐसी सुसंगठित सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन करने के लिये उस भूखण्ड के प्रायः सब निवासी अभयस्त हों।" इस लक्षण की विशेषता यह है कि इसमें राज्य के चारों तत्वों–भूमि, जनता, शासन (सरकार) और प्रभुता–का जहाँ स्पष्ट रूप से समावेश है, वहाँ साथ ही ये बातें भी स्पष्ट हो गई हैं–(1) राज्य का जनसमुदाय जहाँ चीन, भारत, रूस आदि के जनसमुदाय के समान संख्या में बहुत विशाल हो सकता है, वहाँ बेल्जियम, लक्सम्बर्ग, सन मारिनो, अफगानिस्तान आदि की जनता के समान अल्पसंख्यक भी हो सकता है। जनसंख्या, शक्ति आदि की दृष्टि से रूस और अफगानिस्तान में अत्यधिक विषमता होते हुए भी राज्य की दृष्टि से दोनों एक समान स्थिति रखते हैं। (2) प्रभुता व सर्वोपरिता राज्य के आवश्यक तत्व हैं, पर इतिहास में हम बहुत-से ऐसे राज्यों को देखते हैं, जो अविकलरूप से 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' नहीं थे। मध्यकाल के बहुत-से राजा, महाराजा अपने-अपने राज्य में 'प्रभु' होते हुए भी किसी अन्य शक्तिशाली राजा को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। यूरोप के बहुसंख्यक मध्यकालीन राजा 'पवित्र रोमन सम्राट्' को अपना अधिपति मानते थे। मध्यकालीन भारत के बहुत-से स्वतन्त्र महाराजा व नवाब दिल्ली के सुल्तानों व बादशाहों की प्रभुता को स्वीकार करते थे। वर्तमान काल में भी भारत, कनाडा आदि अनेक राज्य 'सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न' होते हुए भी ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अंग हैं और ऐतिहासिक व अन्य परिस्थितियों के कारण उन्होंने एक बाह्यशक्ति के साथ ऐसे सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं, जिनके कारण उनकी प्रभुता व सर्वोपरिता कुछ अंशों में मर्यादित हो सकती है। गार्नर द्वारा किये गए राज्य के लक्षण में यह गुंजाइश हो जाती है कि ऐसे राज्यों को भी 'राज्य' कहा जा सके।

राजनीतिशास्त्र के विविध आचार्यों द्वारा राज्य के जो लक्षण किये गये हें, उनमें से कतिपय को यहाँ उद्धृत करने का सही प्रयोजन है कि यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाये कि राज्य के प्रधान तत्व निम्नलिखित होते हैं–(1) राज्य ऐसे मनुष्यों का एक समुदाय है, जो एकसदृश उद्देश्यों से परस्पर संगठित हुए हों। (2) ये मनुष्य पृथ्वी के किसी निश्चित भाग पर स्थायी रूप से बसे हुए हों और वे इसे अपना घर व मातृभूमि समझते हों। (3) यह समुदाय पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न हो, किसी बाह्य शक्ति व सत्ता का इस पर नियन्त्रण न हो और (4) इसमें एक ऐसी सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेशों का पालन इस भूखंड के सब निवासी करते हों और यह संस्कार उस राज्य के उद्देश्यों को पूरा करने का साधन रूप हो।

राज्यविशेष और राज्यसामान्य–पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि राजनीतिक शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय जो राज्य है, वह कोई राज्यविशेष नहीं है, अपितु राज्य सामान्य है। चीन, भारत, फ्रांस आदि राज्यविशेष है। पुरातन काल में एथेन्स, स्पार्टा, रोम, मगध, कोशल, वज्जि आदि जो राज्य थे, वे भी राज्यविशेष थे। राजनीतिशास्त्र में इन विशिष्ट राज्यों पर विचार नहीं किया जाता, यद्यपि इन राज्यों के उदाहरण से विषय को सममझने में सहायता ली जाती है। इतिहास के प्राचीन, मध्यकालीन व आधुनिक कालों के विभिन्न राज्यों में जो राज्यत्व समान रूप से है, वही राजनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। उस 'राज्य' का क्या स्वरूप है, उसके क्या अंग हैं, उसका क्या ध्येय है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई–इसी प्रकार के प्रश्नों पर, हमें विचार करना है। फ्रांस व भारत सदृश राज्यविशेष की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, उसका स्वरूप व ध्येय क्या है–इन प्रश्नों पर हमें विचार नहीं करना है।

आदर्श राज्य और वास्तविक राज्य–कुछ विचारकों ने आदर्श राज्य और वास्तविक राज्य में भी भेद करने का प्रयत्न किया है। राज्य हमारे सम्मुख एक आदर्श का चित्र उपस्थित करता है। राज्य का निरन्तर विकास हो रहा है। मानव-इतिहास के प्रभातकाल में जो छोटे-छोटे व अव्यवस्थित राज्य थे, उनका स्थान अब ऐसे विशाल व सुव्यवस्थित राज्यों ने ले लिया है, जिनमें विशाल जनता का निवास है। यह भी संभव है कि भविष्य में 'राज्य' विश्वव्यापी हो जाये, सम्पूर्ण मानव-समाज एक 'समुदाय' से संगठित हो जाये; राज्य की जनता का अभिप्राय सम्पूर्ण

नोट

मानव-समाज एक 'समुदाय' से संगठित हो जाये; राज्य की जनता का अभिप्राय संपूर्ण मनुष्य जाति और राज्य की भूमि का अभिप्राय संपूर्ण पृथ्वी हो जाये। आधुनिक युग की अंतर्राष्ट्रीय हमें इसी ओर ले जा रही है। जिस समय यह आदर्श क्रिया में परिणत हो जाएगा, तभी राज्य का चरम उत्कर्ष संभव होगा। हम कहते हैं, राज्य मानव समुदाय का सर्वोच्च रूप है; पर राज्य मानव समुदाय का उत्कृष्टतम रूप तभी बनेगा, जब संपूर्ण मनुष्य जाति एक राज्य में संगठित हो जायगी। तभी राज्य उस प्रयोजन की पूर्ति कर सकेगा, जिसके लिए मनुष्यों ने समूह में रहना प्रारंभ किया था और जिसके कारण उसे 'सामाजिक प्राणी' कहा जाता है।

पर राज्य का यह आदर्श अभी वास्तविकता से बहूत दूर है। अभी तो राज्य उसी मानव समुदाय का नाम है, जो किसी निश्चित प्रदेश पर बसा हुआ है और जो सर्वोपरि सत्ता रखते हुए एक ऐसी शक्ति के रूप में संगठित है, जिसके आदेशों का पालन उस प्रदेश के सब निवासी करते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. रूस की क्रांति सन् ..... में हुई थी।
2. एक समय जर्मनी में हिटलर और इटली में ..... की सत्ता काबिज थी।
3. ..... मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है, जो साधारणतया किसी निश्चित प्रदेश पर ..... रूप से बसा हो।

3.1.1 राज्य के आवश्यक तत्व (Important Elements of State)

राज्य के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि हम जनता, भूमि, सरकार और सर्वोपरिता–राज्य के इन चारों तत्वों पर विशद रूप से प्रकाश डालें।

(1) जनता–राज्य का प्रधान तत्व जनता है। जनता के एक समुदाय विशेष का नाम ही राज्य है। यदि जनता न हो, तो राज्य की कल्पना भी संभव नहीं। जिस प्रकार मिट्टी के बिना घट व सूत के बिना वस्त्र का निर्माण करना संभव नहीं है, वैसे ही जनता के बिना राज्य की सत्ता संभव नहीं है। जनता जैसी होगी, राज्य भी वैसा ही होगा। जनता के स्वरूप पर ही राज्य का स्वरूप निर्भर है। यदि किसी राज्य की जनता परिश्रमी, त्यागशील व मातृभूमि से प्रेम करने वाली हो, तो वह राज्य निरन्तर उन्नति करेगा। इसके विपरीत यदि किसी राज्य की जनता आलसी, स्वार्थी और मातृभूमि के प्रति उपेक्षावृत्ति रखने वाली हो, तो वह राज्य अधोगति को ही प्राप्त होगा। यही कारण है कि जनता को सुशिक्षित, परिश्रमी, विनयसम्पन्न और नियन्त्रित करने के लिए विशेष ध्यान देना उचित है।

जहाँ राज्य के लिये जनता का योग्य, गुणी व समर्थ होना आवश्यक है, वहाँ साथ ही जनता का बहुसंख्यक (न्यूमरस) होना भी उपयोगी है। रूस और अमेरिका जैसे विशाल राज्यों में करोड़ों की संख्या में मनुष्य निवास करते हैं। बेल्जियम व अफगानिस्तान जैसे छोटे राज्यों की जनसंख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह स्वाभाविक है कि अमेरिका और रूस की शक्ति बेल्जियम व अफगानिस्तान के मुकाबले में बहुत अधिक हो। चीन और भारत जैसे राज्यों की शक्ति का एक बड़ा कारण वहाँ की जनता का बहुसंख्यक होना ही है। विशाल जनसंख्या न केवल सैन्यशक्ति में सहायक होती हैं, अपितु कृषि, व्यवसाय आदि की उन्नति भी जनसंख्या की प्रचुरता पर ही आश्रित होती है।

राजनीतिशास्त्र के अनेक पण्डित इस बात पर विचार करते रहे हैं कि राज्य में जनता की संख्या कितनी हो। प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान प्लेटो का यह मत था कि आदर्श राज्य वह है, जिसके नागरिकों की जनसंख्या 5040 हो। ग्रीक विचारकों के अनुसार, राज्य इतना छोटा नहीं होना चाहिये कि अन्य राज्य उसे सुगमता से परास्त कर सकें। साथ ही, राज्य

नोट

इतना बड़ा भी नहीं होना चाहिये कि उसका भलीभांति सुशासन कर सकना कठिन हो जाय। राज्ये का वही आकार उचित है, जिसमें कि वह आत्मनिर्भर रह सके, शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सके और उसका शासन भी सुचारु रूप से संभव हो। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर प्लेटो ने राज्य के नागरिकों की आदर्श जनसंख्या 5040 नियत की थी। अरस्तु भी इस विषय में प्लेटो का ही अनुयायी था और उसका विचार था कि किसी राज्य के लिये दस हजार नगारिक होना भी अत्यधिक ही है, प्राचीन ग्रीस में बहुत-से छोटे-छोटे नगर राज्य थे। उनका विस्तार प्राय: कुछ सौ वर्ग मीलों से अधिक नहीं होता था। इनकी आबादी भी कुछ हजार तक ही सीमित होती थी। इन राज्यों का शासन प्राय: लोकतंत्र होता था। उस युग में प्रतिनिधि चुनने का रिवाज नहीं था। सब नागरिक लोकसभा में एकत्र होकर राज्य-संबंधी मामलों का निर्णय किया करते थे। इस दशा में प्लेटो और अरस्तु जैसे विचारकों के लिये यह उचित ही था, कि वे आदर्श राज्य के नागरिकों की संख्या को पांच हजार के लगभग रखें। यदि किसी राज्य की जनसंख्या अधिक होगी, तो उसके नागरिकों के लिये यह उचित ही था, कि वे आदर्श राज्य के नागरिकों की संख्या को पाँच हजार के लगभग रखें। यदि किसी राज्य की जनसंख्या अधिक होगी, तो उसके नागरिकों के लिये लोकसभा में एकत्र होकर राज्य कार्य का संचालन करना कठिन होगा और उसका शासन ठीक तरह से नहीं हो सकेगा। रोम के इतिहास में हम देखते हैं कि नागरिकों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। रोमन राज्य का विस्तार रोम नगर से बढ़कर पहले इटली में और फिर सुदूरवर्ती प्रदेशों तक हो गया। विशाल रोमन साम्राज्य के स्वतन्त्र निवासी रोम के नागरिक माने जाते थे, पर सैकड़ों-हजारों मील की दूरी पर रहने वाले रोमन नागरिकों के लिये यह संभव नहीं था कि वे रोम आकर अपनी लोकसभा में शामिल हो सकें। परिणाम यह हुआ कि रोमन साम्राज्य की सब राज्य-शक्ति रोम के निवासियों के हाथों में आ गई। रोमन गणराज्य का शासन लोकतन्त्र न रहकर एक गुट-विशेष के हाथ में आ गया।

वर्तमान समय में प्रतिनिधि निर्वाचित करने की प्रणाली से यह आवश्यक नहीं रह गया है कि सब नागरिक स्वयं लोकसभा में एकत्र हों। साथ ही, यान्त्रिक आविष्कारों और वैज्ञानिक उन्नति के कारण मनुष्य ने देश और काल पर भी भारी विजय प्राप्त कर ली है। इस कारण विशालकाय राज्यों में भी यह संभव हो गया है कि करोड़ों की संख्या वाली उनकी जनता अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करके लोकतन्त्र शासन को सफल बना सके। पर जिन परिस्थितियों में प्लेटो और अरस्तु ने आदर्श राज्य की जनसंख्या कुछ हजारों तक सीमित की थी, उन्हें दृष्टि में रखते हुए इन राजशास्त्रियों का विचार ठीक ही था।

फ्रांस के प्रसिद्ध राजशास्त्री रूसो के अनुसार राज्य की जनसंख्या कितनी हो, इसकी कोई सीमा तो निश्चित नहीं की जा सकती; पर राज्य की जनसंख्या और भूमि में कोई अनुपात अवश्य होना चाहिये। राज्य के पास भूमि इतनी होनी चाहिये कि उसकी जनता का उससे भलीभांति निर्वाह हो सके। राज्य की जनसंख्या इतनी होनी चाहिये कि भूमि उसका सुचारु रूप से पालन कर सके। रूसो ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि कितनी भूमि कितनी जनता की भलीभांति पालन कर सकती है। पर इस संबंध में वह किसी निश्चित नियम का निर्माण नहीं कर सका, क्योंकि भूमि की उपजशक्ति भिन्नभिन्न होती है। कृषि और व्यवसाय के लिये अनुकूल परिस्थिति होने की दशा में कोई भूमि अधिक जनता का भी पालन कर सकती है। इसके विपरीत मरुस्थल सदृश सुविस्तृत भूमि से थोड़े-से लोगों का भी निर्वाह नहीं हो सकता।

वर्तमान समय में जनसंख्या की दृष्टि से राज्य बड़े और छोटे दोनों प्रकार के हैं। चीन, भारत, अमेरिका, रूस आदि राज्यों की जनसंख्या अत्यन्त विशाल है। दूसरी ओर मोनाको, लक्सम्बर्ग आदि की जनसंख्या बहुत कम है। इस भेद के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि राज्य की भूमि और जनसंख्या में एक ऐसा संबंध अवश्य होना चाहिए, जिससे कि राज्य की भूमि उसकी जनसंख्या का पालन-पोषण करने के लिए पर्याप्त हो।

प्रजा और नागरिक—राज्य में जो मनुष्य निवास करते हैं, वे सब उस राज्य की प्रजा तो होते हैं, पर वे सब उसके नागरिक नहीं होते। ग्रीस के प्राचीन नगर राज्यों में जनसंख्या का बड़ा भाग दासों का होता था, जिन्हें वोट देने व

नोट

निर्वाचित होने का अधिकार प्राप्त हो। किसी राज्य में निवास करने वाले सब मनुष्यों के लिये, चाहे वे नागरिक हों या न हों, यह आवश्यक है कि वे उस राज्य के कानूनों का पालन करें। इसी कारण वे सब उस राज्य की प्रजा होते हैं। पर नगारिक केवल वे होते हैं, जिन्हें उस राज्य के संविधान के अनुसार प्रतिनधि चुनने व स्वयं प्रतिनिधि बनने का अधिकार दिया गया हो। आजकल जब कि वोट देने का अधिकार सब स्त्री-पुरुषों (नाबालिगों को छोड़कर) को प्राप्त हो गया है, नागरिक और प्रजा का भेद उतने महत्त्व का नहीं रहा, जितना कि उस युग में था, जब राज-शक्ति किसी श्रेणी विशेष के हाथ में रहती थी और जनसाधारण के हाथ में राजशक्ति नहीं आई थी।

(2) भूमि—जिस प्रकार राज्य के लिये जनता का होना आवश्यक है, वैसे ही एक निश्चित भूमि का होना भी अनिवार्य है। मनुष्यों का एक समुदाय जब तक किसी भूमि पर स्थायी रूप से नहीं बस जाता, तब तक वह राज्य का रूप धारण नहीं करता। एक फिरन्दर कबीले का उदाहरण लीजिये। इस प्रकार के कबीले में जनता होती है, उस जनता का एक संगठन भी होता है, उसके अपने कानून, अपने अभ्यास, अपनी परम्परा, अपने रीति-रिवाज—सब होते हैं। उसमें एक सुव्यवस्थित सरकार की सत्ता भी होती है। पर हम उसे राज्य नहीं कहते, क्योंकि वह किसी निश्चित प्रदेश व भूमिखण्ड पर बसा हुआ नहीं होता। वही कबीला या जन जब किसी प्रदेश (जनपद) पर स्थायी रूप से बस जाता है, तो वह राज्य का रूप धारण कर लेता है। संसार के प्राचीन इतिहास में स्पार्टा, एथेन्स, मालव, यौधेय, क्षुद्रक आदि विविध राज्य शुरू में कबीले या जन के रूप में ही थे। जब वे एक निश्चित भूमिखण्ड पर बस गये, तो वे राज्य कहलाने लगे। आधुनिक युग में यहूदी लोग इसी बात के उदाहरण हैं। अब से कुछ साल पहले तक यहूदी लोग यूरोप के विविध राज्यों में बसे हुए थे। उनके अपने रीति-रिवाज, धर्म, नियम आदि सब थे, पर कोई ऐसा प्रदेश नहीं था, जिसमें वे स्थायी रूप से बसे हुए हों या जिसे वे अपनी मातृभूमि कह सकें। पर इजराईल की स्थापना से अब यहूदियों का एक अपना राज्य बन गया है, जहां वे स्थायी रूप से बसने लग गये हैं। यहूदी अब भी बड़ी संख्या में अन्य राज्यों में फैले हुए हैं, पर अब एक ऐसे प्रदेश का निर्माण हो गया है, जिसे वे अपनी मातृभूमि व अभिजन समझ सकते हैं। वस्तुतः, जैसे आत्मा को एक कलेवर की आवश्यकता होती है, वैसे ही जनसमुदाय को भी भूमिरूपी कलेवर की आवश्यकता होती है। यदि जनता आत्मा है, तो भूमि शरीर है। जिस प्रकार शरीर में हम ममत्व भावना रखते हैं, वैसे ही राज्य का जनसमुदाय अपनी भूमि में ममत्व की भावना रखता है। राज्य के सब निवासियों में एकता व एकानुभूति उत्पन्न करने के लिये भूमि के प्रति ममत्व की भावना बहुत सहायक है। राज्य की स्थिरता और शक्ति के लिये भी यह ममत्व बुद्धि बहुत उपयोगी होती है।

इस दृष्टि से राज्य अन्य जनसमुदायों से भिन्न है। अन्य समुदायों का संबंध किसी भूमिविशेष से नहीं होता। उदाहरण के लिए धार्मिक समुदायों को लीजिये। बौद्ध, ईसाई व मुस्लिम सम्प्रदाय भी एक प्रकार के जनसमुदाय हैं। पर उनका संबंध किसी विशिष्ट प्रदेश से नहीं है। वे अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये, लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने के लिये पृथ्वी के किसी भी प्रदेश में काम कर सकते हैं। यही दशा अनेक साहित्यिक, वैज्ञानिक व आर्थिक समुदायों की भी है। राज्य के अतिरिक्त जो अन्य समुदाय हैं, वे एक प्रदेश में एक से अधिक संख्या में रह सकते हैं। भारत सदृश एक राज्य में आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि कितने ही समुदाय विद्यमान हैं। पर राज्य एक ऐसा समुदाय है, जो एक प्रदेश में एक से अधिक नहीं रह सकता, न ही कोई राज्य ऐसा हो सकता है, जिसका किसी विशिष्ट प्रदेश से संबंध न हो। यदि किसी प्रदेश में एक से अधिक राज्य होंगे, तो उनमें संघर्ष का होना अनिवार्य होगा। क्योंकि सर्वोपरिता राज्य का आवश्यक तत्व है और किसी प्रदेश में सर्वोपरिता ही नहीं है।

जिस प्रकार जनता के गुण-दोष का प्रभाव राज्य पर पड़ता है, वैसे ही भूमि के गुणों व दोषों का भी राज्य पर प्रभाव होता है। भूमि का अभिप्राय केवल स्थल से ही नहीं है। राज्य के प्रदेश में जो नदियाँ, सरोवर, झील, पर्वत आदि हों, वे सब भूमि के अन्तर्गत माने जाते हैं। यदि राज्य से मिला हुआ कोई समुद्र हो, तो स्थल से 12 मील दूर तक का समुद्र भी राज्य में सम्मिलित समझा जाता है। जमीन के ऊपर जो वायुमंडल है, वह भी राज्य की भूमि के ही अन्तर्गत होता है।

नोट

राज्य की भूमि का राज्य के स्वरूप पर बहुत प्रभाव होता है। ग्रेट ब्रिटेन का राज्य समुद्र से घिरा हुआ है, वह एक द्वीप के समान है। यही दशा जापान की है। इस परिस्थिति से इन राज्यों को सामुद्रिक क्षेत्र में उन्नत होने में बहुत मदद मिली है। ग्रेट ब्रिटेन जो प्रबल नौ-शक्ति विकसित कर सकने में सफल हुआ, उसका कारण उसकी भूमि की यह विशेषता ही है। यूरोप के इतिहास में हम देखते हैं कि इंग्लैंड बाह्य आक्रमणों से प्रायः बचा रहा है। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों में भी ब्रिटेन शत्रु के आक्रमण से प्रायः सुरक्षित रहा। इसका कारण यही था कि इस राज्य की भूमि समुद्र से घिरी हुई है और स्थल द्वारा उसका किसी अन्य राज्य के संबंध नहीं है। इसके विपरीत, जर्मनी और फ्रांस की कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है। इन राज्यों की भूमि की इस विशेष परिस्थिति के कारण उनमें निरंतर संघर्ष होता रहा है और वे ब्रिटेन के समान निश्चितता के साथ अपनी उन्नति नहीं कर सके। अनेक विचारकों के अनुसार प्राचीन ग्रीस में नगर राज्यों का जो विकास हुआ, उसका कारण भी ग्रीस की भूमि की विशेष परिस्थितियां ही थीं। ग्रीस की भूमि पर्वतप्रधान है। पर्वतश्रेणियों के कारण वह अनेक घाटियों में विभक्त है। प्राचीन समय में जब मनुष्य ने वैज्ञानिक उन्नति नहीं की थी, ये पार्वत्य घाटियाँ एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् थीं। इसीलिए इनमें ऐसे अनेक छोटे-छोटे नगर राज्यों का विकास हुआ, जो सदियों तक एक-दूसरे से पृथक् रहे।

जैसे भूमि की प्राकृतिक परिस्थिति का राज्य पर असर पड़ता है, वैसे ही भूमि की जलवायु, उपजशक्ति व समृद्धि का भी राज्य पर प्रभाव होता है। पृथ्वी का कोई भाग अधिक उपजाऊ है, कोई कम। कहीं खनिज पदार्थों की प्रचुरता है, कहीं उनका अभाव है। कहीं की जलवायु अत्यधिक गरम है, कहीं की अत्यन्त ठण्डी। फ्रेंच विचारक रूसो ने प्रतिपादित किया था कि गरम जलवायु में स्वेच्छाचारी शासन का विकास होता है और अतिशीत जलवायु में मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पाता। जिन प्रदेशों की जलवायु न अधिक गरम होती है, न अधिक ठण्डी, वहाँ वैध लोकतन्त्र शासन का विकास होता है। इतिहास के अनुशीलन से रूसो के इस मन्तव्य की पुष्टि नहीं होती। यूरोप के अनेक राज्यों में वर्तमान समय में लोकतन्त्र वैध शासन विद्यमान हैं पर मध्यकाल में वहाँ निरंकुश राजाओं का शासन था। गर्म देशों में भी लोकतन्त्र शासन रह चुके हैं, और भविष्य में भी रह सकते हैं। भारत इसका उदाहरण है। वज्जि, मालव, क्षुद्रक, शिवि आदि कितने ही गणराज्य इस देश में पहले रह चुके हैं और अब फिर सम्पूर्ण देश में एक विशाल गणराज्य की स्थापना हो गई है। रूसो का मन्तव्य सर्वांश में सत्य न होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि जलवायु का राज्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जो राज्य अपनी जलवायु की दृष्टि से अधिक उत्तम दशा में हैं उन्हें अपनी उन्नति करने में सहायता अवश्य मिलती है। इसी प्रकार खनिज पदार्थ, जंगल में प्राप्त होने वाली कीमती लकड़ी आदि की उपलब्धि से भी राज्य की उन्नति में सहायता पहुँचती है। इंग्लैण्ड जो व्यावसायिक उन्नति में इतना अधिक आगे बढ़ गया, उसका एक मुख्य कारण यह है कि वहाँ कोयला और लोहा बड़े परिमाण में उपलब्ध होता है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जर्मनी ने जो असाधारण व्यावसायिक उन्नति की, उसका कारण भी वहाँ की खनिज सम्पत्ति ही थी। बिहार के कोयले और लोहे को ही भारत की व्यावसायिक उन्नति का श्रेय प्राप्त है। परमाणु शक्ति के इस युग में उन राज्यों को ही भारत की व्यावसायिक उन्नति का श्रेय प्राप्त है। परमाणु शक्ति के इस युग में उन राज्यों को उन्नति का विशेष अवसर होगा, जिनमें इस शक्ति को उत्पन्न करने के लिये विशिष्ट धातुएँ व तत्व बड़ी मात्रा में उपलब्ध होंगे।

भूमि का विस्तार–राज्य की भूमि का विस्तार कितना होना उचित है, इस प्रश्न पर भी राजशास्त्रियों ने विचार किया है। प्लेटो और अरस्तु जैसे प्राचीन ग्रीक विचारक यह मानते थे कि राज्य की भूमि को न बहुत बड़ा होना चाहिये, न बहुत छोटा। अठारहवीं सदी तक के विचारक विशाल आकार के राज्य को उत्तम नहीं समझते थे। फ्रेंच विद्वान रूसो ने लिखा है कि जिस प्रकार प्रकृति ने मनुष्य का एक आकार नियत कर दिया है, उससे बहुत लम्बा व उससे बहुत छोटा मनुष्य शोभा नहीं देता; इसी प्रकार एक सुशासित व सुव्यवस्थित राज्य का आकार भी प्रकृति ने निर्धारित कर दिया है। राज्य को बहुत विस्तीर्ण नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस दशा में शासन सुव्यवस्थित नहीं हो सकेगा। साथ ही, राज्य को बहुत छोटा भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस दशा में वह अकेले अपनी रक्षा नहीं कर सकेगा।

नोट

यदि राज्य बहुत बड़ा होगा, तो सुदूरवर्ती प्रदेशों पर शासन करना कठिन होगा और जनता में राज्य के प्रति अनुरक्ति भी नहीं हो सकेगी। रूसो यह भी कहता था कि शासन व सरकार का स्वरूप भी राज्य के आकार पर निर्भर है। लोकतन्त्र शासन छोटे आकार के राज्यों में संभव है, बीच के आकार के राज्यों में श्रेणीतन्त्र शासन उपयुक्त रहता है और विशाल राज्यों में राजतन्त्र शासन के अतिरिक्त अन्य कोई शासनपद्धति संभव नहीं रहती। मान्टेस्क्यू सदृश अन्य भी अनेक फ्रेंच विद्वानों ने इसी प्रकार के विचार प्रगट किये हैं। अठारहवीं सदी की परिस्थितियों में संभवत: यह बात ठीक भी थी। तब तक व्यावसायिक उन्नति भलीभाँति नहीं हुई थी और न ही मनुष्य ने देश और काल पर विजय प्राप्त की थी। रेल, मोटर, रेडियो आदि का आविष्कार तब तक नहीं हुआ था। घोड़े की अपेक्षा अधिक तेज चल सकने वाली किसी सवारी का मनुष्य को तब तक ज्ञान नहीं था। इस दशा में यदि रूसो और मांटेस्क्यू सदृश राजशास्त्री विशालकाय राज्यों में लोकतन्त्र शासन को असंभव समझे, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

वैज्ञानिक उन्नति की वर्तमान दशा में विशालकाय राज्यों में भी लोकतन्त्र शासन की सत्ता संभव हो गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका इसका उदाहरण है। उसका क्षेत्रफल भारत की अपेक्षा दुगुना है। इतने बड़े राज्य में जो लोकतन्त्र शासन सफल हो रहा है, इसका कारण देश और काल पर प्राप्त की गई वह विजय ही है, जो वैज्ञानिक अविष्कारों का परिणाम है। शासन की सुव्यवस्था की दृष्टि से भी राज्य का विशाल होना अब कोई नुकसान की बात नहीं रही है। ब्रिटिश साम्राज्य भूमण्डल के प्राय: सभी भागों में विस्तृत है, अनेक द्वीप व प्रदेश उसके अन्तर्गत हैं। पर उसका शासन छोटे-छोटे राज्यों के मुकाबिले में कम व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता। आवागमन के साधनों में उन्नति ही इसका कारण है।

वर्तमान युग में राज्यों का छोटा होना घाटे की बात हो गई है। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों ने यह सिद्ध कर दिया है कि छोटे राज्यों के लिए आत्मरक्षा कर सकना सुगम नहीं है। 1914-18 के महायुद्ध में जर्मनी ने बेल्जियम जैसे छोटे-से राज्य को बात की बात में परास्त कर दिया था। 1931-45 के संग्राम में तो चेकोस्लोवाकिया, फ्रांस, पोलैण्ड आदि के लिये भी जर्मनी के मुकाबले में आत्मरक्षा कर सकना संभव नहीं रहा। जर्मनी की शक्ति का मुकाबला अगर किया जा सका, तो ब्रिटिश साम्राज्य, रूस और अमेरिका जैसे विशालकाय राज्यों की सम्मिलित शक्ति से ही। आजकल तो कोई भी छोटा राज्य अकेला अपनी रक्षा नहीं कर सकता। यही कारण है कि पश्चिमी यूरोप के विविध राज्य आत्मरक्षा के लिए संघ बनाने की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। अटलांटिक पैक्ट आदि का निर्माण इसी अनुभूति के कारण हुआ है कि मझले आकार के राज्यों की शक्ति भी अब आत्मरक्षा के लिये पर्याप्त नहीं है।

छोटे राज्यों को अन्य भी अनेक असुविधायें रहती हैं। आर्थिक दृष्टि से वे आत्मनिर्भर व स्वावलम्बी नहीं हो सकते। उनकी राजकीय आय इतनी नहीं होती कि वे वर्तमान वैज्ञानिक युग के अस्त्र-शस्त्रों व अन्य साधनों को भरपूर परिमाण में जुटा सकें। परमाणुशक्ति का विकास व उपयोग करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है, वे अत्यधिक व्यय-साध्य है। इस खर्च को जुटा सकना तो उनकी कल्पना से भी बाहर की बात है। साथ ही, इस युग में सभ्यता, संस्कृति व ज्ञान के विकास के लिये जिस व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है, वह छोटे राज्य में संभव नहीं हो सकती। बड़े राज्यों में जिस जनसमुदाय का निवास होता है, वह नस्ल, जाति, धर्म, संस्कृति आदि की दृष्टि से विविध तत्वों का सम्मिश्रण होता है। इस कारण उसमें दृष्टि की विशालता व विविध प्रकार के गुणों की प्रचुरता संभव होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन काल के छोटे राज्यों का इतिहास बहुत गौरवपूर्ण था। एथेन्स जैसे नगर-राज्य ने मानव इतिहास में जो काम कर दिखाया, वह रोमन साम्राज्य जैसे विशाल राज्य ने नहीं किया। प्लेटो और अरस्तु जैसे दार्शनिक, सुकरात जैसे तत्ववेत्ता, परिक्लीज जैसे राजनीतिज्ञ और हीरोडोटस जैसे ऐतिहासिक ग्रीस के छोटे-छोटे नगर राज्यों में ही हुए। भारत में श्रीकृष्ण, वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध जैसे विचारक व तत्वज्ञानी गणराज्यों में ही प्रगट हुए थे। मानव-सभ्यता की दृष्टि से जो महत्त्व अन्धक वृष्णि संघ, शाक्यगण और वज्जिसंघ जैसे छोटे राज्यों को प्राप्त है, वह मगध और वत्स जैसे विशाल राज्यों को प्राप्त नहीं है। बड़े राज्यों में आन्तरिक विद्रोह, अव्यवस्था और

नोट

गृहकलह आदि होते रहे हैं। मुगल साम्राज्य, चीन आदि इसके उदाहरण हैं। जर्मनी, फ्रांस आदि राज्यों को विशालकाय नहीं कहा जा सकता। भारत, चीन, रूस आदि के मुकाबले में तो वे छोटे राज्य ही है। फिर भी सैनिक शक्ति, व्यावसायिक उन्नति और संस्कृति की दृष्टि से वे बड़े राज्यों के मुकाबले में आगे बढ़े हुए रहे हैं।

राज्य बड़े हों या छोटे, यह बात मानवसमाज की उन्नति की दशा पर निर्भर है। निस्सन्देह, प्राचीन काल में छोटे राज्य ही अधिक उत्तम थे, क्योंकि सुशासन व आन्तरिक व्यवस्था उन्हीं में संभव थी। उनके निवासी भी एक राष्ट्रीयता के अंग होने के कारण अधिक सुसंगठित हो सकते थे पर आवागमन के साधनों की उन्नति के कारण ये सब बातें अब बड़े राज्यों में भी संभव हो गई है। अमेरिका और रूस शासन व सुव्यवस्था की दृष्टि से बेल्जियम व फ्रांस जैसे देशों से पीछे नहीं है। इस समय की तो प्रवृत्ति यही है कि राज्यों के आकार अधिक-से-अधिक बड़े होते जाएँ, छोटे राज्य मिलकर अपना एक संघ बना लें और विविध मानव-समूह मिलकर एक ऐसी संस्कृति व राष्ट्रीयता का विकास करें, जिसमें छोटे मानव समुदायों की अपनी विशेषताएँ कायम रहते हुए भी सब में एकानुभूति की सत्ता हो।

राज्यों की स्वाभाविक सीमा–राज्यों की सीमा क्या हो, यह प्रश्न इतिहास में सदा महत्त्वपूर्ण रहा है। भौगोलिक परिस्थितियों ने जिन राज्यों की कोई स्वाभाविक सीमा नियत कर दी है, वे बहुत सौभाग्यशाली हैं। ग्रेट ब्रिटेन व जापान की सीमाएँ सर्वथा प्राकृतिक हैं। पर यूरोप के बहुसंख्यक राज्यों को इस प्रकार की प्राकृतिक सीमायें प्राप्त नहीं है। इसी कारण अपनी भूमि के विस्तार के लिये व ऐसी सीमायें प्राप्त करने के लिये जो कि राज्य की उन्नति और समृद्धि में सहायक हों, वे निरन्तर संघर्ष करते रहे हैं। 1994-18 के महायुद्ध के बाद यूरोपियन राज्यों में यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल हो गई थी। पोलैंड का जो पुनः निर्माण इस महायुद्ध के बाद किया गया, उसके अनुसार उसे जर्मनी के बीच में से एक गलियारा प्रदान किया गया, ताकि समुद्र के साथ पोलैंड का सीधा संबंध हो सके। पोलैंड की सीमा कहीं भी समुद्र से नहीं लगती थी, यह बात उसके विदेशी व्यापार के लिये उचित नहीं थी। इसी कारण डान्ट्सिग के बंदरगाह को राष्ट्रसंघ की अधीनता में एक पृथक् स्वतंत्र नगर के रूप में परिवर्तित किया गया, और उस तक पहुंचने के लिये पोलैंड को जर्मनी के बीच से एक गलियारा दिया गया। जर्मनी के लिये यह बात बहुत बुरी थी, पर पोलैण्ड की महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के लिये जर्मनी के साथ यह अन्याय किया गया था। इसी प्रकार बुल्गेरिया और चेकोस्लोवाकिया को भी यह अवसर दिया गया था कि समुद्र तक उनकी पहुँच रहे। जिन प्रदेशों को इस उद्देश्य से इन राज्यों की सीमा के अन्तर्गत किया गया, उनका इनके साथ रहना सर्वथा अस्वाभाविक था। यह सिद्धान्त स्वीकार करके कि प्रत्येक राज्य को विदेशी व्यापार की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये और विदेशी व्यापार के लिये समुद्रतट आवश्यक है, इनकी सीमाओं का निर्णय किया गया था। एशिया में अफगानिस्तान एक ऐसा राज्य है, जिसकी सीमायें समुद्र से बहुत दूर हैं। वह अपनी इस कमी को अनुभव करता है और पाकिस्तान के ऐसे प्रदेशों को, जिनमें पठान जाति प्रधानतया निवास करती है, अपने साथ मिलकर अपनी भूमि का विस्तार समुद्र तक कर देने के लिये इच्छुक रहा है। राज्यों का स्वरूप एक जीवित जागृत प्राणी के समान है। प्राणियों के समान राज्य भी अपने उत्कर्ष व समृद्धि के लिये प्रयत्नशील होता है। अतः यदि राजशास्त्री लोग राज्य के संबंध में इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करें कि प्रत्येक राज्य को ऐसी सीमायें प्राप्त रहें जो उनकी उन्नति व समृद्धि में सहायक हों, तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। प्राकृतिक सीमाओं की प्राप्ति राज्य की रक्षा के लिये भी उपयोगी है। अनेक राज्यों की सीमा किसी पर्वत, नदी व समुद्र द्वारा निर्धारित होती है। पहले भारत की एक प्राकृतिक सीमा थी। उत्तर में हिमालय, पश्चिम व पूर्व में अन्य पर्वतमालायें तथा दक्षिण में विशाल समुद्र ने इसे ऐसी सीमायें प्रदान की थीं, जिनके कारण विदेशियों से इसकी रक्षा सुगमता के साथ की जा सकती थी। भारत की इन्हीं स्वाभाविक सीमाओं को देखकर आचार्य चाणक्य ने लिखा था कि हिमालय से समुद्र पर्यन्त जो हजार योजन विस्तीर्ण भूखण्ड है, वह एक चक्रवर्ती शासन का स्वाभाविक क्षेत्र है। पर पाकिस्तान के निर्माण से पूर्व और पश्चिम भारत की कोई स्वाभाविक सीमा नहीं रह गई है। कोई आश्चर्य नहीं कि यह स्थिति देर तक कायम न रहे और भारत फिर एक बार कोई ऐसी प्राकृतिक सीमा प्राप्त करने में समर्थ हो जाए, जो उसकी सुरक्षा के लिये अधिक अनुकूल हो।

नोट

राज्य की सीमा प्रायः ऐसी होती है, जिससे उसकी सब भूमि एक साथ रहती है। फ्रांस, पोलैण्ड, इटली आदि राज्य इसी प्रकार के हैं। पर कुछ राज्य ऐसे भी होते हैं, जिनकी भूमि एक स्थान पर न होकर भूमण्डल के विविध प्रदेशों में बिखरी होती है। हमारे पड़ोस में पाकिस्तान इसका उदाहरण है। इसकी भूमि दो भागों में (पश्चिमी पाकिस्तान व पूर्वी पाकिस्तान) में विभक्त है, जिनके बीच में सैकड़ों मील का अन्तर है। 1994–18 के महायुद्ध के बाद जर्मनी की भूमि को भी पोलिश गलियारे द्वारा दो भागों में विभक्त कर दिया गया था। ग्रेट ब्रिटेन एक राज्य है, पर उसके अन्तर्गत समझे जाने वाले अनेक द्वीप व उपनिवेश भूमण्डल के सुदूरवर्ती प्रदेशों में बिखरे हुए हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि राज्य की सब भूमि का एक साथ रहना उसकी शक्ति में सहायक होता है। भूमि का बिखरा हुआ होना साम्राज्यवाद की दृष्टि से चाहे अवांछनीय न हो, पर राज्य के शासन व समृद्धि की दृष्टि से वह उचित नहीं होता।

राज्य और भूमि का स्वामित्व–मध्यकाल में यह माना जाता था कि जो राजा राज्य का स्वामी है, वह राज्य की भूमि का मालिक भी है। सामन्त पद्धति के युग में यह सिद्धान्त अस्वाभाविक नहीं था, क्योंकि विविध सामन्त राजा जहाँ अपने-अपने प्रदेश के शासक होते थे, वहां वे अपने प्रदेश के जागीरदार भी होते थे। उस समय राजा जहाँ अपने-अपने प्रदेश के शासक होते थे, वहां वे अपने प्रदेश के जागीरदार भी होते थे। उस समय राजा न केवल शासक था, अपितु स्वामी भी था। यही कारण है कि राजा लोग अपनी इच्छा व अधिकार से अपने द्वारा शासित प्रदेशों को बेच सकते थे, दहेज में दे सकते थे या अन्य प्रकार से हस्तान्तरित कर सकते थे। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने मकान, पशु या अन्य सम्पत्ति को अपनी इच्छानुसार दूसरे को दे सकता है, वैसे ही राजा अपने राज्य की भूमि व उस पर निवास करने वाले व्यक्तियों का आदान-प्रदान भी कर सकता था। मध्यकालीन यूरोप में चार्ल्स पंचम जिन विशाल व सुविस्तृत प्रदेशों का शासन करता था, उनमें से अनेक उसे विवाह द्वारा प्राप्त थे। भारत में ही अंग्रेजों को जो बम्बई का प्रदेश मिला था, वह इंग्लैण्ड के अन्यतम राजा को विवाह में दहेज के रूप में प्राप्त हुआ था। अठारहवीं सदी तक यूरोप के राजशास्त्री राज्य की भूमि पर राजा के स्वत्व को स्वीकार करते थे।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा मध्यकाल के इस सिद्धान्त को बहुत धक्का लगा। फ्रेंच क्रान्तिकारियों ने यह प्रतिपादित किया कि राज्य की प्रभुता जनता में निहित होती है। राजशक्ति जनता की है, अतः राज्य की भूमि पर राजा का स्वत्व सम्भव ही नहीं है। राज्य की भूमि पर जो विविध पदार्थ हैं, वे व्यक्तियों की सम्पत्ति है। राजशक्ति भी इन व्यक्तियों की ही है, जिनके उपयोग व अधिकार वे उस संगठन को दे देते हैं, जिसे सरकार कहा जाता है।

भूमि पर राजा के स्वत्व के सिद्धान्त के कारण ही खेतों, जंगलों और भूमि के अन्य हिस्सों पर राज्य का स्वत्व माना जाता रहा है। किसान खेत के उपयोग के लिये राज्य को मालगुजारी देता है। पर व्यापारी व व्यवसायी अपनी आमदनी पर आय कर देते हैं। यदि उनकी आमदनी एक निश्चित राशि से कम हो, तो उन्हें कोई कर नहीं देना होता। पर किसान अगर एक बीघा जमीन जोतकर चार मन अनाज भी पैदा करता है, तो उसे जहाँ जमींदार को लगान लेना पड़ता है, वहाँ जमींदार को भी उस एक बीघे जमीन पर मालगुजारी देनी होती है। राज्य खेत व जमीन पर अपना विशेष स्वत्व मानता है, इसी कारण उसके उपयोग के लिये वह अपना 'अंश' प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

जमीन पर राज्य का स्वत्व है या व्यक्तियों का, यह विवाद बहुत पुराना है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में जमीन पर व्यक्तियों का स्वत्व माना जाता रहा है। जमीन के इन स्वत्वाधिकारियों को जमींदार कहते थे। पर अनेक विचारकों के मत में ये जमींदार केवल मालगुजारी वसूल करने के साधन (एजेण्ट) रहे हैं, जमीन के मालिक नहीं। वस्तुतः, जमीन का मालिक राज्य है, जो अपनी भू-सम्पति के उपयोग के लिये मालगुजारी प्राप्त करता है और इस मालगुजारी वसूल करने का ठेका लेने के कारण जमींदार किसान के लगान प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जमीन के स्वामी व्यक्ति हैं या राज्य–इस विवाद में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना लिख देना पर्याप्त है कि आधुनिक युग में राज्य की यह प्रवृत्ति है कि वह भूमि और तत्सम्बन्धी सब वस्तुओं पर अपना विशेष स्वत्व स्थापित करें। समाजवाद के विकास के कारण यह प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गई है। न केवल भूमि, अपितु कल-कारखानों पर भी अब राज्य अपना स्वत्व स्थापित करने लगा है। समुदाय के हितों के सम्मुख व्यक्ति के हित नगण्य हैं, व व्यक्ति

नोट

के हितों का सच्चे अर्थों में सम्पादन भी समूह के हित द्वारा ही संभव है, इस सिद्धान्त के कारण अब वैयक्तिक सम्पत्ति का स्थान सामूहिक सम्पत्ति व राजकीय सम्पत्ति लेने लगी है। पर वर्तमान युग की इस प्रवृत्ति के कारण जिस राज्य का भूमि व तत्संबंधी वस्तुओं पर स्वत्व स्थापित होता है, वह कोई एक व्यक्ति व श्रेणी नहीं है, अपितु राज्य के सब नागरिकों का समुदाय-मात्र है।

राज्य के अधिकार से पृथक् भूमि–हम ऊपर लिख चुके हैं कि राज्य का अपनी सीमा के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूमि पर पूरा-पूरा अधिकार होता है। पर इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं। यह माना जाता है कि किसी राज्य में विदेशी राजदूतों के निवास के लिये जो प्रदेश नियत है, उस पर राज्य का अधिकार नहीं होता। उसके निवासियों पर राज्य के कानून भी लागू नहीं होते। इसी प्रकार यदि कोई विदेशी जहाज राज्य के बन्दरगाह में या राज्य के समुद्र में (स्थल से 12 मील के अन्दर) आया हुआ हो, तो वह भी राज्य के शासनाधिकार व कानून से मुक्त होता है। राज्यों ने ऐसी व्यवस्था आपस के समझौते से की है। इस संबंध में जो भी नियम हैं, वे अंतर्राष्ट्रीय कानून द्वारा तय हुए हैं।

राज्य की भूमि के विषय में कुछ अन्य भी बातें हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों द्वारा तय होती हैं। किसी-किसी राज्य ने अपने किसी विशेष बंदरगाह, प्रदेश व नदी आदि को प्रयुक्त करने का अधिकार संधि द्वारा किसी अन्य राज्य को दे दिया है। ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्यों ने इस तरह के विशेष अधिकार चीन में प्राप्त किये हुए थे। जापान ने मंचूरिया में रेल बनाने व इसके लिए वहां की भूमि को प्रयुक्त करने का अधिकार लिया हुआ था। सुदूरवर्ती देशों में तार भेजने के लिए समुद्र की सतह पर जो तारें बिछाई जाती हैं, उनके लिये विविध राज्यों से विशेष अधिकार लेने पड़ते हैं। किसी पिछड़े हुए राज्य के खनिज पदार्थों, तेल के कुओं आदि को प्रयुक्त करने के लिये जब किसी उन्नत राज्य के नागरिक विशेष अधिकार प्राप्त करते हैं, तो वे प्रायः ऐसी शर्तें भी तय करा लेते हैं, जिनसे उनके अपने मामलों में उस पिछड़े हुए राज्य की सरकार कोई हस्तक्षेप न कर सके। इस प्रकार की व्यवस्थाओं द्वारा राज्य-संबंधी यह सिद्धान्त कि राज्य का अपनी भूमि पर अबाधित अधिकार है, कुछ मर्यादित हो जाता है।

(3) शासन या सरकार (Government)–राज्य का तीसरा आवश्यक तत्व शासन या सरकार है। किसी निश्चित भूमिखण्ड पर स्थायी रूप से बसा हुआ जनसमुदाय तब तक राज्य नहीं बनता, जब तक कि वह राजनीतिक दृष्टि से संगठित न हो। राज्य की अपनी सरकार अवश्य होनी चाहिये, जिसके द्वारा कि उन उद्देश्यों व प्रयोजनों की पूर्ति की जा सके, जिनके लिये राज्य का संगठन हुआ है। सरकार वह साधन है, जिससे राज्य अपने ध्येय की पूर्ति करता है। जनसमुदाय की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति और कार्य में परिणति सरकार द्वारा ही होती है। सरकार के अभाव में जनसमुदाय संगठित नहीं हो सकता और संगठन के बिना राज्य की सत्ता संभव नहीं।

सरकार का स्वरूप चाहे कैसा भी हो, वह चाहे एकतन्त्र हो, चाहे श्रेणीतन्त्र और चाहे लोकतन्त्र, पर उसकी सत्ता राज्य के लिये अनिवार्य है। इसी सरकार को भारत के प्राचीन राजशास्त्र-प्रणेताओं ने 'दण्ड' नाम से कहा है। दण्ड ही जनता का शासन करता है, दण्ड ही उसकी रक्षा करता है। जब यह 'दण्ड' नहीं था, तब अराजकता की दशा थी। उस दशा में न कोई शासक था, न शासित। सर्वत्र 'मत्स्य न्याय' छाया हुआ था। जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही प्रबल व शक्तिशाली मनुष्य निर्बलों को लूट लेते थे व नष्ट कर देते थे। इस दशा में कोई मनुष्य 'धर्म' का पालन नहीं कर सकता था। मनुष्यों का आर्थिक जीवन, सुख-समृद्धि सब खतरे में पड़ी हुई थी। मनुष्य और भूमि तब भी विद्यमान थे, पर दण्ड व सरकार के अभाव में सर्वत्र अव्यवस्था, अशान्ति और अराजकता छाई हुई थी। दण्ड के प्रादुर्भाव ने इस अवस्था का अन्त किया और जनसमुदाय राजनीतिक दृष्टि से संगठित होकर अपनी वैयक्तिक व सामूहिक उन्नति करने में समर्थ हुआ।

सरकार का रूप इतना अधिक विकसित भी हो सकता है, जिससे कि मानव-जीवन के सब अंगों का नियन्त्रण व संचालन उसके अन्तर्गत हो जाए। साथ ही, सरकार का रूप ऐसा भी हो सकता है कि केवल शान्ति स्थापित करने व व्यवस्था रखने पर ही ध्यान दे। पर सरकार का रूप चाहे कैसा भी हो, यह आवश्यक है कि सरकार के पास इतनी शक्ति हो कि वह अपने आदेशों का राज्य की जनता द्वारा पालन करा सके और बाह्य व आभ्यन्तर शत्रुओं से अपने राज्य की भलीभांति रक्षा कर सके।

नोट

(4) प्रभुता व सर्वोपरिता (Sovereignty)–राज्य का चौथा आवश्यक तत्व प्रभुता है। यह आवश्यक नहीं कि किसी निश्चित भूखण्ड पर स्थायी रूप से बसा हुआ व राजनीतिक दृष्टि से संगठित जनसमुदाय 'राज्य' ही हो। वह राज्य तभी होगा, जब कि वह 'सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न' भी हो। जब उस पर किसी बाह्य शक्ति का नियन्त्रण न हो, तभी हम उसे राज्य कहेंगे। 5 अगस्त, 1947 तक भारत 'राज्य' नहीं था, क्योंकि उस पर ब्रिटेन का नियन्त्रण व अधिकार था। भारत की अपनी निश्चित भूमि थी, अपनी जनता थी, अपनी सरकार भी थी, पर 'प्रभुता' के अभाव में उसे 'राज्य' नहीं कहा जा सकता था। यह ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था, 'राज्य' ब्रिटिश साम्राज्य था, भारत नहीं। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हांगकांग आदि अनेक प्रदेश अब भी ऐसे हैं, जिन्हें हम 'राज्य' नहीं कह सकते, क्योंकि 'प्रभुता' का उनमें अभाव है।

जिन राज्यों का संगठन संघात्मक (फेडरल) सिद्धान्त के अनुसार होता है, उनमें यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि प्रभुत्व शक्ति संघ में निहित है या उसके अंगो में। संयुक्त-राज्य अमेरिका, भारत आदि संघात्मक है। न्यूयार्क, कैलिफोर्निया आदि की जहाँ अपनी-अपनी पृथक् सरकारें हैं, वहाँ संयुक्त-राज्य की सरकार भी पृथक् रूप से है। भारत में जहां सम्पूर्ण राज्य की केन्द्रीय सरकार है, वहाँ साथ ही बिहार, उत्तर प्रदेश, कश्मीर आदि की भी अपनी-अपनी सरकारें हैं। पर भारतीय गणराज्य में प्रभुता केवल संघ-सरकार में है, उसके अंगों की सरकारों में नहीं। यही बात अमेरिका के संबंध में भी कही जा सकती है। एक राज्य में प्रभुता भी एक ही होती है। संघ-राज्यों के विविध अंगों की सरकारों को 'प्रभु' नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतिहास में ऐसे भी उदाहरण विद्यमान हैं, जबकि कतिपय 'प्रभु' राज्यों ने कुछ विशिष्ट प्रयोजनों के लिए आंशिक रूप से अपना 'संघ' बनाया हो। 1914-18 के महायुद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी का संघ (यूनियन) ऐसा था, जिसमें कि दोनों राज्यों की सरकारें पृथक्-पृथक् थीं। दोनों सम्पूर्ण-प्रभुत्वसंपन्न राज्य थे, यद्यपि दोनों का राजा एक ही था। सन्धि-विग्रह, परराष्ट्र-संबंध आदि कुछ मामलों के लिये उन्होंने परस्पर सहयोग करने की सन्धि भी की हुई थी। इसी प्रकार, 1814 के बाद आस्ट्रिया और विविध जर्मन राज्यों ने मिलकर जो संघ बनाया था, उसमें भी विविध अंगों की प्रभुता को प्रायः अक्षुण्ण रखा गया था। इस प्रकार के संघ बहुत निर्बल थे और वास्तविक शक्ति उन राज्यों के ही हाथों में थी, जो संघ में शामिल थे।

आंशिक रूप से प्रभुता के मर्यादित होने पर भी राज्य की सत्ता सम्भव होती है। ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड आदि जो अनेक औपनिवेशिक राज्य हैं, वे अपने आन्तरिक शासन में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, यद्यपि सन्धि-विग्रह व परराष्ट्र-संबंध के क्षेत्र में उनकी प्रभुता कुछ अंशों में मर्यादित है। वे संयुक्त राज्य-संघ (U.N.O.) में अपने प्रतिनिधि पृथक् रूप से भेजते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के स्वतन्त्र राज्यों के रूप में शामिल होते हैं और अपने पड़ोसियों के साथ पृथक् रूप से सन्धि व वैदेशिक संबंध भी स्थापित करते हैं। यह होते हुए भी उनसे यह आशा की जाती है कि ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत रहने के कारण विदेशी मामलों में उनसे यह आशा की जाती है, कि ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के अन्तर्गत रहने के कारण विदेशी मामलों में वे ब्रिटेन के परामर्श और सहयोग से कार्य करें। अपने क्षेत्र से बाहर की एक सत्ता (ब्रिटिश क्राउन) के प्रति वे निष्ठा व भक्ति भी रखते हैं। इन दृष्टियों से उनकी प्रभुता कुछ-न-कुछ मर्यादित अवश्य हो जाती है; पर क्योंकि उन्हें यह भी अधिकार है कि यदि वे चाहें तो ब्रिटिश कॉमनवेल्थ से पृथक हो जाएं, अतः उन्हें 'राज्य' कहा जा सकता है।

न केवल बाह्य शक्ति के नियन्त्रण से ही राज्य को मुक्त होना चाहिये, अपितु अपने आन्तरिक क्षेत्र में भी उसकी सत्ता सर्वोपरि होनी चाहिये। राज्य की भूमि में जो भी मनुष्य व प्राणी बसते हों या जो भी पदार्थ उस क्षेत्र में विद्यमान हों, उन सब पर राज्य का शासन व अधिकार होना आवश्यक है। ऐसा न होने से अराजकता हो जायेगी और राज्य 'राज्य' नहीं रहेगा। राज्य में निवास करने वाले मनुष्यों के अन्य भी अनेक 'समुदाय' व संगठन होते हैं। धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि कितने ही प्रकार के संगठन मनुष्य बना सकते हैं। पर यह आवश्यक है कि ये सब राज्य के अधीन हों, उसके आदेशों का पालन करते हों और उसकी प्रभुता को स्वीकार करते हों। राज्य का प्रतिस्पर्धी व प्रतिद्वन्द्वी अन्य कोई समुदाय हो ही नहीं सकता। एक क्षेत्र में एक ही राज्य शक्ति रह सकती है। एक

नोट

राज्य में अन्य कोई 'राज्य' नहीं रह सकता। यह संभव तथा उचित है कि राज्य के कार्य की सहूलियत के लिये राजशक्ति के प्रयोग को अनेक स्थानों पर विभक्त कर दिया जाय। भारत जैसे विशाल राज्यों में एक केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त प्रादेशिक सरकारें और स्थानीय (जिलों व नगरों की) सरकारें स्थापित करना सर्वथा उचित है, पर वे सब अपनी शक्ति एक ही स्रोत से प्राप्त करती है। वास्तविक प्रभुता (अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध-विषयक व आन्तरिक) इस एक स्रोत में ही निहित है। यह स्रोत है भारतीय राज्य, भारत-भूमि में स्थायी रूप से बसे हुए मनुष्यों का ऐसा समुदाय, जो कि राजनीतिक दृष्टि से संगठित है और जो सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न है। इसकी प्रभुत्व-शक्ति व राजसत्ता की अभिव्यक्ति भारत के संविधान द्वारा होती है, जिसने शासन की सुविधा के लिये राजशक्ति के प्रयोग को केन्द्रीय व राज्यों की सरकारों में विभक्त कर दिया है।

जनता, भूमि, सरकार और प्रभुता–ये राज्य के चार प्रमुख तत्व हैं। पर इनके अतिरिक्त राज्य के दो तत्व और हैं, जिन्हें हम स्थायित्व और समानता कह सकते हैं। वस्तुत:, ये दोनों तत्व भी राज्य की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उसे अन्य समुदायों से पृथक् करती हैं। इन पर भी संक्षेप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

(5) स्थायित्व (Permanence)–राज्य का एक अन्य आवश्यक तत्व है, जिसे 'स्थायित्व' कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भूखंड में बसा हुआ, राजनीतिक दृष्टि से संगठित व प्रभुत्वसम्पन्न जनसमुदाय सदा 'स्थायी' रहता है। यह संभव है कि वह राज्य खंडित हो जाए, किसी दूसरे राज्य के अधीन हो जाए या किसी अन्य राज्य के साथ मिलकर अपनी पृथक् सत्ता को खो दे। पर यह सब होते हुए भी जो जनसमुदाय एक बार राजनीतिक दृष्टि से संगठित होकर 'राज्य' बन जाता है, वह फिर कभी 'अराजकता' की दशा को प्राप्त नहीं हो सकता। भारत दो भागों में विभक्त हो गया–भारत और पाकिस्तान में। इस पर विभाग के कारण राजशक्ति का अन्त नहीं हो गया, यहाँ के जनसमुदाय का राज्यत्व कायम रहा। जब यह देश अंग्रेजों के अधीन था, तब भी यहाँ के जनसमुदाय में राज्यत्व विद्यमान था, यद्यपि यह राज्यत्व ब्रिटेन के राज्य के अन्तर्गत था। 1914-18 के महायुद्ध के बाद सर्बिया अपने पड़ोस के कतिपय प्रदेशों के साथ मिलकर यूगोस्लाविया के रूप में परिवर्तित हो गया, पर इस परिवर्तन के कारण सर्बिया व उन कतिपय प्रदेशों का 'राज्यत्व' नष्ट नहीं हो गया। राज्य के क्षेत्र व स्वरूप में परिवर्तन आता रहता है, राज्य की प्रभुता व राजशक्ति भी भिन्न रूप धारण करती रहती है, पर इन परिवर्तनों के कारण राज्य की स्थायित्वा में अन्तर नहीं आता।

यही कारण है कि जब कोई राज्य किसी अन्य राज्य के साथ मिल जाने के कारण, विभक्त हो जाने के कारण या किसी बाह्य सत्ता के अधीन हो जाने के कारण एक नया रूप धारण करता है, तो उसकी सरकार पहले राज्य की सम्पत्ति आदि की स्वामिनी हो जाती है और साथ ही उसके प्राप्तव्य व दातव्य की भी जिम्मेदारी बन जाती है। ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् व स्वतन्त्र हो जाने के बाद नवीन भारतीय राज्य की सरकार जहाँ ब्रिटिश सरकार की सब सम्पत्ति को प्राप्त किया है, वहाँ साथ ही उसकी सब देनदारियों को भी अपनाया है। महायुद्धों के अन्त होने पर जब अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों द्वारा राज्यों का पुन: निर्माण होता है, तो पुन: निर्मित राज्यों की सरकारें प्राय: पुरानी देनदारियों को अपने ऊपर ले लेती है। रूस की बोल्शेविक सरकार ने जारशाही सरकार और केरेन्सी की लोकतन्त्र सरकार की देनदारियों की उत्तरदायित्व लेने से इनकार कर दिया था। यही कारण है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने बहुत समय तक उसकी कानूनी सत्ता को मानना स्वीकार नहीं किया था। यह हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं कि सरकार के परिवर्तन से राज्य की स्थायित्वा में अन्तर नहीं पड़ता। सरकार और राज्य दो भिन्न वस्तुएं हैं। सरकार में बहुधा परिवर्तन आते रहते हैं, सरकार अस्थायी होती है। इसके विपरीत 'स्थायित्व' राज्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्व है।

(6) राज्यों की समानता (Equality)–अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि से सब राज्य एक समान होते हैं। भूमि, जनता व सैन्यशक्ति की दृष्टि से राज्यों में भेद स्पष्ट है। कोई राज्य बड़ा है, कोई छोटा। कोई शक्तिशाली, कोई निर्बल पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सबकी स्थिति एक समान होती है। यही कारण है कि संयुक्त राज्यसंघ में सम्मिलित सब राज्यों को संघ की जनरल असेम्बली में एक बराबर स्थिति प्रदान की गई है और सबका वोट एक समान रखा गया है।

नोट

संयुक्त राज्य अमेरिका और बेल्जियम सदृश राज्यों की शक्ति में कितना भारी अन्तर है, पर संयुक्त राज्य संघ में दोनों के वोट की कीमत एक बराबर है। 1914–18 के महायुद्ध के बाद जिस राष्ट्रसंघ का संगठन किया गया था, उसमें भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया था। इस सिद्धान्त का आधार यह बात है कि जैसे किसी एक राज्य में सब नागरिक, चाहे उनमें धन, विद्या व शौर्य का कितना भी अन्तर क्यों न हो, एक समान अधिकार व स्थिति रखते हैं, ऐसे ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सब राज्यों को, चाहे उनमें बल कितना ही अन्तर क्यों न हो, एक समान स्थिति व अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

पर सिद्धान्ततः राज्यों की स्थिति को चाहे एक समान माना जाए, पर क्रिया में उनमें भेद अवश्य रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अमेरिका और रूस जैसे विशाल व शक्तिशाली राज्यों का जो महत्त्व होगा, वह इराक व बर्मा जैसे राज्यों का कैसे हो सकता है? यह भेद संयुक्त राज्य संघ के संगठन में भी प्रगट हो गया है। उसकी सुरक्षा परिषद् (सिक्योरिटी कौंसिल) में पाँच शक्तिशाली राज्यों (अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन) को स्थायी रूप से सदस्यता का अधिकार दिया गया है और इन पाँचों में से प्रत्येक को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह परिषद् के किसी भी निर्णय (वीटो) कर सके। ये अधिकार अन्य राज्यों को प्राप्त नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि से चाहे सब राज्यों की स्थिति एक समान हो, पर यथार्थ राजनीति में उन्हें समानता प्राप्त नहीं है।

टास्क राज्य के आवश्यक तत्वों पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

(3) सर्वोपरि समुदाय के रूप में राज्य का स्वरूप

(State as the Supreme Association)

राज्य मुनष्यों के एक समुदाय का नाम है, पर मनुष्य राज्य के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के समुदायों में संगठित हैं। ये समुदाय अनेक प्रकार के हो सकते हैं।

(1) **धार्मिक**—ईसाई, बौद्ध, हिन्दू, मुस्लिम आदि धार्मिक सम्प्रदायों के अनेक प्रकार के समुदाय इस समय विद्यमान हैं व इतिहास में विद्यमान रहे हैं। एक समय था, जब राज्य के समान इनकी भी अपार शक्ति होती थी। मध्यकाल में यूरोप के ईसाई चर्च असाधारण शक्तिसम्पन्न थे। यह आवश्यक था कि प्रत्येक व्यक्ति चर्च के अधीन हो और उसकी आज्ञाओं का पालन करे। चर्च राज्य के समान लोगों से बाकायदा टैक्स भी वसूल करता था। चर्च के अपने क़ानून थे, अपने न्यायालय थे, अपनी पुलिस थी और अपनी दण्ड-व्यवस्था थी। उसके पास अपार धन था, जिसका उपयोग वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये करता था। प्राचीन भारत में बौद्धसंघ भी बहुत शक्तिशाली था। मुस्लिम देशों में राज्य सम्प्रदाय के प्रभाव में रहता था और उनके अंशों में राज्य और सम्प्रदाय एक ही सत्ता के अधीन थे।

इस समय भी ईसाई, बौद्ध आदि सम्प्रदायों के चर्च व समुदाय विद्यमान हैं। भारत में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि ऐसे समुदाय हैं, जिनके बाकायदा सदस्य, प्रबन्ध समिति, पदाधिकारी, सम्पत्ति, कोष, प्रतिनिधि-सभा आदि हैं। चन्दे के रूप में ये समुदाय अपने सदस्यों व अन्य लोगों से नियमित रूप से आर्थिक आमदनी प्राप्त करते हैं और अपने अनुयायियों पर एक तरह का नियन्त्रण भी रखते हैं। अपने नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्यों को दण्ड देने की व्यवस्था भी ये करते हैं।

(2) **आर्थिक**—श्रमी संघ, कृषक संघ आदि के रूप में आर्थिक दृष्टि से भी अनेक जनसमुदाय इस समय विद्यमान है। प्राचीन समय में शिल्पियों की 'श्रेणियाँ' व व्यापारियों के 'निगम' होते थे, जिनके अपने सदस्य, अपने क़ानून, व्यवहार व चरित्र हुआ करते थे। अपने सदस्यों पर इनका नियन्त्रण भी पर्याप्त कठोर था। कोई व्यक्ति अपनी श्रेणी या निगम के नियमों का उल्लंघन करने का साहस नहीं करता था। राज्य भी इनके नियमों को स्वीकार करता था और यह उपयोगी समझता था कि शिल्पी व व्यापारी अपने 'समूहों' या समुदायों के नियमों का पालन करें।

नोट

श्रमी संघ (ट्रेड यूनियन) आदि के रूप में आजकल जो आर्थिक समुदाय हैं, वे भी मानव-समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आर्थिक जीवन में उनकी स्थिति बहुत ऊँची है। अपनी श्रेणी के हितों की रक्षा करने, व्यावसायिक उन्नति में सहायक होने व सरकार पर प्रभाव रखने में वे बड़े महत्त्व के कार्य करते हैं। उनके भी सुनिश्चित सदस्य, बाकायदा नियम, स्थिर कोष, नियमित आमदनी और दण्डविधान आदि सब होते हैं। अनेक बार तो उनकी शक्ति और प्रभाव इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि अपनी माँगों को पूरा कराने के लिये वे सरकार पर बहुत अधिक जोर डालने में भी समर्थ रहते हैं।

(3) राजनीतिक–लोकतांत्रिक शासन के इस युग में राजनीतिक समुदायों का महत्त्व बहुत अधिक है। ये राजनीतिक समुदाय राजनीतिक दलों (पार्टियों) के रूप में है। ब्रिटेन में मज़दूर, कन्जर्वेटिव और लिबरल–ये तीन दल प्रधान हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में रिपब्लिकन और डेमोक्रेट–ये दो दल मुख्य हैं। इन दलों के बाकायदा सदस्य हैं, निश्चित नियम हैं, निश्चित संगठन हैं। इनके पास कोश की कमी नहीं है और ये सरकार को अपने हाथों में अधिगत करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। इनका ढंग प्राय: वैध रहता है और ये निर्वाचकों को प्रचार द्वारा अपने पक्ष में करके उनके वोट प्राप्त करने, संसद (पार्लियामेंट) में अपना बहुमत बनाने और इस प्रकार शासनशक्ति को अधिगत करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

पर पिछले कुछ समय से अनेक राज्यों में ऐसे राजनीतिक समुदायों का भी विकास शुरू हुआ है जो केवल वैध व शान्तिमय उपायों का अवलम्बन करना पर्याप्त नहीं समझते। समाज का संगठन किस प्रकार का हो, इस संबंध में उनके विचार अत्यंत उग्र हैं और अपने विचारों को क्रिया में परिणत करने के लिये व उग्र उपायों का अवलम्बन अनुचित नहीं समझते। जर्मनी का नाजी दल, इटली का फैसिस्ट दल और रूस का कम्युनिस्ट दल इसके उदाहरण हैं।

(4) सांस्कृतिक–शिक्षा, ज्ञानप्रसार, खोज आदि के लिये भी मनुष्यों ने अनेक समुदायों का संगठन किया है। बहुत से समुदाय लोकसेवा के लिए भी बनाये जाते हैं। रेडक्रास सोसायटी, सर्वोदय समाज, रामकृष्ण सेवाश्रम मिशन आदि इसके उदाहरण हैं।

राज्य और अन्य समुदायों में भेद–मनुष्यों ने राज्य के अतिरिक्त अन्य भी अनेक समुदायों में अपने को संगठित किया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसने अपनी सामाजिकता को अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया है। पर राज्य अन्य मानव-समुदायों से सर्वथा भिन्न होता है। उसका यह भेद आधारभूत है। अन्य समुदायों से राज्य की भिन्नता को हम इस प्रकार सपष्ट कर सकते हैं–

(1) राज्य के अतिरिक्त अन्य सब समुदायों की सदस्यता मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। कोई मनुष्य चाहे, तो किसी भी धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक समुदाय का सदस्य न बने। यह भी प्रत्येक मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह जब तक चाहे किसी ऐसे समुदायों का सदस्य रहे और जब चाहे उससे पृथक् हो जाए। इसके विपरीत प्रत्येक मनुष्य के लिये यह अनिवार्य है, कि वह राज्य का सदस्य हो। कोई मनुष्य ऐसा नहीं हो सकता, जो किसी राज्यरूपी समुदाय में सम्मिलित न हो।

(2) प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह जितने भी समुदायों का चाहे सदस्य बन सकता है, बशर्ते कि वह उनके नियमों का पालन के लिये उद्यत हो। पर कोई मनुष्य केवल एक ही राज्य का सदस्य हो सकता है। साधारणतया, यह किसी के लिए भी संभव नहीं है कि वह एक समय में एक से अधिक राज्य का नागरिक हो सके।

(3) अन्य समुदायों का क्षेत्र किसी स्थान विशेष तक सीमित नहीं होता। अनेक समुदाय तो विश्वव्यापी होते हैं। रेडक्रास सोसायटी, आर्यसमाज, कम्युनिस्ट पार्टी आदि की शाखायें संसार के बहुत-से देशों में व्याप्त हैं। पर राज्य का क्षेत्र एक निश्चित भूखण्ड व प्रदेश तक ही सीमित रहता है, उसके बाहर उसकी सत्ता नहीं होती।

नोट

क्या आप जानते हैं प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है कि वह जितने भी समुदायों का चाहे सदस्य बन सकता है, बशर्ते कि वह उनके नियमों का पालन करे।

(4) अन्य समुदायों का संगठन किसी एक व एकाधिक निश्चित उद्देश्य को सम्मुख रखकर किया जाता है। रेडक्रास सोसायटी का एक निश्चित लक्ष्य है, आर्यसमाज का संगठन भी कुछ निश्चित उद्देश्यों को सम्मुख रखकर किया गया है। पर राज्य के उद्देश्यों को सीमित व निश्चित कर सकना संभव नहीं होता। राज्य मनुष्यों के हित, कल्याण व रक्षा के निमित्त संगठित हुआ है। पर 'हित' एक इतना व्यापक शब्द है कि उसमें बहुत-सी बातें अन्तर्गत हो जाती हैं। यही कारण है, जो राज्य का कार्यक्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता जाता है। जहाँ वह अपनी जनता की बाह्य व आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करने की उत्तरदायित्व लेता है, वहाँ साथ ही उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के लिये भी प्रयत्न करता है। यही कारण है कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य आदि लोकहित के कार्यों को हाथ में लेता है और मानवहित की दृष्टि से अनेक व्यवसायों का नियन्त्रण व संचालन भी करता है। जनहित को सम्मुख रखकर राज्य कोई-सा भी कार्य अपने हाथ में ले सकता है और मनुष्यों के किसी भी कार्य में हस्तक्षेप कर सकता है। शान्ति और व्यवस्था कायम रखना एक ऐसा कार्य है, जो कि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी समुदाय नहीं कर सकता।

(5) अन्य समुदाय अस्थायी हैं, राज्य स्थायी है। अन्य समुदाय किन्हीं निश्चित उद्देश्यों को सम्मुख रखकर स्थापित होते हैं और जब वे उद्देश्य पूर्ण हो जाते हैं, तो उनकी समाप्ति हो जाती हैं या आन्तरिक क्षीणता के आ जाने से उन समुदायों का स्वयमेव अन्त हो जाता है। पर राज्य एक ऐसा समुदाय है, जो सदा स्थायी रहता है। राज्यक्रान्ति, षड्यन्त्र आदि द्वारा सरकार में परिवर्तन हो जाते हैं। विजय, विभाजन आदि द्वारा राज्य के स्वरूप में भी परिवर्तन आ जाता है—पर राज्य की स्थिरता व स्थायित्व में अन्तर नहीं आता। मनुष्य की रक्षा व हित के लिये राज्य की सत्ता अनिवार्य है, अत: वह कभी मरता नहीं। अन्य समुदायों के अभाव में मनुष्य जीवित रह सकता है, पर राज्य के अभाव में अराजकता छा जायेगी, मत्स्य न्याय हो जायेगा और मनुष्य की जान व माल सुरक्षित नहीं रहेंगे।

(6) अन्य समुदायों को यह अधिकार नहीं होता कि वे अपनी इच्छा व आदेश का पालन कराने के लिये शक्ति का प्रयोग कर सकें। धार्मिक समुदाय अपने अनुयायियों को नरक का डर दिखा सकते हैं; आर्थिक व राजनीतिक समुदाय सामाजिक बहिष्कार व इसी तरह के अन्य उपायों से अपने सदस्यों पर ज़ोर डाल सकते हैं; पर राज्य एकमात्र ऐसा समुदाय है, जो मनुष्यों को अपने आदेशों का पालन कराने के लिये सजा दे सकता है, गिरफ्तार कर सकता है और मृत्युदण्ड तक दे सकता है। राज्य की यह ऐसी विशेषता है, जो अन्य किसी समुदाय में हो ही नहीं सकती।

(7) मनुष्य अपने अन्य समुदाय कैसे बनाएं, उनके नियम क्या हों इन बातों पर राज्य नियंत्रण रख सकता है। मनुष्यों को यह अधिकार नहीं कि वे ऐसे समुदाय बना सकें, जिनका उद्देश्य सदाचार के विरुद्ध हो व जिनसे मानव-समाज का अहित होता हो। अभिप्राय यह है कि राज्य अन्य समुदायों में हस्तक्षेप कर सकता है और अन्य समुदायों को इस बात के लिये विवश कर सकता है कि वे राज्य के नियन्त्रण में रहें और उसके आदेशों का पालन करें।

राज्य सर्वोपरि समुदाय है—जिस प्रकार राज्य मनुष्यों का एक समुदाय है, वैसे ही चर्च, श्रमी-संघ, रेड क्रॉस सोसाइटी आदि अन्य प्रकार के समुदायों में भी मनुष्य संगठित हैं। पर इन समुदायों से राज्यरूपी मानव-समुदाय का मुख्य भेद यह है कि वह सर्वोपरि (Supreme) है, अन्य सब समुदायों को उसके नियन्त्रण में रहना पड़ता है। यदि उसके विचार में कोई अन्य समुदाय मनुष्यों के सर्वसामान्य हितों के विरुद्ध कार्य कर रहा हो, तो वह उसके विरुद्ध शक्ति का भी प्रयोग कर सकता है। सर्वोपरिता या प्रभुता राज्यरूपी समुदाय की एक ऐसी विशेषता है जो किसी भी अन्य समुदाय में नहीं पायी जाती।

राज्यरूपी समुदाय का ध्येय उत्कृष्ट जीवन है—मनुष्यों के जो अन्य अनेक प्रकार के समुदाय हैं, वे किसी एक निश्चित उद्देश्य व कतिपय निश्चित प्रयोजनों से संगठित किये जाते हैं। आर्य समाज का उद्देश्य यह है कि वेदों की

नोट

शिक्षा का प्रचार करें। ईसाइयों के विविध चर्च ईसा की शिक्षाओं का प्रसार करने के लिये कायम हुए हैं। श्रमी-संघों की स्थापना श्रमिकों के हितों के संपादन के लिये की गई है, यूनिवर्सिटियों का संगठन उच्च शिक्षा के लिये हुआ है। धनपति लोग कम्पनियाँ इसीलिये बनाते हैं कि परस्पर मिलकर कारोबार में पूंजी लगाएँ और उसके द्वारा धन का उपार्जन करें। विविध राजनीतिक दल इस प्रयोजन से संगठित किये जाते हैं कि अपने विचारों के अनुसार राज्य-शासन का संचालन कर सकें। पर राज्यरूपी समुदाय किसी एक निश्चित उद्देश्य व कतिपय निश्चित प्रयोजनों को सम्मुख रखकर संगठित नहीं हुआ है। वह मनुष्यों की सामाजिक भावना का परिणाम है, मानव जीवन के लिये उसकी सत्ता अनिवार्य है और उसका यह यत्न रहता है कि मनुष्यों के सर्वसामान्य हितों का सम्पादन हो और उसके द्वारा मनुष्य उत्कृष्ट जीवन को व्यतीत कर सकने में समर्थ हों। इसी तथ्य को **अरस्तु** ने इस ढंग से प्रगट किया था–"राज्य परिवारों और ग्रामों के एक ऐसे समुदाय को कहते हैं, जिसका उद्देश्य पूर्ण व सम्पन्न जीवन को प्राप्त करना हो, जिसका अभिप्राय यह है कि सम्पन्न और सम्मानास्पद जीवन।" इसी तथ्य को अधिक स्पष्ट करते हुए अरस्तु ने लिखा था कि प्रत्येक समुदाय किसी-न-किसी हित व कल्याण का सम्पादन करना ही अपना उद्देश्य निर्धारित करता है, पर राज्य एक ऐसा समुदाय है, जो कि अन्य सब समुदायों की तुलना में अधिक उत्कृष्ट है और जिसका उद्देश्य अन्य किसी भी समुदाय की अपेक्षा सर्वाधिक हित व कल्याण को सम्पादित करना है। राज्य और अन्य समुदायों में क्या भेद है, यह अरस्तु के उपर्युक्त कथन द्वारा सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। राज्य और अन्य समुदायों में दो मुख्य भेद हैं–

(1) राज्य अन्य सब समुदायों से उत्कृष्ट है, वह सर्वोपरि है।

(2) अन्य समुदायों का उद्देश्य किसी विशेष हित का सम्पादन करना होता है, पर राज्य मनुष्यों के सर्वाधिक व सर्वोत्कृष्ट हितों को सम्पादित करता है। मनुष्यों का यह सर्वोत्कृष्ट हित क्या है, इस विषय में जनता के विचार सदा एक-से नहीं रहे, समय व परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन आता रहता है पर जिस युग में मनुष्यों के सर्वाधिक हित के विषय में जो विचार हों, राज्य का उद्देश्य उन्हीं को सम्पादित करना होता है। वह उत्कृष्ट जीवन की स्थापना में तत्पर रहता है, यही बात उसे अन्य समुदायों में भिन्न व उत्कृष्ट रूप प्रदान करती है।

बहुसमुदायवाद –राज्य और अन्य समुदायों में जिस भिन्नता का हमने ऊपर प्रतिपादन किया है, उससे यह सूचित होता है कि राज्य अन्य सब समुदायों की अपेक्षा उत्कृष्ट और सर्वोपरि है। अन्य सब समुदाय उसके अधीन है व उसके नियन्त्रण में रहते हैं। पर अर्वाचीन काल के अनेक विचारकों ने इस मत का विरोध किया है। उनका कहना है कि राज्य भी अन्य समुदायों के समान एक समुदाय ही है और वह अन्य समदायों का 'प्रभु' व 'नियन्ता' होने के बजाय उनका समकक्ष व सहयोगी मात्र है। उदाहरण के लिये आर्थिक व धार्मिक सम्प्रदायों को लीजिये। प्रत्येक मनुष्य का संबंध किसी-न-किसी धार्मिक समुदाय के साथ होता है। कोई व्यक्ति आर्यसमाज का सदस्य है, तो कोई ईसाई चर्च का। मनुष्य की भक्ति इन धार्मिक समुदायों के प्रति भी वैसी ही होती है, जैसी कि राज्य के प्रति। यदि कभी राज्य किसी धार्मिक समुदाय के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना चाहे, तो अनेक मनुष्यों के सम्मुख यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि वे राज्य के प्रति भक्ति को अधिक महत्त्व दें या धार्मिक समुदाय के प्रति भक्ति को। यदि राज्य कोई ऐसा क़ानून बनाए या ऐसा आदेश दे, जो किसी धार्मिक समुदाय के विरुद्ध हो, तो बहुत-से लोग उसका विरोध करने के लिए उद्यत हो जाएंगे। यही बात आर्थिक समुदायों के संबंध में भी कही जा सकती है। आधुनिक काल में मजदूरों और किसानों ने अनेक ऐसे संगठन बनाये हैं, जो बहुत शक्तिशाली है। इन समुदायों द्वारा उत्पादक लोग यह प्रयत्न करते हैं कि आर्थिक उत्पत्ति का संचालन व नियन्त्रण अपने हाथ में रखें। जिस प्रकार राज्य राजनीतिक जीवन का नियन्त्रण व संचालन करता है, ऐसे ही आर्थिक समुदाय आर्थिक जीवन को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। इनके सदस्यों की इन आर्थिक समुदायों के प्रति भक्ति बहुत प्रबल रहती है। प्रश्न यह है कि यह क्यों समझा जाय कि राज्य इन सब समुदायों के ऊपर है? उसे इनके सदृश ही एक समुदाय क्यों न माना जाये, जो कि इनके ऊपर न होकर इनका समकक्ष व सहयोगी मात्र है?

नोट

मध्यकालीन यूरोप में चर्च और राज्य एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रहे हैं। उस समय प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह अनिवार्य था कि वह चर्च का सदस्य हो और चर्च के आदेशों का पालन करें। राजाओं तक पर चर्च अपना नियन्त्रण रखता था। यूरोप के जिन राजाओं ने चर्च के आदेशों की अवहेलना करने का प्रयत्न किया, उन्हें चर्च ने दण्ड भी दिया। मध्यकालीन यूरोप में राज्य एक ऐसा समुदाय था, जो चर्च की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट नहीं था। अधिक-से-अधिक उसे चर्च का समकक्ष कहा जा सकता है।

इस समय भी फासिस्ट, नाजी, कम्युनिस्ट आदि दलों के रूप में ऐसे समुदायों का विकास हो गया है, जिनके प्रति उनके सदस्यों की भक्ति व निष्ठा अत्यन्त उग्र है। अपने राजनीतिक दल के लिए कुछ लोग राज्य की अवहेलना करने में भी संकोच नहीं करते। विभिन्न देशों के कम्युनिस्ट दल अपने सिद्धान्तों के लिये विद्रोह तक करने के लिये उद्यत रहते हैं। 1939-45 के महायुद्ध से पूर्व अनेक यूरोपियन राज्यों से फैसिस्ट व नाजी दल अपने राज्य के खिलाफ इटली और जर्मनी का पक्ष लेने को तैयार रहते थे। इंग्लैण्ड जैसे लोकतन्त्र राज्य श्रमी-संघ (ट्रेड यूनियन) की जो शक्ति है, उसके कारण उसके सदस्यों की अपने आर्थिक संघ के प्रति भक्ति बहुत उग्र है। यह सब दृष्टि में रखते हुए क्या यह कहना उचित नहीं होगा कि राज्य भी एक जनसमुदाय मात्र है और मनुष्यों की भक्ति (एलीजियन्स) एक से अधिक समुदाय के प्रति रह सकती है। राज्य का कार्य प्रधानतया राजनीतिक जीवन का नियन्त्रण है, बाह्य और आभ्यन्तर विपत्तियों से रक्षा करना उसका मुख्य प्रयोजन है। उसे अपने इसी क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिये। धार्मिक, आर्थिक व इसी प्रकार का अन्य मामलों में अन्य समुदायों को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने देना चाहिये। शिक्षा का स्वरूप व ढंग कैसा हो, इस विषय में राज्य को सोचने की क्या आवश्यकता है। यह काम उन विश्वविद्यालयों का है, जो कि मनुष्यों के ही समुदाय हैं। यह काम विश्वविद्यालयों को ही करना चाहिये। लोगों का नैतिक जीवन कैसा हो, उनके सदाचार-संबंधी आदर्श कौन-से हों, उनका सामाजिक व्यवहार किस तरह का हो—ये सब बातें धार्मिक समुदायों के निर्णय करने की है। राज्य को इन बातों के विषय में सिरदर्दी की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार, आर्थिक उत्पत्ति कैसे की जाय, कारखानों व खेतों में श्रमिकों के काम करने की दशा क्या हो—ये प्रश्न मनुष्यों के आर्थिक समुदायों द्वारा निर्धारित करने योग्य हैं। राज्य इनमें हस्तक्षेप क्यों करें? राज्य को यह स्वीकार करना चाहिये कि अन्य समुदायों के समान वह भी एक समुदाय ही है और उसका भी एक निश्चित उद्देश्य व प्रयोजन है। राज्य की शक्ति व सत्ता का आधार मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य तो कुछ नहीं है। राज्य रूपी समुदाय को मनुष्यों ने बनाया है, अन्य समुदायों का निर्माण भी मनुष्यों ने ही किया है। जिस प्रकार मनुष्यों का राजनीतिक जीवन राज्य में संगठित है, वैसे ही मनुष्यों का धार्मिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन अन्य समुदायों में संगठित है। जिस प्रकार लोकमत द्वारा राज्य को बल मिलता है, वैसे ही लोकमत द्वारा अन्य समुदायों को भी बल मिलता है। राज्य को अन्य समुदायों के समकक्ष मानने के इस सिद्धान्त को ही "बहुसमुदायवाद" (Pluralism) कहते हैं।

मेकाईवर ने इस दृष्टिकोण को इस ढंग से प्रतिपादित किया है—"हम केवल इस बात से ही इनकार नहीं करते कि राज्य कोई कम्युनिटी है या कम्युनिटी का कोई प्रकार है; हमें निश्चित रूप से यह घोषित करना चाहिये कि राज्य कुटुम्ब व चर्च के वर्ग का एक समुदायमात्र ही है। इन्हीं के समान राज्य का निर्माण भी सदस्यों के एक विशेष प्रकार से संगठित समूह द्वारा, जो कि कतिपय सीमित उद्देश्यों के लिये संगठित हुआ हो, होता है। राज्य का संगठन पूर्ण समाज का संगठन नहीं है। वे सब उद्देश्य जिन्हें मानव जाति प्राप्त करना चाहती है, उन उद्देश्यों के अन्तर्गत नहीं आ जाते, जिनके लिये राज्य का अस्तित्व है। यह स्पष्ट है कि राज्य जिन उपायों द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है, वे उन उपायों में से कुछ ही हैं, जिनके द्वारा समाज में रहते हुए मनुष्य अपनी आकांक्षा व उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।"

बहुसमुदायवाद के इस सिद्धान्त को यदि स्वीकार कर लिया जाय, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि राज्य में प्रभुता व सर्वोपरिता नहीं होती। पर प्रश्न यह है कि यदि किसी निश्चित भूखण्ड में विद्यमान विविध समुदायों में परस्पर विरोध हो, तो उसका समाधान किस प्रकार किया जाय। आर्थिक समुदायों को ही लीजिये। यह संभव है, कि

नोट

उपभोक्ताओं और उत्पादकों, श्रमिकों और पूंजीपतियों व जमीदारों और कृषकों के समुदायों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो। उस दशा में इस विरोध को दूर करने के लिये, इसका फैसला करने के लिये कोई तो सर्वोपरि सत्ता होनी ही चाहिये। यह सर्वोपरि सत्ता ही राज्य है। यह भी मान लीजिये कि श्रमिकों और पूंजीपतियों, कृषकों और जमींदारों व उपभोक्ताओं और उत्पादकों में कोई भेद नहीं है; मनुष्यों का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन एक संगठन में संगठित हो गया है; जिस प्रकार राज्य मनुष्यों का राजनीतिक समुदाय है, वैसे ही मनुष्यों का एक सर्वाङ्गपूर्ण आर्थिक समुदाय भी बन गया है। इस दशा में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि मनुष्यों को आर्थिक हितों और राजनीतिक हितों में विरोध उत्पन्न हो। राज्य की रक्षा व स्थिति के लिये बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी की आवश्यकता होती है। राज्य द्वारा मनुष्यों के जीवन की वह परिस्थिति उत्पन्न होती है, जिससे वे बाह्य और आभ्यन्तर–सब प्रकार के भयों से मुक्त रहते हुए अपने हित और कल्याण में व्याप्त रहें। इस स्थिति को उत्पन्न करने वाले समुदाय (राज्य) को यह अधिकार होना ही चाहिये कि वह आवश्यकता पड़ने पर मनुष्यों के अन्य समुदायों को अपने नियन्त्रण में रख सकें।

यह सही है कि आधुनिक युग में मनुष्यों के अन्य समुदायों का महत्त्व भी बहुत अधिक है। पर जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, अन्य समुदाय किन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों को सम्मुख रखकर संगठित होते हैं, जबकि राज्य मनुष्यों के सार्वजनिक व सर्वसामान्य हित को सम्मुख रखकर स्थापित किया जाता है। राज्य के अभाव में अराजकता छा जायेगी, मत्स्य न्याय हो जायेगा। मनुष्य के जीवन, पालन व उन्नति के लिये एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता है, जो सबको अपने नियन्त्रण में रखें, जो सर्वोपरि हो। अन्य समुदायों का मानव जीवन में चाहे कितना ही महत्त्व क्यों न हो, पर वे राज्य की समता नहीं कर सकते। मानव जीवन में एक नियन्ता व सर्वोपरि सत्ता का रहना आवश्यक है। इसी सत्ता को हम राज्य कहते हैं।

(4) समुदायों का समुदाय–राज्य (State as an association of associations)

राज्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कतिपय विचारकों ने राज्य तथा अन्य समुदायों के पारस्परिक संबंधों को विशेष महत्त्व दिया है और उन्हीं के आधार पर राज्य का लक्षण किया है। इस प्रकार के विचारकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–एकसमुदायवाद के समर्थक (Monists) और बहुसमुदायवाद के समर्थक (Pluralists)। एकसमुदायवाद के समर्थक राज्य को सब मानवसमुदायों में सर्वोपरि व सर्वोत्कृष्ट मानते हैं और अन्य सब समुदायों को राज्य के अधीन समझते हैं। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरिस्टोटल इसी विचारधारा के अनुयायी थे। उनके अनुसार राज्य "परिवारों और ग्रामों के एक समुदाय" का नाम है। जिस युग में अरस्तु हुए, उस समय ग्रीस में बहुत-से छोटे-छोटे नगर-राज्यों (City States) की सत्ता थी। इन नगर-राज्यों में अनेक ग्राम संस्थाएँ (Village Communities) और परिवार (families) अन्तर्गत होते थे। प्रत्येक परिवार का एक अपना संगठन होता था, जिसके अध्यक्ष या मुखिया को 'कुलमुख्य' कहते थे। ग्राम संस्थाएँ भी पृथक् रूप से संगठित होती थीं, जिनके मुखिया 'ग्रामीण' कहलाते थे। राज्य इन दोनों की तुलना में ऊँचा समुदाय था, जिसमें ये निम्नवर्ग के समुदाय अन्तर्गत होते थे। इस प्रकार अरस्तु ने राज्य को 'समुदायों का एक ऐसा सर्वोपरि समुदाय' प्रतिपादित किया, जिसका उद्देश्य संपन्न जीवन की प्राप्ति हो। इस विचार के अनुसार अन्य सब समुदाय राज्य के समकक्ष न होकर उससे हीन स्थिति रखते हैं और राज्य की स्थिति उनकी तुलना में उत्कृष्ट व उच्चतर होती है।

सोलहवीं सदी में **बोदां** (Bodin) नामक फ्रेंच विचारक ने भी अरस्तु के विचार का समर्थन करते हुए राज्य के स्वरूप को इस ढंग से स्पष्ट किया था–"राज्य परिवारों और उनके सामूहिक अधिकार में विद्यमान सत्ताओं का एक ऐसा समुदाय है, जिसका शासन एक सर्वोपरि शक्ति और विवेक द्वारा होता है।" बोदां के इस लक्षण के अनुसार राज्य बहुत-से पारिवारिक समुदायों की शक्ति और सम्पत्ति के उस सामूहिक स्वरूप का नाम है, जिसका शासन एक विधिवत् निर्मित सरकार द्वारा होता है।

नोट

आधुनिक युग में फासिस्ट विचारकों ने राज्य को अत्यधिक महत्त्व देते हुए उसे सर्वोपरि समुदाय और अन्य सब समुदायों को उसके अन्तर्गत व उसके साधनभूत रूप में प्रतिपादित किया है। फासिस्ट सिद्धान्त के अनुसार राज्य का निर्माण व्यक्तियों द्वारा न होकर 'राष्ट्रीय दृष्टि से क्रियाशील व्यक्तियों के समूहों' द्वारा होता है। जिस प्रकार शरीर के कई अवयव होते हैं, वैसे ही राज्य के भी अनेक अंग होते हैं। उपयोगी, आर्थिक व सामाजिक कार्यों में लगे हुए व्यक्ति जिन समूहों या समुदायों में संगठित होते हैं, उन्हीं से मिलकर राज्य का निर्माण होता है, उन्हीं को हम राज्य के अंग समझ सकते हैं, पेशे व कार्य पर आधारित इन समूहों या ग्रुपों की सत्ता स्वाभाविक और आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य के लिये यह स्वाभाविक और उचित है कि जो अन्य व्यक्ति उसी के सदृश पेशे व कार्य कर रहे हों, उनके साथ मिलकर वह अपना एक समूह या समुदाय बनाए। इन समुदायों का संगठन इस ढंग से होना चाहिये कि अन्य समुदायों के साथ सहयोग करके राष्ट्रीय हित के सम्पादन में समर्थ हो सकें। राज्य की पार्लियामेंट में आर्थिक दृष्टि से संगठित इन समुदायों को ही प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। पार्लियामेंट में प्रतिनिधियों के चुनाव के लिये प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र (Territorial constituencies) न होकर पेशे व आर्थिक कार्य पर आधारित समुदायों को ही अपने प्रतिनिधि भेजने का अवसर दिया जाना चाहिये। इस प्रकार फासिस्ट विचारकों के अनुसार राज्य ऐसे समुदायों का सर्वोपरि समुदाय है जो कि आर्थिक कार्यों व पेशों के आधार पर संगठित हों। अन्य समुदाय राज्य के समकक्ष नहीं हैं, उनकी स्थिति राज्य की तुलना में हीन है। अन्य समुदाय आर्थिक आधार पर संगठित होते हैं और राज्यरूपी सर्वोच्च समुदाय के साथ वे राष्ट्रीय हित के लिये सहयोग करते हैं।

आधुनिक युग के बहुसमुदायवादी विचारक राज्य के इस स्वरूप का समर्थन नहीं करते। उनके अनुसार मनुष्यों की सामाजिकता के अनेक पहलू हैं। इन सबको राज्य के क्षेत्र में ला सकना संभव नहीं है। धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि दृष्टियों से भी मनुष्य अपने को अनेक समुदायों में संगठित करता है। राजनीतिक दृष्टि से मुनष्यों ने अपना जो समुदाय बनाया है, राज्य उसी का नाम है। पर धार्मिक, आर्थिक आदि दृष्टि से भी मनुष्यों ने अपने विविध समुदाय संगठित किये हैं, जिनकी स्थिति राज्य के ही समकक्ष है। राज्य को उनसे ऊँचा मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिये हमें राज्य को 'समुदायों का समुदाय' न मानकर अन्य समुदायों का समकक्ष ही समझना चाहिये। क्योंकि अन्य समुदाय भी मनुष्यों के लिये उतने ही स्वाभाविक व उपयोगी हैं जितना कि राज्य, इसलिए राज्य को उनसे उत्कृष्ट व सर्वोपरि नहीं माना जा सकता। राज्य का कर्तव्य केवल इतना है कि वह मनुष्यों के सामूहिक संबंधों की समूची व्यवस्था में एक प्रकार की एकता व एकरूपता को स्थापित करे।

बहुसमुदायवाद के विषय में पिछले प्रकरण में विवेचना की जा चुकी है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों का महत्त्व भी इतना अधिक बढ़ जाता है कि उन पर किसी नियन्त्रण के अभाव में समाज में अराजकता की दशा उत्पन्न हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रभुता या सर्वोपरिता राज्य की एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य समुदायों में नहीं पायी जाती। बहुसमुदायवाद की अपेक्षा एकसमुदायवाद तथ्य के अधिक अनुकूल है। समाज में व्यवस्था कायम रखने के लिये यह आवश्यक है कि एक ऐसी सर्वोपरि सत्ता हो जो व्यक्तियों व उनके विविध समुदायों के कार्यों व गतिविधि पर नियन्त्रण रख सकें। अरिस्टोटल ने अपने युग की परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए राज्य के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया था, वह वर्तमान युग में भी तथ्य के अनुरूप है। आधुनिक काल में भी राज्य के संबंध में यह बात कही जा सकती है कि विविध मानव समुदाय उसके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है और वह उन सब पर अपना नियन्त्रण इस ढंग से स्थापित करता है ताकि वे मनुष्यों के सर्वसामान्य हितों के साधन में सहायक हों।

(5) वर्ग संगठन के रूप में राज्य का स्वरूप (State as a class structure)

कतिपय विचारकों के अनुसार राज्य एक ऐसे विशिष्ट वर्ग (Class) का संगठन मात्र है, जो कि अन्य वर्गों पर हावी हो। इस मत के प्रमुख प्रवर्तक वे समाजवादी (Socialist) विचारक हैं, जो राज्य को एक वर्ग विशेष द्वारा अन्य वर्गों का शोषण करने का साधनमात्र समझते हैं। कार्ल मार्क्स के मत में आधुनिक राज्यसंस्था पूंजीपति वर्ग द्वारा गरीबों

नोट

के शोषण का साधन है। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक सामाजिक संगठन में अनेक ऐसे वर्ग होते हैं, जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है। इतिहास में हमें पाँच प्रकार के सामाजिक संगठन मिलते हैं–(1) आरम्भिक समाज, (2) दासों पर आश्रित समाज, (3) सामन्तवादी पद्धति पर आश्रित समाज, (4) पूंजीवाद पर आश्रित समाज और (5) समाजवादी समाज। इन विविध सामाजिक संगठनों में वर्ग-संघर्ष की सत्ता स्पष्ट रूप से रही है। केवल आरंभिक समाज वर्ग-संघर्ष से शून्य था, क्योंकि उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता के पदार्थों का स्वयमेव उत्पादन कर लेता था और किसी को दूसरों का शोषण करने का अवसर नहीं मिलता था। दासप्रथा और सामन्त-पद्धति के युगों में ऐसी दशा रही कि उत्पादन के साधन एक वर्ग विशेष के स्वामित्व में आ गये। यह वर्ग स्वयं श्रम नहीं करता था, अपितु एक ऐसे वर्ग से जिसके पास उत्पादन के साधन नहीं थे, श्रम कराके स्वयं आराम से जीवन व्यतीत किया करता था। दास प्रथा के युग में कतिपय कुलीन लोग भूमि के स्वामी बन गये और दासों के श्रम से अनाज आदि का उत्पादन कराने लगे। सामन्तपद्धति के युग में खेती का कार्य अर्धदासों (Serf) द्वारा किया जाता था, जो स्वयं भूमि के स्वामी नहीं होते थे। आधुनिक पूंजीवादी युग में पूंजी आदि उत्पादन के साधन एक वर्ग विशेष के हाथों में हैं, जो सम्पत्ति व पूंजी से विहीन मज़दूर वर्ग के श्रम को क्रय करके आर्थिक उत्पादन का कार्य करता है। राज्य-संस्था एक ऐसा साधन रहा है, जिसकी सहायता या बल यह सम्पत्तिशाली (भू स्वामी व पूंजीपति) वर्ग दासों, अर्धदासों व मज़दूरों का शोषण करता रहा है। आधुनिक पूंजीवादी युग के संबंध में कार्ल मार्क्स के ये शब्द उल्लेखनीय है–"पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पूंजीपतिवर्ग के हाथों में एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा वह श्रमजीवी वर्ग को दासता के पाश में बांधे रखकर उस पर निरंकुश शासन करता है।" इसी कारण समाजवादी यह मानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य जानबूझकर ऐसे साधनों, कार्यों व नीति का प्रतिपादन करता है, जिससे श्रमजीवी वर्ग का अधिक-से-अधिक शोषण हो। इसका प्रधान लक्ष्य श्रमजीवियों के श्रम का अधिकतम अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) प्राप्त कर लेना होता है।

लेनिन के अनुसार राज्य सदा ही एक विशिष्ट वर्ग का संगठन-मात्र रहा है और उसका स्वरूप सदा ही ऐसा रहेगा, जिससे कि किसी एक विशिष्ट वर्ग का हित-साधन होता रहे। राज्य कभी ऐसा रूप प्राप्त नहीं कर सकता, जिसके कारण कि सम्पूर्ण जनता के हित का साधन हो सके या जिसमें विविध आर्थिक वर्ग परस्पर सहयोग या समझौते से कार्य कर सकें। लोकतन्त्रवादी लोग राज्य से जो यह आशा करते हैं कि वह जनता के सार्वजनीन हितों का साधक हो सकता है, सर्वथा निरर्थक है। इसीलिये जब पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त होकर समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जायेगी, तब भी राज्य एक विशिष्ट वर्ग के हितों का ही साधक रहेगा। उस व्यवस्था में राज्य सर्वसाधारण किसान मज़दूर वर्ग के हितों का साधन करेगा। तब वह पूंजीपतियों या ऐसे वर्गों को, जो श्रमजीवी न हों, हितसाधन नहीं कर सकेगा। इसी कारण समाजवादी रूस के संविधान में केवल उन बालिग पुरुषों व स्त्रियों को वोट का अधिकार दिया गया है, जो 'समाज' के लिये हितकारी व उत्पादन कार्य में सहायक श्रम करके अपनी आजीविका कमाते हों। समाजवादी विचारक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि रूस से स्थापित व्यवस्था भी सब वर्गों के हितों का संपादन न करके केवल एक वर्ग (श्रमजीवी-वर्ग) के हितों का ही सम्पादन करती है। यह स्वाभाविक व उचित भी है, क्योंकि राज्य सदा किसी विशिष्ट वर्ग के हितों का प्रतिपादक रहा है और राज्यसंस्था का स्वरूप ही ऐसा है कि वह किसी विशिष्ट वर्ग के हितों का ही सम्पादन कर सकती है। पुराने राज्यों (दासप्रथा, सामन्त-पद्धति और पूंजीवाद पर आश्रित) द्वारा जिस वर्ग का हित होता था वह अल्पसंख्यक था, उसमें श्रमजीवी वर्ग का शोषण होता था। पर समाजवादी राज्य जिस वर्ग के हितों का सम्पादन करता है वह बहुत विशाल है और इस राज्य का ध्येय यही रहता है कि अन्य वर्गों का अन्त कर एक वर्गविहीन समाज की स्थापना की जाए। पर जब यह समय आ जायेगा, जब श्रमजीवियों के अतिरिक्त मानव समाज में कोई अन्य वर्ग रह ही नहीं जायेगा, तो राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इस प्रकार समाजवादियों और अराजकतावादियों (Anarchists) में इस प्रश्न पर कोई मतभेद नहीं है कि अन्त में एक ऐसी दशा उत्पन्न कर दी जानी चाहिये, जिसमें राज्य स्वयमेव समाप्त हो जाए। श्रमजीवी वर्ग को भी राज्य की तभी तक आवश्यकता है, जब तक कि श्रमजीवी वर्ग का शोषण करनेवाले पूंजीपति तत्व नष्ट नहीं हो जाते। उनका अन्त होते ही राज्य को भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

नोट

इस प्रकार समाजवादियों के मत में राज्य का आधार वर्ग-व्यवस्था ही है। क्योंकि समाज में अनेक वर्ग है और इन वर्गों के हितों में विरोध रहता है, अत: राज्य केवल उस वर्ग के हितों का साधन करता है, जिसके हाथों में शक्ति हो। यह शक्ति सदा एक ही वर्ग के हाथों में नहीं रहती। मध्ययुग में यह शक्ति जागीरदारों या सामन्तों के हाथों में थी। आधुनिक युग में यह शक्ति पूंजीपति वर्ग के हाथों में आ गई और अब समाजवादी राज्यों में यह शक्ति किसान-मज़दूर वर्ग के हाथों में आती जा रही है। जब तक समाज में विविध वर्गों की सत्ता रहेगी, राज्य की आवश्यकता भी बनी रहेगी, क्योंकि राज्य द्वारा एक विशिष्ट वर्ग अपने हितों के साधन में समर्थ रहता है।

राज्य का शक्तिमूलक रूप (State as power system)–कतिपय विचारकों ने राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए शक्ति के सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया है। उनके अनुसार राज्य-संस्था शक्ति पर आधारित है। इस विचारधारा का प्रारंभ इटली के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ **मैकियावली** (1461-1527) द्वारा किया गया था। मैकियावली के अनुसार मनुष्य को प्रेरणा देने वाली दो शक्तियां हैं, स्वार्थ और भय। मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी और लालची होता है। पर साथ ही, भय भी मनुष्य के जीवन को प्रभावित करता है। मनुष्य जो राज्य-संस्था में संगठित हुए, उसका कारण भय ही था। अत: राजा को ऐसी नीति बरतनी चाहिये, जिससे प्रजा उससे डरती रहे। राज्य का आधार शासकों की शक्ति ही है। जर्मन विचारक **नीत्से** का कथन था कि राज्य की आज्ञाओं का पालन इसलिए किया जाता है, क्योंकि वह सबसे अधिक शक्तिशाली है। यदि उसकी आज्ञाओं का पालन न किया जाए, तो उसके पास वह शक्ति है जिससे वह बलात् अपनी आज्ञाओं को मनवा सकता है। एक अन्य जर्मन विचारक **ट्रीट्स्के** ने भी इसी बात का प्रतिपादन किया है। वह राज्य को 'शक्ति का साक्षात् रूप' कहा करता था। अंग्रेज दार्शनिक **हर्बर्ट स्पेन्सर** ने भी राज्य को शक्ति का परिणाम बताया है। यूरोप के अन्य भी बहुत से विचारकों ने राज्य के स्वरूप पर विचार करते हुए शक्ति के तत्व को बहुत महत्त्व दिया है। भारत के प्राचीन राजनीतिकार भी राज्य में 'दण्ड' या शक्ति को बहुत महत्त्व देते थे और 'दण्ड' को ही राज्य का आधार मानते थे। हिटलर के नेतृत्व में जब जर्मनी में नाजी व्यवस्था कायम हुई, तो वहाँ के नाजी विचारकों ने भी अपने सिद्धान्त का आधार शक्ति को ही माना।

वर्ग संगठन और शक्ति सिद्धान्त में सामंजस्य–जो लोग राज्य को एक वर्ग-संगठन मानते हैं, वे भी यही प्रतिपादित करते हैं कि राज्य में एक ऐसा शक्तिशाली वर्ग रहता है जो अन्य वर्गों का शोषण करता है और उन्हें अपने हित के लिये प्रयुक्त करता है। **ओपेनहोमर** के अनुसार जो वर्ग राज्य स्थापित करता है, उसे हम विजेता वर्ग कह सकते हैं। अन्य वर्ग उसकी प्रजा होते हैं। राज्य-संस्था के लिये यह आवश्यक है कि एक वर्ग विजेता या शासक हो और अन्य वर्ग पराजित, शासित या प्रजा हों। क्योंकि विजेता शक्ति द्वारा विजय प्राप्त करता है, अत: वर्ग-संगठन रूपी राज्य का आधार शक्ति ही होती है। कार्ल-मार्क्स सदृश समाजवादियों का वर्ग संघर्ष का विचार भी शक्तिसिद्धान्त का ही एक रूप है। इसलिए वर्ग, संगठन और शक्ति के सिद्धान्तों में बहुत कुछ समता व सामंजस्य है।

इन सिद्धांतों की आलोचना–राज्य को वर्गसंगठन मानना या शक्तिमूलक समझना सर्वथा सत्य नहीं है, यद्यपि राज्यसंस्था में इन तत्वों का पर्याप्त स्थान है। यह सही है कि वर्ग संगठन व शक्ति राज्य के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं, पर उन्हें राज्य का आधार नहीं माना जा सकता।

नोट्स राज्य का मूल आधार शक्ति न होकर इच्छा है। विवेकशील नगारिक राज्य की आज्ञाओं या कानूनों का पालन केवल इसलिये नहीं करते, क्योंकि उनके पीछे राजशक्ति है।

उनका पालन वे इसलिये भी करते हैं, क्योंकि वे सार्वजनिक इच्छा के मूर्तरूप होते हैं। राज्यसंस्था मनुष्यों की समाजिकता का परिणाम है। समाज या समुदाय बनाकर रहने का मनुष्य का जो स्वभाव है, उसी के कारण राज्य का संगठन हुआ है। अत: राज्य का ऐसा स्वरूप तथ्य के अनुकूल नहीं है, जिसमें केवल शक्ति के तत्व को महत्त्व दिया गया हो।

नोट

(6) कानूनी व्यवस्था के विधायक के रूप में राज्य का स्वरूप

कतिपय विचारकों ने राज्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि राज्य ही एकमात्र ऐसी संस्था व समुदाय है जिसे क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। मानव समाज में जो कानूनी व्यवस्था विद्यमान है उसका विधायक राज्य ही है। राज्य ही क़ानून का उद्‌गम-स्थान है। राज्य रूपी समुदाय में जो व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, वे सब राज्य द्वारा निर्मित व स्वीकृत क़ानूनों को स्वीकार करने के लिये विवश रहते हैं, अत: राज्य को हमें कानूनी व्यवस्था के विधायक के रूप में ही मानना चाहिये। इस विचारसरणी के प्रमुख प्रतिपादक श्री **विलोबी** हैं। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर उन्होंने राज्य का लक्षण इस प्रकार किया है–"राज्य वह राजनीतिक व्यक्ति व सत्ता है जिसे क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त हैं।" राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य समुदाय को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता कि वह क़ानूनों का निर्माण कर सके। अन्य समुदाय नियम अवश्य बनाते हैं, पर उनका पालन कराने के लिये वे शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते। नियमों और क़ानूनों में मुख्य भेद यही है कि नियमों का पालन व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। उनका पालन कराने के लिये शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता। पर क़ानूनों के पालन के लिये व्यक्ति विवश होते हैं और उनके लिये शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। एक अन्य स्थान पर **विलोबी** ने कानूनी व्यवस्था के विधायक के रूप में राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अपने विचार को इस ढंग से स्पष्ट किया है–"मानवस्वरूप व्यक्तियों के उस समूह को राज्य कहते हैं जिसे ऐसी सुसंगठित सामूहिक कम्युनिटी का रूप प्राप्त हो और जिसके ऊपर एक ऐसी शासक-शक्ति विद्यमान हो जो उन आदेशों का उद्‌गम-स्थान मानी जाती हो, जो कि क़ानूनी रूप से और साधारणतया नैतिक रूप से कम्युनिटी के अन्तर्गत सब व्यक्तियों पर अनिवार्य ढंग से लागू होते हैं।" इस लक्षण के अनुसार राज्य व्यक्तियों का एक ऐसा सुसंगठित समुदाय है, जिसमें एक ऐसी शासक-शक्ति की सत्ता हो जिस द्वारा जारी किये गये आदेशों का पालन करना सब व्यक्तियों के लिये क़ानूनी व नैतिक रूप से आवश्यक हो। राज्य के इस स्वरूप में उसकी प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्नता पर ही विशेष बल दिया जाता है और यह प्रतिपादित किया जाता है कि राज्य ही मानव समाज में ऐसी व्यवस्था को स्थापित करने वाला है जिसको स्वीकार करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये कानूनी व नैतिक रूप से अनिवार्य है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सर्वोपरिता व कानूनी व्यवस्था का संस्थापक होना राज्य की एक अनिवार्य विशेषता है। पर राज्य के स्वरूप को केवल क़ानून को अत्यधिक महत्त्व देने से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। क़ानून का भी राज्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर राज्य-संस्था में वही सब कुछ नहीं है। आधुनिक युग में राज्य की सत्ता का प्रयोजन केवल क़ानूनी व्यवस्था को स्थापित करना ही नहीं रह गया है, वह लोकहित व सामूहिक कल्याण के लिये भी प्रयत्न करता है और जनता राज्य से ऐसे अनेक कार्यों की आशा करती है जिनका क़ानूनी व्यवस्था के साथ कोई संबंध नहीं है। इस दशा में क़ानूनी व्यवस्था के विधायक के रूप में राज्य के स्वरूप का प्रतिपादित करना समुचित नहीं समझा जा सकता। पर यह स्पष्ट है कि क़ानूनी व्यवस्था स्थापित करना राज्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य है।

(7) राज्य का स्वरूप–उपसंहार

राजनीतिशास्त्र के विविध विद्वानों ने राज्य के लक्षण किस प्रकार किये हैं, इस पर हम इसी अध्याय में पहले प्रकाश डाल चुके हैं। साथ ही, हम यह भी प्रतिपादित कर चुके हैं कि विविध दृष्टिकोणों से विभिन्न विचारकों ने राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन किस ढंग से किया है। राज्य क्या है, उसका क्या स्वरूप है–इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सब विचारक एकमत नहीं है। युग की परिस्थिति और विचारधारा के विशिष्ट दृष्टिकोण के प्रभाव से राजनीतिशास्त्र के विविध विद्वानों ने राज्य के स्वरूप को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादित किया है। एक ओर कार्ल मार्क्स जैसे विचारक राज्य को वर्ग संगठन हित व लोककल्याण का सम्पादन करनेवाला सर्वोत्कृष्ट मानव-समुदाय समझते हैं। राज्य के

नोट

स्वरूप के सम्बन्ध में इन विविध दृष्टिकोणों व विचारधाराओं का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं और इस ग्रन्थ के अगले अध्यायों में हम इन पर विशद रूप से भी प्रकाश डालेंगे। पर यहाँ उनका फिर से संक्षेप के साथ उल्लेख करना पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

(1) **ध्येय और कार्यों के आधार पर राज्य का स्वरूप**–राजनीतिशास्त्र में व्यक्तिवाद (Individualism), समाजवाद (Socialism), उपयोगितावाद (Utilitarianism), भाववाद (Idealism), अराजकतावाद (Anarchism) आदि अनेक विचारधाराएँ हैं। इनके विचारों में बहुत अधिक भेद है। राज्य के स्वरूप के विषय में भी इनके मत भिन्न-भिन्न हैं।

व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं। अत: उनके अनुसार उसके कार्यक्षेत्र को अधिक-से-अधिक सीमित रखना चाहिये। उसका कार्य केवल इस अंश तक परिमित रहना चाहिये कि वह देश की बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा कर सके। उसका स्वरूप केवल 'पुलिस' के दृश्य ही होना चाहिये।

उपयोगितावादी विचारधारा के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है, जिसका प्रयोजन अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम सुख सम्पादित करना है। उसके उद्देश्य, कार्य व स्वरूप क्या हों, इसका निर्धारण उपयोगिता को दृष्टि में रखकर ही किया जाना चाहिये।

समाजवादी राज्य को एक वर्गसंगठन के रूप में मानते हैं। उस द्वारा केवल किसी विशिष्ट वर्ग के हितों का ही सम्पादन होता है। ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ राज्य-संस्था द्वारा अपने हितों को सम्पादित करने वाले इस वर्ग में अन्तर आता जाता है

भाववादी विचारकों के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका अपना पृथक् व्यक्तित्व व अपनी पृथक् इच्छा होती है और जिसके व्यक्तित्व व इच्छा में राज्य के अन्तर्गत सब व्यक्तियों के व्यक्तित्व व इच्छाएं अन्तर्हित रहती हैं।

राज्य के स्वरूप के संबंध में ये सब मन्तव्य विशिष्ट दृष्टिकोण व विचारधारा के परिणाम हैं। पर इन द्वारा राज्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता और न इनके आधार पर राज्य का कोई ऐसा लक्षण ही किया जा सकता है जिससे उसका स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो सके।

(2) **क़ानून की दृष्टि से राज्य का स्वरूप**–अनेक विचारकों ने राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कानून के दृष्टिकोण को महत्त्व दिया है। मनुष्यों के जिस समुदाय में ऐसे आदेश या क़ानून जारी करने की शक्ति हो, जिनका पालन करना उस समुदाय के अन्तर्गत सब व्यक्तियों के लिये अनिवार्य हो, उसी का नाम 'राज्य' है। **विलोबी** ने इस दृष्टिकोण से राज्य का लक्षण इस प्रकार किया है–"राज्य वह राजनीतिक व्यक्ति व सत्ता है, जिसे क़ानून बनाने का अधिकार प्राप्त है।" राज्य के क़ानूनी आधार को महत्त्व देने वाले विचारक राज्य को अन्य समुदायों से इसी आधार पर भिन्न करते हैं कि वह आदेश दे सकने या कानून जारी कर सकने की शक्ति रखता है। राज्य अपने आन्तरिक क्षेत्र में प्रभुत्वशक्ति रखता है, अपने आदेशों को सबसे मनवा सकने की सामर्थ्य रखता है। यही उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि से भी राज्य एक पृथक् इकाई होता है और अन्य राज्यों के साथ उसका क्या संबंध हो, इस विषय में भी उसकी प्रभुता निर्विवाद होती है। अत: यदि राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करना हो, तो हमें क़ानूनी दृष्टिकोण से ही उस पर विचार करना चाहिये। कानून की दृष्टि से राज्य की सम्पूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्नता को महत्त्व देनेवाले ये विचारक राज्य की एक उत्तम लक्षण कर सकने में अवश्य समर्थ होते हैं, पर उससे राज्य का स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट नहीं हो पाता।

(3) **अन्य समुदायों के साथ संबंध के आधार पर राज्य का स्वरूप**–राज्य का अन्य मानव-समुदायों के साथ क्या संबंध है, अन्य समुदायों और राज्य में क्या भेद है–इसका विवेचन करके अनेक विचारक राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। इसीलिये राज्य को 'समुदायों का समुदाय' माना गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि

नोट

जबकि अन्य सब समुदाय मनुष्यों के किसी विशिष्ट हित का संपादन करते हैं, राज्य उनके सार्वजनिक व व्यापक हितों के संपादन द्वारा उन्हें उत्कृष्ट व श्रेष्ठ जीवन को प्राप्त कराने में साधक होता है। इसी दृष्टि से वह अन्य समुदायों के उद्देश्यों, कार्यों व गतिविधि पर नियन्त्रण भी रखता है। इन विचारकों के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जो समुदाय बनाकर रहता है और समुदाय द्वारा ही अपनी उन्नति करता है। राज्य मनुष्यों की सामाजिकता की ही सर्वोत्कृष्ट रूप है।

(4) **आवश्यक तत्वों के आधार पर राज्य का स्वरूप**–हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं कि राज्य के चार मुख्य व आवश्यक तत्व हैं–जनता, भूमि, शासन और प्रभुता। इनके अतिरिक्त स्थायित्व और समानता को भी राज्य का तत्व माना गया है। जिस मानव समुदाय में ये सब तत्व विद्यमान हों, वही राज्य है। इस आधार पर राज्य के जो विविध लक्षण किये गये हैं, वे राज्य के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट कर देते हैं। **गार्नर** के अनुसार, "राज्य मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है, जो संख्या में चाहे अधिक हो या न्यून, पर जो किसी निश्चित भूखण्ड पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, जो किसी भी बाह्य शक्ति के नियन्त्रण से पूर्णतया व प्रायः स्वतन्त्र हो और जिसमें एक ऐसी सुसंगठित सरकार विद्यमान हो जिसके आदेशों का पालन करने के लिए उसे भूखण्ड के प्रायः सब निवासी अभ्यस्त हों।" राजनीतिशास्त्र के अन्य भी अनेक विद्वानों ने राज्य के लक्षण इन्हीं आवश्यक तत्वों के आधार पर किये हैं। इन लक्षणों को हम इसी अध्याय में ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। **गेटल** के शब्दों में, "यदि इनमें से किसी एक भी तत्व का अभाव हो, तो राज्य नष्ट हो जाता है। राज्य में इन सबका सम्मिलित रूप से रहना आवश्यक है। राज्य न जनता है, न भूमि है, न सरकार है–पर इन सबसे मिलकर बना है। साथ ही, राज्य में वह एकता भी होनी चाहिये जिसके कारण वह एक पृथक् व स्वतन्त्र राजनीतिक सत्ता बनता है। अतः हम राज्य का यह लक्षण कर सकते हैं कि वह व्यक्तियों के ऐसे समाज का नाम है, जो एक निश्चित प्रदेश पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, जिस पर कोई बाह्य क़ानूनी नियन्त्रण न हो और जिसमें एक ऐसी सुसंगठित सरकार की सत्ता हो जो कि अपने अधिकार-क्षेत्र में विद्यमान सब व्यक्ति व समुदायों के लिए कानून बनाये व उनका प्रयोग करें।"

राज्य को चाहे किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाए, उसमें राज्य का यह लक्षण अवश्य लागू होगा। इतिहास के विभिन्न युगों में राज्य के जो स्वरूप रहे हैं, उन सबमें भी यह लक्षण समान रूप से लागू होता है। अतः राज्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये यही आधार सर्वोत्तम है कि उसका निर्माण किन आवश्यक तत्वों द्वारा होता है। राज्य के ध्येय, प्रयोजन व कार्यक्षेत्र के संबंध में मतभेद हो सकता है, पर उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये इससे अधिक उत्तम अन्य कोई आधार नहीं है।

(8) राज्य (स्टेट) और राष्ट्र (नेशन)

राष्ट्र–राज्य का क्या अभिप्राय है, यह हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं। राष्ट्र उस राज्य को कहते हैं, जिसके निवासियों में परस्पर एक होने की अनुभूति हो, जिनमें राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान हों। राज्य ऐसा भी हो सकता है, जिसमें अनेक प्रकार के लोगों का निवास हो। 1914-18 के महायुद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में आस्ट्रियन, हंगेरियन, चेक, स्लोवक, स्लाव आदि अनेक जातियों व जन-समूहों का निवास था। उसे हम राष्ट्र (नेशन) नहीं कह सकते थे, यद्यपि वह राज्य था। जब तक आयरलैंड ग्रेट ब्रिटेन का एक अंग था, ब्रिटिश पार्लियामेंट ही आयरलैंड का भी शासन करती थी। ग्रेट ब्रिटेन राज्य था, पर राष्ट्र नहीं, क्योंकि आयरिश लोग ब्रिटेन के अन्य निवासियों के साथ एकता की भावना नहीं रखते थे। अठारहवीं सदी के अन्त तक यूरोप के बहुसंख्यक राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार नहीं हुआ था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति (1789 ई०) ने जहाँ लोकतन्त्र शासन की प्रवृत्ति को जन्म दिया, वहाँ राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का भी प्रबल रूप से प्रतिपादन किया। 1918 तक भी यूरोप के बहुत-से राज्य अनेक जातियों व विविध प्रकार के लोगों से निर्मित थे। पोलैण्ड, चेकोस्लाविया आदि राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर आश्रित राज्य उस समय यूरोप के नक्शे पर विद्यमान नहीं थे।

नोट

राष्ट्रीयता की भावना—मनुष्यों में शुरू से यह प्रवृत्ति रही है कि जिन लोगों की नस्ल, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और ऐतिहासिक परम्परा एक हों, वे परस्पर मिलकर एक संगठन में संगठित रहें। इतिहास के प्रारंभ काल में इस प्रकार के एक सदृश लोगों के समूहों को जाति, जन या कबीला (Tribe) कहा जाता था। जब एक जाति या जन ने किसी एक निश्चित भूखण्ड पर बसकर अपना पृथक राज्य बना लिया, तो वह राज्य जनपद या राष्ट्र कहलाया। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में इन राज्यों के लिये जनपद और राष्ट्र—दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने जिन नई शक्तियों व प्रवृत्तियों को जन्म दिया, राष्ट्रीयता की भावना उनमें प्रमुख थी। जो लोग धर्म, भाषा नस्ल, रीति-रिवाज और ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से एक हैं, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिये और इस राज्य में किसी स्वेच्छाचारी राजा का शासन न होकर सर्वसाधारण जनता को लोकमत के अनुसार शासन होना चाहिये, यह सिद्धांत फ्रांस की राज्यक्रान्ति की मुख्य देन है। इसी कारण जब लुई सोलहवां पेरिस से भाग निकला, तो एक फ्रांसीसी ने कहा था— "यदि राजा भाग गया तो कोई बात नहीं, फ्रेंच राष्ट्र तो विद्यमान है।" फ्रांस की राज्यक्रान्ति से शुरू होकर राष्ट्रीयता की भावना निरन्तर प्रबल होती गई और धीरे-धीरे यूरोप के प्रायः सभी राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार हो गया। न केवल यूरोप में, अपितु अफ्रीका, एशिया आदि अन्य भूखण्डों में भी यह भावना निरन्तर प्रबल होने लगी और अब वह समय दूर नहीं है जबकि संसार के सभी राज्य राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो जाएँगे। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार निर्मित हुए राज्य को ही राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्रीयता मानवजाति की मूलभूत भावनाओं में से एक है। इतिहास के प्रारम्भ में जन, जाति या कबीले के रूप में जो समूह संगठित थे, उनकी तह में यही भावना विद्यमान थी। अनेक सदियों तक मध्यकाल में यह भावना दबी रही। अर्वाचीन काल में इस भावना ने एक बार फिर जोर पकड़ा; और अब जो फ्रांस, इंग्लैण्ड, भारत, इण्डोनेशिया, बर्मा, पोलैण्ड आदि विविध राज्यों के लोग अपनी पृथक् सत्ता, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सामूहिक उन्नति के लिये तत्पर हैं, उसका कारण यह भावना ही है।

मनुष्य जाति के किसी अंग में जो परस्पर एकानुभूति होती है, उसे ही राष्ट्रीयता कहा जाता है। यह एकानुभूति धर्म, नस्ल, भाषा, व्यवहार, रीति-रिवाज आदि की एकता व समानता के कारण उत्पन्न होती है। जिस राज्य के निवासी यह एकानुभूति रखते हैं, उसे राष्ट्र कहते हैं।

(9) राष्ट्रीयता के विविध तत्व

नस्ल, भाषा, धर्म आदि जिन तत्वों के कारण मनुष्यों में एकानुभूति उत्पन्न होती है, उन पर अधिक विस्तार से विचार करना उपयोगी है—

(1) नस्ल की एकता—जिन लोगों की नस्ल एक हो, यह स्वाभाविक है कि उनमें अपने को एक समझने की भी प्रवृत्ति हो। इतिहास के प्रारंभ काल में जिन विविध जनों ने अपने पृथक् जनपदों व राष्ट्रों का निर्माण किया था, वे नस्ल की दृष्टि से एक थे।

आजकल विविध राज्यों में जिन लोगों का निवास है, उन्हें नस्ल की दृष्टि से किसी एक विशुद्ध नस्ल का कह सकना सुगम नहीं है। वे प्रायः विविध नस्लों के सम्मिश्रण हैं, तथापि उनमें यह अनुभूति अवश्य विद्यमान है कि नस्ल या जाति की दृष्टि से एक हैं। राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से नस्ल की एकता की अनुभूति होना ही पर्याप्त है। जर्मन, फ्रेंच, इंग्लिश आदि लोग अपने को जातीय दृष्टि से एक समझते हैं। यदि इंग्लैण्ड के निवासियों पर ही विचार किया जाये, तो वे भी केल्ट, ब्रिटिश, एंगल, नार्मन आदि विविध जातियों के सम्मिश्रण हैं। फिर भी उनमें यह भावना विद्यमान है कि हम सब इंग्लिश हैं। यही बात फ्रेंच, इटालियन, जर्मन आदि लोगों के विषय में भी कही जा सकती है।

(2) **भाषा की एकता**—राष्ट्रीयता के विकास के लिये भाषा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व है। भाषा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य व मानव-समुदाय अपने भावों को दूसरों के सम्मुख प्रकट करता है। जिस प्रकार पहाड़,

नोट

नदी व समुद्र मनुष्यों को आपस में मिलने-जुलने में रुकावट पैदा करते हैं, वैसे ही भाषा की भिन्नता मनुष्यों में पारस्परिक संबंध स्थापित करने में बाधक होती है। मानव-समाज भी एक जीवित-जागृत शरीर के समान है, उसका भी अपना एक व्यक्तित्व होता है। इस व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन भाषा ही है। मनुष्यों के विभिन्न समुदायों के अपने-अपने आदर्श, अपनी-अपनी भावनायें और अपने-अपने विचार होते हैं। इनकी अभिव्यक्ति के लिये भाषा ही का प्रयोग होता है। संगीत, काव्य और साहित्य द्वारा जहाँ किसी विशिष्ट मानव समुदाय की अपनी विशेषतायें अभिव्यक्त होती हैं, वहाँ यह तो स्पष्ट ही है कि भाषा के बिना संगीत, काव्य और साहित्य का विकास संभव नहीं है। भाषा एक ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य एक-दूसरे के समीप आ जाते हैं, उसमें घनिष्ठता स्थापित हो जाती है। यही कारण है कि एक भाषा बोलनेवाले लोग परस्पर एकानुभूति रखने लगते हैं। राष्ट्रीयता की भावना के लिये भाषा का तत्व परम आवश्यक है।

पर ऐसे भी अनेक राष्ट्र हैं, जिनमें एक से अधिक भाषाएं बोलने वाले जनसमूह निवास करते हैं। स्विट्जरलैण्ड में तीन भाषायें बोली जाती हैं–फ्रेंच, जर्मन और इटालियन। पर भाषा का भेद होते हुए भी स्विस लोग राष्ट्रीयता की अनुभूति रखते हैं। कनाडा में दो भाषायें हैं, फ्रेंच और अंग्रेजी। यह होते हुए भी कनाडियन लोग एक राष्ट्र है। भारत में बहुत-सी भिन्न-भिन्न भाषायें हैं। पर फिर भी यहाँ के निवासी अपने को एक राष्ट्र का निवासी समझते हैं। राष्ट्रीयता की भावना भारत के सब निवासियों में विद्यमान है। पाकिस्तान में पंजाबी, उर्दू, सिन्धी, बंगला आदि अनेक भाषायें हैं, पर फिर भी उसके निवासियों में राष्ट्रीय एकता की भावना विद्यमान है।

पर यह मानना होगा कि भाषा की भिन्नता के कारण राष्ट्रीय एकता कुछ-न-कुछ निर्बल अवश्य हो जाती है। भारत में ही महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आन्ध्र, पंजाब आदि के निवासियों में जो प्रान्तीय भावना कभी-कभी प्रबल हो उठती है, उसका एक मुख्य कारण भाषा की भिन्नता ही है। इसीलिये एक राष्ट्रभाषा के विकास की आवश्यकता भारत में अनुभव की जा रही है। हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया गया है और जब इस विशाल राज्य के विविध प्रदेशों में हिन्दी का भलीभाँति प्रचार हो जायेगा, तो राष्ट्रीयता की भावना अधिक सुदृढ़ हो सकेगी।

(3) **धर्म की एकता**–मनुष्यों को एक-दूसरे के समीप लाने के लिये धर्म का भी बड़ा महत्त्व है। जिससे मनुष्यों का अभ्युदय हो और वे इहलोक तथा परलोक में सुख प्राप्त करें, उसे धर्म कहा जाता है। यद्यपि सब धर्मों के मूलभूत तत्व एक हैं, पर उनका बाह्य कलेवर भिन्न-भिन्न है। इस्लाम, ईसाई मत, बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म आदि सब धर्मों व सम्प्रदायों के नैतिक सिद्धान्तों व सदाचार के नियमों में विशेष भेद नहीं है, पर उनके पूजा-पाठ, विधि-विधान व विश्वासों में बहुत अन्तर है। जो लोग एक ढंग से ईश्वर की पूजा करें, एक प्रकार के विधि-विधानों का अनुष्ठान करें, एक प्रकार के सामाजिक व्यवहार का अनुसरण करें, उनमें यदि एकानुभूति का भी विकास हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है।

अर्वाचीन काल में धर्म के भेद के कारण राष्ट्रीयता में भी भेद उत्पन्न हुआ है। 1731 तक बेल्जियम और हालैण्ड एक राज्य थे। पर बेल्जियम के निवासी रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयायी थे और हॉलैण्ड के निवासी प्रोटेस्टेन्ट थे। 1831 में इस राज्य का एकता नष्ट हुई और प्रधानतया धर्म के आधार पर दो पृथक् राज्यों का निर्माण किया गया। जब आयरलैण्ड ग्रेट ब्रिटेन का एक अंग था, तो आयरिश लोग अपने पृथक् राज्य के लिये उत्सुक थे। आयरिश लोग जो अंग्रेजों के साथ मिलकर एक नहीं हो सके, उसका एक बड़ा कारण यह भी था कि आयरिश लोग रोमन कैथोलिक थे और अंग्रेज प्रोटेस्टेट। जब आयरलैण्ड स्वतन्त्र हुआ, तो उसी के एक प्रदेश अल्स्टर के निवासी आयरिश लोगों के साथ मिलकर रहने के लिए उद्यत नहीं हुए। परिणाम यह हुआ कि अल्स्टर को आयरलैंड में सम्मिलित नहीं किया गया। भारत और पाकिस्तान के रूप में भारतवर्ष जो दो पृथक् राज्यों में विभक्त हुआ है, उसका प्रधान कारण धर्म-भेद ही हैं।

नोट

पर अर्वाचीन काल के अनेक सभ्य व उन्नत राज्यों में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति के लिये धर्म का भेद बाधक नहीं रहा है। युगोस्लाविया में मुख्यतया सर्ब और क्री लोगों का निवास है। सर्ब ग्रीक कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयायी हैं और क्रेट रोमन कैथोलिक चर्च के। पर उन दोनों में नस्ल, भाषा और रीति-रिवाजों की एकता के कारण राष्ट्रीय एकता की अनुभूति है और इसीलिये उन्होंने साम्प्रदायिक व धार्मिक भेद को महत्त्व नहीं दिया। चीन में बौद्ध लोगों के साथ-साथ ईसाई भी अच्छी बड़ी संख्या में हैं। पर भाषा, संस्कृति और नस्ल की एकता के कारण चीनी ईसाई अपने को बौद्ध चीनियों से पृथक् नहीं समझते। ईजिप्ट में ईसाइयों की संख्या दस फीसदी के लगभग है, पर वे वहाँ के 90 फीसदी मुसलमानों से अपने को पृथक् समझने की आवश्यकता नहीं मानते।

(4) **भौगोलिक एकता**—जो लोग किसी एक ही प्रदेश में एक साथ रहते हैं, धीरे-धीरे उनमें परस्पर संबध बढ़ता जाता है और वे अपने को एक समझने लगते हैं। राष्ट्रीय एकता की अनुभूति के लिये भौगोलिक एकता आवश्यक होती है। एक स्थान पर देर तक बसे रहने के कारण भिन्न नस्ल व भिन्न धर्म के लोग भी उस स्थान के अन्य निवासियों के साथ एकानुभूति रखने लगते हैं। भारत के पारसी इसके उदाहरण हैं। उनकी नस्ल (जाति) व धर्म बम्बई प्रदेश के अन्य लोगों से भिन्न हैं। पर भौगोलिक एकता के कारण अब वे बम्बई के हिन्दुओं के सदृश ही भारतीय हो गये हैं। संयुक्त-राज्य अमेरिका में इंगलिश लोगों के अतिरिक्त जर्मन, ग्रीक, इटालियन, फ्रेंच व जापानी लोग भी पर्याप्त संख्या में बसे हुए हैं। पर अमेरिका में रहने से भौगोलिक एकता के कारण वे सब अमेरिकन हो गये हैं। यही बात कनाडा में बसे हुए फ्रेंच और इंग्लिश लोगों के संबंध में भी कही जा सकती हैं।

(5) **संस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा की एकता**—जिस जनसमुदाय की संस्कृति, रीति-रिवाज व ऐतिहासिक परम्परा एक होती है, वह भी राष्ट्रीय एकता अनुभव करता है। सम्भवतः, इस युग में इस तत्व का राष्ट्रीय एकता के लिये महत्त्व बहुत अधिक है। काव्य, कला, साहित्य, संगीत, भाषा, धर्म—ये सब संस्कृति के विकस में सहायक होते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता की ओर कदम बढ़ाता जाता है, वह केवल अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये ही उद्योग नहीं करता। स्थूल शरीर की भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त वह मन ओर आत्मा की आवश्यकताओं को भी पूर्ण करना चाहता है। इनकी पूर्ति काव्य, कला, संगीत आदि द्वारा होती है और इन सबसे मिलकर मनुष्य के जीवन में उस प्रकार का विकास होता है, जिसे हम संस्कृति कहते हैं। चीन, भारत, फ्रांस, रूस आदि सब देशों की संस्कृति भिन्न-भिन्न हैं। जिन लोगों की संस्कृति एक होती है, वे परस्पर मिलने में, साथ रहने में एक प्रकार का आह्लाद अनुभव करते हैं। इस कारण उनमें जो एकानुभूति उत्पन्न होती है, वह राष्ट्रीयता का परम सहायक तत्व है। अमेरिका में रहने वाले विभिन्न जातियों के लोग एक संस्कृति को अपना चुके हैं। चीन के लोगों के अनेक धर्म हैं, पर उनकी संस्कृति एक है। यही बात रूस, भारत आदि के संबंध में भी कही जा सकती है।

(6) **राजनीतिक आकांक्षा की एकता**—जिन लोगों की नस्ल, भाषा, धर्म, आदि एक हों, उनकी यह स्वाभाविक राजनीतिक आकांक्षा होती है कि वे अपना एक पृथक् राज्य बनाएँ। राष्ट्रीय भावना अपना मूर्तरूप 'राज्य' द्वारा ही प्राप्त करती है। 1914-18 के महायुद्ध से पूर्व पोल लोग जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस—इन तीन राज्यों के अधीन थे। तीन विभिन्न शासनों के अधीन रहते हुए भी पोल लोगों में यह राजनीतिक आकांक्षा विद्यमान थी कि वे विदेशी आधि पत्य से मुक्त होकर अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य बनाएँ। 1914-18 के महायुद्ध के बाद उनकी यह आकांक्षा पूर्ण हुई। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्वी यूरोप के जो स्लाव लोग अनेक राज्यों में बिखरे हुए थे, वे युगोस्लाविया के रूप में अपनी राजनीतिक आकांक्षा को पूर्ण करने में समर्थ हुए। भारत के मुसलमानों ने भी पाकिस्तान के निर्माण द्वारा अपनी राजनीतिक आकांक्षा की पूर्ति की। इजराइल के रूप में यहूदी लोगों की राजनीतिक आकांक्षा ने मूर्तरूप धारण किया।

राष्ट्रीयता एक भावना है, वह मनुष्यों के मानसिक चिन्तन व अनुभूति का परिणाम है। इसके विपरीत राज्य एक मूर्त सत्ता है। जब राज्य का निर्माण राष्ट्रीय भावना के अनुसार होता है, जब मनुष्यों की मानसिक एकानुभूति राज्य में प्रतिबिम्बित होती है, तब हम उसे 'राष्ट्र' कहते हैं।

नोट

(7) राज्य और समाज

राज्य के स्वरूप को भलीभांति समझने के लिये यह भी उपयोगी होगा कि राज्य और समाज (Society) के भेद को जान लिया जाए। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज में रहना उसकी प्रकृति (स्वभाव) है। अपनी इस प्रकृति को मनुष्य अनेकविध समुदाय बनाकर प्रगट करता है और अपने साथी अन्य मनुष्यों के साथ अनेकविध संबंध स्थापित करता है। ये संबंध मनुष्य की क्रियाओं को अनेक प्रकार से नियन्त्रित व मर्यादित करते हैं। दूसरे मनुष्यों के साथ संबंध स्थापित कर लेने के कारण मनुष्य जो चाहे नहीं कर सकता। वह न पूर्णतया स्वच्छन्द हो सकता है, न उच्छृंखल। संगठन का अंग होने के कारण मनुष्यों को एक निश्चित व्यवस्था का अनुसरण करना होता है, एक निश्चित मर्यादा में रहना पड़ता है। दूसरों के साथ संबंध होने के कारण ही मनुष्यों को यह सोचना पड़ता है कि उनके कौन-से व्यवहार अनुचित हैं और कौन-से समुचित हैं, किस प्रकार का आचरण उपयुक्त है, दूसरों के साथ बरतते हुए उन्हें किन बातों को ध्यान में रखना है। मनुष्यों के जीवन में एक-दूसरे के साथ संबंधों का जो जाल-सा बिछा हुआ है, उसी को 'समाज' कहा जाता है। इस प्रकार समाज एक अत्यन्त व्यापक संज्ञा है, जिसमें सब प्रकार के मानव-संबंधों का समावेश रहता है। राज्य समाज की तुलना में बहुत संकुचित व संकीर्ण है। राज्य द्वारा मानव-संबंधों के एक विशिष्ट प्रकार का बोध होता है, जबकि समाज में सब प्रकार के मानव-संबंध समाविष्ट रहते हैं।

राज्य और समाज के भेद की हम इस प्रकार अधिक स्पष्ट कर सकते हैं–

(1) समाज व्यापक है और राज्य उसकी तुलना में संकीर्ण। समाज में सब प्रकार के मानव संबंधों (धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक, नैतिक आदि) का समावेश रहता है। इसके विपरीत राज्य में मनुष्यों के केवल राजनीतिक संबंध समाविष्ट होते हैं। समाज और राज्य के प्रयोजनों व उद्देश्यों में भी भेद है। जैसा कि **बार्कर** ने लिखा है–"प्रयोजन की दृष्टि से उनमें भेद है। राज्य की सत्ता एक महान पर केवल एक ही प्रयोजन के लिये है, जबकि समाज की सत्ता अनेक प्रयोजनों के लिये है जिनमें कि कुछ महान प्रयोजन हैं और कुछ साधारण–यद्यपि समष्टि रूप में वे सब अत्यन्त गंभीर व व्यापक होते हैं।"

(2) राज्य और समाज के संगठन में भी भेद है। राज्य का संगठन बहुत सुदृढ़ होता है, सबको उसके आदेशों का पालन करना ही होता है, अपने आदेशों का पालन कराने के लिये वह शक्ति का भी प्रयोग कर सकता है। इसके विपरीत समाज का संगठन न सुदृढ़ होता है और न सुस्पष्ट। विभिन्न समुदायों, कम्युनिस्टों आदि की समष्टि से ही समाज का निर्माण होता है। समाज के नियमों व आदेशों का पालन भी मनुष्य स्वेच्छापूर्वक ही करते हैं, किसी शक्ति प्रयोग द्वारा नहीं।

(3) समाज अत्यन्त प्राचीन है। क्योंकि समाज में रहना मनुष्य की प्रकृति है, अत: सामाजिक जीवन व संगठन का तभी सूत्रपात हो गया था, जबकि मानव इस पृथ्वी पर प्रगट हुआ। जबकि राज्य-संस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, तब भी मनुष्य सामाजिक जीवन व्यतीत करता था। परिवार, कुल, रेवड़ आदि तब उसकी सामाजिकता के विभिन्न रूप थे। राज्य का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। राज्य-संस्था भी मनुष्य की सामाजिकता का ही परिणाम है।

(4) राज्य के जो आवश्यक तत्व हैं, वे समाज के नहीं हैं। जनता का तत्व दोनों में समान है। पर सरकार और प्रभुता के तत्व समाज में नहीं पाये जाते। साथ ही, समाज के लिये कोई निश्चित भू-भाग भी अपेक्षित नहीं है। प्रभुत्व शक्ति एक ऐसा तत्व है, जो राज्य की अनुपम विशेषता है। वह समाज में नहीं पाया जाता।

जिन विविध मानव-संबंधों के तारतम्य से समाज का निर्माण होता है, राजनीतिक संबंध भी उनमें अन्तर्गत हैं। राज्य का क्षेत्र इन राजनीतिक संबंधों तक ही सीमित है। पर समाज का क्षेत्र उसकी तुलना में बहुत व्यापक है। समाज के दायरे में मनुष्यों के जीवन के वे सब अंग आ जाते हैं, जिनका संबंध अन्य मनुष्यों के साथ भी हो। समाज और राज्य–दो पृथक् सत्ताएँ हैं, पर उनमें घनिष्ठ संबंध भी है। राज्य द्वारा ही वे परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं, जिनके कारण मनुष्य एक-दूसरे के साथ विविध प्रकार के संबंधों का विकास कर सकने में समर्थ होते हैं। समाज में शान्ति,

नोट

सुव्यवस्था और निश्चिन्तता उत्पन्न करना राज्य का ही कार्य है। पर साथ ही समाज द्वारा यह पृष्ठभूमि निर्मित होती है, जिसके कारण राज्य-संस्था अपना कार्य कर सकती है। कोई भी राजनीतिक संगठन तब तक स्थिर नहीं रह सकता, जब तक कि मनुष्यों में सामाजिकता की सत्ता न हो।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. निम्न में से कौन राज्य का आवश्यक तत्व नहीं है?

   (अ) जनता (ब) भूमि

   (स) सरकार (द) संसाधन

5. निम्न में से किस देश की जनसंख्या सबसे अधिक है?

   (अ) भारत (ब) नेपाल

   (स) चीन (द) अमेरिका

6. प्रथम विश्वयुद्ध कब शुरू हुआ था?

   (अ) 1915 (ब) 1916

   (स) 1914 (द) 1918

3.1.2 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत (Origin Theory of the State)

राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, क्षेत्र तथा विषय वस्तु के विषय में प्राचीनकाल से ही विवाद होता रहा है। जहाँ नगर-राज्य से राष्ट्र-राज्य तक का सफर तय किया गया है वहीं इसी काल क्रम में राज्य की प्रकृति के विषय में विभिन्न दृष्टिकोणों का विकास होता रहा है। जैसे यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तु नगर राज्य को सर्वोच्च संस्था मानते हैं।

वहीं उदारवादी भी राज्य का समर्थन करते हैं लेकिन उसके कार्यों पर कुछ प्रतिबंध का समर्थन करते हैं तो कुछ उसके कार्यों को व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र तक बढ़ाना चाहते हैं। इसी आधार पर उदारवाद को नकारात्मक और सकारात्मक उदारवाद में विभाजित किया जाता है, इसी तरह अराजकतावादी राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में देखते हैं जबकि मार्क्सवादी राज्य को पूँजीवादियों के हाथ में शोषण का यंत्र मानते हैं। जिसको खूनी क्रांति के द्वारा समाप्त करना आवश्यक है।

वहीं प्रारंभ के उदार व्यक्तिवादियों ने मनुष्य को स्वतंत्र छोड़ देने की उन्होंने वकालत की और उसके कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप न करने की सलाह दी। इस काल में न केवल व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन पर अंकुश लगे हुए थे बल्कि व्यापार करने की भी स्वतंत्रता न थी। अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के कारण राज्य द्वारा अनावश्यक प्रतिबंधों का विरोध होना स्वभाविक था। मशीन युग के कारण विशाल पैमाने पर उत्पादन प्रारंभ हो गया। नए बाज़ार में इस माल को बेचने तथा मुनाफा कमाने के लिए उत्पादकों ने अपने अधिकारों की माँग की। इस पृष्ठभूमि में यदि राज्य को बुराई के रूप में देखा गया तो कोई आश्चर्य नहीं है। यद्यपि यह बुराई तो थी किन्तु आवश्यक भी थी क्योंकि राज्य व्यक्ति के जान व माल की सुरक्षा के लिए आवश्यक था। अत: राज्य को आवश्यक बुराई मानकर इस काल के दार्शनिकों ने विभिन्न आधारों पर प्रतिपादित किया कि राज्य का कार्य नकारात्मक है। व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जिन दर्शनिकों ने व्यक्तिवाद के नकारात्मक स्वरूप अर्थात् उदार व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य का प्रतिपादन

नोट

किया उनमें एडम स्मिथ, लॉक, जेरमी बैन्थम तथा हर्बर्ट स्पेन्सर प्रमुख हैं जिन्होंने भिन्न-भिन्न आधारों पर राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित बनाने का पक्ष प्रस्तुत किया।

1. एडम स्मिथ के विचार

औद्योगिक क्रांति के काल में स्मिथ ने तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति के आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया। उसने राज्य के कार्यक्षेत्र को शांति, व्यवस्था व न्याय की स्थापना तक सीमित कर दिया और कहा कि आर्थिक क्षेत्र को आर्थिक नियमों द्वारा विनियमित होने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए। माँग, पूर्ति व स्वतंत्र प्रतियोगिता आदि नियम आर्थिक-क्षेत्र को व्यवस्था प्रान करते हैं। राज्य व्यक्ति के आर्थिक क्षेत्र को नियंत्रित नहीं करेगा। उसका कार्य यह देखना है कि आर्थिक-क्षेत्र में व अन्य आर्थिक क्रियाकलापों में नियमानुसार व्यवहार हो रहा है या नहीं।

वह राज्य को पुलिस राज्य मानता था, जिनमें राज्य का कार्य फुटबॉल के खेल में रैफरी के समान बतलाया और कहा कि जिस प्रकार निर्णायक स्वयं नहीं खेलता बल्कि देखता है कि सभी खिलाड़ी खेल के नियमों के अनुसार खेलते हैं। राज्य का कार्य भी आर्थिक क्षेत्र में खेल के निर्णायक के समान है जिसे मात्र यह देखना चाहिए कि सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाएँ नियमानुसार चल रही हैं या नहीं। आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप अनुचित है। उसने राज्य के मुख्यत: निम्नलिखित कार्यों का समर्थन किया है।

1. बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना।
2. हिंसक घटनाओं से समाज की रक्षा तथा व्यक्ति को व्यक्ति के शोषण व अत्याचारों से बचाना।
3. सड़कें, पुल, नहरें बैंक, शिक्षा संस्थाएँ आदि की व्यवस्था करना क्योंकि ये व्यक्तिगत स्तर पर सम्भव नहीं हैं।

2. जॉन लॉक के विचार

जॉन लॉक का मत था कि किसी भी राज्य में जनता का निर्णय सर्वोपरि होना चाहिए। वह कहता था कि राज्य एक मानवीय संस्था है, इसका आधार दैवी अथवा प्राकृतिक नहीं, बल्कि जनता की सहमति है और प्रभुत्व भी जनता में ही निहित है। वास्तव में लॉक वैधानिक राजतंत्र की पक्षपाती है।

(क) मानव प्राकृति: लॉक का राजनीतिक दर्शन मानव प्रकृति पर आधारित है, परन्तु मानव प्रकृति के संबंध में **लॉक** के विचार **हॉब्स** के विरोधी हैं। **लॉक** का मानव सहयोगी, सहिष्णु, परोपकारी व शांतिप्रिय है। वह प्रेम, दया, सहानुभूति, एकता और अच्छाई की भावनाओं से भरपूर है।

लॉक का मत है कि सभी मानवीय क्रियाओं का स्रोत इच्छा है। जिस वस्तु से उसे आनंद प्राप्त होता है वह उसके लिए अच्छी है और जिससे उसे दुख का अनुभव होता है वह उसके लिए बुरी है। **लॉक** मानव की शांतिप्रिय एवं सामाजिक प्राणी मानता है।

(ख) प्राकृतिक अवस्था: लॉक प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करता है। वह मानता है कि प्राकृतिक अवस्था में राजनीतिक जागृति नहीं थी तो भी मनुष्य सामाजिक भावना से ओत-प्रोत था। वह अन्य मनुष्यों की उपस्थिति में प्रसन्नता अनुभव करता था। वह स्वार्थी तथा कलहप्रिय न था। लॉक के अनुसार उस समय मनुष्य की अत्यन्त अल्प आवश्यकताएँ थीं जिन्हें वह बड़ी सरलता से पूर्ण कर लेता था, इस समय उसे जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक अधिकार भी प्राप्त थे। सब मनुष्य बराबर थे और "जैसा व्यवहार दूसरों से अपने प्रति चाहते हो, उसी प्रकार दूसरों से व्यवहार करो।" यह नियम सर्वत्र प्रचलित था। इस कारण मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में सुखी था।

नोट

लॉक के अनुसार, यह सुखी जीवन बहुत दिनों तक नहीं चलता। धीरे-धीरे अनेक असुविधाएँ उत्पन्न होने लगीं। पहली असुविधा तो यह थी कि प्राकृतिक क़ानूनों की कोई निश्चित परिभाषा नहीं थी। दूसरे न्यायाधीशों की अनुपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने अभियोगों का निर्णय भी कर लेता था। तीसरे न्याय को लागू करने वाले शक्ति का भी अभाव था। इन कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्यों ने समझौता किया।

(ग) सामाजिक-समझौता: मनुष्यों ने आपस में मिलकर प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करने के लिए समझौता किया। इस समझौते के परिणामस्वरूप नागरिक समाज अर्थात् राज्य का निर्माण हुआ। इस नागरिक समाज या राज्य को मनुष्यों ने सारे अधिकार न देकर केवल प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या करने, न्याय करने तथा अपराधियों को दण्ड देने के अधिकार ही दिए जिससे उनके जीवन स्वतंत्रता व सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा हो सके। लॉक कहता है कि व्यक्ति क़ानून की व्याख्या अपने पक्ष में कर लेता था और अपने कार्यों को स्वयं ही न्यायाधीश के रूप में निर्णय कर लेता था जिससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती थी। उस काल में न्याय को कार्यान्वित करने वाली कोई भी शक्ति नहीं थी अत: मनुष्यों ने आपस में समझौता करके जिस नागरिक समाज अर्थात् राज्य का निर्माण किया उसे उन्होंने अपने इन्हीं अधिकारों को सौंप दिया। इस समझौते के माध्यम से उन्होंने अपने जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति के अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था की।

राज्य की प्रकृति, व्यक्ति के अधिकारों तथा उसके राजनीतिक दायित्वों का लॉक ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ **'टू ट्रीटाइजेज ऑन गवर्नमेंट'** (To Treatises on Government) में वर्णन किया है। उसके राजनीतिक चिंतन को निम्नलिखित प्रकार से रेखांकित किया जा सकता है–

1. राज्य एक नकारात्मक संस्था है–लॉक ने जिस राज्य का प्रतिपादन किया है उसका स्वरूप नकारात्मक है। वह राज्य को जनता की नैतिक व आर्थिक उन्नति का दायित्व नहीं देता। वह राज्य को सीमित कार्य प्रदान करता है। 'शांति व व्यवस्था की स्थापना बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना तथा न्यायालयों की व्यवस्था करना जिससे प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा संभव हो सके' जैसे सीमित अधिकार ही वह राज्य को देता है। जन कल्याण के कार्यों को उसने राज्य के कार्यक्षेत्र से बाहर रखकर नकारात्मक राज्य की संकल्पना प्रस्तुत की है।

2. राज्य व सरकार में भेद: लॉक ने दो समझौतों की व्यवस्था की है। **पहले** के अनुसार, जो मनुष्यों ने आपस में किया, एक नागरिक समाज अर्थात् राज्य की स्थापना हुई और दूसरे के अनुसार शासन या सरकार की स्थापना हुई। **दूसरा** समझौता जनता व शासक के बीच हुआ। इस प्रकार लॉक ने राज्य व सरकार में भेद किया है, जिसमें राज्य स्थायी है जबकि शासन अस्थायी है। सरकार राज्य की इच्छा को कार्यान्वित करने वाली एजेंसी है।

3. शासक को बदला जा सकता है: शासन की उत्पत्ति जिस समझौते के माध्यम से हुई है उसकी शर्तों की पूर्ति करना शासन का दायित्व है किन्तु उसका स्वरूप मर्यादित है। यदि शासक न्यायपूर्वक जनभावना के अनुसार कार्य नहीं करता तो उसे हटाकर नए शासक के हाथ में शक्ति देने का जनता को अधिकार है।

4. अंतिम शक्ति (प्रभुसत्ता) जनता में निहित है: लॉक अंतिम शक्ति अर्थात् प्रभुसत्ता को जनता में निहित कर देता है।

नोट्स शासन का कार्य मनुष्य के जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति जैसे महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना है। उसकी शक्तियों का आधार जनता की सहमति है। जनता ही सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न है।

5. शक्ति पृथक्करण सिद्धांत: लॉक ने शासन को तीन अंगों मे विभाजित करके शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत का समर्थन किया जिसमें विधायिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका अपना-अपना विशिष्ट कार्य करती हैं। इतना ही

नोट

नहीं, वह जन-इच्छा को अभिव्यक्त करने वाली विधायिका को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है और उसे कार्यपालिका से अधिक उच्च स्थान देता है।

3. जेरमी बेन्थम के विचार

जेरमी बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों पर डेविड ह्यूम तथा प्रीस्टले के विचारों का प्रभाव पड़ा था, किन्तु उपयोगितावाद को व्यवस्थित दर्शन का रूप देने का श्रेय जेरमी बेन्थम को ही है।

यद्यपि बेन्थम मूलत: उपयोगितावादी है किन्तु उसके उपयोगितावाद ने उदारवाद के सिद्धांतों का समर्थन किया। उसके दर्शन का आधार मानव हित है। वह कहता है कि मनुष्य अपनी दो मूल प्रवृत्तियों–सुख व दुख के अनुसार कार्य करता है। जिस काम से उसे सुख मिलता है, उसी को वह उपयोगी व हितकारक मानता है और जिस काम से उसे दुख मिलता है, उस काम से वह बचता है क्योंकि उसके लिए वह कष्टकारक, अहितकारक व अनुपयोगी होता है। इस प्रकार बेन्थम का विचार है कि मनुष्य के किसी काम को करने या न करने के पीछे ये ही दो प्रवृत्तियाँ–सुख की अनुभूति तथा दुख की अनुभूति, काम करती हैं। मनुष्य केवल उसी काम को करता है जिस काम के करने से उसको सुख मिलता है। इसके विपरीत, जिस काम के करने से उसे दुख मिलता है उस काम को करने से वह बचता है। **बेन्थम** के शब्दों में, "प्रकृति ने मानव समाज को दो सम्प्रभु स्वामियों–दुख व सुख के आधिपत्य में रखा है। इन स्वामियों का कर्तव्य है कि वे बताएँ कि हमें क्या करना चाहिए और यह निर्णय करें कि हम क्या करेंगे?"

बेन्थम ने राज्य व क़ानून की व्याख्या भी उपयोगिता के आधार पर की है। उसके लिए व्यक्ति का हित सर्वोपरि है। वह कहता है कि राज्य व कानून का महत्त्व उनकी सामाजिक उपयोगिता है। अत: राज्य का आधार व उसका आदर्श व उसके कार्य सामाजिक उपयोगिता पर आधारित हैं। राज्य व्यक्तियों का समूह है अत: उसका लक्ष्य 'अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम सुख' करना है, वह सुखमय जीवन की प्राप्ति के लिए गठित किया गया साधन हैं यही राज्य का औचित्य है। राज्य का कार्य ऐसे क़ानूनों का निर्माण करना है जो सुख देने वाले अर्थात् जनहित में होते हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि **बेन्थम** ने जिस उपयोगितावाद का प्रतिपादन किया उसके माध्यम से वह व्यक्तिवाद का समर्थक बन गया। उसके जिन विचारों से उदारवाद की पुष्टि होती है। उनको संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–

(*i*) व्यक्ति का सुख ही सर्वोपरि है;

(*ii*) राज्य का लक्ष्य अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख पहुँचाना है क्योंकि इसीलिए उसका निर्माण हुआ है;

(*iii*) अपने उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य को ऐसे क़ानून बनाने चाहिए जो व्यक्ति का अधिकाधिक हित करें। जनहित विरोधी क़ानूनों का उल्लंघन करना मनुष्य का नैतिक अधिकार है;

(*iv*) व्यापार में खुली प्रतियोगिता एक ओर उत्तम किस्म की वस्तुओं के निर्माण में सहायक है और दूसरी ओर इसमें वस्तुओं को कम कीमत पर प्राप्त किया जा सकता है।

4. हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार

स्पेन्सर उग्र व्यक्तिवादी था जिसने राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यन्त सीमित बनाने पर बल दिया। उसने अपने सम्पूर्ण राजनीतिक विचारों को वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में प्रतिपादित किया। उसने डार्विन के प्रकृति विज्ञान के विश्लेषण को मान्यता दी जिसके अनुसार प्रकृति में निरंतर संघर्ष चलता रहता है। प्रकृति में विभिन्न प्राणी जीवित रहने के साधनों का उपयोग करना चाहते हैं अत: उनमें संघर्ष होता है। इस संघर्ष में केवल शक्तिशाली ही जीवित रहता है और वह साधनों का उपभोग करता है। डार्विन के इस दृष्टिकोण का कि प्रकृति में होने वाले संघर्ष में केवल योग्य प्राणी

नोट

जीवित रहता है और अयोग्य नष्ट हो जाता है, स्पेन्सर ने सामाजिक जीवन में उपयोग किया और सिद्ध किया समाज में भी निरंतर संघर्ष होता रहता है और प्राकृतिक नियमों के अनुसार इसमें **'योग्यता की विजय'** (Survival of the fittest) अर्थात् योग्य व शक्तिशाली व्यक्ति का विजयी होना और अयोग्य व शक्तिहीन व्यक्ति का नष्ट होना अवश्यम्भावी है। इस आधार पर स्पेन्सर ने स्पष्ट किया कि प्रकृति के कार्य में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में अवरोध उत्पन्न होता है।

स्पेन्सर राज्य को आवश्यक बुराई मानता है, वह बुराई से पैदा हुआ है। वह अकल्याणकारी संस्था है। अत: यदि राज्य व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों में हस्तक्षेप करेगा तो उससे बुराई पैदा होगी और मानव समाज का विकास बन्द हो जाएगा। राज्य का काम केवल यह देखना है कि समाज के विभिन्न व्यक्तियों को प्रकृति के अनुसार व्यवहार करने की स्वतंत्रता मिल रही है या नहीं। अत: राज्य का कार्य व्यक्ति के विकास के मार्ग की बाधाओं को दूर करना है।

स्पेन्सर का कहना है कि राज्य की प्रकृति व्यक्ति का अहित करने की है अत: उसको शिक्षा स्वास्थ्य, दरिद्रों की सहायता, दुर्बल वर्ग की सुरक्षा आदि के कार्य नहीं दिए जा सकते। वह राज्य को निषेधात्मक कार्य देने के पक्ष में है अर्थात् राज्य का कार्यक्षेत्र केवल समाज की बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना, आंतरिक संघर्ष व लूटमार से बचाव करने तक ही सीमित है।

स्पेन्सर ने **'योग्यतम की विजय'** के सिद्धांत को आर्थिक क्षेत्र में भी लागू किया। वह कहता है कि उद्योग व व्यापार स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा के सिद्धांत पर चलने चाहिए। राज्य को उनके प्राकृतिक विकास में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्राप्ति तथा स्वायत्त आर्थिक संस्थाओं के विकास में राज्य के नियंत्रण या हस्तक्षेप का उसने विरोध किया। वह राज्य को निम्नलिखित तीन काम देने के पक्ष में है–

(*i*) विदेशी शत्रुओं से रक्षा करना।

(*ii*) आंतरिक शांति व व्यवस्था स्थापित करना,

(*iii*) वैध समझौतों को लागू करना।

बीसवीं शताब्दी में भी कुछ नकारात्मक उदारवादी उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने कल्याणकारी राज्यों के कार्यों को अत्यधिक सीमित कर देने की वकालत की है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य/असत्य बताइए(State whether the following Statements are True/ False)–

7. राज्य की उत्पत्ति को लेकर प्राचीनकाल से ही विवाद है।
8. 'टू ट्रीटाइजेज ऑन गवर्नमेंट' पुस्तक जॉन लॉक ने लिखी है।
9. बेन्थम ने राज्य व क़ानून की व्याख्या भी उपयोगिता के आधार पर की है।

3.2 सारांश (Summary)

- हिन्दी में राज्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। फ्रांस, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, भारत आदि राज्य कहे जाते हैं। पर साथ ही न्यूयार्क, कैलिफोर्निया आदि जो प्रान्त संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत हैं, वे भी राज्य कहलाते हैं।
- समाजवादियों के मत में राज्य का आधार वर्ग-व्यवस्था ही है। क्योंकि समाज में अनेक वर्ग हैं, और इन वर्गों के हितों में विरोध रहता है, अत: राज्य केवल उस वर्ग के हितों का साधन करता है, जिसके हाथों में शक्ति हो।

नोट

- जो लोग राज्य को एक वर्ग-संगठन मानते हैं, वे भी यही प्रतिपादित करते हैं कि राज्य में एक ऐसा शक्तिशाली वर्ग रहता है जो अन्य वर्गों का शोषण करता है और उन्हें अपने हित के लिये प्रयुक्त करता है।
- जो लोग किसी एक ही प्रदेश में एक साथ रहते हैं, धीरे-धीरे उनमें परस्पर संबध बढ़ता जाता है और वे अपने को एक समझने लगते हैं। राष्ट्रीय एकता की अनुभूति के लिये भौगोलिक एकता आवश्यक होती है।
- मशीन युग के कारण विशाल पैमाने पर उत्पादन प्रारंभ हो गया नए बाज़ार में इस माल को बेचने तथा मुनाफा कमाने के लिए उत्पादकों ने अपने अधिकारों की माँग की।
- औद्योगिक क्रांति के काल में स्मिथ ने तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति के आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया।
- मनुष्यों ने आपस में मिलकर प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करने के लिए समझौता किया। इस समझौते के परिणामस्वरूप नागरिक समाज अर्थात् राज्य का निर्माण हुआ।
- प्रकृति में विभिन्न प्राणी जीवित रहने के साधनों का उपयोग करना चाहते हैं अत: उनमें संघर्ष होता है। इस संघर्ष में केवल शक्तिशाली ही जीवित रहता है और वह साधनों का उपभोग करता है।

3.3 शब्दकोश (Keywords)

1. उत्पत्ति (Origin): जन्म, उद्गम।
2. प्रतिपादित (Stated, represented): जिसका प्रतिपादन हो चुका हो, निर्धारित, निश्चित।

3.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. राज्य से आप क्या समझते हैं?
2. राज्य में आवश्यक तत्वों का वर्णन कीजिए।
3. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 1917	2. मुसोलिनी	3. स्थायी
4. (द)	5. (स)	6. (स)
7. सत्य	8. सत्य	9. सत्य

3.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. द पॉलिटिकल थ्योरी–आर.के. परूथी।
2. आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त–एस. पी. वर्मा, विकास पब्लीशिंग हाऊस।

नोट

इकाई–4 : प्रभुसत्ता (Sovereignty)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 प्रभुसत्ता की अवधारणा (Concept of Sovereignty)

4.1.1 प्रभुसत्ता की अवधारणा का मूल्यांकन (Evaluation of the Concept of Sovereignty)

4.2 प्रभुसत्ता का कानूनी दृष्टिकोण (Legal Sovereignty)

4.3 प्रभुसत्ता पर ऑस्टिन के विचार (Austin's Theory of Sovereignty)

4.4 बाह्य प्रभुसत्ता-कुछ समकालीन समस्यायें (External Sovereignty—Some Contemporary Problems)

4.5 सारांश (Summary)

4.6 शब्दकोश (Keywords)

4.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

4.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- प्रभुसत्ता की अवधारणा समझने हेतु।
- प्रभुसत्ता की अवधारणा का मूल्यांकन करने हेतु।
- प्रभुसत्ता पर क़ानूनी दृष्टिकोण को समझने हेतु।
- प्रभुसत्ता पर ऑस्टिन के विचार जानने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक राज्य प्रभुसत्ता संपन्न राज्य हैं। राज्य की क़ानूनी धारणा के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य का आवश्यक तत्व है जिसके अभाव में किसी मानवीय समुदाय को राज्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उदारवादी दृष्टिकोण के अनुसार, राजनीति समाज में संघर्षों को सीमित करने और विवादों को हल करके सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने और तालमेल बिठाने की प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया राज्य अथवा राजनीतिक व्यवस्था (Political System) द्वारा संभव होती है। प्रभुसत्ता से अभिप्राय उस न्यायोचित सत्ता से है जिसके माध्यम से राज्य राजनीतिक प्रक्रिया संपन्न करने में सफल होता है। साधारण भाषा में प्रभुसत्ता का अर्थ है सर्वोच्च सत्ता अर्थात् एक ऐसी सत्ता जिसके ऊपर कोई और सत्ता न हो। किसी भी राज्य के अस्तित्व के लिये एकसूत्रता एक महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है, अर्थात् राज्य की जनसंख्या एक और केवल एक ही सत्ता की आज्ञाओं का पालन करे। लोगों से आज्ञापालन कराने वाली शक्ति विभाजित न हो। प्रभुसत्ता वास्तव में इस एकसूत्रता तथा अविभाज्यता का प्रतिनिधित्व करती है। यह वह सत्ता है जो आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टिकोणों से सर्वोच्च और स्वतन्त्र होती है।

4.1 प्रभुसत्ता की अवधारणा (Concept of Sovereignty)

प्रभुसत्ता के अर्थ को लेकर पश्चिम के राजनीतिक विचारकों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। प्रभुसत्ता समाज की सर्वोच्च शक्ति मानी जाती है–एक ऐसी उच्च और नियंत्रणहीन शक्ति जो सभी व्यक्तियों, वस्तुओं, समुदायों, वर्गों में राज्य को इस सर्वोच्च शक्ति का धारक माना जाता है। प्रभुसत्ता की परिभाषा राजनीति के कई विद्वानों ने की है। बोदां के अनुसार, प्रभुसत्ता 'नागरिकों और शासितों के ऊपर ऐसी शक्ति है जिस पर क़ानून के कोई बंधन नहीं होते।' ग्रोशियस के अनुसार, 'प्रभुसत्ता उस व्यक्ति की सर्वोच्च शक्ति है जिसके कार्य किसी अन्य के अधीन नहीं होते और जिसकी इच्छा कोई नहीं टाल सकता। यह शासन करने की नैतिक शक्ति है।' ब्लेकस्टोन के अनुसार, 'प्रभुसत्ता वह अनिवार्य, सर्वोच्च और अनियंत्रित शक्ति है जिसमें सर्वोच्च कानूनी शक्ति निवास करती है।' जेलिनेक के अनुसार 'प्रभुसत्ता राज्य का वह गुण है जिसके कारण यह अपनी इच्छा के अलावा किसी दूसरी इच्छा या बाहरी आदेशों से बाध्य नहीं है।' पोलोक के अनुसार, 'प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी होती है और न ही किसी के द्वारा दी गई होती है; न ही वह ऐसे नियमों को मानती है जिन्हें यह बदल न सके और न ही यह पृथ्वी पर किसी दूसरी शक्ति के प्रति उत्तरदायी होती है।' वुडरो विल्सन के अनुसार, 'प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो सदा सक्रिय रहकर क़ानून बनाती है और उसका पालन करवाती है।' विलोबी के अनुसार, 'प्रभुसत्ता राज्य राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।' बर्गेस के अनुसार, 'प्रभुसत्ता जनता तथा जनता के सभी संगठनों के ऊपर मौलिक, निरंकुश और असीमित शक्ति है।' इसके अतिरिक्त, ऑस्टिन गार्नर, लास्की, गैटल, गिल्क्राईस्ट आदि ने भी प्रभुसत्ता को मुख्यत: इसी तरह परिभाषित किया है।

प्रभुसत्ता के दो पक्ष हैं: आंतरिक (Internal) तथा बाह्य (External)। आन्तरिक प्रभुसत्ता से अभिप्राय होता है किसी राज्य द्वारा एक निश्चित भूमि पर रहने वाले लोगों के लिये क़ानून बनाकर उन्हें लागू करने और आज्ञायें मनवाने की योग्यता और शक्ति। बाह्य प्रभुसत्ता से अभिप्राय वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून द्वारा किसी राज्य के निश्चित भूमि पर सर्वोच्च अधिकार को मान्यता देना है। इसका अर्थ है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों में वह राज्य उस निश्चित भूमि के लिये जवाबदेह है। बाह्य प्रभुसत्ता इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध बनाने और विकसित करने का सर्वोच्च अधिकार चाहता है। जैसे-जैसे समकालीन राज्य अन्योन्याश्रित होते जा रहे हैं, बाह्य प्रभुसत्ता का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। बाह्य प्रभुसत्ता का दावा करने का अर्थ है दूसरे राज्यों को चेतावनी देना कि वे किसी राज्य के मामलों में हस्तक्षेप न करें। परन्तु जैसा कि इस अध्याय में स्पष्ट किया जायेगा, आज किसी भी राज्य का आन्तरिक एवं बाह्य घटनाओं पर पूर्ण नियंत्रण नहीं है, हालांकि इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रभुसत्ता का महत्त्व समाप्त हो गया है।

नोट

4.1.1 प्रभुसत्ता की अवधारणा का मूल्यांकन (Evaluation of the Concept of Sovereignty)

किसी एक निश्चित भूमि पर सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रभुसत्ता की धारणा एक आधुनिक विचार है और इसकी उत्पत्ति वास्तव में आधुनिक राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ जुड़ी हुई है। परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्राचीन और मध्ययुग इस धारणा से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। अभिप्राय केवल इतना है कि जिस संदर्भ में आज प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है उस पर पहले कोई विशेष बल नहीं दिया जाता था। सर्वोच्च सत्ता का संकेत देने के लिए इस शब्द का प्रयोग भी नहीं किया जाता था। प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा का विकास तीन चरणों में हुआ: (*i*) इसकी उत्पत्ति प्राचीन प्रथाओं और मध्ययुग में प्रयुक्त क्लिष्ट सामग्री के संयोग से हुई, (*ii*) आधुनिक युग के शुरू के निरंकुश राजाओं ने इसका प्रयोग किया तथा (*iii*) 1688 में इंग्लैंड में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के बाद प्रभुसत्ता की धारणा की पुनर्व्याख्या बार-बार होती रही।

प्राचीन यूनान के नगर-राज्य आत्म-निर्भर, स्वतंत्र और स्वाधीन थे। सभी नगर-राज्य राजा की सत्ता के अलावा 'संपूर्ण समुदाय की सर्वोच्च सत्ता' से भी परिचित थे। कानून को वे अपना स्वामी मानते थे। अरस्तु ने अपनी पुस्तक *'पॉलिटिक्स'* (Politics) में राज्यों का वर्गीकरण सर्वोच्च सत्ता की स्थिति के आधार पर किया अर्थात् उसके अनुसार सरकार का स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में है, कुछ व्यक्तियों के हाथ में है या बहुसंख्यक वर्ग के हाथ में है। रोमन राज्यों में जनता को सर्वोच्च सत्ता का स्रोत माना जाता था और शासक अपनी शक्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए जनता की इच्छा का हवाला देते थे। परंतु प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा का बीजारोपण मध्यकालीन सामंतवादी व्यवस्था के अंतर्गत हुआ। राज्य के विकास में 'निश्चित भूमि' के विचार की तरह प्रभुसत्ता की धारणा भी सामंतवाद की देन है क्योंकि सामंतवाद के स्तरित श्रेणीक्रम (hierarchical pattern) में प्रत्येक सत्ताधारी अपने क्षेत्र में अधिराज (suzerain) होता था। प्रभुसत्ता से अभिप्राय था इन अधिराजों पर आधिपत्य (overlordship) जबकि अधिराज से अभिप्राय ऐसी सत्ता से था जो अपने ऊपर एक अन्य सत्ता को स्वीकार करती है। इस तरह सत्ता के अंतिम स्तर को प्रभुसत्ता की संज्ञा दी जाने लगी। आधुनिक राष्ट्र-राज्य के उदय से सामंतवादी ढांचे के पतन के परिणामस्वरूप राजा प्रभुसत्ताधारी बन गया। अत: आधुनिक प्रभुसत्ता की धारणा इतिहास की देन है। दूसरे शब्दों में, सर्वोच्च सत्ता (supreme power) की धारणा प्राचीन थी जबकि क्षेत्रीय आधिपत्य (territorial overlordship) की धारणा मध्यकालीन थी। सर्वोच्च सत्ता की ग्रीक धारणा और क्षेत्रीय आधिपत्य की मध्यकालीन धारणा के मिश्रण से आधुनिक प्रभुसत्ता की धारणा का विकास हुआ।

इसके अलावा मध्यकाल के धार्मिक श्रेणीक्रम में भी प्रभुसत्ता की झलक मिलती है। ब्राइस के अनुसार, धार्मिक मठों के प्रमुख भी प्रभुसत्ताधारी कहलाते थे। गीरक के अनुसार, ईसाई साम्राज्य में पोप के सर्वोच्च शक्ति के रूप में उदय के साथ-साथ सर्वशक्तिमान राजतंत्र के विचार ने भी जन्म लिया।

क्या आप जानते हैं पोप के आधिपत्य से सम्राट की सत्ता परछाईं मात्र रह गई थी और इंग्लैंड, फ्रांस तथा स्पेन के राजा पोप के मातहत बनकर रह गए थे।

परंतु जैसे ही राजाओं की शक्ति बढ़ी, राजा और पोप के बीच युद्ध के बाद प्रभुसत्ता की धारणा का विकास हुआ। 'फिलिप्स द फेयर' और 'बैबेरिया के लुई' इस आंदोलन के अग्रणी थे। राष्ट्र-राज्यों के राजा सम्राट के नाम से पुकारे जाने लगे। राजा की इस शक्ति के सैद्धांतिक समर्थकों की भी कमी नहीं थी। मारसिलियस तथा मैक्यावली ने राष्ट्र-राज्यों के पक्ष का समर्थन किया। बोदां और हॉब्स ने इसे व्यवस्थित सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया। बाद में आने वाले राजनीतिक दार्शनिक समय और परिस्थितियों के अनुसार इसकी पुनर्व्याख्या करते रहे।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. राज्य की ..... अवधारणा के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य का आवश्यक तत्व है।
2. प्रभुसत्ता के दो पक्ष हैं आंतरिक तथा .....।
3. क्षेत्रीय आधिपत्य की धारणा ..... थी।

4.2 प्रभुसत्ता का कानूनी दृष्टिकोण (Legal Sovereignty)

प्रभुसत्ता का कानूनी दृष्टिकोण सबसे पहले बोदां और हॉब्स ने स्पष्ट किया और बाद में बैंथम और ऑस्टिन ने इसकी विस्तृत व्याख्या की। बोदां ने फ्रांस के राजा में एक निरंकुश सम्राट का रूप देखा जिससे फ्रांस की जनता सुरक्षा की उम्मीद रख सकती थी और जो फ्रांस की एकता का प्रतीक एवं साधन था। बोदां के अनुसार, क़ानून के निर्माता और प्रवर्तक के रूप में राजा सर्वोच्च था। अत: उसके अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए ईश्वरीय क़ानून की सहायता की आवश्यकता नहीं थी। राजा की सर्वोच्चता एक प्रमाणित तथ्य थी। ब्राइस के अनुसार, बोदां द्वारा दी गई इस व्याख्या के कई अन्य कारण भी थे, जैसे राजा का एक सर्वव्यापक प्रभुसत्ताधारी के रूप में स्थापित होना; पुनर्जागरण और सुधारवादी आंदोलन के परिणामस्वरूप पोप की शक्ति का ह्रास; व्यापारी-वर्ग के उदय से सामंतवादी ढांचे का पतन आदि। बोदां ने इन परिस्थितियों को उपयुक्त ढांचे में बिठाया और प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्रभुसत्ता से उसका अभिप्राय था 'नागरिकों और शासितों पर वह सर्वोच्च सत्ता जो क़ानून द्वारा प्रतिबंधित नहीं होती।' यह निरंकुश सत्ता कानून का स्रोत है परंतु स्वयं इन कानूनों से बंधी हुई नहीं है। प्रभुसत्ता शाश्वत होती है क्योंकि राज्य की एकता और स्थायित्व की यही एक विशेषता है। प्रभुसत्ता किसी भी उच्चतर क़ानून निर्माता से स्वतन्त्र होनी चाहिए। युद्ध और शांति की घोषणा प्रभुसत्ताधारी करता है। न्याय का अंतिम निर्णायक वही है देशद्रोह को केवल वही माफ कर सकता है। सभी करों को लगाने वाला, मुद्रा चलाने वाला और राज्य की नीतियों का अंतिम निर्णायक भी वही होता है।

यद्यपि प्रभुसत्ताधारी अपने बनाए हुए कानूनों से ऊपर है, तथापि वह सभी क़ानूनों से ऊपर नहीं होता। बोदां के अनुसार, प्रभुसत्ताधारी ईश्वरीय कानूनों, प्रकृति के कानूनों और राष्ट्रों के कानूनों (अंतर्राष्ट्रीय क़ानून) के आधीन होना चाहिए। इस तरह बोदां ने प्रभुसत्ताधारी के ऊपर नैतिक प्रतिबंध स्वीकार किए। इसके अलावा प्रभुसत्ताधारी अपने नागरिकों और अन्य राज्यों के साथ की गई संधियों और समझौतों से भी बंधा होता है। वह अपने राज्य के मौलिक कानूनों से भी बंधा है और अपने नागरिकों की संपत्ति मनमर्जी से नहीं छीन सकता। संक्षेप में, बोदां ने प्रभुसत्ता के शुद्ध कानूनी दृष्टिकोण को नैतिक और राजनीतिक विचारों के साथ उलझा दिया।

प्रभुसत्ता की स्पष्ट, तर्कसंगत और सटीक अभिव्यक्ति का श्रेय टॉमस हॉब्स को जाता है। हॉब्स ने अपने सिद्धांत में नैतिकता को कोई स्थान नहीं दिया। जैसा कि हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते के सिद्धांत से स्पष्ट है, समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को शासित करने का अधिकार बिना किसी शर्त के एक व्यक्ति अथवा 'व्यक्ति समूह' को सौंप देता है तथा वह व्यक्ति अथवा 'व्यक्ति समूह', जिसे शक्तियां सौंपी गई हैं, समझौते का भाग नहीं है। अत: प्रभुसत्ताधारी केवल निरंकुश ही नहीं है बल्कि वह अनुत्तरदायी भी है और वह किसी मानवीय अथवा ईश्वरीय क़ानून से भी नहीं बंधा है। प्रभुसत्ताधारी की इच्छा ही क़ानून है। क़ानून की दृष्टि से प्रभुसत्ता की सर्वव्यापकता में हॉब्स ने किसी प्रकार की शंका प्रकट नहीं की। प्रभुसत्ताधारी के अधिकारों का वर्णन करते हुए हॉब्स लिखता है कि प्रजा सरकार का स्वरूप नहीं बदल सकती और न ही प्रभुसत्ताधारी की शक्ति वापस ली जा सकती

नोट

है। कोई व्यक्ति प्रभुसत्ताधारी की स्थापना का विरोध नहीं कर सकता। यदि अधिकतर लोगों ने एक व्यक्ति की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया हो तो अल्पमत को भी उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। प्रभुसत्ताधारी की गतिविधियों पर किसी भी तरह की उंगली नहीं उठाई जा सकती। राज्य द्वारा शांति और सुरक्षा के लिए किए जाने वाले कार्यों का निर्णायक केवल प्रभुसत्ताधारी है। प्रजा को दी जाने वाली शिक्षा और विचारों का भी वही निर्णायक है क्योंकि शांति और सुरक्षा जनमत को नियंत्रित करके ही स्थापित की जा सकती है। इसी तरह मर्यादा के नियमों तथा समाज में अच्छाई-बुराई वैधता, अवैधता आदि से संबंधित नागरिक क़ानूनों की पूरी शक्ति भी उसी के पास है। सभी प्रकार के नागरिक तथा प्राकृतिक क़ानूनों का अंतिम निर्णायक केवल प्रभुसत्ताधारी है। दूसरे देशों के साथ युद्ध और शांति की घोषणा करने का अधिकार तथा सेनाओं की भरती, भत्ते तथा युद्ध के लिए कर लगाने का अधिकार भी प्रभुसत्ताधारी के पास है। इसी तरह प्रशासन के अधिकारी तथा मंत्री चुनने का अधिकार तथा प्रजा को न्याय अथवा सजा देने का अधिकार भी प्रभुसत्ताधारी को ही है।

हॉब्स के अनुसार, उपयुक्त अधिकार प्रभुसत्ता के सार हैं और ये अधिकार अविभाज्य और अदेय हैं क्योंकि इनका विभाजन राज्य का विभाजन होगा। संक्षेप में, **प्रभुसत्ता प्रत्येक राज्य के लिए अनिवार्य है। यह अविभाज्य और असीम है। प्रभुसत्ता के अभाव में शांति और अच्छी सरकार असंभव है। चर्च भी प्रभुसत्ताधारी के अधीन है। प्रभुसत्ता, निरंकुश, सर्वशक्तिमान, स्थायी और अहस्तांतरणीय है। सीमित प्रभुसत्ता अपने-आपमें एक विरोधाभास है।**

हॉब्स के बाद समय और परिस्थितियों के अनुरूप प्रभुसत्ता की पुनर्व्याख्या तब तक होती रही जब तक कि बैंथम ने इसे स्पष्ट नहीं किया।

नोट्स बैंथम ने प्रभुसत्ता को क़ानून बनाने की सर्वोच्च शक्ति के रूप में परिभाषित किया। बैंथम ने इस बात पर बल दिया कि क़ानून का स्रोत 'प्राकृतिक क़ानून' न होकर राज्य की प्रभुसत्ता है।

4.3 प्रभुसत्ता पर ऑस्टिन के विचार (Austin's Theory of Sovereignty)

जॉन ऑस्टिन (John Austin) ने प्रभुसत्ता के क़ानूनी सिद्धांत की सबसे स्पष्ट व्याख्या की। ऑस्टिन एक विधिवेत्ता था, अत: उसके विश्लेषण और स्पष्टीकरण में नैतिकता और ऐतिहासिक तत्वों का कोई स्थान नहीं है। प्रभुसत्ता की व्याख्या करते हुए ऑस्टिन अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स ऑन जूरिसप्रूडेंस' (*Lectures on Jurisprudence*) में लिखता है:

'यदि कोई निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति, जो ऐसे ही किसी श्रेष्ठ व्यक्ति की आज्ञापालन करने का आदी नहीं है, समाज के बहुत बड़े भाग से अपनी आज्ञा का पालन सहज रूप से करा लेता है तो वह निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति प्रभुसत्ताधारी है और वह समाज (श्रेष्ठ व्यक्ति समेत) राजनीतिक और स्वतंत्र है। कानून प्रभुसत्ताधारी का आदेश है, एक ऐसा आदेश जो एक उच्च व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्ति को दिया जाता है। समाज के सभी अन्य सदस्यों की स्थिति पराधीनता अथवा पराश्रितता की है। प्रत्येक क़ानून का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्माता प्रभुसत्ताधारी है।'

आस्टिन के उपर्युक्त कथन की व्याख्या इस तरह की जा सकती है:

1. प्रभुसत्ता के दृष्टिकोण से समाज में एक निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति का होना अनिवार्य है। अर्थात् 'प्राकृतिक क़ानून' या 'सामान्य इच्छा' जैसी अमूर्त धारणाएं प्रभुसत्ता नहीं हो सकती। प्रभुसत्ताधारी निश्चित और जीता

नोट

जागता इन्सान होना चाहिए ताकि लोग उसकी सर्वोच्च शक्ति को पहचान सकें जो उन्हें सुरक्षा प्रदान करती है। क़ानून के दृष्टिकोण से एक साकार और स्पष्ट व्यक्तित्व का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, ईश्वरीय प्रभुसत्ता का यहां कोई स्थान नहीं है। प्रभुसत्ता का संबंध मनुष्यों से है, अत: राज्य की गतिविधियों का उपयुक्त विषय मानवीय क़ानून है, ईश्वर के क़ानून नहीं।

2. यह श्रेष्ठ व्यक्ति किसी दूसरे श्रेष्ठ व्यक्ति के अधीन नहीं होना चाहिए। अर्थात् समुदाय की सर्वोच्च शक्ति ऐसी स्थिति में नहीं होनी चाहिए कि उसे किसी अन्य शक्ति की आज्ञाओं का पालन करना पड़े।
3. इस श्रेष्ठ व्यक्ति को समाज के बहुत बड़े भाग की आज्ञाकारिता प्राप्त होनी चाहिए अर्थात्, समाज का एक बड़ा भाग स्वभाव रूप से प्रभुसत्ताधारी की आज्ञाओं का पालन करता हो। किसी व्यक्ति द्वारा अस्थायी तौर पर शक्ति प्राप्त कर लेना उसे प्रभुसत्ताधारी नहीं बना देता। आज्ञापालन निरंतर, नियमित, स्थायी और स्वभाववश होना चाहिए।
4. प्रभुसत्ताधारी का आदेश क़ानून है और जो आदेश उसके द्वारा नहीं दिया गया अथवा जिसकी अनुमति नहीं दी गई, वह क़ानून नहीं है। प्रभुसत्ताधारी के अभाव में क़ानून-निर्माण असंभव है।
5. प्रभुसत्ता असीमित है और वह किसी भी प्रकार के अवरोध सहन नहीं कर सकती।
6. प्रभुसत्ता अविभाज्य भी है अर्थात् इसे कोई बांट नहीं सकता। यह सर्वोच्च, अदेय, सर्वव्याप्त तथा एकान्वित शक्ति है।

कानूनी प्रभुसत्ता की आलोचना (Criticism of Legal Sovereignty)

शुद्ध क़ानूनी दृष्टिकोण से ऑस्टिन का सिद्धान्त प्रभुसत्ता का स्पष्ट विश्लेषण है। परन्तु आधुनिक राज्य की राजनीतिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में यह सिद्धान्त अत्यधिक सीमित है। इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जा सकती है:

(1) ब्राईस के अनुसार, ऑस्टिन ने हमें प्रभुसत्ता का ऐसा सिद्धांत प्रदान किया है जो आधुनिक राज्यों से काफी दूर है। यह सिद्धांत केवल दो प्रकार के राज्यों पर लागू हो सकता है: सर्वशक्तिमान विधानमंडल वाले राज्य जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन या सर्वशक्तिमान निरंकुश राजाओं वाले शासन जैसे कि ज़ार युगीन रूस। आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में जो लिखित संविधानों द्वारा शासित होते हैं और जहाँ राजनीतिक सत्ता विकेन्द्रित होती है, वहाँ ऑस्टिन की परिभाषा के अनुसार निश्चित श्रेष्ठ, साकार व्यक्तित्व के रूप में कोई प्रभुसत्ताधारी देखने को नहीं मिलता। इंग्लैण्ड की राजनीतिक संस्थाओं के विश्लेषण में भी ऑस्टिन सैद्धांतिक दृष्टिकोण से गलत था क्योंकि इंग्लैण्ड की संसद में प्रभुसत्ता 'संसदस्थ राजा' (King-in-Parliament) में होती है, जिसका अर्थ है: राजा, हाउस ऑफ कॉमन्स तथा हाउस ऑफ लॉर्ड्स। इसी तरह ऑस्टिन का सिद्धांत संघ सरकारों में भी असफल हो जाता है क्योंकि उसके सिद्धांत के अनुसार अमरीका में न तो राष्ट्रपति प्रभुसत्ताधारी है, न ही विधानमंडल। वहाँ पर केवल संविधान में संशोधन करने वाली सत्ता ही प्रभुसत्ताधारी हो सकती है। परंतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐसे राज्यों में हालांकि एक निश्चित प्रभुसत्ताधारी को ढूंढ़ना मुश्किल है तथापि इसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। संघ राज्यों में भी अपील के अंतिम स्रोत के रूप में सर्वोच्च सत्ता को ढूंढ़ना सम्भव है।

सर हेनरी मेन के अनुसार, ऑस्टिन का सिद्धांत विकासशील और अविकसित देशों पर लागू नहीं होता क्योंकि ऑस्टिन ने कानून की जो परिभाषा दी-कि कानून प्रभुसत्ताधारी का आदेश है–वह तथ्यों के अनुरूप नहीं है। इन राज्यों में क़ानून का आधार प्रथाएँ और रीति-रिवाज होते हैं जो प्रभुसत्ताधारी के आदेश न होकर समाज की सामूहिक चेतना का परिणाम होते हैं जिनके अधीन प्रभुसत्ताधारी भी होता है और जिन्हें वह आसानी से बदल नहीं सकता। अत: ऑस्टिन की परिभाषा की उलझन और कठिनाई क़ानूनी दृष्टिकोण से प्रभुसत्ता के निवास को लेकर है और

नोट

यह समस्या तब तक हल नहीं हो सकती जब तक प्रभुसत्ता को ऐतिहासिक और राजनीतिक पहलुओं से न देखा जाए।

(2) ऑस्टिन के सिद्धांत की दूसरी आलोचना इसकी क़ानून की परिभाषा को लेकर है। ऑस्टिन के अनुसार, निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति काननू-निर्माता है और उसके आदेश ही क़ानून हैं। रीति-रिवाजों और प्रथाओं के संबंध में ऑस्टिन का विचार था कि जिन्हें प्रभुसत्ताधारी अनुमति दे देता है, वे भी आदेश कहलाते हैं। ऑस्टिन का सिद्धांत उस सीमा तक गलत है जहाँ तक वह सभी कानूनों को आदेश मानता है और केवल शक्ति के तत्व पर अत्यधिक बल देता है। प्रभुसत्ताधारी की सर्वोच्चता केवल सुनिश्चित विधिकृत क़ानूनों के लिए ही हो सकती है। समाज में केवल वही कानून का निर्माता नहीं हो सकता। द्युग्वी के अनुसार, राज्य कानून का निर्माण नहीं करता बल्कि कानून राज्य का निर्माण करता है। क़ानून का पालन इसलिये नहीं होता कि यह प्रभुसत्ताधारी का आदेश है बल्कि इसलिये होता है कि यह सामाजिक एकता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। इसी तरह क्रैब ने भी क़ानून का औचित्य 'आदेश' में न पाकर सामाजिक समुदाय की 'न्याय की भावना' में पाया। ऑस्टिन का सिद्धांत केवल 'आदेश' पर बल देता है, यह उन आदेशों के पीछे की वास्तविकताओं की जांच पड़ताल नहीं करता। कानून सामाजिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति होते हैं और इन्हें केवल आदेश मात्र समझना कानून की परिभाषा को बहुत संकुचित कर देना है। इसी तरह अविकसित राज्य और साम्राज्य भी कर उगाहने और युद्धों के लिए सैनिक नियुक्त करने के अभिकरण मात्र थे। सुनिश्चित क़ानूनों को न तो वे आरोपित करते थे और न ही न्यायपालिका रीति-रिवाजों की व्याख्या करती थी। इन राज्यों में सत्ता अनिश्चित होती थी और किसी व्यक्ति-विशेष में निवास भी नहीं करती थी।

(3) क़ानूनी प्रभुसत्ता की एक अन्य आलोचना इसकी निरंकुशता की विशेषता से सम्बन्धित है। ऑस्टिन के अनुसार, प्रभुसत्ता निरंकुश तथा असीम है। यह किसी भी प्रकार की सीमाएँ अथवा प्रतिबंध स्वीकार नहीं करती। परंतु इसके आलोचकों के अनुसार, प्रभुसत्ताधारी राजनीतिक और ऐतिहासिक सीमाओं से बँधा होता है। कोई भी राज्य सर्वशक्तिमान नहीं होता। प्रत्येक राज्य आंतरिक स्तर पर अपनी प्रजा के अधिकारों तथा बाह्य दृष्टिकोण से दूसरे देशों के साथ की गई संधियों द्वारा सीमित होता है। इसके अलावा, प्रभुसत्ताधारी पर रीति-रिवाजों तथा समाज के अन्य कई प्रकार के प्रभावों एवं दबावों की सीमाएँ होती हैं। जिन्हें 'राजनीतिक प्रभुसत्ता' का नाम दिया जाता है (इसका वर्णन आगे वाले पृष्ठों में मिलेगा)। ऑस्टिन अपने सिद्धान्त में परम्परागत क़ानूनों (customary laws) को (जिन्हें राज्य नहीं बनाता) कोई महत्त्व नहीं देता। परन्तु सच यह है कि एक निरंकुश तानाशाह भी समाज के महत्त्वपूर्ण रीति-रिवाजों को समाप्त करने के लिये आदेश नहीं दे सकता, इस डर से कि कहीं उसकी आज्ञा का उल्लंघन न हो जाये।

इसी तरह, बाह्य दृष्टिकोण से प्रभुसत्ताधारी दूसरे देशों के साथ की गई सन्धियों का पालन करने के लिये बाध्य होता है। परंतु इस संदर्भ में ऑस्टिन का विचार था कि ऐसी सीमाएँ क़ानूनी न होकर नैतिक तथा आत्मआरोपित होती है; क़ानून के दृष्टिकोण से राज्य सर्वशक्तिमान ही होता है।

ऑस्टिन ने रीति-रिवाजों के महत्त्व अथवा अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया। परन्तु उसका बल इस तथ्य पर था कि कुशल प्रशासन के लिये शक्ति एक सत्ता में केन्द्रित होनी चाहिए और समाज के अधिकतर लोगों को स्वभाव रूप से आज्ञापालन करना चाहिए। वास्तव में ऑस्टिन का मुख्य उद्देश्य क़ानून और नैतिकता तथा औपचारिक क़ानून और रीति-रिवाजों में अंतर स्पष्ट करना था। क़ानून की परिभाषा कठोर होते हुए भी प्रतिक्रियावादी सामाजिक रीति-रिवाजों पर एक सकारात्मक सुधार था। ऑस्टिन का व्यवहारिक उद्देश्य क़ानूनी व्यवस्था को उस युग के रीति-रिवाजों के बोझ से मुक्ति दिलाना था।

(4) इसी तरह ऑस्टिन के सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह क़ानूनी तानाशाही को बढ़ावा देता है। ऑस्टिन स्वयं इस आलोचना के प्रति सचेत था और उसका यह विचार था (जो गलत नहीं है) कि सर्वोच्चता में कोई स्तरित सोपान नहीं हो सकते। प्रभुसत्ता की निरंकुशता की वकालत का उद्देश्य सुधारवादी क़ानूनों

नोट

के निर्माण में सहायता करना था न कि क़ानूनी तानाशाही को पुनर्जीवित करना। ऑस्टिन के अनुसार, रीति-रिवाज और ईश्वरीय क़ानून राज्य द्वारा निर्मित क़ानून से न तो ऊपर है और न ही स्वतंत्र। ये सभी राज्य के क़ानून के अधीन हैं। प्रभुसत्ताधारी तानाशाही तरीके से शासन करे–ऑस्टिन का यह विचार बिल्कुल नहीं था। अत: सर्वोच्च विधानमंडल क़ानूनी दृष्टिकोण से सर्वसक्षम (omnicompetent) है।

(5) ऑस्टिन के सिद्धांत की एक अन्य आलोचना प्रभुसत्ता की अविभाज्यता से संबंधित है। ऑस्टिन के अनुसार, प्रभुसत्ता अविभाज्य है; प्रभुसत्ता का विभाजन प्रभुसत्ता की समाप्ति है; विखंडित और विभाजित प्रभुसत्ता अपने आप में विरोधाभास है। परंतु आधुनिक बहुलवाद (Pluralism) से जुड़े हुए कई लेखकों ने इस विचार पर आपत्ति जाहिर की है। इन लेखकों के अनुसार, प्रत्येक राजनीतिक समाज में राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों का विभाजन होता है। सरकार के स्तर पर, वैधानिक प्रभुसत्ताधारी के साथ-साथ कार्यकारी और न्यायिक प्रभुसत्ताधारी होते हैं। ये तीनों सत्ताएँ एक-दूसरे से काफी स्वतंत्र होती हैं: विधानमंडल के भंग हो जाने पर और न्यायपालिका के सदा सत्र में न रहने की स्थिति में, कार्यकारिणी प्रभुसत्ताधारी हो जाती है। अत: प्रभुसत्ता विभाज्य है। इसके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी में लास्की, मैकाईवर जैसे बहुलवादी लेखकों ने प्रभुसत्ता की अविभाज्यता को इस आधार पर भी चुनौती दी कि समाज अनेक समुदायों का योग होता है, राज्य भी समाज के अन्य समुदायों में से एक है, अत: यह निरंकुश और अविभाज्य सत्ता का दावेदार नहीं हो सकता। राज्य द्वारा प्रभुसत्ता का प्रयोग समाज के अन्य समुदायों के साथ मिल बांटकर किया जाना चाहिए। संक्षेप में, प्रभुसत्ता का विभाजन हो सकता है और होना चाहिए। यह समाज के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समुदायों में विकेन्द्रित होनी चाहिए।

टास्क ऑस्टिन के प्रभुसत्ता के सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

राजनीतिक प्रभुसत्ता (Political Sovereignty)

प्रभुसत्ता के उपर्युक्त क़ानूनी दृष्टिकोण के अतिरिक्त इसके कुछ अन्य अर्थ भी है। यहाँ हमारा संकेत प्रभुसत्ता की वास्तविकता से है। जैसा कि ऑस्टिन के सिद्धांत की आलोचना के संदर्भ में स्पष्ट किया गया है, कई ऐतिहासिक परिस्थितियों में ऑस्टिन की धारणा के अनुरूप प्रभुसत्ताधारी अनुपस्थित अथवा प्रभावहीन होते हैं। ऐसी परिस्थितियाँ वास्तव में अपवाद न होकर राजनीतिक जीवन में सामान्य होती हैं। दूसरे शब्दों में, जैसा कि डायसी ने कहा है, क़ानूनी प्रभुसत्ता के पीछे एक अन्य प्रभुसत्ताधारी होता है जिसके आगे क़ानूनी प्रभुसत्ता को भी सर झुकाना पड़ता है। इन परिस्थितियों को समझने के लिए हम प्रभुसत्ता की एक अन्य धारणा का प्रयोग करते हैं। जिसे 'राजनीतिक प्रभुसत्ता' कहा जाता है।

राजनीतिक प्रभुसत्ता का उदय इंग्लैण्ड में 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution) के परिणामस्वरूप उत्तरदायी सरकार की ऐतिहासिक स्थापना के साथ जोड़ा जाता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, हॉब्स ने अपने प्रभुसत्ता संबंधित सिद्धांत द्वारा निरंकुश और असीम प्रभुसत्ता का समर्थन किया। इसके विपरीत जॉन लॉक ने 1688 की क्रांति के समर्थक के रूप में 'राष्ट्र की प्रभुसत्ता' और 'सांविधानिक सरकार' का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। लॉक वास्तव में विभाजित प्रभुसत्ता के पक्ष में था। अपनी पुस्तक 'टू ट्रीटाइसिस ऑन गवर्नमेंट' (Two Treatises on Government) में लॉक ने प्रभुसत्ता के संबंध में जो विचार दिए उसमें उसने तीन सर्वोच्च शक्तियों की व्याख्या की: (*i*) नागरिक समाज की सर्वोच्च सत्ता जो किसी भी सरकार की शक्ति का अंतिम निर्णायक स्रोत है, (*ii*) विधानमंडल की सर्वोच्च सत्ता क्योंकि नागरिक समाज अच्छे क़ानून और सुरक्षा के लिए विधायकों की नियुक्ति करते हैं तथा (*iii*) विधान-मंडल के साथ जुड़ी हुई कार्यकारिणी की सर्वोच्च सत्ता। लॉक के अनुसार, सर्वोच्च सत्ता

नोट

सरकार में निवास करती है परंतु सरकार के पीछे और सरकार से उच्च जनसाधारण की सामूहिक सर्वोच्च शक्ति होती है। दूसरे शब्दों में, राज्य में सर्वोच्च शक्ति एक नहीं दो प्रकार की होती है—एक सरकार की और दूसरी जनता की। परंतु ये दोनों प्रकार की शक्तियां एक ही समय पर तथा साथ-साथ प्रयुक्त नहीं होतीं। सामान्य अवस्था में सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग सरकार द्वारा किया जाता है। जब तक सरकार बनी रहती है, जनता की शक्ति सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। परंतु, जैसा कि लॉक ने स्पष्ट किया, यदि जनता को यह विश्वास हो जाए कि उसके प्रतिनिधियों ने उसकी आस्था का दुरुपयोग किया है तो वह अपनी सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करके सरकार में परिवर्तन कर सकती है। नागरिक समाज की सर्वोच्च सत्ता के रूप में 'राजनीतिक प्रभुसत्ता' की धारणा स्पष्ट करके लॉक ने गौरवपूर्ण क्रान्ति द्वारा स्थापित उत्तरदायी सरकार का सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया कि अंततोगत्वा जनता प्रभुसत्ताधारी है, विधानमंडल लोगों के प्रतिनिधि के रूप में क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी है तथा राजा विधानमंडल के साथ संबंधित होने के कारण कार्यकारिणी का सर्वोच्च है।

लॉक के बाद मॉन्टेस्क्यू ने भी प्रभुसत्ता की धारणा का वास्तविक विश्लेषण प्रस्तुत किया। मॉन्टेस्क्यू ने सरकार के तीन अंगों-कार्यकारिणी, विधानमंडल और न्यायपालिका की स्वायता पर विशेष बल दिया। 'शक्तियों के पृथक्करण' (Separation of Powers) के सिद्धांत के आधार पर मॉन्टेस्क्यू ने यह निष्कर्ष निकाला कि लोगों की स्वतंत्रता की सुरक्षा इन तीनों अंगों में से किसी एक को सर्वोच्च बनाकर नहीं बल्कि इन तीनों में संतुलन बनाकर बेहरत हो सकती है। मॉन्टेस्क्यू के हाथों प्रभुसत्ता का सिद्धांत 'स्वतंत्रता का सिद्धांत' बन गया—एक ऐसी स्वतंत्रता का सिद्धांत जो केवल सरकार के विभागों में नियंत्रण और संतुलन द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इस सिद्धांत द्वारा ऑस्टिन के सिद्धांत की निरंकुशता और अविभाज्यता पर प्रहार किया गया।

सरकार और जनता की इन सर्वोच्च शक्तियों की विशिष्टता को उन्नीसवीं शताब्दी में 'क़ानूनी प्रभुसत्ता' और 'राजनीतिक प्रभुसत्ता' की स्पष्ट धारणाओं में विकसित किया गया। जहाँ क़ानूनी प्रभुसत्ता को स्थायी, सर्वव्याप्त, निरंकुश, अभेद्य, अविभाज्य और असीम माना गया, वहां राजनीतिक प्रभुसत्ता को उस अनिश्चित और अस्पष्ट शक्ति का द्योतक माना गया जो क़ानूनी प्रभुसत्ता को प्रभावित करती है। लोकतंत्रिक राज्यों में जहाँ क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी क़ानून बनाने और लागू करने की सर्वोच्च संस्था है, वहाँ इस प्रभुसत्ताधारी के पीछे जनता की इच्छा होती है जो शक्ति का अंतिम स्रोत होती है। यह ऐसी सत्ता है जिसके फैसले के बाद कोई अपील नहीं हो सकती। डायसी के शब्दों में, 'वकील द्वारा मान्य क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी के पीछे एक अन्य प्रभुसत्ताधारी होता है जिसके आगे क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी को सिर झुकाना पड़ता है। यह राजनीतिक प्रभुसत्ता होती है जिसकी इच्छा अंतिम तौर पर नागरिकों को माननी पड़ती है।' गार्नर के अनुसार, 'क़ानूनी प्रभुसत्ता के पीछे एक-दूसरी प्रभुसत्ता भी है जो क़ानूनी रूप से अज्ञात एवं असंगठित है और जिसमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वह राज्य की हर इच्छा को क़ानून के रूप में व्यक्त कर सके, परंतु फिर भी, वह ऐसी सत्ता है जिसके सामने क़ानूनी प्रभुसत्ता को सर झुकाना पड़ता है और वह है 'राजनीतिक प्रभुसत्ता'। गिलक्राइस्ट के अनुसार, राजनीतिक प्रभुसत्ता उन प्रभावशाली शक्तियों का योग है जो कानून के पीछे रहती हैं।

राजनीतिक प्रभुसत्ता की परिभाषा में दिक्कत पड़ती है क्योंकि यह अनिश्चित एवं अस्पष्ट है और इसे निश्चितता से ढूँढ़ा नहीं जा सकता है। ऐसे राज्यों में जहाँ प्रत्यक्ष लोकतंत्र है, क़ानूनी और राजनीतिक प्रभुसत्ता आपस में मिली रहती हैं। परंतु अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में ऐसा संभव नहीं है। विभिन्न लेखक, राजनीतिक प्रभुसत्ता को 'सारे राजनीतिक समुदाय की इच्छा', 'लोगों के समूह', 'सामान्य इच्छा', 'जनमत', 'मतदाता की इच्छा', 'दबाव समूह', 'राजनीतिक दल' अथवा 'क्रांति के भय' आदि के साथ जोड़ते हैं। इन सभी में सत्य का अंश है क्योंकि किसी को भी पूर्णत: गलत या ठीक ठहराना असंभव है। जन इच्छा, वोटरों की इच्छा, क्रांति की संभावना आदि तत्व क़ानूनी प्रभुसत्ता की तरह निश्चित और संगठित नहीं होते।

नोट

क़ानूनी तथा राजनीतिक प्रभुसत्ता में अन्तर तथा सम्बन्ध को समझाना भी आवश्यक है। क़ानूनी प्रभुसत्ता राज्य का अन्तिम आदेश होता है जो सभी लोगों पर बाध्य होता है और जिसके उल्लंघन पर सजा हो सकती है। सभी अधिकार और कर्तव्य क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी की देन होते हैं। इसके विपरीत, राजनीतिक प्रभुसत्ता स्वयं को राज्य के अन्तिम आदेश के रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकती। यह असंगठित, अस्पष्ट, अनिश्चित और कभी-कभी अज्ञात होती है। कानूनी प्रभुसत्ताधारी राजनीतिक प्रभुसत्ता के दबावों को अनुभव कर सकता है। परन्तु यदि क़ानूनी और राजनीतिक प्रभुसत्ता में कोई विरोधाभास है तो अन्तिम निर्णय क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी का ही होता है क्योंकि राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति केवल वही कर सकता है। राजनीतिक प्रभुसत्ता उचित अथवा वैध होने के बावजूद भी न्यायालय केवल क़ानूनी प्रभुसत्ता के निर्णयों को ही मान्यता देते हैं। वकील के लिये संसद द्वारा पारित कानून अन्तिम होता है, लोग चाहे उसकी आलोचना करें। तथापि किसी भी सरकार की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि क़ानूनी प्रभुसत्ता (अर्थात् जो क़ानून संसद बनाती है) और राजनीतिक प्रभुसत्ता (अर्थात् जो लोग चाहते हैं) में कितना तालमेल है। यदि कानूनी प्रभुसत्ताधारी लोगों की इच्छाओं का सम्मान करता है तो उसके लिये आज्ञाओं का पालन करवाने में कठिनाई नहीं होती। आधुनिक राज्यों में लोगों के लिये कल्याणकारी क़ानूनों का निर्माण वास्तव में क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी द्वारा राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी की इच्छाओं को पूरा करने का प्रयास होता है। इसके विपरीत, यदि क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी लोगों की इच्छाओं की पूर्ति नहीं करता तो लोगों का गुस्सा जुलुसों, प्रदर्शनों, हड़तालों, सरकार परिवर्तन, गृह-युद्ध या कई बार क्रान्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

लौकिक प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty)

लॉक के उपर्युक्त राजनीतिक प्रभुसत्ता के सिद्धांत को रूसो ने और विकसित करके 'लौकिक प्रभुसत्ता' के सिद्धांत में बदल दिया। रूसो के अनुसार, लौकिक प्रभुसत्ता का अर्थ है कि 'जनता अंतिम और सर्वोच्च शक्ति की स्वामिनी तथा सारी शक्तियों का स्रोत' है। रूसो के राजनीतिक सिद्धांत में जनता (people) एक भौगोलिक धारणा है। राज्य तथा राज्य की प्रभुसत्ता जनता के ही पक्ष हैं। यह जनता स्वयं शासन करने के योग्य है। जनता की इस योग्यता के मौलिक सिद्धांत को रूसो ने 'सामान्य इच्छा' (General Will) की धारणा के माध्यम से व्यक्त किया। 'सामान्य इच्छा' के कई अर्थों में से सर्वश्रेष्ठ अर्थ यह है कि किसी भी समाज-विशेष के अस्तित्व में आने के लिए उसमें सर्वस्वीकृत न्याय के नियमों का होना अनिवार्य है। ये सर्वस्वीकृति नियम समाज में सर्वोच्च स्थान के हकदार हैं। प्रभुसत्ता इन सर्वस्वीकृत नियमों की शक्ति है। जनता का प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत स्तर पर मिल बांटकर प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए नागरिक कहलाता है और क़ानूनों का पालन करते हुए प्रजा कहलाता है। सभी लोगों द्वारा नागरिक समाज (civil society) की रचना एक नैतिक और सामूहिक संस्था की स्थापना करती है। यह नागरिक समाज एक सार्वजनिक व्यक्तित्व (public personality) है जिसे लोग निष्क्रिय अवस्था में 'राज्य कहते हैं, सक्रिय अवस्था में 'प्रभुसत्ताधारी' कहते हैं और दूसरों के साथ तुलना करते समय 'शक्ति' कहते हैं।'

रूसो के अनुसार, 'सामान्य इच्छा' प्रभुसत्ताधारी है। सार्वजनिक कल्याण के उद्देश्य से स्थापित राज्य को केवल वही अंतिम आदेश दे सकती है। प्रभुसत्ता सामान्य इच्छा के अलावा कुछ और न होने के कारण अदेय भी है। रूसो के अनुसार, शक्ति का हस्तांतरण हो सकता है, परंतु सामान्य इच्छा का नहीं। सामान्य इच्छा अविभाज्य भी है क्योंकि इच्छा या तो सामान्य होती या नहीं होगी। पहली अवस्था में इच्छा की सामान्य घोषणा सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है और यह क़ानून भी है जबकि दूसरी अवस्था में यह व्यक्ति-विशेष की व्यक्तिगत इच्छा हो सकती है। यहाँ रूसो ने यह स्पष्ट किया कि कुछ लेखक प्रभुसत्ता को विधानमंडल और कार्यकारिणी में बाँटकर प्रभुसत्ताधारी को एक विलक्षण व्यक्ति में परिवर्तित कर देते हैं जैसे वे कई विभिन्न शरीरों वाले एक व्यक्ति की कल्पना कर रहे हों जिसके एक शरीर में केवल आँखें हैं, एक शरीर में केवल भुजाएं हैं, एक शरीर में केवल पाँव हैं और प्रत्येक शरीर में एक अंग के अलावा और कुछ भी नहीं है। रूसो ने प्रभुसत्ता के इस विभाजन को राजनीति सिद्धांत का मायावी छलकपट मानते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि वे प्रभुसत्ता के उद्गमों (emanations) को प्रभुसत्ता के अंग समझ बैठे हैं।

नोट

रूसो के अनुसार, प्रभुसत्ता अटल और सत्य है क्योंकि सामान्य इच्छा हमेशा ठीक होती है। प्रभुसत्ता अविभाज्य भी है क्योंकि यह अपने सदस्यों पर असीम शक्ति का प्रयोग करती है। सामान्य इच्छा के माध्यम से अभिव्यक्त प्रभुसत्ता एकता, स्थायित्व, उपयुक्तता और आत्म-सचेतन सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है।

संक्षेप में, शासन के दृष्टिकोण से रूसो ने प्रभुसत्ता की विशेषताओं के संदर्भ में जनसाधारण का हवाला देकर वही निष्कर्ष निकाले जो हॉब्स ने शासक अथवा राजा के नाम पर निकाले थे। जहाँ हॉब्स ने राज्य के संपूर्ण व्यक्तित्व एवं सरकार और लोगों के व्यक्तित्व को शासक के व्यक्तित्व में आत्मसात् कर दिया, वहाँ रूसो ने वही तर्क देकर सरकार और राज्य दोनों को जनता की सामान्य इच्छा में आत्मसात् कर दिया। रूसो के अनुसार, इस सिद्धांत की तीन विशेषताएँ हैं: (*i*) व्यक्ति अपना व्यक्तित्व और स्वतंत्रता केवल वास्तविक इच्छा के अनुसरण से ही प्राप्त कर सकता है, (*ii*) वास्तविक इच्छा है और (*iii*) सामान्य इच्छा ही राज्य है।

कई बार लौकिक प्रभुसत्ता का अर्थ आम जनसंख्या की इच्छा समझ लिया जाता है। वास्तव में इच्छा जनसंख्या (population) की नहीं, जनता (people) की हुआ करती है। जनता से अभिप्राय है न्यायोचित सिद्धांतों के अनुसार कार्यों की पूर्ति में लगी हुई जनसंख्या। रूसो का अभिप्राय भी कुछ ऐसा ही था। इसीलिए रूसो ने यह विचार व्यक्त किया कि सामान्य इच्छा एक व्यक्ति की भी हो सकती है। यह जरूरी नहीं कि बहुमत की इच्छा सामान्य इच्छा भी हो।

लौकिक प्रभुसत्ता का सिद्धांत जहाँ आकर्षक है और जनसाधारण के अहं को संतुष्ट करता है, वहाँ इसे भी निश्चित अर्थ देने में कठिनाई उत्पन्न होती है। यहाँ सबसे कठिन समस्या है जनता (people) को परिभाषित करना। इसके दो संभव अर्थ लगाए जा सकते हैं: (*i*) अनिश्चित और असंगठित जन-समुदाय का कुल योग अथवा (*ii*) मतदाता। पहले अर्थ के अनुसार लोग प्रभुसत्ताधारी नहीं हो सकते क्योंकि प्रभुसत्ता निश्चित, संगठित और श्रेष्ठ सत्ता है। दूसरी अवस्था में लोग प्रभुसत्ता में प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा न लेकर स्थापित संस्थाओं के माध्यम से हिस्सा लेते हैं। जैसा कि गार्नर लिखते हैं, 'असंगठित जनसमुदाय चाहे कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, वह तब तक प्रभुसत्ताधारी नहीं हो सकता जब तक वह क़ानूनी स्वरूप धारण न कर ले। व्यवहारिक दृष्टिकोण से लौकिक प्रभुसत्ता शांति की अवस्था में 'जनमत' और गड़बड़ी की अवस्था में 'क्रांति की शक्ति' से अधिक अर्थ नहीं रखती।'

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर राजनीतिक और लौकिक प्रभुसत्ता में कोई विशेष अंतर नहीं रह जाता। परंतु जैसा गिलक्राइस्ट लिखते हैं, 'लौकिक प्रभुसत्ता राजनीतिक स्वतंत्रता या सार्वजनिक नियंत्रण का पर्याय है। इसका अर्थ एक व्यक्ति या वर्ग की शक्ति के स्थान पर जनता की शक्ति है। इसमें सार्वजनिक वयस्क मताधिकार, विधानमंडल पर जनता के प्रतिनिधियों का नियंत्रण, राष्ट्र के सार्वजनिक वित्त पर जनता के निर्वाचित सदस्यों का नियंत्रण आदि अंतर्निहित हैं।' लास्की के अनुसार, लौकिक प्रभुसत्ता का यह अर्थ लगाया जा सकता है कि समाज में प्रचलित हित जनसाधारण के हित होने चाहिए, न कि किसी विशेष भाग या वर्ग के हित।

लौकिक प्रभुसत्ता की परिभाषा अनिश्चित-सी है, परंतु फिर भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है इस सिद्धांत ने इस बात पर विशेष बल दिया कि सरकार का अस्तित्व जनसाधारण की भलाई के लिए है। यदि जान-बूझकर लोगों की इच्छाओं की उपेक्षा की जाती है तो क्रांति की संभावना हो सकती है। जनमत को अभिव्यक्त करने के लिए क़ानूनी साधन प्रदान किए जाने चाहिए। सरकार लोगों के प्रति सीधे तौर पर उत्तरदायी है। सरकार को अपनी सत्ता का प्रयोग मनमर्जी से न करके प्रतिष्ठित क़ानून के अंतर्गत करना चाहिए।

विधिसम्मत और तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता (De jure and De facto Sovereignty)

प्रभुसत्ता वास्तविकता की समस्या है। अत: अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कई बार विधिसम्मत (De jure) और तथ्यसम्मत (De facto) प्रभुसत्ता में अंतर किया जाता है विधिसम्मत प्रभुसत्ताधारी से अभिप्राय है क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी जबकि तथ्यसम्मत प्रभुसत्ताधारी से अभिप्राय है वह प्रभुसत्ताधारी जिसकी आज्ञा का पालन लोग वास्तव में करते हैं, चाहे

नोट

उसकी कोई कानूनी स्थिति हो अथवा न हो। तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता का आधार भौतिक शक्ति अथवा धार्मिक प्रभाव हो सकता है जबकि क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी केवल क़ानूनी आधार पर आज्ञापालन करवाता है। युद्ध अथवा क्रांति के समय इन दोनों में अंतर उभरकर सामने आता है। यदि युद्ध अथवा क्रांति प्रचलित क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी को हटाकर नए प्रभुसत्ताधिकार की स्थापना कर देते हैं तो जनसाधारण के लिए यह समस्या पैदा हो जाती है कि वे किसकी आज्ञा का पालन करें–क़ानून द्वारा स्थापित प्रभुसत्ताधारी की आज्ञाओं का अथवा क़ानूनी प्रभुसत्ताधारी की आज्ञाओं के विरुद्ध बलपूर्वक अपनी आज्ञाओं का पालन करवाने वाले प्रभुसत्ताधारी की आज्ञाओं का। तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता के प्रयोग के इतिहास में सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। दीर्घकालीन संसद (Long Parliament) के भंग हो जाने के बाद क्रॉमवैल इंग्लैंड का तथ्यसम्मत प्रभुसत्ताधारी बन गया। नेपोलियन ने फ्रेन्च डिरेक्टरि का तख्ता पलटने के बाद तथ्यसम्मत प्रभुसत्ताधारी बन गया। नेपोलियन ने फ्रेन्च डिरेक्टरि का तख्ता पलटने के बाद तथ्यसम्मत प्रभुसत्ताधारी का रूप धारण किया। स्पेन में जनरल फ्रैन्को क़ानूनी सरकार का तख्ता पलटने के बाद तथ्यसम्मत प्रभुसत्ताधारी बन गए। रूस की क्रांति में ज़ार का तख्ता पलटने के बाद लेनिन और उसका साम्यवादी दल तथ्यसम्मत प्रभुसत्ताधारी बन गए। पाकिस्तान में अयूब खाँ, याह्या खाँ, जिया-उल-हक आदि का जबरदस्ती राजनीतिक शक्ति हथियाना तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता के अन्य उदाहरण हैं। इसी तरह 1978 के आरंभ में हुए ईरान के गृह-युद्ध में वहां के राजा की आज्ञाओं के विरुद्ध अयातुल्ला खुमैनी की आज्ञा का पालन तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता का ज्वलंत उदाहरण है।

ऑस्टिन ने विधिसम्मत और तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता में कोई भेद स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसके अनुसार 'विधिसम्मत' अथवा 'तथ्यसम्मत' शब्द सरकार के लिए प्रयुक्त किए जा सकते हैं, प्रभुसत्ता के लिए इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता को अवैध कहना गलत है क्योंकि प्रभुसत्ता का सार आज्ञापालन करवाने में है। शांति और व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि विधिसम्मत और तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह में निहित हो और यदि इन दोनों में कोई भेद उत्पन्न होता है तो यह शीघ्र ही समाप्त हो जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, शक्ति और अधिकार दोनों इकट्ठे रहने चाहिए।

संक्षेप में, तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता राज्य में वह प्रभावशाली शक्ति होती है जो अपनी आज्ञाओं का पालन करवाने में सफल हो जाती है। जब भी विधिसम्मत और तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता में कोई संघर्ष उत्पन्न होता है, दोनों में से एक को समाप्त होना होता है या दोनों एक-दूसरे में विलीन हो जाती हैं। तथ्यसम्मत प्रभुसत्ता का यह भरसक प्रयत्न रहता है कि वह शीघ्रातिशीघ्र विधिसम्सत प्रभुसत्ता में बदल जाए क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करती तो विधिसम्मत और तथ्यसम्मत प्रभुसत्ताधारियों में संघर्ष होने का खतरा हमेशा बना रहता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. किसने प्रभुसत्ता को क़ानून बनाने की सर्वोच्च शक्ति के रूप में परिभाषित किया है?
   (अ) हॉब्स (ब) बैंथम
   (स) लास्की (द) ऑस्टिन
5. जॉन ऑस्टिन ने प्रभुसत्ता के किस सिद्धांत की स्पष्ट व्याख्या की है?
   (अ) राजनैतिक (ब) तथ्यसम्मत
   (स) क़ानूनी (द) लौकिक
6. रूसो के अनुसार ..... प्रभुसत्ताधारी है।
   (अ) विशेष इच्छा (ब) सामान्य इच्छा
   (स) काल्पनिक इच्छा (द) इनमें से कोई नहीं।

नोट

4.4 बाह्य प्रभुसत्ता–कुछ समकालीन समस्यायें (External Sovereignty—Some Contemporary Problems)

यद्यपि प्रभुसत्ता एक बहुपक्षीय धारणा है, तथापि पिछले 50 सालों में प्रभुसत्ता का बाह्य तत्व बहुत अधिक मुखर हो गया है। जैसा कि ऊपर चर्चा की जा चुकी है, आन्तरिक प्रभुसत्ता राज्य की सीमाओं के अन्दर सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग है। बाह्य सत्ता से अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी राज्यों की कानूनी समानता है। मोरगेन्थ्यू के अनुसार, बाह्य प्रभुसत्ता तीन तत्वों का मिश्रण है: **स्वतंत्रता, समानता और सर्वसम्मति। स्वतंत्रता** से अभिप्राय है अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दूसरे राज्यों के सन्दर्भ में प्रत्येक राज्य की सर्वोच्च सत्ता। इसका अर्थ है कि प्रत्येक राज्य, जहाँ तक यह अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की सीमाओं में बंधा हुआ नहीं है, अपने आन्तरिक और बाह्य सम्बन्ध अपनी इच्छानुसार प्रबन्धित करने के लिए स्वतंत्र है। **समानता** का अर्थ है, यदि प्रत्येक राज्य आन्तरिक कार्यों में सर्वोच्च सत्ता का स्वामी है, तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी उसे किसी अन्य राज्य की आज्ञापालन करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। किसी भी देश को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों को बताये कि उसे कैसे क़ानून बनाने चाहिए और कैसे लागू करने चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राज्य केवल अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का पालन करते हैं। **सर्वसम्मति** से अभिप्राय है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर क़ानून बनाने की प्रक्रिया में सभी राष्ट्र समान हैं चाहे उनकी भूमि, क्षेत्रफल, जनसंख्या, शक्ति कैसे भी हो। उदाहरण के लिये, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में अमरीका और बंगलादेश की स्थिति समान है। सर्वसम्मति का अर्थ है कि किसी देश की सहमति के बिना कोई अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय नहीं लिया जा सकता। फिर भी, बाह्य प्रभुसत्ता का अर्थ क़ानूनी सीमाओं से मुक्ति नहीं है और न ही इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून और सन्धियों का किसी राज्य द्वारा अपनी मर्जी से उल्लंघन करना है।

तथापि जिस तरह अपनी सीमाओं के अन्दर एक राज्य क़ानूनी प्रभुसत्ता के अनुसार निरंकुश और असीम होने के बावजूद अपने क़ानून को लागू करने और आज्ञाओं का पालन करवाने में कई तरह की सीमाओं से घिरा रहता है, उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी स्वतंत्रता, समानता और सर्वसम्मति के बावजूद राष्ट्र-राज्यों पर अपनी मर्जी के अनुसार निर्णय लेने की योग्यता पर कई तरह की सीमायें होती हैं। प्रत्येक राज्य के औपचारिक और वास्तविक अधिकारों में अन्तर दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। विभिन्न देशों में अन्योन्याश्रय तथा तकनीकी, औद्योगिक और वित्तीय संघटन के स्तर पर होने वाले तीव्र तथा निरन्तर परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राज्यों की सीमायें धूमिल पड़ती जा रही हैं और उनकी अपने स्तर पर निर्णय लेने की योग्यता में दिन-प्रतिदिन कमी आ रही है। विभिन्न राष्ट्रों में सैनिक सन्धियों, अन्तर्राष्ट्रीय ऋण, तकनीकि हथियारों से लैस युद्ध, परमाणु हथियारों की होड़, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रतिस्पर्धा, पर्यावरण असन्तुलन आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जो राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं को पार कर रहे हैं। इसी तरह संयुक्त राष्ट्र-संघ और यूरोपीय समुदाय, जिनके पास राष्ट्र-राज्यों के लिये क़ानून बनाने की शक्ति है, ने प्रभुसत्ता के परम्परागत अर्थ में काफी परिवर्तन कर दिया है। इस सन्दर्भ में हम तीन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की चर्चा करेंगे जो राष्ट्र-राज्यों की बाह्य प्रभुसत्ता को धीरे-धीरे कम करते जा रहे हैं। ये तत्व हैं:

1. साम्राज्यवाद
2. अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक गुट तथा
3. विश्व अर्थव्यवस्था।

1. प्रभुसत्ता और साम्राज्यवाद (Sovereignty and Imperialism)

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जहाँ बड़े-छोटे, कमजोर-बलवान, विकसित-अविकसित राज्य साथ-साथ रहते हैं, इनमें प्रभुसत्ता की धारणा थोड़ी भ्रमपूर्ण दिखाई देती है। यह भ्रम इसलिए पैदा होता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य बनने के लिए एक राष्ट्र को आन्तरिक और बाह्य दृष्टिकोण से स्वतंत्र होना आवश्यक है। परन्तु प्रभुसत्ता के इस सिद्धांत

नोट

का अधिकतर उल्लंघन किया गया है। पिछले 250 सालों में इंग्लैंड तथा यूरोप के कई देशों ने एशिया, अफ्रीका और अमरीकी उपमहाद्वीप के कई विकासशील और पिछड़े हुए देशों की प्रभुसत्ता का उल्लंघन किया और उन्हें अपने स्वार्थी हितों के लिए प्रयोग किया। इसके लिए जिस पद्धति को अपनाया गया उसे हम 'साम्राज्यवाद' का नाम देते हैं।

शब्द 'साम्राज्यवाद' का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। व्यापक स्तर पर यह राजनीतिक प्रभुत्व तथा आर्थिक शोषण की विश्व व्यवस्था, किसी राज्य की रक्षा और प्रसार, अथवा साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा को बढ़ावा देने वाली विचारधारा कुछ भी हो सकता है। राजनीतिक दृष्टिकोण से यह एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी जो इंग्लैंड, यूरोप, अमरीका और जापान जैसे औद्योगिक राज्यों द्वारा शुरू की गई और जिससे संसार के सभी पिछड़े हुए देशों को सीधी विजय द्वारा या सैनिक संधियों अथवा आर्थिक दबावों के माध्यम से कच्चे माल के स्रोत, मशीनी वस्तुओं के लिए बाजार और पूंजीनिवेश के लिए साधन के रूप में प्रयोग किया गया। इस संदर्भ में साम्राज्यवाद का यह रूप उपनिवेशवाद के रूप में हमारे सामने आया जिसके परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी के शुरू में सभी पिछड़े देशों को औद्योगिक देशों ने आपस में बांट लिया था। अधिकतर पिछड़े हुए देश साम्राज्यवादी राज्यों के अंग बन गये। कुछ अन्य देश जो सीधे उपनिवेशी शासन के अधीन नहीं आये, वहाँ भी कोई ऐसे शासक नहीं थे जिन्हें प्रभुसत्ताधारी कहा जा सकता। साम्राज्यवादी देशों ने इन पिछड़े हुए देशों को अपने अधीन रखने के लिए कई तरीके अपनाये। इनके कुछ उदाहरण हैं–

(*i*) 1876 में इजिप्ट के ऋण और 1885 में कोंगो राज्य को प्रबन्धित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय शासनों की स्थापना

(*ii*) अफ्रीका में 'सुरक्षित राज्य व्यवस्था' (Protectorate system) की शुरुआत

(*iii*) सूडान में 'सहराज्य व्यवस्था' (Condominiam system)

(*iv*) उत्तर-अफ्रीका में अर्धप्रभुसत्ताधारी राज्य (Semi-sovereign state system)

(*v*) शासनादेश तथा अधिदेश शासन (Mandate and Trusteeship)।

इन विभिन्न उपायों का मिला-जुला परिणाम यह था कि पिछड़े हुए राज्यों ने अपनी प्रभुसत्ता खो दी। ये राज्य अपने नागरिकों के लिए न तो अपनी मर्जी से कानून बना सकते थे और न ही उन्हें लागू कर सकते थे। इसी तरह दूसरे देशों के साथ संबंध बनाने और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत समानता के अधिकार से भी इन्हें वंचित कर दिया गया। इन देशों में कानून निर्माण और कार्यान्वयन का काम साम्राज्यवादी देशों ने अपने अधीन ले लिया। और ये उपनिवेश साम्राज्य का एक अभिन्न अंग बन गये। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप जहाँ भारत का बहुत बड़ा भाग सीधे ब्रिटेन के अधीन हो गया, भारत की अन्य रियासतों के विदेशी सम्बन्ध भी विभिन्न सन्धियों द्वारा उनसे छीन लिए गये। चाहे इन देशी रियासतों को अपने आंतरिक मामलों में स्वायत्तता प्राप्त थी, फिर भी अन्ततोगत्वा व ब्रिटेन के नियंत्रण में थीं और प्रभुसत्ताधारी नहीं थीं।

इसी तरह 1901 में अमरीका और क्यूबा के बीच हवाना संधि से क्यूबा की स्वतंत्रता तथा उसके नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए अमरीका को हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार मिल गया। इस संधि ने आवश्यकता पड़ने पर, क्यूबा सरकार को अपने हाथ में लेने और उसकी प्रभुसत्ता समाप्त करने का पूरा अधिकार अमरीका को दे दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कई उपनिवेशों को राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हो गई और सैद्धान्तिक रूप से ये सभी देश अपनी-अपनी सीमाओं में प्रभुसत्ताधारी घोषित कर दिए गये, हालांकि उनमें से कई प्रभावशाली ढंग से शासन करने के योग्य भी नहीं थे। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि (*i*) स्वतंत्रता बहुत से देशों को एक साथ मिली तथा (*ii*) चाहे

नोट

उनकी शासन व्यवस्था प्रभावशाली नहीं थी, इसके बावजूद किसी भी स्वतंत्र देश पर कोई विदेशी शक्ति शासन नहीं कर सकती थी। तथापि, युद्ध के बाद जहाँ उपनिवेशवाद विरोधी लहर ने कई देशों को स्वतंत्र बनाकर प्रभुसत्ताधारी बनाया, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अमरीका और सोवियत यूनियन दो महाशक्तियों के रूप में उभरे और उन्होंने संसार के सभी देशों की प्रभुसत्ता को प्रभावित करने के लिए नई रणनीतियों की रचना की।

2. प्रभुसत्ता तथा सैनिक गुटबंदी (Sovereignty and Power Blocs)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम था—इंग्लैण्ड और फ्रांस का महासाम्राज्यवादी शक्तियों के रूप में पतन तथा अमरीका और सोवियत यूनियन का महाशक्तियों के रूप में उदय। इसमें जहाँ अमरीका तथा पश्चिमी यूरोप उदारवादी-पूँजीवादी देशों के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। वहाँ सोवियत यूनियन ने पूर्व-यूरोपीय साम्यवादी देशों तथा चीन में उभरे समाजवादी-साम्यवादी राज्य का नेतृत्व संभाला। अमरीका और रूस के सम्बन्ध वैसे तो रूसी क्रान्ति के बाद ही बिगड़ गये थे परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व राजनीति का प्रभुत्व जमाने के लिए यह मतभेद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये। परिणामस्वरूप, कुछ ही वर्षों में इन दो महाशक्तियों के नेतृत्व में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संसार के अधिकतर देश दो गुटों में बंटते दिखाई देने लगे। महाशक्तियों की इस प्रतिस्पर्धा ने शीत युद्ध (Cold war) को जन्म दिया जो कि वास्तव में इन दो देशों द्वारा सारे संसार को दो गुटों में बांटने की चाल थी। इन दोनों गुटों के राज्य समूहों के बीच कई तरह के सैनिक समझौते हुए जैसे नाटो (NATO), सीटो (SEATO), सेन्टो (CENTO), वारसा पैक्ट (Warsaw Pact) आदि। इन समझौतों ने राष्ट्र-राज्यों की प्रभुसत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव डाला।

इन महाशक्तियों की गुटबाजी ने शान्ति के समय में भी सैनिक संगठन को ही नहीं बढ़ाया बल्कि राजनीतिक और प्रशासनिक अन्योन्याश्रय की एक ऐसी प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया जिसमें गुट के प्रत्येक राष्ट्र के सैनिक और असैनिक हित अन्तिम तौर से महाशक्ति के हित और प्राथमिकताओं के साथ जुड़ गये। विभिन्न राष्ट्र-राज्यों से निर्मित प्रत्येक गुट कई तरह की द्विपक्षीय और बहुपक्षीय संधियों और समझौतों की जटिल प्रक्रिया पर आधारित है, जैसे सैनिक अड्डों की स्थापना और संचालन, सेनाओं की नियुक्ति, संयुक्त सैनिक अभ्यास, हथियारों की खरीदारी, परमाणु हथियारों का उत्पादन और रखरखाव आदि। यद्यपि ये विभिन्न सन्धियाँ और समझौते विभिन्न प्रभुसत्ताधारी राज्यों द्वारा किये गए थे तथापि इन्होंने महाशक्तियों के गुट के अन्य राष्ट्रों के आंतरिक मामलों में दखल का अधिकार दे दिया। परिणामस्वरूप गुट के राष्ट्रों की विदेश नीति उनके अपने राष्ट्रीय हितों से कटकर महाशक्ति के हितों का भाग बन गई। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गुटों के विभिन्न राज्यों में पूर्ण सहमति थी। नाटो संधि के अंतर्गत सैनिक हथियारों की खरीद अथवा सेनाओं के ठहराव (Stationing) को लेकर तीखी झड़पें होती रहती थीं। उदाहरण के लिए, तीव्र मतभेदों के कारण फ्रांस नाटों की सैनिक संधि से अलग हो गया। इसी तरह वारसा संधि के अन्तर्गत चेकोस्लोविया के साथ मतभेद होने के कारण रूस को सैनिक शक्ति का प्रयोग करके उसे रास्ते पर लाना पड़ा। संक्षेप में, एक बात बड़ी स्पष्ट थी कि गुटों के विभिन्न राष्ट्रों ने अपनी प्रभुसत्ता पर कई तरीके की सीमाएँ लगा ली। आपसी मतभेद के बावजूद प्रत्येक गुट की सैनिक और सामरिक नीतियाँ मूलत: महाशक्तियों के व्यापक हितों और प्राथमिकताओं से ही प्रेरित रहीं। यहाँ तक कि गुट निरपेक्ष देशों को भी अपनी विदेशी नीतियाँ इन महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा के संदर्भ में ही निश्चित करनी पड़ी।

तनाव शैथिल्य तथा शक्ति गुटों का अंत (Detente and End of Power Blocs)

सोवियत यूनियन तथा साम्यवादी देशों का विघटन तथा शीत युद्ध की समाप्ति ने क्या गुटों के पुराने राष्ट्र-राज्यों को अब पूर्ण प्रभुसत्ताधारी बना दिया है? कुछ लेखकों के अनुसार, इस प्रश्न का उत्तर अभी भी न में ही है क्योंकि प्रभुसत्ता और आधिपत्य में सम्बन्ध की यह प्रक्रिया काफी जटिल थी। महाशक्तियों में समझौते और गुटों के बीच

नोट

तनाव की कमी का अर्थ सुरक्षा के अन्तर्राष्ट्रीयकरण में किसी प्रकार की ढील नहीं है और न ही यह विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनी प्रभुसत्ता का दुबारा से दावा करना है। 1945 के बाद का अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा दो तत्वों पर आधारित था: अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा व्यवस्था तथा संगठित विश्व-अर्थव्यवस्था। चाहे सोवियत यूनियन का विघटन हो गया है परन्तु रूस अभी भी एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है जिसके पास परमाणु अस्त्रों और सैनिक साजो-सामान का बहुत बड़ा भंडार है। तनाव शैथिल्य की सफलता अमरीका और एशिया दोनों की सक्रिय भागीदारी पर निर्भर करती है। दोनों महाशक्तियों द्वारा अपने-अपने गुटों के देशों पर अपना प्रभाव पूरी तरह न जम पाने के कारण इन्हें आपस में साथ मिलकर काम करने के लिए मजबूर कर दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले क्षेत्रीय झगड़ों को नियंत्रित करने और संयुक्त राष्ट्र-संघ को अशक्त करने में अमरीका-रूस का गठजोड़ काफी कारगर सिद्ध हो रहा है।

3. प्रभुसत्ता तथा अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण (Sovereignty and Globalisation of Economy)

महाशक्ति गुट तथा सैनिक संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक पक्ष है। सैनिक सन्धियों के निर्माण को आर्थिक सहयोग से पक्का किया जाना इसका दूसरा पक्ष था। इसके लिये दोनों महाशक्तियों ने कई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन स्थापित किये, जैसे अटलान्टिक आर्थिक समुदाय (Atalantic Economic Community), आर्थिक सहयोग संगठन (Organization of Economic Cooperation), आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (Organization of Economic Cooperation and Development), एशियन विकास बैंक (Asian Development Bank)। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसे विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि भी इसी युग की देन थे। ये सभी आर्थिक संगठन विश्व पूंजीवाद का एक भिन्न अंग थे। इन्होंने विश्व अर्थव्यवस्था में अपनी सामरिक भूमिका ही नहीं निभाई बल्कि आधुनिक राष्ट्र-राज्यों की प्रभुसत्ता के सन्दर्भ में भी कई तरह की दुविधायें पैदा की।

सैनिक गुटों ने जहां राष्ट्र-राज्यों की विदेशी स्वतंत्रता को अत्यधिक प्रभावित किया, वहाँ पूंजीवाद में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले परिवर्तनों के कारण आज ये देश राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रबंध में भी अपनी स्वतंत्रता खोने के दौर से गुजर रहे हैं। संचार और परिवहन में हुये क्रान्तिकारी परिवर्तनों ने आज विश्व को अत्यधिक छोटा कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी व्यापार के अन्तर्राष्ट्रीयकरण की शताब्दी थी, बीसवीं शताब्दी के पहले चरण में मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हुआ और पिछले कुछ सालों में उत्पादन और प्रौद्योगिकी के अन्तर्राष्ट्रीयकरण ने विश्व अर्थव्यवस्था को एक सूत्र में बांध दिया है। आज प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था उस विश्व वातावरण में काम कर रही है जिस पर किसी राष्ट्र का नियंत्रण नहीं है परन्तु जो उसके नीति-निर्माण और अर्थव्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित करता है। 1970 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन, जिसकी प्रमुख प्रतिनिधि बहु-राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियां हैं, के कारण आज राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पतन होता जा रहा है। बहुत से आर्थिक और व्यापारिक निर्णय राष्ट्र-राज्यों के हाथों से निकलते जा रहे हैं। यही अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय और बैंकिंग संस्थाओं के बारे में भी कहा जा सकता है जो विकासशील और पिछड़े देशों पर आर्थिक दबाव डाल रही हैं। पिछले दशक से प्रचलित 'अर्थव्यवस्था के उदारीकरण और निजीकरण' (Liberalization and Privatization of Economy) की धारणा इन्हीं बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं की देन है। यह धारणा अमरीका, यूरोप और जापान में शुरू हुई और अब विकासशील देशों में भी फैलती जा रही है।

इन नये परिवर्तनों ने राष्ट्र-राज्यों की प्रभुसत्ता को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया है। आज यूं तो औपचारिक रूप से कर लगाना, आयात-निर्यात नीति, पूँजीनिवेश, विनिमय दरें, सीमाशुल्क अधिनियम आदि पर प्रत्येक राष्ट्र अपनी मर्जी से निर्णय लेने का अधिकार रखता है। परन्तु इस शक्ति का कैसे, कहाँ और किस सीमा तक प्रयोग किया जायेगा, यह उस राज्य की सौदेबाजी की शक्ति पर निर्भर करता है। इस सन्दर्भ में पिछले कुछ वर्षों में पिछड़े और

नोट

विकासशील देशों से, जो विदेशी ऋण के भार से दबे हुए थे, विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने ऋण देते समय सौदेबाजी मे कई तरह की रियायतें हासिल की जिनमें सरकारी क्षेत्रों का निजीकरण, बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों का प्रवेश और आर्थिक नीतियों पर उनका प्रभावशाली नियंत्रण शामिल है। निजी कम्पनियों का नियंत्रण इस कदर बढ़ता जा रहा है कि आज अमरीका की अर्थव्यवस्था का एक बहुत बड़ा भाग विदेशी निवेशकों के हाथ चला गया है। निजी और सरकारी पूँजी सम्बन्धों में परिवर्तन और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर अन्तर्राष्ट्रीय दबावों ने राज्यों की प्रभुसत्ता को काफी हद तक सीमित कर दिया है।

तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य के आर्थिक कार्य कम हो गये हैं और राज्य का यह विशाल क़ानूनी, प्रशासनिक और वैचारिक ढांचा अब शक्तिहीन हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रभुसत्ताधारी राज्य की धारणा अभी भी कायम है परन्तु अन्तर यह है कि आज कोई राज्य अपने आर्थिक प्रबन्धों को अकेले प्रबन्धित नहीं कर सकता। उदारीकरण और निजीकरण के बावजूद आज पूँजीवादी राज्यों में राज्य के कार्यों में बढ़ोतरी हो रही है। नीतियों के निर्माण, निर्देशन, योजना और प्रबन्ध के अलावा राज्य का प्रमुख कार्य वित्तीय सुधारों और जनकल्याणकारी कार्यों द्वारा सामाजिक आय का वितरण इस प्रकार करना है कि सामाजिक सह-अस्तित्व को बढ़ावा मिल सके। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये कार्य भी इस तरह सम्पन्न होते हैं जिनसे राज्य की प्रभुसत्ता कमज़ोर पड़ती है। आर्थिक प्रबन्धों के जिन नियमों को राज्य लागू करता है वे उसकी स्वेच्छा के परिणाम न होकर विश्व-अर्थव्यवस्था की विवशता के परिणाम होते हैं। राज्यों के अन्दर और विभिन्न राज्यों के बीच पूंजीवादी उत्पादन के अन्तर्राष्ट्रय संघटन, तकनीकी नवीनीकरण और आर्थिक विकास ने आर्थिक विवशता और राज्य प्रभुसत्ता में विरोधाभास पैदा कर दिया है। आज हम एक ऐसी विश्व अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं जो राष्ट्र-राज्यों द्वारा संचालित तो होती हैं परन्तु उनके नियंत्रण में नहीं हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य/असत्य बताइए (State whether the following Statements are True/ False)–

7. मोरगेन्थ्यू के अनुसार प्रभुसत्ता चार तत्वों का मिश्रण है।
8. महाशक्ति गुट तथा सैनिक संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक पक्ष है।
9. बीसवीं शताब्दी के पहले चरण में मुद्रा का अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ था।

4.5 सारांश (Summary)

आज प्रभुसत्ता अपनी पहचान खोती जा रही है क्योंकि प्रभुसत्ता की परम्परागत परिभाषा में इसे निरंकुश, स्वतंत्र, असीम और अदेय शक्ति माना गया। परन्तु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राज्य की शक्ति और ढांचे में काफी ठोस परिवर्तन आये हैं। यहां तक कि बाहरी देशों के आक्रमण से रक्षा जैसे सवालों पर भी इराक द्वारा कुवैत पर आक्रमण और इराक के विरुद्ध तीखी अमरीकी सैनिक प्रतिक्रिया ने यह बात सिद्ध कर दी कि शक्ति के प्रयोग के तरीके तथा संस्थाओं में आमूल परिवर्तन आ गया है। आज केवल राज्यों में ही परिवर्तन नहीं आया, सम्पूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण ही बदला हुआ लगता है। अत्यधिक तकनीकी विकास, आकाश में घूमते विभिन्न देशों के सैटेलाइट तथा केबल टी.वी. द्वारा विदेशी प्रचारों और समाचारों का लोगों के घरों में प्रवेश जैसी घटनाओं ने प्रभुसत्ता के अर्थ और सार पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न लगा दिया है।

नोट

आज प्रभुसत्ता की धारणा बड़ी असमंजस की स्थिति में है। तकनीकी नवीनीकरण के परिणामस्वरूप राज्य की भौतिक शक्ति में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य की प्रभुसत्ता में कोई वृद्धि हो रही है। प्रजातंत्र के विकास से आज विभिन्न राज्यों में शक्ति के विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है। क़ानून, व्यवस्था और सुरक्षा जैसे आंतरिक मामलों में जहाँ राज्य पूरी तरह प्रभुसत्ताधारी होता है, आज वहाँ भी वह स्वयं को असहाय पाता है। अल्पमत जातीय आंदोलन, आतंकवाद, धार्मिक कट्टरपंथी, निजी सेनाएँ आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जहाँ राज्य चाहते हुए भी अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर पाता। इसी तरह राज्य की सैनिक नीतियाँ भी उसकी अपनी मर्जी पर आधारित न होकर बाहरी तत्वों पर आधारित होती हैं, जैसे हथियार निर्माता कौन से देश हैं, वे वित्तीय तथा बैंकिंग संस्थाएँ जो पैसा देंगी, अन्तर्राष्ट्रीय संधियों और समझौते, हथियारों की किस्म, हथियार बेचने और खरीदने वाले देशों में राजनीतिक सम्बन्ध आदि। संक्षेप में, आज किसी भी देश की प्रभुसत्ता स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय, राजनीतिक, सैनिक, अन्तर्राष्ट्रीय संकटों और परिस्थितियों के क्लिष्ट जाल में फंसी हुई लगती है।

तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रभुसत्ता राज्य का अंग नहीं रही या राज्य समाज में लोगों से आज्ञाओं का पालन करवाने वाली संस्था या क़ानून बनाने की अन्तिम शक्ति नहीं रहा। फर्क केवल इतना है कि आज सिद्धांत और व्यवहार में काफी अन्तर आ चुका है। हिंसले के अनुसार, चाहे आज प्रभुसत्ता को अनेक आधुनिक तत्वों ने जबरदस्त चुनौती दी है परन्तु इन्होंने राज्य द्वारा समाज में शक्ति का प्रभावशाली ढंग से प्रयोग करने की मौलिक आवश्यकता को गलत नहीं ठहराया। दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई सामाजिक जटिलताओं के कारण, इस शक्ति की आवश्यकता और अधिक बढ़ती जा रही है। यदि लोगों की बढ़ती आकांक्षाओं को पूरा करना है तो इसका एक ही तरीका है कि प्रभुसत्ता को केवल राज्य में ढूँढ़ने के बजाय राज्य-व्यवस्था (body politic) में ढूँढ़ा जाए अर्थात् राज्य और समुदाय दोनों में–समुदाय प्रभुसत्ता के स्रोत के रूप में और राज्य उस प्रभुसत्ता का प्रयोग करने वाले यंत्र के रूप में। वास्तव में, सामाजिक समुदाय की सुरक्षा के संदर्भ में आधुनिक घटनाओं ने प्रभुसत्ता के लोप के बजाय इसकी आवश्यकता की तरफ ज्यादा ध्यान दिलाया है। नई घटनाओं ने प्रभुसत्ता की उस विशेषता के औचित्य को गलत नहीं ठहराया कि कोई भी राजनीतिक और क़ानूनी ढाँचा उतनी देर तक प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकता जब तक उसके पास कोई ऐसी अन्तिम निर्णायक शक्ति न हो जिसके आधार पर वह क़ानून लागू करके आज्ञाओं का पालन करवा सके। वह सत्ता, चाहे औपचारिक हो अथवा वास्तविक राज्य है और प्रभुसत्ता राज्य का वह अभिन्न अंग है जो इसके अन्तिम आदेशों और उसकी आज्ञापालन को उचित ठहराती है।

4.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्रभुसत्ता (Sovereignty):** संप्रभुता, पूर्ण अधिकार।
2. **गौरवपूर्ण (Glorious):** सम्मान से ओतप्रोत, सम्मानित किया गया हो।

4.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. प्रभुसत्ता की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. प्रभुसत्ता की अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए।
3. प्रभुसत्ता के क़ानूनी दृष्टिकोण को समझाइए।
4. प्रभुसत्ता के ऑस्टिन के विचारों का विश्लेषण कीजिए।
5. बाह्य प्रभुसत्ता की समस्याओं का वर्णन कीजिए।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. क़ानूनी	2. बाह्य	3. मध्यकालीन
4. (ब)	5. (स)	6. (ब)
7. असत्य	8. सत्य	9. सत्य

4.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. पॉलिटिकल थ्योरी—आइडिया एंड कान्सेप्ट—एस. रामास्वामी।
2. राजनीतिक सिद्धान्त—रामानन्द गायरोला, राधा पब्लिकेशन।

नोट

इकाई–5 : बहुलवाद (Pluralism)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 बहुलवाद (Pluralism)

5.1.1 बहुलवाद की उत्पत्ति में सहायक तत्व (Assisting Elements in Origin of Pluralism)

5.1.2 बहुलवाद की मुख्य विशेषताएँ (Main Features of Pluralism)

5.1.3 आलोचना (Criticism)

5.2 सारांश (Summary)

5.3 शब्दकोश (Keywords)

5.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- बहुलवाद का अर्थ ग्रहण करने हेतु।
- बहुलवाद की मुख्य विशेषताएँ बताने हेतु।
- बहुलवाद पर लॉस्की के विचारों की व्याख्या हेतु।
- बहुलवाद का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

नोट

बहुलवादी प्रभुसत्ता के एकत्ववादी सिद्धांत के सबसे बड़े विरोधी हैं। एकत्ववादियों के मतानुसार प्रभुसत्ता पूर्ण निश्चित, निरंकुश, असीमित, अविभाज्य, सर्वव्यापी तथा अपवर्जितता है। एकत्ववादियों के मतानुसार यह राज्य के पास होती है और यह समस्त राजनीतिक सत्ता का स्रोत है। राज्य के अंदर रहने वाले सभी व्यक्ति तथा समुदाय राज्य के अधीन होते हैं। व्यक्तियों तथा समुदायों का परम कर्तव्य राज्य की आज्ञाओं का पालन करना होता है। राज्य ही क़ानून का स्रोत है, सभी क़ानून उसी के द्वारा बनाए जाते हैं। जनता को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं होता है। वह उन्हीं अधिकारों का प्रयोग करते हैं जिनकी स्वीकृति क़ानून देता है। राज्य की सर्वोच्चता तथा राज्य के एकाधिकार का ही राजनीतिक एकत्ववाद (Political Monism) कहा जाता है। प्रभुसत्ता के इस एकत्ववाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में बहुसमुदायवाद उत्पन्न हुआ।

5.1 बहुलवाद (Pluralism)

बहुलवाद के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर राज्य तथा अनेक समुदायों में बंटी हुई है। यह केवल राज्य की सम्पत्ति नहीं है। उनके मतानुसार राज्य सर्वोच्च संस्था न होकर अन्य समुदायों के समान ही हैं मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक समुदायों की स्थापना करता है। राज्य भी मनुष्य की राजनीतिक आवश्यकताओं का विकास करने के लिए एक समुदाय है। अत: प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर समुदायों में बँटी हुई है। राज्य ने न तो इन समुदायों को समाप्त करने का अधिकार रखता है। **प्रो. हसियो** (Hasiao) के अनुसार, "बहुलवादी राज्य वह राज्य है जहाँ सर्वशक्तिमान् सत्ता का स्रोत न तो एक होता है, न तो सत्ता केन्द्रित होती है और न ही क़ानून की कोई एकताबद्ध व्यवस्था या प्रणाली होती है तथा जहाँ राजनीतिक इच्छा की सामान्यता पर बल नहीं दिया जाता। इसमें प्रभुसत्ता में विविधता होती है तथा यह विभिन्न भागों में विभाजित हो सकती है या विभाजित होनी चाहिए।" **गैटल** (Gettell) के शब्दों में, "बहुलवादी राज्य को महत्त्व नहीं देते, प्रभुसत्ता की एकता के सिद्धांत का विरोध करते हैं तथा सामाजिक नियंत्रण में अन्य संस्थाओं के लिए एक बड़े हिस्से की माँग करते हैं।"

बहुलवादी राज्य को समाप्त नहीं करना चाहते केवल इसे प्रभुताहीन बना देना चाहते हैं। लॉस्की के मतानुसार, "यदि प्रभुत्व की कल्पना को त्याग दिया जाए तो राज्य विज्ञान के लिए स्थाई रूप से उपयोगी सिद्ध हो जाएगा।"

सिद्धांत का विकास: बहुलवाद का विकास यद्यपि 19वीं शताब्दी के अंत तथा 20वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ हैं परन्तु फिर भी इस सिद्धांत के चिह्नों की तलाश मध्यकाल में की जा सकती है। मध्य युग में यूरोप में राज्य बहुत निर्बल था और समाज में चर्च, व्यावसायिक संघ (Vocational Association) और श्रेणियों (Guilds) का बहुत महत्त्व था और इन विभिन्न समुदायों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। परन्तु 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ जिससे राज्य बहुत शक्तिशाली बन गए और विभिन्न समुदायों को स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। निरंकुश राजाओं की शक्तियाँ तो कम हो गईं पर वे शक्तियाँ मंत्रिमंडल के पास चली गईं। राज्य उसी तरह सर्वशक्तिशाली रहा। कल्याणकारी राज्य के उदय होने से राज्य के कार्य और बढ़ गए जिससे राज्य के क्षेत्र का विस्तार हो गया और समुदायों का महत्त्व बिल्कुल समाप्त हो गया। राज्य के सर्वशक्तिमान होने के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में बहुसमुदायवाद का जन्म हुआ।

नोट

5.1.1 बहुलवाद की उत्पत्ति में सहायक तत्व (Assisting Elements in Origin of Pluralism)

बहुलवाद की उत्पत्ति में निम्नलिखित तत्त्वों ने सहायता की है–

1. व्यक्तिवादियों का योगदान: व्यक्तिवादियों ने राज्य की शक्तियों को कम करने पर ज़ोर दिया और उन्होंने व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता देने का विचार किया। जे.एस. मिल, हरबर्ट स्पेन्सर तथा माण्टेस्क्यू (Montesquieu) आदि विचारकों ने राज्य में शक्ति के केन्द्रीयकरण का विरोध किया तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बल दिया। बहुलवादियों ने भी राज्य की प्रभुसत्ता को कम करने पर ज़ोर दिया परन्तु व्यक्तिवादियों ने जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया वहाँ पर बहुलवादियों ने समुदायों की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया।

2. मध्यकालीन श्रेणीवादी विचारकों का प्रभाव: 19वीं शताब्दी के अन्त में **गिरके** (Gierke), **मेटलैंड** (Maitland), **फिगिस** (Figgis) इत्यादि लेखकों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि जब मध्य युग में चर्च तथा अन्य श्रेणियों (Guilds) को स्वतंत्रता प्राप्त थी तो वर्तमान युग में भी समुदायों को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

3. राज्य की अयोग्यता: आधुनिक राज्य की अयोग्यता भी बहुलवाद के विकास का कारण है। आधुनिक युग में राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ गया है और बढ़ता ही जा रहा है। परन्तु व्यवहार में राज्य के कार्यक्षेत्र बढ़ जाने से राज्य की अयोग्यता सिद्ध होती है। **प्रो. वार्ड** (Ward) के शब्दों में, "इससे केन्द्र में पक्षपात या लाभ तथा दूरवर्ती सिरों पर रक्तहीनता तथा पाण्डु रोग हो जाता है। बहु-समुदायवादी विकेन्द्रित राज्य से आधुनिक राज्य के दोष को दूर करना चाहते हैं।"

4. लोकतंत्र में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था से असंतोष: 19वीं शताब्दी के अन्त में तथा 20वीं शताब्दी के आरंभ में लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को अपनाया गया, परन्तु शीघ्र ही इस प्रणाली में असंतोष उत्पन्न हो गया और श्रेणी समाजवादी तथा संघवादी विचारकों द्वारा इसके स्थान पर **'व्यावसायिक या कार्यात्मक प्रतिनिधित्व'** (Function Representation) की माँग की थी। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के समर्थक समुदायों को राज्य के समान ही महत्त्व देना चाहते थे। अत: इससे बहुलवाद के विकास में काफी सहायता मिली।

5. अराजकतावाद: सिन्डीकलिज्म तथा श्रेणी समाजवाद इत्यादि ने राज्य की शक्ति को कम करने का प्रचार किया जिससे बहुलवाद को बहुत सहायता मिली।

6. क़ानून राज्य का आदेश नहीं: कई विद्वानों ने जैसे कि ड्यूगी (Duguit) तथा क्रेब (Krabbe) ने इस बात का प्रचार किया कि क़ानून राज्य का आदेश नहीं है, इन विद्वानों के अनुसार क़ानून राज्य से ऊपर तथा श्रेष्ठ है। राज्य को भी क़ानून के मतानुसार कार्य करना चाहिए। राज्य को ही क़ानून बनाने का एकाधिकार प्राप्त नहीं है। इन विद्वानों के विचारों से बहुलवाद को बहुत बल मिला।

7. राज्य का उद्देश्य जनहित: राज्य का उद्देश्य जनता का कल्याण करना है और समुदायों का उद्देश्य भी अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। अत: राज्य तथा अन्य समुदायों का पारस्परिक सहयोग होना चाहिए।

8. अन्तर्राष्ट्रवाद का क्रमिक विकास: आधुनिक युग में कोई भी राज्य आत्म-निर्भर नहीं है। आज का युग अन्तर्राष्ट्रीयता के इस युग में राज्यों की प्रभुसत्ता को सीमित करना आवश्यक है। प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों का पालन करना चाहिए। इस विचारधारा से भी बहुलवाद को बल मिला है।

बहुलवाद के मुख्य समर्थक तथा बहुलवाद की व्याख्या–बहुलवाद के मुख्य समर्थक गिरके, फिगिस, बार्कर, मैकाइवर, जी.डी.एच. कोल, लिंडसे, क्रेब, मेटलैंड, ड्यूगी, तथा लास्की हैं।

नोट

बहुलवादियों के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर उन अनेक समुदायों में बँटी हुई है, जिनकी स्थापना मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है।

लिंडसे (Lindasy) के मतानुसार, "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रभुसत्ता वाले राज्य के सिद्धांत का खण्डन हो चुका है।" उनके मतानुसार मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति केवल राज्य द्वारा नहीं हो सकती, इसके लिए अनेक समुदायों की आवश्यकता है। अत: राज्य को दूसरे समुदायों से मिलकर कार्य करना चाहिए। **प्रो. लिंडसे** के शब्दों में, "राज्य उन बहुत-से समुदायों या संगठनों में से एक समुदाय है जिनके अपने सामाजिक व्यक्तित्व और इच्छाएँ हैं और जो राज्य की तरह बहुत-से सार्वजनिक कार्यों में लगे हुए हैं।" इसलिए "राज्य अपने सभी भागों में समुदायों पर केवल इतना ही नियंत्रण रख सकता है जितना कि नागरिक अपनी इच्छा से राज्य को देने को तैयार हो। राज्य का अपना कोई अस्तित्व नहीं। राज्य समुदायों का समुदाय है।"

प्रो. बार्कर (Barker) के अनुसार, "कोई भी राजनीतिक सिद्धांत इतना निष्प्राण और निष्फल नहीं हो गया जितना की प्रभुसत्ता संपन्न राज्य का सिद्धांत।"

डॉ. फिगिस (Figgis) के विचारानुसार, "राज्य अन्य समुदायों की भांति एक समुदाय ही है और उसका कार्य अन्य समुदायों के कार्यों में समन्वय करना है। इसलिए राज्य की प्रभुसत्ता की धारणा एक भ्रम मात्र ही है।"

ड्यूगी (Duguit): के मतानुसार: "राज्य की प्रभुसत्ता का सिद्धांत एक कोरी कल्पना है तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य या तो मर चुका है या मरने वाला है।"

लॉस्की के विचार

बहुलवादी विचारकों में प्रो. लॉस्की का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं 'Studies in the Problem of Sovereignty', 'Authority in the Modern State', 'Foundations of Sovereignty', आदि में प्रभुसत्ता की समस्या पर विचार किया है। इन्होंने प्रभुसत्ता के परम्परागत सिद्धांतों पर ज़ोरदार आक्रमण किया और ऐसा करने में इनको अपने ऊपर अपने गुरु बार्कर, श्रेणी-समाजवादी चिन्तक **कोल, मेटलैण्ड** आदि का प्रभाव था। **लॉस्की** ने **बोन, हॉब्स रूसो** और **आस्टिन** द्वारा प्रतिपादित राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धांत का बड़े ज़ोरों से खण्डन किया है। इन्हीं के अनुसार **आस्टिन** की प्रभुसत्ता की व्याख्या में निम्नलिखित तीन तत्त्व निकलते हैं–

1. क़ानून की दृष्टि से राज्य कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि उस राज्य में एक निश्चित सम्प्रभु या सत्ताधारी हो जो समस्त शक्ति का स्रोत होता है।

2. सम्प्रभु की शक्ति असीम तथा अमर्यादित होती है।

3. सम्प्रभु का आदेश ही क़ानून है जिसके न मानने पर व्यक्ति को दण्डित किया जा सकता है।

लॉस्की के विचारानुसार प्रभुसत्ता की परम्परागत धारणा तथ्यों के विरुद्ध है।

1. सम्प्रभु का निर्णय करना कठिन है: लॉस्की का कहना है कि ऑस्टिन का सम्प्रभु को निश्चित करने का सिद्धांत उचित नहीं है। **लॉस्की** की धारणा है कि 'समाज के वास्तविक शासकों की खोज नहीं की जा सकती, उसको निश्चयात्मक होने की बात कहना तो दूर रहा।' इन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण देते हुए कहा है कि वहाँ न तो राष्ट्रपति और न ही कांग्रेस सम्प्रभु का स्थान ग्रहण कर सकते हैं। वहाँ पर किसी व्यक्ति को सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता। यही बात अन्य संघात्मक राज्यों पर लागू होती है। वहाँ पर भी सम्प्रभु का पता लगाना कठिन कार्य है। यदि किसी राज्य में लोक-निर्णय की पद्धति प्रचलित हो और धारणा का सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता। यही बात अन्य संघात्मक राज्यों पर लागू होती है। वहाँ पर भी सम्प्रभु का पता लगाना कठिन कार्य है। यदि किसी राज्य में लोक-निर्णय की पद्धति प्रचलित हो और अंतिम क़ानूनी सत्ता निर्वाचक-मंडल के हाथ में रहती हो, तो उसे भी ऑस्टिन की धारणा का सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता है। **लॉस्की** के अनुसार, "कोई भी निर्वाचक-मंडल एक ऐसा

नोट

अनिश्चयात्मक निकाय होता है जो कि क़ानूनी दृष्टि से अपने अंगों या अभिकरणों के माध्यम से कार्य करता है, जबकि ऑस्टिन की धारणा यह है कि प्रभुसत्ता की विशेषता निश्चयात्मक तथा अमर्यादित होना है।" इस परिस्थिति में लॉस्की यह मत प्रस्तुत करता है कि **हेनरी मेन** (Henry Maine) का यह विचार उचित है कि "ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऑस्टिन का सिद्धांत मूर्खता की सीमा तक कृत्रिम है।"

2. सम्प्रभुता के असीमित तथा सर्वोच्च होने की आलोचना: लॉस्की के मतानुसार आज तक कहीं भी सम्प्रभु की असीम सत्ता प्राप्त नहीं रही और जहाँ कहीं ऐसे सम्प्रभु रहे हैं तो वहाँ कुछ-न-कुछ रक्षा कवच बने रहे हैं। **लॉस्की** ने टर्की के सुल्तान का उदाहरण देते हुए कहा है कि वह अपनी शक्ति की चरम सीमा पर भी मनमानी नहीं किया था बल्कि कुछ प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों की सीमा में उसने अपने को सीमित रखा। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में संसद-सहित राजा (King-in-Parliament) की स्थिति के बारे में भी उसकी धारणा यह है कि क़ानूनी दृष्टि से इसकी सत्ता असीम है और यह **ऑस्टिन** की धारणा की सम्प्रभु सत्ता है। परन्तु संसद भी अपनी असीम शक्तियों का प्रयोग जनमत तथा प्रथाओं के विरुद्ध नहीं कर सकती है। व्यवहार में वह अपनी क़ानूनी असीम सत्ता का प्रयोग परिस्थितियों के अनुसार ही करती हैं उसके ऊपर अनेक आंतरिक और बाहरी नियंत्रण है जिनका पालन उसको करना ही पड़ता है। ब्रिटिश संसद बल्श खान-खोदकों के विरोध के कारण **'म्यूनिशन एक्ट'** की हड़ताल विरोधी धारा को लागू नहीं कर सकी। इसी प्रकार अमेरिकन कांग्रेस को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी रेलवे कर्मचारियों के दबाव के कारण एक क़ानून बनाना पड़ा। संघात्मक राज्यों में शक्तियों का बँटवारा होने के कारण सम्प्रभु की शक्तियाँ असीमित नहीं होतीं।

3. सम्प्रभु का आदेश क़ानून नहीं है–ऑस्टिन के इस मत से **लॉस्की** सहमत नहीं होता कि सम्प्रभु का आदेश ही क़ानून है। **लॉस्की** के मतानुसार आदेश तथा क़ानून पृथक् चीजें हैं। क़ानून का लक्षण सबके ऊपर समान रूप से लागू होना है चाहे वह विधायक हो या जनता। कारण किसी ऐसी सत्ता द्वारा दिया जाता है जो स्वयं क़ानून द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रकार आदेश का लक्षण यह है वह आदेशदाता पर लागू नहीं होता जबकि क़ानून सभी पर लागू होता है। अत: क़ानून को आदेश का रूप मानना किसी भी आधार पर उचित नहीं है।

सम्प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के सिद्धांत को **लॉस्की** नैतिक दृष्टि से भी अमान्य ठहराता है। उसका कहना है कि किसी व्यक्ति से, उसे किसी बात को नैतिक औचित्य समझाए बिना ही अंधा होकर आज्ञापालन की माँग करना नैतिक रूप से गलत है। यह उसके नैतिक व्यक्तित्व के विकास को कुंठित कर देता है। राज्य को व्यक्ति की भक्ति प्राप्त करने का केवल वहीं तक अधिकार है जहाँ तक उसकी अंतरात्मा सहमत है। "मुझ पर सत्ता का दावा उसकी नैतिक अपील की मात्रा के अनुपात में ही उचित है।"

लॉस्की के मतानुसार अंतर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से राज्य की सम्प्रभुता का सिद्धांत मानव के अहित में है। **लॉस्की** ने कहा है, "अंतर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक स्वतंत्र प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की धारणा मानव कल्याण के लिए घातक है, अन्य राज्यों के साथ संबंधों के निर्मित एक राज्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिए। इसका एकमात्र निर्णायक स्वयं उसी राज्य को नहीं होना चाहिए।" इस प्रकार लॉस्की की दृष्टि में अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार की परंपराएँ (क़ानून) राज्य की प्रभुसत्ता को मर्यादित करती हैं।

व्यक्ति और समूह के दृष्टिकोणों से भी लॉस्की ने सम्प्रभुता सिद्धांत की आलोचना की है। वह राज्य का संगठन इस प्रकार चाहता है कि व्यक्ति और समूहों को अधिकतर स्वतंत्रता प्राप्त हो। वह व्यक्ति को केन्द्रीय स्थान देना चाहता है और राज्य की इच्छाओं को व्यक्ति की इच्छाओं पर प्रधानता उसी सीमा तक देता है जहाँ तक उसे इच्छा का निर्माण ऐसी बुद्धिमत्ता के साथ किया जाए जिससे कि उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो जाए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि **लॉस्की** नैतिक और व्यवहारिक दृष्टिकोण से एकलवादी या अर्द्धतवादी (Monist) प्रभुसत्ता का कट्टर विरोधी है। इसीलिए **लॉस्की** ने अपनी पुस्तक 'Grammar of Politics' में लिखा है: "राजनीति विज्ञान के लिए यह एक स्थायी लाभ की बात होगी यदि समस्त प्रभुसत्ता की कल्पना को त्याग दिया जाए।" राज्य

नोट

की बात अंतिम आदेश नहीं हो सकती है। वह तो केवल दिशा-निदेशन का काम करता है तथा उन लक्ष्यों को स्पष्ट करता है जिस ओर व्यक्ति, समाज और संघ सब बढ़ना चाहते हैं। अनुत्तरदायी और निरंकुश राज्य अधिक दिन तक नहीं चल सकता।

क्या आप जानते हैं समाज अनेकतावादी है, राज्य का प्रतिनिधि है। इसलिए राज्य भी अनेकतावादी है और सम्प्रभुता की कल्पना त्याज्य है।

लॉस्की का कहना है "समाज का स्वरूप चूँकि संघात्मक है, इसलिए सत्ता का रूप भी संघात्मक होना चाहिए।" इसका अर्थ यह है कि ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो व्यक्तियों पर निरंकुश नियंत्रण का अधिकार रखती हो। अधिक-से-अधिक राज्य मनुष्य के जीवन पर आंशिक नियंत्रण रख सकता है। मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं जैसे कि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आदि। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक समुदायों का सदस्य बनता है और ये समुदाय व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में महान् सहायता करते हैं। उदाहरणस्वरूप हमारे समाज में क्लब, चर्च, ट्रेड यूनियन अथवा इसी प्रकार अर्थ, धर्म, कला इत्यादि क्षेत्रों में विभिन्न समुदायों का अस्तित्व है। इन समुदायों का अपना जीवन तथा अपनी इच्छा है। ये सभी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं क्योंकि इनकी कार्यप्रणाली और उद्देश्य एक-दूसरे से अलग होती है। लॉस्की के मतानुसार, अगर इनका अध्ययन राज्य के प्रसंग में किया जाए तो वे किसी भी अर्थ में उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं लगते। दूसरी तरफ यदि इस राज्य का मूल्यांकन करें तो इससे इन समुदायों और समूहों के बारे में जानकारी नहीं मिलती है। इसी तरह विभिन्न समुदायों का अध्ययन भी राज्य के बारे में जानकारी नहीं देता है। अत: इससे सिद्ध होता है कि राज्य को इन समुदायों के ऊपर किसी प्रकार की नियंत्रणकारी या बाह्यकारी शक्ति नहीं है। राज्य अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय है, जो व्यक्ति के राजनीतिक हितों की रक्षा करता है। इसलिए राज्य को अन्य सभी समुदाय में सर्वोच्च होने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। राज्य व्यक्ति की आंशिक शक्ति को अपने अधिकार में कर सकता है। अर्थात् जब राज्य हमारी केवल आंशिक इच्छाओं को पूर्ण करता है वह हमें उसी अनुपात में आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर सकता है। इटली में **मुसोलिनी** तथा जर्मनी में **हिटलर** ने सर्वसत्तावादी सावयव राज्य की स्थापना की। उनका दावा था कि समाज के सभी समुदाय और व्यक्ति राज्य के अस्तित्व के लिए बलि किए जा सकते हैं, परन्तु उनके राज्य का अस्तित्व स्थायी नहीं बल्कि बालू के घर के समान था क्योंकि उन्होंने व्यक्ति और समुदायों की स्वतंत्र इच्छा एवं व्यक्तित्व का नाश किया। **प्रो. लॉस्की** राज्य को विभिन्न समुदायों में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने वाला संघ बतलाता है। वह राज्य को बराबर वालों में प्रमुख मानता है।

लॉस्की के अनुसार, जीवन के प्रत्येक पक्ष में शक्ति संघात्मक है। जैसे वैधानिक शक्ति को किसी व्यक्ति विशेष के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता है क्योंकि इससे बहुत से लोगों का हित नहीं हो सकता है। एकत्ववादी राज्य स्वतंत्रता और जनमत का विरोधी होता है और जनता को प्रशासन के पास अपनी आवाज पहुँचाने का अवसर नहीं मिलता है। अत: यदि राज्य को क्षमतावान बनाना है, उसमें लोकमत को प्रभावशाली बनाना है तो राज्य की शक्तियों को विकेन्द्रित कर दिया जाए अर्थात् उसे विभिन्न समुदायों में बाँट दिया जाए। इस प्रकार संघीय सत्ता की स्थापना होगी जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। लॉस्की का कहना है कि एकत्ववादी राज्य का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें समुदायों की सत्ता की अवहेलना की जाती है जबकि अन्य समुदाय व्यक्ति के विकास के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितना कि राज्य। इसलिए वैधानिक प्रक्रिया उन सभी की इच्छाओं पर आधारित होनी चाहिए जिसको वे प्रभावित करती हैं। लॉस्की का यह भी कहना है कि राज्य बाहरी प्रभुसत्ता शक्ति के लिए खतरा है और ये अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में भी एक बाधा है। राज्य की सम्प्रभुता को इन सभी पहुलओं का त्याग करके अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का अभ्यास करना चाहिए और समस्त मानवता के हित में कार्य करना चाहिए।

नोट

लॉस्की का बहुलवाद उग्र व्यक्तिवादी सिद्धांत है। व्यक्ति विभिन्न समुदायों तथा राज्य का सदस्य होता है। व्यक्ति की निष्ठा की प्राप्ति के लिए समुदायों एवं राज्य में प्रतियोगिता रहती है। राज्य और समुदाय अथवा समुदायों के बीच मतभेद होने पर व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किसी की आज्ञा अथवा नियमों का पालन करता है। व्यक्ति को राज्य अपने नियमों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है। लॉस्की ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन भय से नहीं करता बल्कि वह इस बात से करता है कि राज्य को आज्ञा पालन करने में ही इसका हित निहित है। यदि राज्य की किसी आज्ञा से व्यक्ति का अहित होता है तो व्यक्ति को अधिकार है कि राज्य की ऐसी आज्ञाओं का पालन न करे।

नोट्स यदि राज्य कोई सामान्य हित के विरुद्ध कार्य करता है अथवा उन अधिकारों का संरक्षण नहीं करता, जो व्यक्ति के विकास में सहायक हो तो व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का विरोध करने का अधिकार है।

रॉबर्ट मैकाइवर के विचार

लॉस्की की भाँति ही मैकाइवर भी एक महत्त्वपूर्ण बहुसमुदायवादी है। **मैकाइवर** ने **हॉब्स, बैंथम** और **ऑस्टिन** के प्रभुसत्ता सिद्धांत की बड़ी आलोचना की है। **मैकाइवर** के बहुलवादी विचार इस प्रकार हैं–

1. प्रभुसत्ता के एकत्ववादी सिद्धांत की आलोचना: लॉस्की की भाँति **मैकाइवर** प्रभुसत्ता को निरंकुश और अविभाज्य नहीं मानता। इस संदर्भ में **मैकाइवर** का मत है, "प्रभुसत्ता एक समुदाय की विशेषता है इसलिए यह उस समुदाय से अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकती।" **मैकाइवर** का कहना है चूँकि राज्य क़ानून स्रोत है इसलिए राज्य को निरंकुश नहीं माना जा सकता क्योंकि धार्मिक क़ानूनों का स्रोत चर्च है। **मैकाइवर** के विचारानुसार शक्ति राज्य को निरंकुश नहीं बनाती। उसके शब्दों में, 'क़ानूनी सिद्धांत शक्ति पर आधारित है सेवा पर नहीं परन्तु शक्ति केवल सेवा का साधन है। कोई भी राज्य की सेवा को असीमित नहीं मानता। अत: असीमित प्रभुसत्ता की धारणा एक भयंकर झूठ है।'

2. राज्य और समाज में अंतर: मैकाइवर राज्य और समाज में अंतर मानता है और उसने उन विद्वानों की आलोचना की है, जो राज्य और समाज को एक ही मानते हैं। **मैकाइवर** के शब्दों में, "सामाजिक और राजनीतिक को एक-दूसरे का पर्याय मानना थोड़ी जल्दबाजी का नमूना है जिससे न तो समाज का अर्थ समझा जा सकता है, न ही राज्य का।" उसके विचारानुसार समाज की स्थापना राज्य से पहले हुई। यद्यपि राज्य समाज के अंदर होता है परन्तु इसकी व्यवस्था समाज से भिन्न होती है।

3. राज्य अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय है: मैकाइवर राज्य को अन्य समुदायों की भाँति एक समुदाय मानता है। राज्य परिवार, चर्च आदि जैसी सामाजिक संस्थाओं में से एक है और इसका अन्य समुदायों की तरह सीमित उद्देश्य होता है। जिस तरह राज्य की स्थापना निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होती है, उसी तरह अन्य समुदायों की स्थापना एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है। व्यक्ति के विकास में इन समुदायों का महत्त्व राज्य से कम नहीं होता। **मैकाइवर** (Maciver) का कहना है, "प्रत्येक समुदाय, राज्य के समान ही सत्ता तथा नियंत्रण की शक्ति रखता है। ये महान समुदाय समाज में राज्य के समान ही प्राकृतिक है। राज्य, परिवार, चर्च, ट्रेड यूनियन या सांस्कृतिक संगठनों के उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता। आज महान् समुदाय न तो राज्य के भाग है और न ही उसके अधीन। वे राज्य की तरह ही अपने अधिकार से विद्यमान हैं। वे भी अपनी शक्तियों का प्रयोग राज्य के समान ही करते हैं।"

नोट

4. क़ानून राज्य के आदेश मात्र ही नहीं है: ऑस्टिन के अनुसार, क़ानून सम्प्रभु के आदेश होते हैं, परन्तु मैकाइवर ऑस्टिन के इस विचार का विरोध करता है। मैकाइवर के मतानुसार, क़ानून तो आदेश का विपरीत भाव है। जब कोई आदेश जारी किया जाता है तो वह आदेश देने वाले को आदेश पाने वाले से अलग कर देता है। दोनों के स्तरों तथा दोनों के हितों में भेद पैदा कर देता है जबकि क़ानून के माध्यम से एकता की स्थापना होती है तथा क़ानून सभी पर समान से लागू होता है। मैकाइवर क़ानून को क़ानून वालों से सर्वोच्च मानता है क्योंकि क़ानून बनाने वाले स्वयं किसी क़ानून के अंतर्गत ही क़ानून बनाते हैं। **मैकाइवर** का कहना है, "क्रेब के इस शब्दों में सत्य का अंश है कि क़ानून की शक्ति राज्य की शक्ति से बड़ी है। राज्य क़ानून का संरक्षक अधिक तथा इसका निर्माता कम है। राज्य का मुख्य उद्देश्य क़ानून के शासन को लागू करना है जिसका अर्थ यह है कि वह स्वयं क़ानून के अधीन है।"

5. प्रभुसत्ता का आधार शक्ति नहीं: हॉब्स, बेथम तथा ऑस्टिन के अनुसार शक्ति प्रभुसत्ता का आधार है। परन्तु मैकाइवर के अनुसार, शक्ति न तो प्रभुसत्ता का आधार हो सकती है और न ही राज्य का। **मैकाइवर** का कहना है, "शक्ति प्रयोग से ही केवल राज्य का निर्माण नहीं होता। यदि ऐसा होता तो समुद्री लुटेरों का जहाज या बागी सेना भी राज्य कहलाती।"

संक्षेप में, **मैकाइवर** के अनुसार प्रभुसत्ता सीमित होती है और राज्य भी अन्य समुदायों की तरह एक समुदाय है। अत: प्रभुसत्ता राज्य और अन्य समुदायों में विभाजित होती है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में **मैकाइवर** एकत्ववादी प्रभुसत्ता को अंतर्राष्ट्रीयता का शत्रु मानता है। **मैकाइवर** का यह विश्वास है कि समाज की बदलती हुई परिस्थितियाँ राज्य को प्रभुसत्ता त्याग देने के लिए विवश कर देगी।

टास्क बहुलवाद पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. बहुलवादी प्रभुसत्ता के ..... सिद्धांत के सबसे बड़े विरोधी हैं।
2. राज्य का उद्देश्य ..... का कल्याण करना होना चाहिए।
3. लॉस्की का मत है कि ..... का स्वरूप चूंकि संघात्मक है, इसलिए सत्ता का रूप भी संघात्मक होना चाहिए।

5.1.2 बहुलवाद की मुख्य विशेषताएँ (Main Features of Pluralism)

बहुलवाद के विभिन्न विद्वानों के विचारों के आधार पर बहुलवाद की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. राज्य सम्पूर्ण नहीं है–इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का जीवन बहुमुखी है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक समुदायों की स्थापना करता है। इन समुदायों में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संगठन होते हैं। अपने जीवन के प्रत्येक पहलू को तभी यह पूर्णरूप से विकसित कर सकता है यदि इन समुदायों की अपने क्षेत्र में स्वतंत्रता हो। समुदायों को अपने-अपने क्षेत्र में प्रभुसत्ता प्राप्त होनी चाहिए। प्रभुसत्ता केवल राज्य के पास न होकर सभी समुदायों में विभाजित होनी चाहिए। इस प्रभुसत्ता पर राज्य का एकाधिकार नहीं होना चाहिए।

नोट

2. व्यक्ति का संबंध अन्य समुदायों से भी है: व्यक्ति राज्य के प्रति ही वफादार नहीं है बल्कि उन सब समुदायों के प्रति वफादार है जिसका वह सदस्य है। अधिकांश व्यक्ति अपने धार्मिक तथा आर्थिक समुदायों के प्रति इतने अधिक वफादार होते हैं कि वे राज्य का भी विरोध करने के लिए तैयार हो जाते हैं। अत: राज्य अकेला व्यक्ति की वफादारी का अधिकारी नहीं है और न ही अकेले उसी के पास प्रभुसत्ता होनी चाहिए।

3. राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित होना चाहिए: राज्य का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के राजनीतिक जीवन की उन्नति करना होता है। बहुलवादियों के अनुसार उसे अपने कार्य राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित रखने चाहिए जिससे अन्य समुदाय व्यक्ति के विकास में पूर्ण योगदान दे सकें। शिक्षा कैसी होनी चाहिए, उत्पादन के साधनों की व्यवस्था क्या होनी चाहिए इत्यादि बातों से राज्य का कोई मतलब नहीं होना चाहिए।

4. राज्य के अस्तित्व की स्वीकृति: बहुलवादी राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं है बहुलवादी राज्य को उपयोगी समझते हैं परन्तु उसके अनुसार राज्य के साथ-साथ अन्य समुदायों को भी स्वतंत्रता देना चाहते हैं। अत: बहुलवादी राज्य की एकल प्रभुसत्ता का विरोधी है न कि स्वयं राज्य का।

5. प्रभुसत्ता का आधार संघात्मक होना चाहिए: बहुलवादियों के मतानुसार समाज का संगठन संघात्मक है। जिस प्रकार संघ राज्य में कई राज्य मिलकर संघ की स्थापना करते हैं। परन्तु अपनी प्रभुसत्ता का अंत नहीं करते, उसी प्रकार संघात्मक समाज में विभिन्न समुदायों को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वतंत्रता होनी चाहिए। समाज में विभिन्न समुदाय सामान्य हितों की रक्षा के लिए संगठित अवश्य हों परन्तु प्रत्येक समुदाय अपनी सत्ता को अवश्य बनाए रखें।

6. क़ानून का पालन उपयोगिता के कारण: बहुलवादियों के मतानुसार व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन इस कारण नहीं करता कि राज्य प्रभुसत्ता संपन्न है और उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने पर उसे दण्ड मिलेगा बल्कि वह क़ानून का पालन उपयोगिता के कारण करता है। इस प्रकार बहुलवादी राज्य को एक उपयोगी संस्था मानते हैं। जिस प्रकार अन्य समुदाय व्यक्ति के जीवन को विकसित करने के लिए प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार राज्य भी व्यक्ति के राजनीतिक जीवन का विकास करता है। इस प्रकार क़ानून का आधार शक्ति न होकर उसकी उपयोगिता है।

7. विकेंद्रीकरण के पक्ष में: बहुलवादी प्रभुसत्ता का विकेंद्रीकरण चाहते हैं। उसके मतानुसार केंद्रीयकरण से समुदायों की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। इसलिए प्रभुसत्ता राज्य तथा अन्य समुदायों में बँटी होनी चाहिए।

8. राज्य की निरंकुशता का विरोध: बहुलवादी राज्य की निरंकुशता तथा असीमित शक्तियों का विरोध करते हैं पर वे व्यक्ति को अनियंत्रित स्वतंत्रता के पक्ष में नहीं हैं। बहुलवादी व्यक्ति की अपेक्षा समुदायों के अधिकारों तथा स्वतंत्रता पर ज़ोर देते हैं।

9. राज्य और समाज में अंतर: आदर्शवादियों की तरह बहुलवादी राज्य और समाज को एक नहीं मानते हैं। बहुलवाद के अनुसार, "फाँसीवादियों का यह कथन गलत है कि सभी कुछ राज्य के अन्दर है, राज्य के बाहर तथा राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं।" बहुलवादियों के अनुसार, राज्य समाज का वह अंग है जो उद्देश्य और कार्यक्षेत्र की दृष्टि में समाज का सहगामी नहीं हो सकता। इस संबंध में **मैकाइवर** (Maciver) ने लिखा है कि, "राज्य एक ऐसा संगठन है जिसे समाज का समकालीन या सम विस्तार वाला नहीं कहा जा सकता। राज्य का निर्माण तो समाज के अंतर्गत एक निश्चित व्यवस्था के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु ही किया जाता है।"

10. राज्य सामाजिक संस्थाओं के अधीन: बहुलवादियों का कहना है कि इतिहास इस बात का गवाही देता है कि राज्य सदा ही सामाजिक संस्थाओं के सामने झुकता आया है। प्रो. **लॉस्की** का कहना है कि राज्य कभी भी सर्वशक्तिमान तथा निरंकुश नहीं रहा है। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार वेल्स की खानों में विद्रोही मज़दूरों के विरुद्ध **'शस्त्रास्त्र अधिनियम'** (Munitions Act) को लागू नहीं कर सकी। इस प्रकार अमेरिकन रेलवे कर्मचारी

नोट

संघ ने हड़ताल की धमकी देकर सरकार से आठ घण्टे का दिन स्वीकार करवा लिया था। भारत में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि सरकार को सामाजिक संगठनों की माँगों को स्वीकार करना पड़ता है।

हम बहुलवादियों के सिद्धांत को **गैटेल** (Gettell) के शब्दों में वर्णन करते हैं। **गैटेल** (Gettell) के अनुसार, बहुलवादी राज्य को एक अनोखी संस्था मानने से इनकार करते हैं। उनके मतानुसार दूसरे समुदाय भी बराबर के महत्त्वपूर्ण तथा स्वाभाविक हैं। उनका मत है कि ये समुदाय अपने क्षेत्र में उसी प्रकार प्रभुसत्ता संपन्न हैं जैसे राज्य अपने क्षेत्र में।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. बहुलवादी प्रभुसत्ता का क्या चाहते हैं?

   (अ) केन्द्रीकरण (ब) विकेन्द्रीकरण

   (स) न (अ) और (ब) (द) इनमें से कोई नहीं।

5. 'राज्य एक ऐसा संगठन है जिसे समाज का समकालीन या सम विस्तार वाला नहीं कहा जा सकता'–कथन किसका है?

   (अ) मैकाइवर (ब) लॉस्की

   (स) ऑस्टिन (द) रूसो

6. 'राज्य कभी भी सर्वशक्तिमान तथा निरंकुश नहीं रहा'–कथन किसका है?

   (अ) लॉस्की (ब) मैकाइवर

   (स) ऑस्टिन (द) रूसो

5.1.3 आलोचना (Criticism)

बहुलवाद की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई है–

1. बहुलवाद अराजकता का समर्थन करता है: बहुलवादियों के इन विचारों को यदि व्यवहारिक रूप में लागू किया जाए तो इसका परिणाम अराजकता होगी। प्रभुसत्ता को राज्य की दूसरी संस्थाओं में बाँटने से अराजकता तथा दुर्व्यवस्था फैलेगी। जब प्रत्येक समुदाय के पास प्रभुसत्ता हो तो प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों के लिए क़ानूनों का निर्माण करेगा और यह भी स्वाभाविक है कि कई समुदायों द्वारा बनाए गए क़ानून परस्पर विरोधी होंगे। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए यह समस्या होगी कि कौन-सा क़ानून माना जाए और कौन-सा नहीं। मध्य युग में चर्च, राज्य, सामंतों पर आर्थिक संघों में संघर्ष रहता था जिसके फलस्वरूप अराजकता फैली हुई थी।

2. राज्य दूसरे समुदायों के अस्तित्व के लिए आवश्यक है: यह ठीक है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक समुदाय स्थापित करता है और ये समुदाय उसके जीवन में महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। परन्तु ये समुदाय अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर निर्भर करते हैं। विभिन्न समुदाय अपने नियमों को राज्य की सहायता से ही लागू करते हैं। राज्य के बिना इन समुदायों की स्थापना भी नहीं हो सकती। अत: समुदायों का स्तर राज्य के बराबर नहीं है। राज्य के पास प्रभुसत्ता है।

3. समुदायों के विवाद भी राज्य सुलझाता है: बहुलवादियों के इस विचार को यदि हम मान लें कि समाज विभिन्न समुदायों के समूह से बना है तो हमें किसी ऐसी सर्वोच्च संस्था की आवश्यकता होगी जो कि भिन्न समुदायों

नोट

के झगड़ों को निपटा सके। यदि कोई ऐसी सर्वोच्च संस्था नहीं होगी तो भिन्न-भिन्न समुदायों के परस्पर झगड़ों से मनुष्य का जीवन बहुत दूषित हो जाएगा। ऐसी परिस्थितियों में समाज की प्रगति नहीं हो सकेगी। इसलिए समाज में सर्वोच्च संस्था अर्थात् राज्य का होना आवश्यक है।

4. बहुलवाद अस्पष्ट है: बहुलवाद स्पष्ट नहीं है। यह किसी एक विद्वान की देन नहीं है। इसके समर्थन में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने तर्क दिए हैं। किसी एक विद्वान ने इसके सिद्धांतों का स्पष्ट तौर पर वर्णन नहीं किया। गिरके तथा मेटलैंड ने समुदायों के वास्तविक व्यक्तित्व की व्याख्या तो की है परन्तु इन विद्वानों ने राज्य की क़ानूनी सत्ता के विषय में कुछ नहीं कहा। स्वयं कई समुदायवादियों ने विभिन्न समुदायों में मेल-मिलाप बनाए रखने का कार्य राज्य को सौंपा है जिससे राज्य की सर्वोच्चता स्पष्ट होती है।

5. प्रभुसत्ता का विभाजन किस प्रकार किया जाए?: यदि हम बहुलवादियों के इस सिद्धांत को मान भी लें कि प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर विभिन्न समुदायों में बँटी हुई है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रभुसत्ता का विभाजन भिन्न-भिन्न समुदायों में किस आधार पर किया जाए। समाज में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अनेक समुदाय होते हैं। किसी समुदाय को कितनी प्रभुसत्ता और किन-किन विषयों पर क़ानून बनाने की शक्ति दी जाए आदि समस्याओं को सुलझाना अत्यन्त कठिन है।

6. प्रभुसत्ता का विभाजन करना राज्य को नष्ट करना है: बहुलवादी प्रभुसत्ता को विभाजित करते हैं। परन्तु प्रभुसत्ता को विभाजित करना उसे नष्ट करना है। प्रभुसत्ता एक पूर्ण इकाई है जिसे बाँटा नहीं जा सकता। यदि प्रभुसत्ता को बाँटा जाए तो राज्य नष्ट हो जाएगा। बहुलवादियों का सिद्धांत बड़ा अनोखा है क्योंकि ये प्रभुसत्ता को बाँटना भी चाहते हैं और राज्य को भी रखना चाहते हैं। यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

7. सभी समुदाय समान स्तर के नहीं हैं: बहुलवाद की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि ये समाज के सभी समुदायों को समान स्तर का मानता है। प्रत्येक समुदाय को राज्य के समान मानना बहुत बड़ी भूल है। विशेष कार्यों के कारण राज्य की स्थिति भी अन्य समुदायों से अलग और विशेष होती है। **डॉ. गार्नर** (Garner) के शब्दों में, "विभिन्न श्रेणियों व वर्गों को तथा एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने वाले समुदायों को उचित मर्यादा में रखने का कार्य करके राज्य एक महत्त्वपूर्ण सेवा करता है। उनके परस्पर विरोधी हितों का निपटारा करने और उनमें मेल स्थापित करने के लिए राज्य एक निर्णायक का कार्य करता है।"

8. समुदायों के सदस्यों पर अत्याचार रोकने के लिए राज्य का सर्वोच्च होना आवश्यक है: यदि समुदायों को पूर्ण रूप से स्वतंत्रता दे दी जाए तो समुदायों के प्रबंधक सदस्यों पर अत्याचार करने लगेंगे। इन समुदायों को प्रबंधकों के अत्याचारों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के पास सर्वोच्चता अथवा प्रभुसत्ता हो ताकि राज्य समुदायों पर नियंत्रण कर सकें। राज्य समुदायों को अपने कार्यों के नियमों के अनुसार करने के लिए बाध्य और सदस्यों के अधिकारों की रक्षा कर सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य/असत्य बताइए (State whether the following Statements are True/ False)–

7. बहुलवाद किसी एक विद्वान की देन नहीं है।
8. बहुलवादी प्रभुसत्ता को विभाजित करते हैं।
9. प्रभुसत्ता को राज्य की दूसरी संस्थाओं में बांटने से अराजकता तथा दुर्व्यवस्था नहीं फैलेगी।

नोट

5.2 सारांश (Summary)

- बहुलवाद के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य के पास न होकर राज्य तथा अनेक समुदायों में बंटी हुई है। यह केवल राज्य की सम्पत्ति नहीं है।
- बहुलवाद का विकास यद्यपि 19वीं शताब्दी के अंत तथा 20वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ है परन्तु फिर भी इस सिद्धांत के चिह्नों की तलाश मध्यकाल में की जा सकती है।
- आधुनिक राज्य की अयोग्यता भी बहुलवाद के विकास का कारण है। आधुनिक युग में राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ गया है और बढ़ता ही जा रहा है।
- राज्य उन बहुत-से समुदायों या संगठनों में से एक समुदाय है जिनके अपने सामाजिक व्यक्तित्व और इच्छाएँ हैं और जो राज्य की तरह बहुत-से सार्वजनिक कार्यों में लगे हुए हैं।
- व्यक्ति राज्य के प्रति ही वफादार नहीं है बल्कि उन सब समुदायों के प्रति वफादार है जिसका वह सदस्य है।
- बहुलवादी प्रभुसत्ता को विभाजित करते हैं। परन्तु प्रभुसत्ता को विभाजित करना उसे नष्ट करना है। प्रभुसत्ता एक पूर्ण इकाई है जिसे बाँटा नहीं जा सकता।

5.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **बहुलवाद (Pluralism):** बहुत्ववाद, प्रपंचवाद, इस सिद्धांत की सृष्टि अनेक तत्वों से बनी है।
2. **समुदाय (Community):** दल, समूह, झुंड, संख्या।

5.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. बहुलवाद का अर्थ क्या है?
2. बहुलवाद की उत्पत्ति में सहायक तत्वों की व्याख्या कीजिए।
3. बहुलवाद पर लॉस्की के विचारों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
4. बहुलवाद की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।
5. बहुलवाद की आलोचना किन आधारों पर की जाती है?

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. एकत्ववादी	2. जनता	3. समाज
4. (ब)	5. (अ)	6. (अ)
7. सत्य	8. सत्य	9. असत्य

5.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. पॉलिटिकल थ्योरी—आर. के. परूथी।
2. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त—शैलेन्द्र सेंगर, ऐटलांटिक पब्लिशर्स।

नोट

इकाई–6 : अधिकार (Rights)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 अधिकार : अर्थ तथा प्रकृति (Rights: Meaning and Nature)

6.1.1 अधिकारों का आधार (Bases of Rights)

6.2 मानव अधिकार (Human Rights)

6.3 सारांश (Summary)

6.4 शब्दकोश (Keywords)

6.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

6.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- अधिकारों का अर्थ समझने हेतु।
- अधिकारों का आधार जानने हेतु।
- मानव अधिकारों को जानने हेतु।
- अधिकारों के औचित्य को समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य व्यक्ति और राज्य के बीच सम्बन्ध को पुनः परिभाषित करने से रहा है। जहाँ उदारवाद से पहले सभी विचारधाराओं ने व्यक्ति को राज्य पर न्यौछावर कर दिया-अर्थात् उन्होंने राज्य को साध्य

नोट

और व्यक्ति को साधन माना, वहाँ उदारवाद ने इस दर्शन के बिल्कुल विपरीत बात कही और यह घोषणा की कि राज्य और समाज व्यक्ति के लिए है, अर्थात् वे व्यक्ति के उद्देश्यों को पूरा करने के साधन मात्र हैं। उदारवाद ने मानवीय व्यक्तिगत की परम नैतिक सार्थकता (absolute moral worth) तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल दिया। इस नये व्यक्तिवाद को सुदृढ़ करने के लिए उदारवाद ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य बनाया और इस स्वतन्त्रता को जहाँ एक ओर राज्य को मनमानी शक्ति पर अंकुश लगाकर सुरक्षित किया, वहाँ दूसरी ओर इसे अधिकार, समानता, सम्पत्ति, न्याय, प्रजातन्त्र जैसी धारणाओं के विकास से पक्का किया। जैसे कि हमने नागरिकता के अभ्यास में देखा, आधुनिक प्रजातान्त्रिक उदारवादी राज्य के उदय के साथ अधिकार, नागरिकता का ठोस आधार बन गये। इन अधिकारों का प्रावधान, कार्यान्वयन और इनकी सुरक्षा किसी भी राज्य की अच्छाई अथवा बुराई का मानदण्ड बन गये। आज हम नागरिकों के अधिकारों के साथ-साथ स्त्रियों और बच्चों के अधिकारों तथा जातीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों की बात भी करते हैं। सन् 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 'मानव अधिकारों की सर्वव्यापक घोषणा' (Universal Declaration of Human Rights) ने मानव अधिकारों की धारणा को पश्चिमी देशों में प्रचलित किया जो धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका के देशों में भी फैल गयी है और समकालीन राजनीतिक चर्चा का एक विवादास्पद विषय बनी हुई है।

6.1 अधिकार: अर्थ तथा प्रकृति (Rights: Meaning and Nature)

व्यापक स्तर पर अधिकार उन 'अवसरों का समूह' है जो मानव व्यक्तिगत की संवृद्धता सुरक्षित करते हैं। यह अच्छे जीवन की वे मौलिक शर्तें हैं जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। लास्की के अनुसार, 'अधिकार मानव जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके अभाव में सामान्यत: व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता।' टी.एच. ग्रीन के अनुसार, 'यह व्यक्ति द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के कार्य करने की वह शक्ति है जो सामाजिक समुदाय द्वारा इस शर्त पर सुनिश्चित की जाती है कि वह इन कार्यों से समुदाय का भला भी करेगा।' सालमण्ड के अनुसार, 'क़ानूनी अधिकार एक ऐसा हित है जो क़ानून के शासन द्वारा मान्य और सुरक्षित किया जाता है और जिसका आदर करना एक क़ानूनी कर्तव्य है।' बोसांके के अनुसार, 'अधिकार व्यक्ति का एक ऐसा दावा है जिसे समाज द्वारा मान्यता दी जाती है और राज्य द्वारा लागू किया जाता है।' बार्कर के अनुसार, 'व्यक्ति के व्यक्तिगत और शक्तियों के विकास में सहायता करना राज्य का परम उद्देश्य और सर्वोच्च राजनीतिक मूल्य है। राज्य के कानून उतनी देर तक ही ठीक और न्यायसंगत होते हैं जहाँ तक ये लोगों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए बाह्य परिस्थितियों की सुरक्षा की गारण्टी देते हैं। राज्य द्वारा ये सुनिश्चित की गई और गारण्टी दी गयी परिस्थितियाँ ही अधिकार होती है।'

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम अधिकारों की प्रकृति के बारे में कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं। **प्रथम,** अधिकार किसी भी समाज की उचित अथवा न्यायसंगत सामान्य व्यवस्था का परिणाम होते हैं जिन पर राज्य और कानून आधारित होते हैं (Rights are a portion of right)। अत: समाज में 'उचित अथवा न्यायपूर्ण' की धारणा के बिना हम अधिकारों की कल्पना नहीं कर सकते। कानूनी दृष्टिकोण से सुरक्षित अधिकार तब तक न्यायपूर्ण नहीं हो सकते जब तक उस कानून का आधार उचित नहीं होगा जिस पर वे आधारित हैं। इसके अतिरिक्त, अधिकार दो स्तरों पर दिए जाते हैं–**तात्कालिक तथा अन्ततोगत्वा।** तात्कालिक आधार का अर्थ है कि अधिकार समाज में उस 'उचित की धारणा' (Notice of right) पर आधारित होते हैं जिस पर कानूनी ढाँचा टिका होता है। अन्ततोगत्वा का अभिप्राय है कि अधिकार वे परिस्थितियाँ हैं जो किसी समाज की इस 'उचित की धारणा' से सम्बन्धित लक्ष्यों को पूरा करती है, जैसे व्यक्ति के व्यक्तित्व का अधिकतम विकास। अधिकार व्यक्ति की समाज से वे मांगें होती हैं जिन्हें क़ानून सुरक्षित करता है क्योंकि वे व्यक्तिगत के विकास के लिए आवश्यक होती है।

नोट

दूसरी विशेषता अधिकारों के स्रोतों से है। ये स्रोत भी दो हैं। पहला स्रोत स्वयं व्यक्ति का व्यक्तित्व है। अधिकार व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व तथा उसकी सामाजिक प्रकृति के परिणाम है। इस संदर्भ में अधिकारों को प्राकृतिक अथवा मानवीय भी कहा जा सकता है। परन्तु यह पूरा उत्तर नहीं है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में निहित होने के बावजूद भी यदि राज्य उन्हें अपने कानून से सुरक्षित और लागू नहीं करता तो यह अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। अत: अधिकारों के दो स्रोत हैं: (*i*) व्यक्ति का व्यक्तित्व तथा उसके विकास की शर्त, (*ii*) राज्य तथा उसके क़ानून जो इनकी सुरक्षा और कार्यान्वयन करते हैं।

तीसरे, अधिकार वास्तव में सामाजिक स्तर पर मानवीय सम्बन्धों से जुड़े हुए हैं। अधिकारों का उपभोग सामाजिक कल्याण के कुछ मौलिक नियमों के पालन की माँग करता है। अधिकार कभी भी असीमित तथा निरंकुश नहीं होते। वे कुछ सामाजिक हितों से प्रेरित होते हैं। ये व्यक्ति से कुछ नैतिक कर्तव्यों की अपेक्षा करते हैं। अधिकारों का उपभोग करते हुए व्यक्ति को यह ध्यान रखना चाहिए कि ये अधिकार दूसरे व्यक्तियों के भी उतने ही हैं। अत: अधिकारों का उपभोग इस दृष्टिकोण से होना चाहिए कि वे व्यक्तिगत हित के साथ-साथ सामाजिक हित में भी वृद्धि करें। अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक अधिकार सामाजिक दृष्टिकोण से कर्तव्य है। यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। केवल कर्तव्यों के संदर्भ में ही अधिकारों का महत्त्व पहचाना जा सकता है। अधिकार व्यक्ति की स्वार्थी माँगें नहीं होतीं। अधिकार समाज में सभी लोगों को समान रूप से दिये जाते हैं।

क्या आप जानते हैं

जहाँ विशेषाधिकार समाज के कुछ व्यक्तियों अथवा समूहों या किसी विशेष वर्ग तक सीमित होते हैं, वहाँ अधिकार जन्म, जाति, आर्थिक स्थिति, धर्म आदि के भेदों के बावजूद सभी नागरिकों को समान रूप से दिये जाते हैं।

चौथे, अधिकार परिवर्तनशील होते हैं। विकास इनकी प्रवृत्ति का एक भाग है। सामाजिक और आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप समाज में कई नई माँगें उभरकर आती हैं जो समय-समय पर अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त करवाने के लिए संघर्ष करती हैं। जब इन माँगों को राज्य के कानून की सुरक्षा की गारंटी मिल जाती है तो वे अधिकार बन जाती है। सामाजिक सुरक्षा, काम, हड़ताल, आराम आदि कुछ ऐसे अधिकार हैं जिन्हें केवल बीसवीं शताब्दी में ही मान्यता मिली।

पाँचवें, अधिकतर अधिकार समय और परिस्थितियों से सीमित होते हैं क्योंकि उनकी वास्तविकता एक विशेष प्रकार के मानव समाज में ही होती है, अर्थात् वह समाज जो न अतीत में था और न भविष्य में होगा। उदाहरणार्थ, भारतीय नागरिकों द्वारा प्राप्त अधिकार न तो स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले अस्तित्व में थे और न ही आने वाले अगले सौ सालों में वैसे ही रहेंगे जैसे आज हैं। इसी तरह एक ही अधिकार की विषय-वस्तु में भी विभिन्न देशों में अन्तर हो सकता है। उदाहरण के लिए भारत और अमरीका द्वारा दिये जाने वाले सम्पत्ति के अधिकार की विषय-वस्तु एवं सीमाएँ सर्वथा भिन्न हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ अधिकार सर्वमान्य होते हैं परन्तु उनका कार्यान्वयन कैसे हो यह एक बहुत बड़ा सवाल है। इस प्रश्न का उत्तर 'मानव अधिकारों' के अन्तर्गत दिया जायेगा।

6.1.1 अधिकारों के आधार (Bases of Rights)

अधिकारों की धारणा का विकास आधुनिक राष्ट्र-राज्य के उदय तथा मध्यकालीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया और आलोचना के संदर्भ में हुआ। इन्हें प्राप्त करने के तरीके उग्रवादी थे तथा उनकी विषय-वस्तु क्रांतिकारी थी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से व्यक्तिगत अधिकारों की माँग सर्वप्रथम औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये मध्यम वर्ग ने उठाई। अमरीका और फ्रांस के क्रांतिकारियों की यह मौलिक विचारधारा थी जिसे बाद में अमरीका के (Bill of Rights) तथा फ्रांस के (Declaration of the Rights of

नोट

Man in France) के माध्यम से साकार किया गया। लॉक जैसे प्रारम्भिक विचारक से लेकर बैन्थम, रूसो, जे. एस. मिल, टी.एच. ग्रीन, लास्की, बार्कर आदि ने किसी-न-किसी आधार पर अधिकारों की माँग को उचित ठहराया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अधिकारों की धारणा का विकास रॉल्स, नोज़िक, डोरकिन तथा कई अन्य लेखकों के माध्यम से हुआ है।

व्यक्ति को अधिकार किस आधार पर मिलने चाहिए?—इस प्रश्न का कोई सर्वमान्य उत्तर नहीं है। पिछले 300 सालों में इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिए गए हैं। विभिन्न अधिकारों को विभिन्न आधारों पर न्यायोचित ठहराया गया है। इन आधारों को हम अधिकारों के विभिन्न सिद्धांतों के नाम से जानते हैं। इस संदर्भ में प्रमुख सिद्धांत में प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं—

1. प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत
2. क़ानूनी अधिकारों का सिद्धांत
3. अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत
4. नैतिक/आदर्शात्मक अधिकारों का सिद्धांत
5. अधिकारों की सामाजिक कल्याण संबंधी धारणा
6. समकालीन उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत
7. अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत

1. प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत (Theory of Natural Rights)

अधिकारों के औचित्य का पहला आधार प्राकृतिक अधिकारों के नाम से जाना जाता है सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी से ही यूरोप में यह एक शक्तिशाली विचार प्रचलित रहा कि सामाजिक, क़ानूनी और राजनीतिक संस्थाओं के अस्तित्व के बावजूद व्यक्ति को 'प्रकृति' से कुछ अधिकार मिलते हैं जिन्हें मानव-विवेक द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थक जॉन लॉक ने घोषणा की कि व्यक्ति कुछ जन्मजात अधिकारों के साथ पैदा होता है। ये अधिकार व्यक्ति में अन्तर्निहित होते हैं। अर्थात् ये समाज अथवा राज्य पर निर्भर नहीं होते। ये अधिकार ईश्वर अपने बच्चों को देता है जैसे वह उन्हें आँख, कान, हाथ आदि देता है। इस पृथ्वी पर मनुष्य ने जन्म जीवन जीने के लिए लिया है और यदि उसे वह जीवन पूर्ण क्षमताओं के साथ जीना है तो उसे कुछ स्वतंत्रताएँ अवश्य मिलनी चाहिए। ईश्वर व्यक्ति को केवल पैदा ही नहीं करता बल्कि जीवन में सर्वोत्तम लाभ उठाने की अन्तर्निहित शक्ति भी प्रदान करता है। 'अधिकार व्यक्ति की यही अन्तर्निहित और जन्मजात शक्ति है।' किसी भी राज्य द्वारा प्रदान किये जाने वाले अधिकार वास्तव में व्यक्ति के अपने प्राकृतिक अधिकार ही हैं और वह जहाँ भी रहे, अधिकारों से उसे कोई वंचित नहीं कर सकता क्योंकि ये पृथ्वी की किसी संस्था या समूह की देन नहीं हैं।

प्राकृतिक अधिकारों का स्रोत प्राकृतिक क़ानून (Natural Law) है। यह सिद्धांत समझौतावादी लेखकों—हॉब्स, लॉक, रूसो आदि ने प्रचलित किया। इन लेखकों का विचार था कि राज्य की उत्पत्ति से पहले व्यक्ति को प्रकृति से कुछ अधिकार प्राप्त थे और राज्य की उत्पत्ति के बाद उसने इनमें से कुछ अधिकार समाज को सौंप दिए ताकि वह शेष अधिकारों की गारंटी ले सके। ये प्राकृतिक अधिकार क्या हैं? इस पर विभिन्न लेखक एकमत नहीं थे। हॉब्स ने केवल जीने के अधिकार को ही प्राकृतिक माना। लॉक ने जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के तीन अधिकार प्राकृतिक माने। रूसो ने स्वतंत्रता और समानता के अधिकारों को प्राथमिकता दी। इन लेखकों का विचार था कि व्यक्ति ये अधिकार राज्य को नहीं दे सकता। ये अधिकार अदेय हैं क्योंकि जो चीज ईश्वर देता है, वह जीवनपर्यन्त रहती है। यदि व्यक्ति इन अधिकारों को त्याग देता है या ये अधिकार उससे छीन लिए जाते हैं, तो वह व्यक्ति कहलाने के काबिल ही नहीं रहता। वह राज्य जो लोगों के ये अधिकार छीनने का प्रयत्न करता है, ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करता है जहाँ लोग नागरिक न रहकर दासता की स्थिति में आ जाते हैं।

नोट

नोट्स

प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हैं। ये अदेय, अपरिवर्तनीय, पवित्र एवं अहस्तान्तरणीय अधिकार हैं जिनके लिए व्यक्ति राज्य अथवा समाज पर निर्भर नहीं है; बल्कि राज्य की उत्पत्ति इन अधिकारों की रक्षा के लिए हुई है।

आलोचना (Criticism)

प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत बाद में आने वाले उदारवादी लेखकों ने स्वीकार नहीं किया। बर्क ने प्राकृतिक अधिकारों की मौलिक धारणा पर ही प्रहार किया और घोषणा की कि अधिकारों का आधार केवल किसी समाज की परम्पराएँ और भावनाएँ ही हो सकते हैं। बैन्थम ने ऐसे सभी अधिकारों की आलोचना की जो राज्य से पहले या इसके विरुद्ध होते हैं। अधिकार केवल क़ानून द्वारा ही प्रदान किये जा सकते हैं। वास्तव में, प्राकृतिक अधिकारों में कई त्रुटियाँ दिखाई दीं। **पहली,** यदि व्यक्ति के अधिकार असीमित और निरंकुश हैं तो हम व्यक्ति और समाज के विरोधाभास को हल नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, किसी अकाल अथवा महामारी की स्थिति में, यदि एक व्यक्ति अनाज इकट्ठा कर लेता है और मांगने पर भी दूसरों को नहीं देता तो इसकी वजह से दूसरे लोगों के जीने का अधिकार का हनन हो सकता है और यदि लोग उससे जबरदस्ती छीनते हैं तो उनका सम्पत्ति का अधिकार खतरे में आ सकता है। अर्थात् यदि दो प्राकृतिक अधिकार आपस में टकरा जाएँ तो उनके समाधान का कोई नियम नहीं है। जैसा कि बैन और पीटर्स लिखते हैं, सामाजिक नियम विभिन्न दावों के बीच सामंजस्य लाने की निरन्तर प्रक्रिया है, प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत इस प्रक्रिया को असंभव बना देता है।

दूसरी आलोचना प्राकृतिक अधिकारों की परिभाषा में गंभीर मतभेदों को लेकर है। 'प्राकृतिक' का अर्थ क्या है? विभिन्न विचारकों ने इस शब्द का प्रयोग अपनी मर्जी से किया है, जैसे प्राकृतिक 'ब्रह्मांड' के अर्थ में, 'इस संसार के गैर-मानवीय भाग के रूप में,' एक आदर्श के रूप में, सामान्य आदमी के रूप में, इत्यादि। परिणामस्वरूप प्राकृतिक अधिकारों की धारणा विभिन्न लेखकों में अस्पष्ट सी रही।

तीसरी, अधिकार व्यक्ति की प्रकृति में अन्तर्निहित है। इस तर्क को भी कई लेखकों ने नहीं माना। कोई भी अधिकार बिना किसी नियम अथवा क़ानून के नहीं हो सकते। अधिकार कुछ कर्तव्यों की अपेक्षा भी करते हैं, ये कुछ मानवीय सम्बन्धों का निर्माण भी करते हैं जिन पर कर्तव्य टिके रहते हैं। जैसा कि ग्रीन ने लिखा, 'प्रत्येक अधिकार को अपना औचित्य समाज के कुछ ऐसे लक्ष्यों के संदर्भ में सिद्ध करना होता है जिन्हें बिना अधिकारों के प्राप्त नहीं किया जा सकता।' इसके अतिरिक्त अधिकार समाज के सामुदायिक कल्याण से भी प्रेरित होते हैं। परन्तु प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत ने अधिकारों को व्यक्ति में अन्तर्निहित मानकर इन्हें राज्य और समाज से अलग कर दिया।

चौथी, व्यक्ति और समाज के हितों को अलग करके प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत उन सभी आधारों को ही पृथक् कर देता है जिन पर इनका औचित्य है। यह सिद्धांत मानकर चलता है कि अधिकार और कर्तव्य समाज से स्वतंत्र है। यह एक गलत विचार था क्योंकि अधिकारों का सवाल केवल समाज और सामाजिक संदर्भों में ही पैदा होता है।

तथापि, प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत अपने समय की परिस्थितियों से प्रेरित एक विशेष सिद्धांत था। इसने एक परम्परागत और धर्मान्धता पर आधारित सत्ता के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता, स्वायत्तता, विचाराभिव्यक्ति, श्रम जैसे मूल्यों की नींव रखीं। उभरते हुए मध्यमवर्ग की विचारधारा होने के नाते इसने अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में व्यक्ति को राज्य के हस्तक्षेप से बचाने की कोशिश की और अपने युगीन संदर्भों में यह कई क्रांतिकारी आंदोलनों का प्रेरणा स्रोत बना।

नोट

2. क़ानूनी अधिकारों का सिद्धांत (Theory of Legal Rights)

उन्नीसवीं शताब्दी में प्राकृतिक अधिकारों का स्थान क़ानूनी अधिकारों ने ले लिया। क़ानूनी अधिकारों के सिद्धांत का मानना है कि अधिकार प्राकृतिक न होकर राज्य की देन होते हैं। केवल राज्य द्वारा दिए जाने वाले अधिकार ही अधिकार होते हैं। अधिकार व्यक्ति में अन्तर्निहित नहीं है बल्कि कृत्रिम हैं क्योंकि व्यक्ति की कोई भी माँग तब तक अधिकार नहीं बन सकती जब तक उसे राज्य निश्चित एवं सुरक्षित न करे। इस सिद्धांत के अंश हमें हॉब्स के चिन्तन में मिलते हैं जिसका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति को आत्मसुरक्षा का (प्राकृतिक) अधिकार है परन्तु यह अधिकार केवल राज्य द्वारा ही उत्तम तरीके से सुरक्षित किया जा सकता है। इस सिद्धांत का स्पष्टकीरण और व्याख्या हमें बैन्थम और ऑस्टिन तथा अन्य कानूनशास्त्रियों के विचारों में मिलती है।

बैन्थम ने प्रारम्भिक उदारवादी लेखकों तथा अमरीका और फ्रांस की क्रांतियों के समर्थकों द्वारा प्रचलित प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया। उसने इस सिद्धांत को मूर्खतापूर्ण, निरर्थक और बेतुका माना सैद्धान्तिक तौर से हो सकता है कि यह सिद्धांत बहुमत की तानाशाही पर सीमाएँ लगाता हो। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर (Declaration of Rights of Man) उस किसी भी व्यक्ति को मृत्युदण्ड से नहीं बचा सका। जिसे फ्रांस के क्रांतिकारी न्यायालय के सामने पेश किया गया था। न ही यह सिद्धांत अमरीका के काले लोगों को दासता से मुक्ति दिला सका। अत: प्राकृतिक अधिकारों की व्यावहारिक उपयोगिता न के बराबर थी। बैन्थम के अनुसार, अधिकारों का आधार केवल क़ानून है जो स्वयं उपयोगिता की धारणा पर आधारित होता है। बैन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों को बैसाखियों पर टिकी महामूर्खता (nonsense upon stilts) की संज्ञा दी। उसके अनुसार क़ानून और अधिकार अनिवार्यत: एक हैं–क़ानून उसका वस्तुपरक रूप है और अधिकार व्यक्तिपरक रूप।

क़ानूनी अधिकारों के सिद्धांत की तीन विशेषताएँ होती हैं–(*i*) राज्य अधिकारों को परिभाषित करता है और उन्हें एक प्रापत्र (Bill of Rights) के रूप में सुनिश्चित करता है। अधिकार राज्य से पहले नहीं है बल्कि राज्य ही अधिकारों का स्रोत है; (*ii*) राज्य वह क़ानूनी और संस्थात्मक ढाँचा भी प्रदान करता है जो इन अधिकारों के उपभोग के लिए आवश्यक होता है। राज्य इन अधिकारों को लागू करता है; तथा (*iii*) क्योंकि अधिकारों की रचना और कार्यान्वयन राज्य करता है, अत: जब भी क़ानून में परिवर्तन आता है तो अधिकारों में भी परिवर्तन आ जाता है।

क़ानूनी सिद्धांत का मानना है कि यह जरूरी नहीं कि अधिकारों का स्रोत राज्य ही हो, परन्तु राज्य की मान्यता और सुरक्षा के अभाव में अधिकार वैध नहीं होते। वे राज्य द्वारा लागू किये जाते हैं क्योंकि वे अधिकार है न कि वे अधिकार है इसलिए वे लागू किये जाएँ। वे सभी माँगें जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए अनिवार्य हैं परन्तु उन्हें राज्य की मान्यता और सुरक्षा प्राप्त नहीं है, उन्हें अधिक से अधिक सम्भावित अधिकारों का नाम दिया जा सकता है। वे केवल अधिकारों का आधार हो सकती है, पूर्ण अधिकार नहीं।

राज्य-प्रदत्त अधिकारों को 'सकारात्मक अधिकार' (Positive Rights) भी कहा जाता है। आधुनिक राज्य में नागरिकों को केवल यह सकारात्मक अधिकार ही उपलब्ध होते हैं, उदाहरणार्थ जीवन, स्वतंत्रता, सम्पत्ति, शिक्षा, बुढ़ापे की पेंशन आदि के अधिकार जो सभी राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त ये अधिकार संदर्भात्मक होते हैं, अर्थात् ये केवल उन्हीं नागरिकों को दिए जाते हैं जो इसके क्षेत्राधिकार में आते हैं। इन अधिकारों का अस्तित्व तब तक रहता है जब तक उनसे सम्बन्धित क़ानूनों का अस्तित्व रहता है या जब तक न्यायालय उन्हें क़ानून के विरुद्ध घोषित नहीं कर देता।

आलोचना (Criticism)

प्राकृतिक अधिकारों की तरह क़ानूनी अधिकारों का सिद्धांत भी कई प्रकार से अधूरा था। **प्रथम,** क़ानूनी सिद्धांत ने सभी अधिकारों को अपने सिद्धांत में सम्मिलित नहीं किया। यह केवल उन्हीं अधिकारों का वर्णन करता है जिन्हें राज्य अपने क़ानून से मान्य और सुरक्षित कर चुका है। यह इस दृष्टिकोण से अधूरा था कि इसने यह बात स्पष्ट

नोट

नहीं की कि जिन अधिकारों को सुरक्षित किया जा रहा है वे वास्तव में उचित और न्यायसंगत हैं अथवा उन्हें सचमुच मान्यता की आवश्यकता थी। यह सिद्धांत इस बात को मानकर चलता है कि राज्य ने जिसे मान्यता दे दी वह ठीक ही होगा।

द्वितीय, क़ानूनी सिद्धांत ने समाज में विभिन्न समूहों के अधिकारों का ध्यान नहीं रखा। जैसा लास्की ने लिखा, लोग अधिकारों का प्रयोग केवल राज्य के सदस्य के रूप में ही नहीं बल्कि समाज के सदस्य के रूप में भी करते हैं। अत: अधिकारों को केवल राज्य तक सीमित रखना व्यक्ति के व्यक्तित्व को नष्ट करना है, उसे संरक्षित करना नहीं।

तीसरे, राज्य अधिकारों का निर्माण नहीं करता, यह केवल उन्हें मान्यता और सुरक्षा देता है तथा उनका समन्वय करता है। जैसा कि वाईल्ड लिखते हैं, अधिकारों का अस्तित्व रहता है, राज्य चाहे उन्हें मान्यता दे या न दे। राज्य के क़ानून से ऊपर हमारी समाज की सही और गलत की धारणा होती है। अधिकारों का आधार सामाजिक स्तर पर सही (Right) की धारणा होना चाहिए।

चौथे, यदि राज्य और उसके क़ानूनी अधिकारों को सर्वोपरि मान लिया जाए तो राज्य के विरुद्ध अधिकार (Right against the state) ही नहीं होगा। ग्रीन और लास्की जैसे लेखकों का विचार था कि कुछ एक परिस्थितियों में राज्य का विरोध करना भी आवश्यक हो जाता है। राज्य का आज्ञापालन भी सीमित और प्रतिबन्धित होता है। आज्ञापालन राज्य के औचित्य के प्रति होता है, उसकी शक्ति और बल के कारण नहीं। यह उसकी न्याय की धारणा में होता है, उसकी शक्ति में नहीं। अत: अधिकारों का भौतिक आधार समाज की न्याय की धारणा होता है, केवल क़ानून नहीं। क़ानून तो केवल उस न्याय की धारणा का ठोस रूप होता है।

3. अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत (Theory of Historical Rights)

अठारहवीं शताब्दी के बौद्धिकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप क़ानून, दर्शनशास्त्र तथा क़ानूनशास्त्र की ऐतिहासिक शाखा का जन्म हुआ। यह विचारधारा कागज़ी संविधान निर्माण (Paper Constitution), परम्परागत राजनीतिक संस्थाओं तथा परिस्थितियों की अवज्ञा और इस विश्वास, कि मानव बुद्धि द्वारा निर्मित क़ानून समाज में जादुई परिवर्तन ला सकते हैं, के विरुद्ध एक तीखी प्रतिक्रिया थी। चिन्तन की यह ऐतिहासिक शाखा जिन लेखकों द्वारा प्रचलित की गई, उनमें जर्मनी के सैविजनी और पूटा, इंग्लैण्ड के बर्क तथा हेनरी मेन तथा अमरीका के जेम्स कार्टर के नाम प्रमुख हैं। इन सबमें एक विचार सामान्य था कि राज्य और क़ानून का चरित्र ऐतिहासिक होता है और यही बात अधिकारों पर भी लागू होती है।

इस विचार के अनुसार, राज्य, क़ानून तथा अधिकार न तो मानव इच्छा पर आधारित होते हैं और न ही यह प्रकृति की देन हैं। इनके विपरीत ये ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज का परिणाम होते हैं। ये विशिष्ट राष्ट्रीय चेतना की विशेष प्रतिभा की अभिव्यक्ति होते हैं। पूटा के अनुसार, 'सभी मानवीय अधिकार स्रोत के रूप में एक सामूहिक चेतना की परिकल्पना करते हैं। अधिकार वास्तविकता का रूप तभी लेता है जब यह उन लोगों की सामूहिक चेतना का भाग बन जाता है जिन पर यह लागू होना है। अधिकारों की इस सामूहिक चेतना के माध्यम से, भाषा तथा धर्म की तरह, समाज के लोग एकता के सूत्र में बँध जाते हैं। वह चेतना जो इन सामाजिक सदस्यों के बीच सामूहिक रूप से संचारित होती है और उन्हीं के साथ ही जन्मी होती है, इसे राष्ट्रीय भावना का नाम दिया जाता है। यह राष्ट्रीय भावना ही वास्तव में मानव अधिकारों का स्रोत होती है।'

इसी तरह, अमूर्त और ऐतिहासिक अधिकारों में अन्तर करते हुए बर्क ने लिखा कि फ्रांस की क्रांति स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के अमूर्त सिद्धांतों से प्रेरित थी जबकि 1688 की इंग्लैण्ड की सुनहरी क्रांति अंग्रेजों के परम्परागत अधिकारों पर आधारित थी, उन अधिकारों पर जिनका उपयोग इंग्लैण्ड के नागरिक काफी समय से कर रहे थे। फ्रेंच रेवोल्यूशन द्वारा घोषित किये गये अधिकार वहाँ के लोगों की सामूहिक चेतना का भाग नहीं थे, इसलिए राजा को फांसी देकर अधिकारों को घोषित करके भी आम लोग उन्हें प्राप्त नहीं कर सके। परिणामस्वरूप क्रांति धीरे-धीरे तानाशाही में बदल गई।

नोट

इस सिद्धांत के अनुसार, अधिकारों का आधार इतिहास होता है। अधिकार रीति-रिवाजों का सार तत्व होते हैं। यह सार-तत्व कालान्तर में अधिकार बन जाते हैं। रीचे के अनुसार वे अधिकार जिन्हें लोग सोचते हैं कि उनके होने चाहिए, वास्तव में अधिकार होते हैं जिनकी उन्हें पहले ही आदत पड़ी होती है या जिनका वे कभी प्रयोग कर चुके होते हैं। अधिकारों का पहला क़ानून परम्परा है। बहुत से अधिकारों का यदि विश्लेषण किया जाये तो पाया जाएगा कि रीति-रिवाजों और परम्पराओं के रूप में वे बड़ी देर से चले आ रहे होते हैं। इसके विपरीत वे मांगे जिनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं होता, अधिकार बनने के बाद भी इतनी कारगर नहीं होती।

संक्षेप में, अधिकार ऐतिहासिक विकास का फल होते हैं। वे सभी नियम जो क़ानून के ऐतिहासिक सिद्धांत पर लागू होते हैं, अधिकारों पर भी लागू किए जा सकते हैं। इसके अनुसार:

(*i*) अधिकार सर्वमान्य नहीं होते, ये समय और परिस्थितियों से सीमित होते हैं और सामाजिक समूह विशेष से सम्बन्धित होते हैं।

(*ii*) अधिकारों का आधार बुद्धि एवं विवेक न होकर ऐतिहासिक प्रक्रिया होती है; इनके निर्माण में व्यक्ति विशेष की कोई भूमिका नहीं होती।

(*iii*) सार्वजनिक अधिकारों की धारणा को इंगलिश, फ्रेन्च या जर्मन लोगों के ऐतिहासिक अधिकारों से बदल देना चाहिए;

(*iv*) सुधार असम्भव है, ऐतिहासिक प्रक्रिया को बिना किसी हस्तक्षेप के आगे बढ़ने का अवसर देना ही बेहतर है।

(*v*) 'अलौकिक प्राकृतिक व्यवस्था' (transcendent natural order) के विचार को 'ऐतिहासिक प्रक्रिया में अन्तर्निहित व्यवस्था' (order immanent in historical process) की धारणा से प्रतिस्थापित करना ही उचित है।

आलोचना (Criticism)

उपरोक्त चर्चा से पता चलता है कि ऐतिहासिक अधिकारों का सिद्धांत प्राकृतिक एवं क़ानूनी सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया था। तथापि, कुल मिलाकर इस सिद्धांत ने इतिहास का रूढ़िवादी और परम्परागत दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि इस सिद्धांत ने अच्छी और बुरी परम्परा में कोई विशेष अन्तर नहीं किया। यदि अधिकार इतिहास और परम्पराओं के परिणाम हैं तो सवाल यह है कि यदि किसी समाज के रीति-रिवाज दासप्रथा, बहुविवाह, सतीप्रथा या रंगभेद नीति को परम्परागत मानते हैं तो क्या उन्हें अधिकार बनने का अवसर दिया जाये? क्या समाज उस दिन का इन्तजार करता रहे जब सामाजिक चेतना उत्पन्न होगी और लोग इनको एक नया अर्थ देंगे जिन्हें अधिकार कहा जायेगा। संक्षेप में, यदि परम्पराएँ ही अधिकारों का आधार है तो समाज में किसी भी तरह का सुधार सम्भव नहीं होगा। इसमें कोई शक नहीं कि कोई भी समाज अपनी परम्पराओं और संस्कृति से नाता नहीं तोड़ सकता, परन्तु यह भी उतना ही सच है कि केवल इन्हीं पर ही भरोसा नहीं किया जा सकता। समाज का उग्रवादी सामाजिक परिवर्तन इतिहास की नयी व्याख्या की मांग करता है जैसा कि बाद में मार्क्स, एंगेल्स तथा उनके अनुयायियों ने हमें बताया। इसी तरह पुराने रूढ़िवादी, संकीर्ण रीति-रिवाजों और परम्पराओं को समाप्त करने के लिए राज्य के कानून का सहारा लेना कोई गलत बात नहीं है। अधिकारों को परम्पराओं के विकास तक सीमित रख के, ऐतिहासिक सिद्धांत ने अधिकारों की व्याख्या और आधार को बहुत सीमित कर दिया। इसने अधिकारों की गतिशील और परिवर्तनशील प्रकृति की तरफ ध्यान नहीं दिया।

4. नैतिक अधिकारों का सिद्धांत (Theory of Moral Rights)

इस सिद्धांत के अनुसार अधिकार अपना औचित्य उस नैतिक संहिता से ग्रहण करते हैं जिसमें एक समुदाय विशेष के सदस्य परस्पर भागीदार होते हैं। अधिकार व्यक्ति के अन्त:करण द्वारा लागू होते हैं। यद्यपि टी.एच. ग्रीन ने इसे

नोट

उदारवाद के साथ मिला दिया। इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थक फ्रांस में रूसो, जर्मनी में हीगल, इंग्लैड में ग्रीन और बोसांके थे। नैतिक सिद्धांत अधिकारों को उस नैतिक स्वतंत्रता के साथ जोड़ता है जो व्यक्ति समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। इस सिद्धांत के अनुसार अधिकारों का एक ही मूलभूत आधार है–व्यक्ति का व्यक्तित्व। चाहे अधिकार जीने का हो या स्वतंत्रता, सम्पत्ति, शिक्षा अथवा स्वास्थ्य का, ये सभी अन्ततोगत्वा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से ही प्रेरित होते हैं। इसलिए अधिकार वे शक्तियाँ हैं जिनकी व्यक्ति समाज से नैतिक आधार पर मांग करता है और जिन्हें राज्य अपने क़ानून से सुरक्षित और कार्यान्वित करता है। व्यक्ति का आन्तरिक विकास राज्य पर निर्भर नहीं करता; यह व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत मामला है। राज्य का कार्य केवल उन बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करना है जिसमें व्यक्ति अपनी नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर सके। अधिकार व्यक्ति के आन्तरिक विकास की बाह्य परिस्थितियाँ हैं जिन्हें राज्य अपने क़ानून से सुरक्षित करता है। ग्रीन के अनुसार, अधिकार एक नैतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की योग्यताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक शक्तियाँ हैं। ग्रीन की यह धारणा लॉक से काफी भिन्न हैं। अधिकार एक तरफ तो व्यक्ति की बौद्धिक प्रकृति की मांग है ताकि वह अपनी योग्यताओं को ठोस रूप दे सके तथा दूसरी तरफ ये समाज द्वारा उसकी मांगों को दी गई एक रियायत है ताकि वह अपनी योग्यताओं को कारगर रूप दे सकें। ये मांगें अधिकार इसलिए होती हैं क्योंकि सामाजिक स्तर पर यह एक सामूहिक चेतना है कि व्यक्ति को अधिकार मिलने चाहिए। अधिकार प्राकृतिक न होकर कुछ आदर्श होते हैं। इसलिए जैसे-जैसे समाज की सामूहिक चेतना में परिवर्तन आता रहता है, ये अधिकार भी समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। इस चेतना में विकास के परिणामस्वरूप कई ऐसे अधिकार जो कभी न्यायसंगत लगते थे, कालान्तर में अपना महत्त्व खो बैठते हैं। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति के प्रत्येक अधिकार का समाज के सामान्य हित के साथ समन्वय होना आवश्यक है क्योंकि अन्ततोगत्वा सामाजिक हित, न हि व्यक्ति की मानवता, अधिकारों का निश्चय करता है। कांत की तरह ग्रीन का भी यही विचार था कि राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं हो सकता। राज्य के क़ानून की शक्ति अन्तिम होती है। राज्य का विरोध अराजकता को जन्म देगा और राज्य का इस तरह से क्षय व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए हानिकारक होगा। राज्य का विरोध करने से पहले इससे पैदा होने वाली अराजकता और व्यक्ति की स्वतंत्रता की सुरक्षा इन दोनों में तुलना कर लेना आवश्यक होगा।

नैतिक धारणा के अनुसार, अधिकारों का आधार प्राकृतिक अथवा क़ानूनी न होकर नैतिक मूल्य होते हैं। अधिकार वे मांगे हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को उच्चतम शिखर तक पहुँचाने में सहायक होती हैं। क्योंकि समाज में व्यक्तित्व का विकास हर व्यक्ति का लक्ष्य है, अत: अधिकारों का प्रश्न व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक हो जाता है और व्यक्ति के अधिकारों को दूसरे लोगों के समान अधिकारों के साथ समन्वय करना अनिवार्य हो जाता है। अधिकार व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित का समन्वय है। अधिकारों का उद्देश्य व्यक्ति के स्वार्थी हितों की पूर्ति नहीं बल्कि उसके नैतिक स्तर को ऊपर उठाना है। अधिकारों को समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और राज्य इन्हें अपने क़ानूनों से लागू करता है। समाज और राज्य के अभाव में अधिकारों के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित के साथ जोड़कर अधिकारों के नैतिक सिद्धांत ने बीसवीं शताब्दी में कल्याणकारी राज्य की नींव रखी।

ऐतिहासिक सिद्धांत की तरह अधिकारों का नैतिक सिद्धांत भी सन्दर्भात्मक था, सर्वव्यापक नहीं, क्योंकि यह वास्तव में उन लोगों के अधिकार है जो एक समान नैतिक संहिता में विश्वास करते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि नैतिकता की विभिन्न संहिताओं में कुछ बातें समान हो सकती हैं परन्तु यह एक चर्चा का विषय है और इस पर एकमत स्थापित नहीं हो सकता।

5. अधिकारों की सामाजिक कल्याण संबंधी धारणा (Social Welfare Theory of Rights)

बीसवीं शताब्दी में अधिकारों के सभी आधार-प्राकृतिक, क़ानूनी, ऐतिहासिक, आदर्शवादी-एक व्यापक सिद्धांत में विलीन हो गए जिसे अधिकारों की सामाजिक कल्याण सम्बन्धी धारणा कहा गया। सामाजिक कल्याण की धारणा को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों और बीसवीं शताब्दी में उदारवादी लेखकों ने मान्यता दी जिनमें टी.एच. ग्रीन,

नोट

जी.डी.एच. कोल, एल.टी. हॉबहाउस, लास्की, बार्कर आदि प्रमुख हैं। इस धारणा के अनुसार क़ानून, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, प्राकृतिक अधिकार आदि सभी का एक ही मानदण्ड है और वह है सामाजिक कल्याण। जैसा कि हॉबहाउस लिखते हैं, 'असली अधिकार सामाजिक कल्याण की शर्तें हैं और विभिन्न अधिकारों का औचित्य इस बात में है कि समाज के सामन्जस्यपूर्ण विकास के लिए वे क्या भूमिका निभाते हैं।' अधिकारों के कल्याणकारी सिद्धांत की सर्वोत्तम व्याख्या हमें लास्की की पुस्तक A Grammar of Politics में मिलती है। उसके अनुसार, 'अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके अभाव में व्यक्ति अपना सर्वश्रेष्ठ प्राप्त नहीं कर सकता'। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की इन प्राप्तियों में सहायता करना है और राज्य यह काम अधिकार सुरक्षित करके बेहतर कर सकता है। इस सिद्धांत की विशेषताएँ बताते हुए लास्की लिखते हैं कि अधिकारों का सवाल केवल समाज के सन्दर्भ में ही पैदा होता है। यद्यपि अधिकार व्यक्ति की मांगे हैं परन्तु यह एक ऐसी माँग है जो दूसरों के साथ साझी हैं। अत: अधिकार सामान्य हित और समान उद्देश्यों के साथ जुड़ जाते हैं। राज्य इन अधिकारों को सुरक्षित करके व्यक्ति को अपना तथा समाज दोनों का भला करने में सहायता करता है। व्यक्तिगत हित सामाजिक हित का अभिन्न अंग होता है।

दूसरे, अधिकार समाज में लाभकारी कार्यों के साथ जुड़े हुए हैं। अधिकारों का औचित्य सामाजिक स्तर पर किए जाने वाले लाभकारी कार्यों में है। व्यक्ति के अधिकारों के उपयोग को सामाजिक हित में योगदान देने वाले कार्यों के संदर्भ में ही उचित ठहराया जा सकता है।

तीसरे, अधिकार व्यक्ति की राज्य से कुछ माँगें हैं और राज्य का कर्तव्य है कि वह वे परिस्थितियाँ जुटाए ताकि अधिकारों का लाभ उठाया जा सके। इस सन्दर्भ में लास्की का विचार है कि अधिकार निरंकुश नहीं होते, सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए राज्य इन अधिकारों पर कुछ सीमाएँ भी लगा सकता है। परन्तु ये सीमाएँ तर्कसंगत होनी चाहिए। यदि यह मनमर्जी की है तो वे अपना औचित्य खो बैठती है और इनका विरोध करना व्यक्ति का अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी हो जाता है।

चौथे, सामाजिक जीवन की शर्तें होने के कारण लास्की राजनीतिक और क़ानूनी अधिकारों के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को विशेष महत्त्व देते हैं, जैसे काम करने का अधिकार, आराम का अधिकार, काम के उचित घण्टे, उद्योगों के प्रबन्ध में मज़दूर-वर्ग की हिस्सेदारी, शिक्षा, सीमित सम्पत्ति का अधिकार आदि।

पाँचवे, इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए लास्की के अनुसार राज्य स्तर का प्रजातान्त्रिक, सीमित और विकेन्द्रित होना आवश्यक है क्योंकि इससे व्यक्ति और राज्य के बीच तालमेल और संचार अच्छा और विश्वासपूर्ण हो सकता है।

संक्षेप में, सामाजिक कल्याण सम्बन्धी धारणा का मानना है कि: (*i*) अधिकार सामाजिक जीवन की शर्तें हैं; (*ii*) अधिकारों का सवाल केवल समाज में ही पैदा होता है; (*iii*) किसी व्यक्ति को सामाजिक हित के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं मिल सकता; (*iv*) अधिकार व्यक्ति को इसलिए दिए जाते हैं ताकि वह सामाजिक हित में अपना योगदान दे सके। यदि प्रत्येक राज्य इस बात से जाना जाता है कि वह अपने नागरिकों को कितने अधिकार देता है तो अधिकार भी इस बात से जाने जाते हैं कि इनके माध्यम से सामाजिक कल्याण किस सीमा तक उपलब्ध होता है।

6. अधिकारों का समकालीन उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत
(Contemporary Liberal-Individualistic Theory of Rights)

पिछले तीस सालों में अधिकारों का उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत दो लेखकों के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। ये लेखक हैं जॉन रॉल्स और रोबर्ट नोज़िक। दोनों लेखकों ने उदारवादी परम्परा के अन्तर्गत काफी ख्याति प्राप्त की है और कुछ अन्य लेखकों जैसे डोरकिन, गाल्स्टोन, एकेमैन, बैरी आदि को अधिकारों के वैकल्पिक सिद्धांत

नोट

प्रतिपादित करने की प्रेरणा दी है। ये चिन्तक दो महत्त्वपूर्ण समकालीन सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। रोबर्ट नोज़िक मुक्त बाज़ार, मुक्त व्यापारिक पूँजीवाद, उदारीकरण तथा न्यूनतम राज्य का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत, रॉल्स समतावादी उदारवाद की कीन्स की परम्परा का समर्थन करते हैं। ये पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता से प्रभावित है परन्तु क्योंकि यह अर्थव्यवस्था कई तरह की असमानताओं को जन्म देती है, अत: पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के मौलिक आधार को समाप्त किए बिना ये कल्याणकारी और राज्य निर्देशित कार्यों द्वारा इसकी कमियों तथा इसके द्वारा अन्य असमानताओं को कम करने के उपाय बताते हैं।

नोज़िक के अनुसार, अधिकारों का प्रमुख स्रोत 'आत्म-स्वामित्व के प्राकृतिक अधिकार' (Nature Right of Self-ownership) का नियम है, जिसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने-आपमें एक साध्य माना जाए। उनकी पुस्तक का पहला वाक्य इस तरह है: 'व्यक्ति के अधिकार होते हैं। अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे इन्हें नुकसान हो (क्योंकि यह नुकसान अधिकारों का उल्लंघन किए बिना नहीं हो सकता) (Individuals have rights and there are no things persons or group may do to them (without violating their rights)' समाज को इन अधिकारों का आदर अनिवार्यत: करना चाहिए क्योंकि व्यक्ति अपने-आपमें साध्य है, साधन नहीं। अधिकार व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की पहचान है और गम्भीर रूप से देखा जाए तो इनका अर्थ है कि व्यक्ति दूसरों के स्वार्थ पूरा करने का स्रोत नहीं है। अधिकारों का आदर करने का अर्थ है लोगों के समान होने के दावे का आदर करना। एक इच्छास्वातंत्र्यवादी समाज व्यक्ति के अधिकारों का आदर करके वास्तव में व्यक्ति का आदर करता है और यह प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत स्तर पर या दूसरों के साथ मिलकर अपना जीवन मार्ग चुनने या लक्ष्यों को निर्धारित करने की छूट देता है।

जहाँ जक अधिकारों की विषय-वस्तु का प्रश्न है, नोज़िक केवल शुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों का समर्थन करते हैं, विशेषकर सम्पत्ति प्राप्त करने और उसे रखने का अधिकार और समझौते करने की स्वतंत्रता। नोज़िक की सम्पत्ति की धारणा में व्यक्ति के कल्याणकारी अधिकारों और उनकी राज्य द्वारा सुरक्षा का कोई स्थान नहीं है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना और अपनी योग्यताओं का खुद मालिक है और अपनी क्षमताओं का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक स्वतंत्र निजी क्षेत्र है जिसमें उसकी सहमति के बिना कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। सभी राजनीतिक संस्थाएँ मूलरूप से दमनकारी होती हैं, अत: उन्हें शासितों की सर्वसम्मत सहमति प्राप्त करनी चाहिए। इन संस्थाओं को लोगों की स्वेच्छा पर आधारित होना चाहिए। व्यवस्था, सुरक्षा और न्याय के अतिरिक्त राज्य का कोई और उचित कार्य नहीं है। अधिकार राज्य के नागरिक क़ानूनों से पहले के हैं, राज्य के क़ानून इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए हैं।

रॉल्स 'अधिकार' और 'न्याय' शब्दों को समान अर्थों में प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार अधिकार न्याय में आत्मसात् होने चाहिए। अपनी पुस्तक 'A Theory of Justice' में राज्य-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए रॉल्स लिखते हैं कि अधिकार सभी व्यक्तियों के 'अवज्ञा के पर्दे' (Veil of ignorance) से भी पहले के हैं, परन्तु लोगों के कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं थे सिवाय उन अधिकारों के जो उन्होंने सर्वसम्मति से राज्य का निर्माण करते हुए चुने। इन अधिकारों को भी इसलिए स्वीकार किया गया क्योंकि यह लोगों का सर्वसम्मत निर्णय था। वे अधिकार जो लोगों ने समझौते के समय चुने, दो तरह के थे–(*i*) प्रत्येक व्यक्ति का सर्वाधिक मौलिक स्वतंत्रता का समान अधिकार जो दूसरे लोगों के इस समान अधिकार से मेल खता हो तथा (*ii*) सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को इस तरीके से प्रबन्धित किया जाए कि (क) वे समाज के न्यूनतम सुविधा प्राप्त लोगों को सर्वाधिक लाभ पहुचाएँ और (ख) अवसर की निष्पक्ष समानता के आधार पर सभी पदों और स्थितियों से जुड़ी रहें।

मौलिक स्वतंत्रताओं से रॉल्स का अभिप्राय था: उन सभी नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से जो आज के उदारवादी देशों में दिए जाते हैं, जैसे वोट का अधिकार, राजनीतिक पद प्राप्त करने का अधिकार, क़ानून का शासन, भाषण तथा अभिव्यक्ति का अधिकार आदि। परन्तु रॉल्स के लिए अधिकारों का महत्त्व इसमें है कि समाज के

नोट

आर्थिक स्रोतों का एक न्यायपूर्ण अंश सभी को मिले। अत: अधिकारों का दूसरा भाग नागरिकों को कुछ समतावादी अधिकार देने की बात करता है। इसके अनुसार सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ इस तरह से नियमित की जानी चाहिए कि जिन लोगों के आय, धन, शिक्षा जैसे भौतिक साधन न्यूनतम हैं, उन्हें अधिक हिस्सा मिलना चाहिए। अत: रॉल्स एक ऐसी बाज़ार-व्यवस्था की कल्पना करते हैं जहाँ भौतिक असमानताएँ उत्साहवर्धन के रूप में काम करें और वितरण के लिए वस्तुओं के भंडार को बढ़ाने में मदद करें। व्यवहारिक स्तर पर राज्य की कर-प्रणाली को इस तरह से आनुपातिक ढंग से व्यवस्थित किया जाए कि निम्नतम लोगों को अधिक से अधिक लाभ हो सके। रॉल्स का विचार है कि सामाजिक वस्तुओं पर आम लोगों के अधिकार केवल उनकी योग्यताओं पर निर्भर नहीं करते। योग्य लोग अधिक आय का कोई अधिकार नहीं रखते। योग्य लोगों की अधिक आय तथा सुविधाएँ तभी न्यायसंगत हो सकती है यदि वे निम्नतम लोगों के लाभ में जाती है।

रॉल्स और नोज़िक दोनों ने उपयोगितावादी सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया। दोनों का यह मत है कि व्यक्ति अपने-आपमें एक साध्य है। तथापि जहाँ नोज़िक के अनुसार, सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार आत्म-स्वामित्व का अधिकार है, रॉल्स के अनुसार, यह अधिकार 'समाज के स्रोतों में उचित हिस्सा' है। नोज़िक के अनुसार योग्य लोगों द्वारा उत्पादित की गई वस्तुओं से गरीब लोगों का भला करने की कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि, 'यदि मेरा अपने पर पूरा अधिकार है तो मैं अपनी योग्यता का और इस योग्यता से किए जाने वाले उत्पादन का भी मालिक हूँ। अत: कर-प्रणाली द्वारा स्रोतों का पुन: वितरण गलत है।' रॉल्स के अनुसार, योग्यताओं के स्वामित्व के अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि उन योग्यताओं से उत्पन्न होने वाले असमान प्रतिफल का भी अधिकार हो क्योंकि योग्यताएँ प्रकृति द्वारा असमान रूप से बँटती है। अत: यह राज्य का कर्तव्य है कि वह इस बात का आश्वासन दे कि योग्य व्यक्तियों के कारण अयोग्य लोगों को कोई हानि नहीं होगी।

अधिकारों के एक अन्य सिद्धांत का वर्णन रोनाल्ड डोरकिन ने अपनी पुस्तक '*Taking Right Seriously*' में किया है। डोरकिन ने नैतिक अधिकारों पर आधारित राजनीति का एक नया सिद्धांत स्थापित करने की कोशिश की। इनके अनुसार व्यक्ति के केवल दो अधिकार हैं जिन्हें नैतिक स्तर पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है–(*i*) प्रत्येक व्यक्ति का समानता का अधिकार तथा (*ii*) मानवीय प्रतिष्ठा के आदर का अधिकार। यह सिद्धांत इतिहास, दर्शनशास्त्र, परम्परा आदि पर आधारित न होकर तर्कशास्त्र पर आधारित काल्पनिक सिद्धांत है। डोरकिन का सिद्धांत अन्य उदारवादी लेखकों से इस दृष्टिकोण से भिन्न है कि वे स्वतंत्रता के किसी सामान्य अधिकार को नहीं मानते। इसके अनुसार, स्वतंत्रता के अधिकार का विचार एक गलत धारणा है जिसने राजनीतिक चिन्तन को हानि पहुँचाई है। इसमें कोई शक नहीं कि कुछ स्वतंत्रताएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु केवल इसलिए कि वे समानता के अधिकार पर आधारित हैं। वह लिखते हैं, 'नागरिकों को कुछ स्वतंत्रताओं का विशिष्ट अधिकार है जैसे विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अथवा अपने निजी और सेक्सुअल संबंधों में स्वतंत्रता, परन्तु उन्हें सम्पत्ति के स्वतंत्र उपयोग का अधिकार नहीं है।' डोरकिन के सिद्धांत की एक और विशेषता उनका उग्र व्यक्तिवाद है। विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में वे लिखते हैं कि किसी सार्वजनिक प्रदर्शन में सुरक्षा के नाम पर भी लाउडस्पीकरों पर कोई बैन नहीं लगाना चाहिए क्योंकि इससे किसी व्यक्ति या प्रदर्शनकारियों के विचारों को अभिव्यक्त करने में बाधा आ सकती है। इसी तरह समानता और मानवीय प्रतिष्ठा के नाम पर वह काले लोगों के कम नम्बर के बावजूद विश्वविद्यालय में दाखिले को उचित ठहराते हैं।

संक्षेप में, 1960 के बाद उदारवाद के अन्तर्गत व्यक्तिगत अधिकारों की कई धारणाएँ प्रस्तुत की गईं। परन्तु सवाल यह है कि इन सिद्धांतों के आधार पर कोई मौलिक अधिकारों का नया सिद्धांत बन सकता है? बिरच के अनुसार, ऐसा सम्भव दिखाई नहीं देता क्योंकि इन नयी धारणाओं में व्यक्ति की प्रकृति, समाज के प्रति दृष्टिकोण या राज्य के कार्यों से सम्बन्धित स्पष्ट विचारों का अभाव है। इसी तरह पीटर जोन्स भी लिखते हैं, 'अधिकार का अर्थ क्या है?–इस प्रश्न पर अभी भी विभिन्न दार्शनिकों में मौलिक मतभेद हैं। वर्तमान समय में यदि अधिकारों के संदर्भ में कोई प्रगति हुई है तो यह प्रगति विभिन्नता की ओर है, किसी 'एकल सच' की ओर नहीं।'

नोट

7. अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत (Marxist Theory of Rights)

परिभाषाओं, व्याख्याओं और औचित्य की विभिन्नता के बावजूद व्यक्ति के अधिकारों का अस्तित्व उदारवाद की मौलिक धारणा है। अधिकार सामाजिक स्तर पर व्यक्ति की कुछ ऐसी माँगें हैं जिन्हें राज्य अपने क़ानून द्वारा सुरक्षित करता है। इन अधिकारों के आधार चाहे प्राकृतिक हों या क़ानूनी, ऐतिहासिक, नैतिक अथवा कल्याणकारी, ये व्यक्ति के मौलिक अधिकार हैं। इसके विपरीत, मार्क्सवाद में हम अधिकारों के किसी निश्चित सिद्धांत का अभाव पाते हैं। मार्क्सवाद के अधिकार सम्बन्धी विचार निजी सम्पत्ति की धारणा के साथ जुड़े हुए हैं। मार्क्स का मुख्य लक्ष्य पूंजीवादी समाज और अर्थव्यवस्था की आलोचना रहा; उसने राज्य अथवा राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों का कोई निश्चित सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया। अत: मार्क्सवाद के अन्तर्गत हम अधिकारों के किसी सकारात्मक सिद्धांत का अभाव पाते हैं। तथापि अधिकारों पर उसके विचारों ने बुर्जुआ अधिकारों के खोखलेपन का पर्दाफाश किया जो परम्परा बाद में आने वाले मार्क्सवादी लेखकों ने भी निभाई। क्रांति के बाद सोवियत यूनियन और चीन के संविधानों के अध्याय जोड़े गये परन्तु व्यवहारिक स्तर पर उनकी प्राप्ति भी एक सपना ही रही।

बुर्जुआ अधिकारों की आलोचना

मार्क्स ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में बुर्जुआ राज्य में दिए जाने वाले अधिकारों की प्रकृति का विश्लेषण किया। उसका विचार था कि आर्थिक असमानताएँ राजनीतिक असमानताओं को जन्म देती है। परिणामस्वरूप, मज़दूर वर्ग बहुमत में होने के बावजूद सरकार में शासकवर्ग का दर्जा कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता और उनके अधिकार खोखले ही रहेंगे। अपनी पुस्तक *'The Jewish Question 1843'* में फ्रांस और अमरीका के संविधानों में निहित किए गये मानव अधिकारों का विश्लेषण करते हुए मार्क्स कहते हैं कि यह मानव अधिकार बहुत हद तक राजनीतिक अधिकार थे जिनका उपयोग समाज में अन्य लोगों के साथ ही किया जा सकता था। इनकी विषय-वस्तु और प्रकृति राज्य की प्रकृति पर निर्भर करती है। ये 'राजनीतिक स्वतंत्रताएँ' और 'नागरिक स्वतंत्रताओं' के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु इनके अलावा कुछ और मानवीय अधिकार भी होते हैं। जिन्हें नागरिक अधिकारों से भिन्न किया जा सकता है जैसे आत्मा की स्वतंत्रता अथवा धार्मिक स्वतंत्रता। बुर्जुआ समाज में 'व्यक्ति के अधिकार' और 'नागरिक के अधिकार' में अन्तर किया जाता है। व्यक्ति नागरिक समाज का सदस्य होने के नाते ही व्यक्ति है। अत: व्यक्ति और उसके अधिकारों को मानवीय अधिकार क्यों कहा जाए। मार्क्स के अनुसार इसकी व्याख्या राज्य का नागरिक समाज के साथ सम्बन्ध और राजनीतिक मुक्ति की प्रकृति के संदर्भ में की जा सकती है।

व्यक्ति के अधिकार नागरिक समाज के सदस्य होने के नाते होते हैं, अर्थात् ये स्वार्थी व्यक्ति के अधिकार हैं, एक ऐसा व्यक्ति जो दूसरे व्यक्तियों और समुदाय से पृथक् है। 1793 के फ्रेंच संविधान ने समानता, स्वतंत्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा आदि को व्यक्ति के अधिकार घोषित किया। इसके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ था किसी भी व्यक्ति को अपनी मनमर्जी करने की स्वतंत्रता बशर्ते कि वह दूसरों को हानि न पहुँचायें। मार्क्स के अनुसार, यह एक ऐसे स्वार्थी व्यक्ति की स्वतंत्रता थी जो स्वयं तक सीमित है। स्वतंत्रता का यह अधिकार व्यक्ति को व्यक्ति से मिलाने का नहीं बल्कि उन्हें अलग करने का अधिकार है। इसी तरह सम्पत्ति के अधिकार का अर्थ था अपने श्रम, वस्तुओं, आय आदि का समाज की परवाह किए बिना अपनी मर्जी से उपभोग करना, खरीदना या बेचना अर्थात् शुद्ध स्वार्थ का अधिकार। स्वतंत्रता और सम्पत्ति नागरिक समाज के आधार हैं। ये अधिकार अन्य व्यक्तियों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधक मानते हैं। इसी तरह समानता भी स्वतंत्रता का ही दूसरा रूप है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के स्वयं में एक लक्ष्य समझा जायेगा। इसका अर्थ है कि क़ानून सबके लिए बराबर है चाहे वह रक्षा करता है या सजा देता है। सुरक्षा का अर्थ है समाज के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा। सुरक्षा की धारणा समाज को अपने स्वार्थ से ऊपर उठने का अवसर नहीं देती, बल्कि यह स्वार्थ को दृढ़ करने का आश्वासन है।

नोट

संक्षेप में, मार्क्स के अनुसार कोई भी अधिकार स्वार्थी व्यक्ति की धारणा से ऊपर नहीं उठ पाते। यह एक ऐसा व्यक्ति के अधिकार हैं जो नागरिक समाज से कटकर केवल अपने निजी हितों और स्वार्थों तक सीमित है। ये मानव-जाति के एक अंग के रूप में व्यक्ति के अधिकार नहीं हैं। इनमें समाज व्यक्ति के लिए कृत्रिम संस्था और उसकी आत्मनिर्भरता में एक बाधा है। लोगों को आपस में बाँधने के सूत्र केवल स्वाभाविक आवश्यकताएँ, निजी हित और सम्पत्ति की सुरक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मार्क्स को यह स्थिति बड़ी विरोधाभासी लगी कि वह उदारवाद, जिसने समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों में बँधनों और भेदभावों की सभी दीवारें गिराने का बीड़ा उठाया, एक ऐसे व्यक्ति की प्रकृति को उचित ठहराता है जो स्वार्थी और समाज से कटा हुआ है। उदारवाद ने व्यक्ति के सामुदायिक पक्ष की बिल्कुल परवाह नहीं की। संक्षेप में, उदारवाद के संदर्भ में व्यक्ति 'नागरिक' के रूप में नहीं बल्कि 'बुर्जुआ व्यक्ति' के रूप में ही असली व्यक्ति है।

इसके अतिरिक्त, आधुनिक राज्य यह दावा करता है कि यह विशेषाधिकारों पर आधारित समाज न होकर एक ऐसा समाज है जिसमें विशेषाधिकार हो चुके हैं। इसने व्यक्ति को विशेषाधिकारों से मुक्त कर दिया है, परन्तु मार्क्स के अनुसार, उदारवाद ने व्यक्ति और व्यक्ति में सर्वव्यापक संघर्ष आरंभ कर दिया है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को अपनी स्वतंत्रता और सम्पत्ति का दुश्मन समझता है तथा इन्हें बचाने की चिन्ता में लगा रहता है। यह वास्तव में व्यक्ति को मानवहीनता और दासता की प्रवृत्ति की ओर ले जा रहा है। अधिकार यहाँ विशेषाधिकारों का ही रूप ले लेते हैं।

संक्षेप में, उदारवाद के बुर्जुआ अधिकारों की आलोचना इस प्रकार हैं–

1. अधिकार उतनी देर तक अमूर्त और औपचारिक रहते हैं जितनी देर तक कुछ ऐसे संस्थात्मक परिवर्तन नहीं किए जाते जिनमें ये अधिकार सम्भव हो सकें। उदाहरण के लिए, जीने के अधिकार का अर्थ है भरण-पोषण और जीवन निर्वाह की उपलब्धि जिन पर यह अधिकार निर्भर करता है। मार्क्स इस बात से अच्छी तरह आश्वस्त थे कि अपने सामाजिक सम्बन्धों में सम्पत्ति केवल वस्तुओं के ऊपर एक शक्ति ही नहीं, बल्कि यह लोगों को नियंत्रित करने की शक्ति भी है। अत: उत्पादन के साधनों के मालिकाने का अर्थ है समाज के बहुत बड़े भाग को उनके प्रयोग से वंचित करना। सम्पत्ति की शक्ति वास्तविक शक्ति है जो लोगों को दूसरों पर निर्भर रहने के लिए मज़बूर करती है। यह मज़बूरी अधिकारों के उपयोग को नकारात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित करती है।

2. यद्यपि समानता का अधिकार सामाजिक न्याय की एक आवश्यक शर्त है तो भी यह अपने-आपमें संतोषजनक नहीं है। जहाँ उदारवादी लेखकों ने यह घोषणा की कि व्यक्ति क़ानून के समक्ष समान है, मार्क्सवाद का तर्क था कि जहाँ आर्थिक असमानताएँ आम हों, वहाँ कानूनी समानता न तो समान रूप से सुरक्षा कर सकती है और न ही उल्लंघन करने वालों को सजा दे सकती है। वर्ग विभाजित समाज में अधिकारों की समानता इस बात की माँग करती है कि इसमें सामाजिक पुनर्निर्माण नितान्त आवश्यक है। इसी तरह जब मार्क्स ने कहा कि प्रत्येक अधिकार सार रूप में असमानता का अधिकार होता है तो वह समान अधिकारों के नियम की वैधता से इंकार नहीं कर रहा था।

3. प्रत्येक अधिकार अपनी संचालन की परिस्थितियों से प्रभावित होता है चाहे वह शिक्षा का अधिकार हो या विचाराभिव्यक्ति का या प्रेम की स्वतंत्रता का। इसके अलावा अधिकार कभी भी समाज के आर्थिक ढाँचे और सांस्कृतिक विकास से ऊपर नहीं होते बल्कि उनसे प्रभावित होते हैं।

4. आर्थिक दृष्टिकोण से एक वर्गविहीन समाज की स्थापना के संघर्ष के लिए, जो कि सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र पर बल देगी, राजनीतिक प्रजातंत्र के नियमों का पालन करना अनावश्यक है। साम्यवादी समाज की स्थापना के उच्च उद्देश्य के संदर्भ में अधिकार केवल औपचारिक हैं और यदि वे वर्ग-संघर्ष के रास्ते में रुकावट बनते हैं तो उनका उल्लंघन अथवा अवज्ञा करना कोई गलत बात नहीं होगी।

नोट

साम्यवादी देशों में अधिकार (Rights in Communist Societies)

क्रांति के बाद राज्य के साम्यवादी समाज में परिवर्तन की चर्चा करते हुए मार्क्स 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' की बात करते हैं। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की राजनीतिक माँगें, मार्क्स के अनुसार, पुराने प्रजातांत्रिक राज्यों से भिन्न नहीं होगी जैसे वयस्क मताधिकार, प्रत्यक्ष विधि-निर्माण, लोकप्रिय अधिकार, लोकसेना आदि। यह वास्तव में सारी बुर्जुआ माँगें हैं जो काफी हद तक प्राप्त की जा चुकी हैं। अन्तर केवल यह होगा कि क्रांति के बाद यह एक ऐसे राज्य की माँगें होंगी जो बुर्जुआ राज्य नहीं होगा। साम्यवाद की इस प्रारम्भिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुसार वेतन दिया जाएगा। ऐसा सम्भव हो सकता है कि एक व्यक्ति दूसरे से शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टिकोण से अधिक श्रेष्ठ हो और अपेक्षाकृत अधिक समय तथा श्रम का योगदान दे सके। अत: यहाँ समान अधिकारों का अर्थ असमान श्रम के लिए असमान अधिकार होगा। यहाँ वर्ग-भेद को मान्यता न देकर व्यक्ति की असमान उत्पादक योग्यताओं और प्रतिभाओं को मान्यता दी जाएगी। सार रूप में, समानता के सारे अधिकार वास्तव में असमानता के अधिकार होंगे। इसी तरह एक श्रमिक कुंवारा तथा दूसरा बाल-बच्चों वाला हो सकता है। अत: समान श्रम के बावजूद और सामाजिक भंडार में समान हिस्से के बावजूद एक व्यक्ति दूसरे से अधिक प्राप्त करके अमीर बन सकता है। इन त्रुटियों को दूर तभी किया जा सकता है यदि अधिकार समान न होकर असमान हों।

परन्तु इस तरह के दोष साम्यवाद के प्रथम चरण में स्वाभाविक हैं क्योंकि यह एक ऐसा समाज होगा जो पूंजीवादी समाज से निकला है। जैसा कि ऊपर चर्चा की गई, अधिकार कभी भी समाज के आर्थिक ढाँचे और उससे निर्मित सांस्कृतिक विकास से ऊपर नहीं होते। केवल साम्यवाद की अन्तिम अवस्था में, जब व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक श्रम का भेद समाप्त हो जाएगा, जब श्रम 'जीवन के साधन' से 'जीवन की प्रमुख आवश्यकता' के रूप में परिवर्तित हो जाएगा, जब उत्पादन शक्तियों का सम्पूर्ण विकास हो जाएगा, तभी समाज में 'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाएगा और उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाएगा' का नियम लागू किया जा सकेगा। साम्यवादी समाज में यही अधिकारों का आधार होगा।

रूस, चीन तथा पूर्व-यूरोपीय देशों में साम्यवादी क्रांति के बाद इनके संविधानों में अधिकार और कर्तव्यों से संबंधित अध्याय जोड़े गए। मार्क्सवाद के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए इन राज्यों में आर्थिक अधिकारों को राजनीतिक अधिकारों से अधिक प्राथमिकता दी गई। अधिकार और कर्तव्यों को द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में देखा गया। अर्थात् अधिकारों में कर्तव्य निहित है और कर्तव्यों में अधिकार। उदाहरण के लिए, काम करना अधिकार भी है और कर्तव्य भी। जो काम करेगा उसे खाने का अधिकार है और जो व्यक्ति खाता है काम करना उसका कर्तव्य है। संविधान में जिन अधिकारों को महत्त्व दिया गया उनमें काम का अधिकार, आराम, सामाजिक सुरक्षा, शिक्षा तथा अन्य आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्रमुख थे। इसी तरह विचाराभिव्यक्ति, समुदाय बनाने, प्रदर्शन करने आदि जैसे नागरिक अधिकार भी जोड़े गये। निजी सम्पत्ति के अधिकार को प्राय: समाप्त कर दिया गया। ये सभी अधिकार कर्तव्यों से जुड़े हुए थे जिनमें सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना, अनिवार्य सैनिक सेवा, 'सोवियत पितृभूमि' की रक्षा आदि शामिल थे। तथापि इन अधिकारों विशेषकर राजनीतिक और नागरिक की प्राप्ति के संदर्भ में कुछ नकारात्मक पहलू भी सामने आये। राज्य, समाज तथा अर्थव्यवस्था पर साम्यवादी दल का सम्पूर्ण आधिपत्य, राज्य द्वारा जोर-जबरदस्ती के यंत्रों का आम प्रयोग, राज्य तथा दल के ढाँचों का एकीकरण, नागरिक स्वतंत्रताओं की अनुपस्थिति, मतविभिन्नता पर रोक–ये कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिन्होंने अधिकारों को मात्र राज्य द्वारा दी जाने वाली रियायतों में बदल दिया। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से जनसाधारण के जीवन को समृद्ध करने की दिशा में ये राज्य बहुत कुछ प्राप्त नहीं कर सके।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. सामाजिक सुरक्षा, काम, हड़ताल, आराम आदि कुछेक अधिकारों को केवल ..... शताब्दी में ही मान्यता मिली थी।

2. ..... सम्पत्ति के अधिकार को प्राय: समाप्त कर दिया गया है। **नोट**

3. ..... के बाद उदारवाद के अंतर्गत व्यक्तिगत अधिकारों की कई धारणाएँ प्रस्तुत की गईं।

टास्क 'एक व्यक्ति के लिए अधिकार कितने आवश्यक हैं', पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

6.2 मानव अधिकार (Human Rights)

अधिकारों का महत्त्व सिद्ध करने के लिए समय-समय पर इनके साथ 'प्राकृतिक', 'मौलिक', 'मानवीय' आदि विशेषण लगाये जाते रहे हैं। बीसवीं शताब्दी में 'मानव अधिकार' की धारणा बहुत लोकप्रिय हो गई है। यह शताब्दी मानव अधिकारों की शताब्दी कही जाती है क्योंकि मानव अधिकारों की धारणा उदारवादी-प्रजातांत्रिक तथा समाजवादी सभी देशों में काफी लोकप्रिय हो चुकी है। व्यवहारिक स्तर पर सभी राज्य आज मानव अधिकारों की किसी न किसी धारणा में अवश्य विश्वास करते हैं जो उनके समाज तथा राजनीतिक संस्थाओं को न्यायसंगत करार देती है।

मानव अधिकारों का अर्थ तथा विशेषताएँ (Human Right: Meaning and Characteristics)

मानव अधिकार की धारणा का अर्थ है कि मानव समुदाय का प्रत्येक सदस्य अपनी मानवीयता के कारण कुछ मौलिक अधिकार रखता है। ये कुछ ऐसे अधिकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा माँगे जा सकते हैं। ये क़ानूनी अथवा राष्ट्रीय न होकर सर्वव्यापक अधिकार हैं जो प्रत्येक राज्य में किन्हीं भी प्रकार की परिस्थितियों की उपस्थिति अथवा अभाव में लोगों को मिलने ही चाहिए। ये राज्य या समाज की देन न होकर स्वयं व्यक्ति में अन्तर्निहित हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो ये अधिकार सत्रहवीं शताब्दी में विकसित प्राकृतिक अधिकारों की धारणा से ही प्रेरित हैं परन्तु बीसवीं शताब्दी में इन्हें मानवीय अधिकार कहा गया क्योंकि आज इन्हें मानवीय बुद्धि पर आधारित न मानकर मानवीय आवश्यकता पर आधारित माना जाता है। मानव अधिकारों का प्रेरणा स्रोत यह वास्तविकता है कि एक व्यक्ति जो भूखा है, सलाखों में बंद है, अनपढ़ है, काम का उचित वेतन प्राप्त नहीं कर रहा, शोषित अथवा उत्पीड़ित है, वह एक ऐसा जीवन बिता रहा है जो एक मानव के उपयुक्त नहीं है।

मैकफरलेन के अनुसार, 'मानव अधिकार वे नैतिक अधिकार हैं जो प्रत्येक पुरुष अथवा स्त्री को केवल मानव होने के नाते मिलते हैं।' ये अधिकार दूसरे अधिकारों से पाँच विशेषताओं के आधार पर पहचाने जा सकते हैं–(*i*) सर्वव्यापकता (universality), (*ii*) व्यक्तिपरकता (Individuality), (*iii*) सर्वोच्चता (Paramountcy), (*iv*) व्यवहारिकता (Practicability) तथा (*v*) कार्यान्वयन (Enforceability)।

इन विशेषताओं की व्याख्या करते हुए मैकफरलेन लिखते हैं कि ये सर्वव्यापक इस अर्थ में हैं कि अधिकार सभी लोगों के सभी समयों और परिस्थितियों में होते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानव अधिकारों की घोषणा सम्पूर्ण मानव मात्र के लिए है चाहे वे किसी भी प्रकार के शासन अथवा परिस्थिति में जी रहे हों। व्यक्तिपरकता का अर्थ है कि मानव अधिकार की धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि व्यक्ति एक स्वतंत्र प्राणी है, उसकी अपनी प्रतिष्ठा है, वह अपनी अन्तरात्मा और तर्कबुद्धि का मालिक है और सामाजिक स्तर पर अपने निर्णय लेने के योग्य हैं। अत: जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के इन मूल्यों को मान्यता नहीं दी जाती वहाँ अधिकार अधिकार न रहकर रीति-रिवाजों और परम्पराओं का अंश मात्र बनकर रह जाते हैं। अधिकार सर्वोच्च भी है। इस दृष्टिकोण से कि कोई भी व्यक्ति इन अधिकारों का उल्लंघन केवल अन्याय की कीमत पर ही कर सकता है। सर्वोच्चता का अर्थ है कि मानवीय अधिकार 'कुछ ऐसे काम जो नहीं करने चाहिए, कुछ ऐसी स्वतंत्रताएँ जिन पर आंच नहीं आनी चाहिए, कुछ ऐसे मूल्य जो

नोट

कि पवित्र हैं', का प्रतिनिधित्व करते हैं। डोरकिन के अनुसार, मानवीय अधिकार वे अधिकार हैं जिनका सार्वजनिक हित के नाम पर भी उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए और जिनका उपभोग राज्य के क़ानून के अभाव में भी किया जा सकता है। व्यवहारिकता से अभिप्राय है कि मानव अधिकार कुछ ऐसी माँगें हैं जो असम्भव नहीं है और न ही इन्हें समाज के कुछ गिने-चुने लोगों तक ही सीमित रखना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान बनाया जा सकता है। पिछड़े हुए देशों का कोई साधारण व्यक्ति विकसित देशों के व्यक्ति की तरह जीवन नहीं बिता सकता। तथापि, जीवन निर्वाह की न्यूनतम सुविधाओं की सुरक्षा प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। व्यवहारिकता का अर्थ है कि राज्य व्यवस्था को इस प्रकार प्रबन्धित किया जाना चाहिए कि लोगों की न्यूनतम आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। आखिरी विशेषता है कार्यान्वयन। यद्यपि इस विशेषता को लेकर कई तरह के विवाद हैं परन्तु यह बात भी स्पष्ट है कि इन अधिकारों को कार्यान्वित किए बिना लोगों की कोई भी माँग पूरी नहीं हो सकती। व्यावहारिक स्तर पर मानव अधिकारों का पालन राज्य के क़ानूनी ढाँचे के अन्तर्गत ही हो सकता है जो अपने नागरिकों को कुछ अधिकार प्रदान करता है।

मानव अधिकार वास्तव में वह सुरक्षा कवच है जो व्यक्ति को हिंसा और अवज्ञा से बचाने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्ति को सुरक्षा के किसी न किसी ढाँचे की जरूरत है क्योंकि प्रकृति ने इसे बहुत ही कमजोर जीव बनाया है। यद्यपि यह सुरक्षा कभी भी सम्पूर्ण नहीं होती, तथापि आधुनिक युग की शुरुआत में ही यह विचार उभरने लगा कि व्यक्ति को जन्म से कुछ 'अधिकार' मिलते हैं जो उसे नैतिक तौर पर दूसरों लोगों से और सरकार की तानाशाही से सुरक्षित करते हैं। इन प्राकृतिक अधिकारों को ही बीसवीं शताब्दी में मानव अधिकारों का नाम दिया गया है।

मानव अधिकार वास्तव में राज्य के विरुद्ध अधिकार हैं, अर्थात् राज्य का कर्तव्य इन अधिकारों का आदर करना है। वास्तव में एक मानदण्ड है जिससे सरकार के कार्यों का लेखा-जोखा लिया जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकसित मानव अधिकारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है।–**नकारात्मक** और **सकारात्मक।**

नकारात्मक अधिकार वे अधिकार हैं जो किसी देश की सरकार अथवा दूसरे लोगों पर कुछ बंधन लगाते हैं, जैसे राज्य के क़ानून के विरुद्ध जुर्म के बिना किसी व्यक्ति को उत्पीड़ित नहीं किया जाएगा, उसका कोई अंगभंग नहीं किया जाएगा, जेल में नहीं डाला जाएगा या हत्या नहीं की जाएगी अथवा क़ानून के शासन में निहित सुरक्षा प्राप्त करने से रोका नहीं जाएगा। राज्य किसी भी व्यक्ति की विचाराभिव्यक्ति अथवा धार्मिक स्वतंत्रता पर कोई रोक नहीं लगायेगा। किसी विशेष राज्य की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर इन अधिकारों को कार्यान्वित करने की मात्रा में अन्तर हो सकता है, परन्तु मौलिक रूप से ये प्रत्येक व्यक्ति के सर्वव्यापक अधिकार हैं।

सकारात्मक दृष्टिकोण से मानव अधिकारों का अर्थ है कि केवल क़ानून के समक्ष समानता ही काफी नहीं है। जीने के अधिकार का अर्थ है कि व्यक्ति को खाना, कपड़ा, मकान, दवाइयाँ आदि इस मात्रा में उपलब्ध हों कि वह अपने जीने को सार्थक कर सके। इसी तरह विचाराभिव्यक्ति का अधिकार शिक्षा की माँग करता है ताकि व्यक्ति अपना ज्ञानवर्धन कर सके। इन अधिकारों का अर्थ है कि राज्य अपने सकारात्मक कार्यों से व्यक्ति के जीवन की ये सुविधाएँ प्रदान करें।

संक्षेप में, मानव अधिकार का अर्थ है–

1. अधिकार व्यक्ति के जन्मजात हैं, वे उसके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हैं।
2. ये मूलभूत मानवीय जीवन तथा उसके विकास के लिए आवश्यक है।
3. ये उन सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा करते हैं जिनमें इन्हें प्राप्त किया जा सके।
4. इन्हें व्यक्ति की मौलिक माँगें मानते हुए प्रत्येक राज्य को अपने संविधान और क़ानून का भाग बनाना चाहिए।

नोट

मानव अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणापत्र (U.N. Declaration on Human Rights)

अधिकारों की धारणा के लम्बे इतिहास में मानव अधिकारों का विचार द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की देन है। इसका तात्कालिक संदर्भ युद्ध के दौरान हिटलर के फासीवादी शासन द्वारा किए गए नर-संहार के विरुद्ध तीखी घृणा थी। इस घृणा के परिणामस्वरूप युद्ध के बाद विजयी देशों ने कई जर्मन नेताओं के ऊपर उन अपराधों पर मुकदमें चलाए जिनका राष्ट्रों की कानूनी किताबों में कोई वर्णन नहीं था परन्तु जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) के फैसलों पर आधारित थे। इन अपराधों को 'मानवता' के विरुद्ध अपराध (Crimes Against Humanity) का नाम दिया गया और भविष्य के लिए एक मानदण्ड स्थापित करने के लिए 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानव अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा के लिए एक विशेष समिति की रचना की। इस घोषणा ने सभी देशों के सभी नागरिकों के लिए उपलब्धियों के एक समान मानदण्ड का प्रस्ताव रखा। इसके अनुसार सभी लोग समान प्रतिष्ठा और अधिकारों के साथ पैदा होते हैं, अत: उन्हें वे सभी अधिकार जो 'संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र' में लिखे गए हैं, बिना किसी जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, मत, विभिन्नता, राष्ट्रीय सम्पत्ति, जन्म आदि के भेदभाव के प्राप्त होने चाहिए।

वे कौन से अधिकार हैं जो मानव अधिकार कहला सकते? संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र दो तरह के अधिकारों की बात करता है—(*i*) नागरिक और राजनीतिक अधिकार, (*ii*) आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार। नागरिक और राजनीतिक अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता, सुरक्षा, दासता से मुक्ति, समान कानूनी सुरक्षा, घूमने-फिरने की स्वतंत्रता, विचाराभिव्यक्ति अन्तरात्मा और धार्मिक स्वतंत्रता, समुदाय बनाने, वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनावों में हिस्सा लेने के अधिकार प्रमुख हैं। सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों में सामाजिक सुरक्षा, काम करने, आराम करने, न्यूनतम जीवन स्तर, शिक्षा तथा अपने समुदाय की सांस्कृतिक विरासतों में हिस्सा लेने के अधिकार आते हैं। घोषणापत्र इस बात को भी मान्यता देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक ऐसी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में रहने का अधिकार है जिसमें इन स्वतंत्रताओं का प्रभावशाली ढंग से उपभोग किया जा सके।

संयुक्त राष्ट्र का घोषणापत्र मानव-जाति में अपना दृढ़ विश्वास प्रकट करता है और अधिकारों के सर्वव्यापक होने की बात करता है ताकि ये व्यक्ति को एक राज्य विशेष के राष्ट्रीय कानूनों के अभाव के बावजूद प्राप्त हो सकें। यह मानवीय स्वतंत्रता के महत्त्वपूर्ण पक्षों तथा जीवन की परिस्थितियों की चर्चा करता है और सरकारों से अनुरोध करता है कि वे इन्हें लागू करने का प्रयत्न करें। घोषणापत्र इस नियम पर आधारित है कि अधिकार सामाजिक स्तर पर व्यक्ति के अच्छे जीवन की प्राप्ति के साधन हैं और सरकारों का कर्तव्य लोगों के इन समान अधिकारों की प्राप्ति के संघर्ष में उनके दावों को इस तरह से प्रबन्धित करना है कि अच्छे जीवन की परिस्थितियाँ सब लोगों के लिए सम्भव हो सकें।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)—

4. 'मानव अधिकार वे नैतिक अधिकार हैं, जो प्रत्येक पुरुष अथवा स्त्री को केवल मानव होने के नाते मिलते हैं' कथन किसका है?

   (अ) मैकफरलेन　　(ब) लॉस्की

   (स) ऑस्टिन　　(द) इनमें से कोई नहीं

नोट

5. ऐसे अधिकार क्या कहलाते हैं, जो किसी देश की सरकार अथवा दूसरे लोगों पर कुछ बंधन लगाते हैं?
   (अ) सकारात्मक अधिकार (ब) नकारात्मक अधिकार
   (स) न (अ) और न (ब) (द) इनमें से कोई नहीं।
6. मानव अधिकारों की आलोचना किन लेखकों की देन है?
   (अ) पूंजीवादी (ब) साम्यवादी
   (स) मार्क्सवादी (द) इनमें से कोई नहीं

अधिकारों का औचित्य-मानव अधिकारों की समीक्षा
(Justification of Rights : A Critique of Human Rights)

मानव अधिकार कहाँ तक उचित हैं? क्या मानव अधिकार संबंधी घोषणा एक स्वयं सिद्ध सत्य है जो किसी तरह के औचित्य की माँग नहीं करता? मानव अधिकारों के आलोचक इन्हें पक्षपातपूर्ण धारणाएँ मानकर अस्वीकार कर देते हैं। प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत प्राकृतिक क़ानून (Natural Law) के आधार पर उचित ठहराया गया था परन्तु मानव अधिकारों को प्राकृतिक क़ानून की धारणा से पृथक् कर दिया गया। समकालीन राजनीतिक चिन्तक मानव अधिकारों को स्वतंत्रता, समानता, स्वायत्तता और मानव कल्याण जैसे मूल्यों के प्रति वचनबद्धता के आधार पर उचित ठहराते हैं। तथापि विभिन्न राष्ट्र-राज्यों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ भिन्न होने के कारण मानव अधिकारों की समस्या काफी जटिल बन जाती है। लोकप्रियता के बावजूद ये संसार के सभी देशों में समान रूप से स्वीकार नहीं किए जाते। कुछ देशों में इन्हें सैद्धान्तिक तौर पर ही अस्वीकार कर दिया गया है। जबकि कुछ अन्य देश कुछ विशेष अधिकारों की आलोचना करते नहीं थकते। मानव अधिकारों की आलोचना और इनके औचित्य के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के कुछ तर्क निम्नलिखित हैं–

1. उपयोगितावादी लेखकों का विचार है कि मानव अधिकारों के अस्तित्व की बात ऐसे विश्वास के साथ कही जाती है जैसे ये क़ानूनी अधिकारों का भाग हों। मानव अधिकारों और कानूनी अधिकारों में मौलिक अन्तर है और यदि हम इस अन्तर को मान लेते हैं तो मानव अधिकार एक नैतिक माँग से बढ़कर नहीं है। व्यवहारिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से मानव अधिकारों का दावा काफी कमज़ोर है क्योंकि संसार के अधिकतर देशों में अभी भी तानाशाही शासन है और संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा-पत्र इन राज्यों को अधिकारों का उल्लंघन करने से रोक नहीं पाई है। घोषणा के नाम पर की गई अपील ज्यादातर खोखली साबित हुई है। मानव अधिकारों को महाशक्तियों अथवा कुछ शक्तिशाली देशों द्वारा शीत युद्ध के एक साधन के रूप में प्रयोग अधिक किया गया।

2. शिक्षा, काम, सामाजिक सुरक्षा, आराम, न्यूनतम जीवन स्तर जैसे सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों को घोषणापत्र में काफी महत्त्व दिया गया है। परन्तु कुछ आलोचकों ने इन अधिकारों से प्राप्त होने वाले सामाजिक न्याय के बारे में ही नहीं बल्कि उनके मानव अधिकार होने की बुद्धिमत्ता पर ही शंका का प्रश्नचिह्न लगा दिया है। मौरिस करान्सटन के अनुसार, आर्थिक सामाजिक अधिकार थोड़े असंगत दिखाई देते हैं क्योंकि अधिकतम पिछड़े और विकासवादी राष्ट्रों के लिए यह कोरी कल्पना के अलावा और कुछ नहीं हैं। घोषणापत्र में इनका समावेश दूसरे अधिकारों को भी काल्पनिक होने पर मज़बूर कर देता है। अधिकतर विकासशील देशों के पास इन अधिकारों के अनुकूल परिस्थितियों का अभाव है और अपने नागरिकों को यह कहना बड़ा अटपटा लगता है कि उन्हें अधिकार तो मिले हैं परन्तु वे इनका प्रयोग नहीं कर सकते, जबकि संसार के दूसरे कोने में ऐसे देश हैं जहाँ के नागरिक इन अधिकारों का काफी समय से उपभोग कर रहे हैं। परिणामस्वरूप मानव अधिकार सर्वव्यापक और समान होने का

नोट

दावा करने के बावजूद विभिन्न देशों के लिए असमान हो जाते हैं। इसके अलावा, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों की एक और प्रश्नमूलक विशेषता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन सुविधाओं को प्रदान करने की जिम्मेदारी राष्ट्रीय सरकार के ऊपर है अर्थात् अधिकार मानवीय है और सुविधाएँ प्रदान करने का कर्तव्य राष्ट्रीय। दूसरे अर्थों में, अधिकारों को तो सर्वव्यापक बना दिया गया परन्तु इन अधिकारों के अनुरूप इस संसार के आर्थिक स्रोतों को सांसारिक स्तर पर बाँटने का कोई प्रावधान नहीं किया गया।

3. एक अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि मानव-अधिकारों की सर्वव्यापकता के पीछे सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रभुत्व छुपा हुआ है। घोषणापत्र में दिए गए अधिकतर अधिकार वे हैं जो पश्चिमी उदारवारी प्रजातंत्र के मूल्यों, संस्थाओं और परम्पराओं का अभिन्न अंग रहे हैं। कई विकाशील और पिछड़े राज्यों ने इन अधिकारों की सार्थकता और प्रेरणा स्रोत पर ही प्रश्न चिह्न लगाया है। उनका दावा है कि न मानव अधिकारों के माध्यम से पश्चिमी देश अपनी मूल्य-व्यवस्था को अविकसित राज्यों के सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचों पर थोप रहे हैं। उदाहरण के लिए, एक अनपढ़, बेकार और भूखे पेट आदमी के लिए विचाराभिव्यक्ति का अधिकार कोई खास महत्त्व नहीं रखता। ऐसे समाजों में रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा आदि की आवश्यकता राजनीतिक अथवा नैतिक अधिकारों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है (हालांकि इसमें भी कोई शक नहीं कि कई देशों में आर्थिक उन्नति को एक बहाना बनाकर नागरिक स्वतंत्रताओं का दमन करने की कोशिश भी की गई है।) यदि संसार के सभी नागरिकों को यही मानव अधिकार दे दिए जाते हैं तो ये यूरोपीय संस्कृति का दूसरी संस्कृतियों पर प्रभुत्व होगा जो 'अच्छे और न्यायसंगत समाज की यूरोपीय धारणा' की नहीं मानते। इसके अलावा मानव अधिकारों की धारणा समूहों के अधिकार—जैसे वर्गों, राष्ट्रों, जातियों की अवज्ञा करते हैं। उदारवादी प्रजातंत्र ने वर्ग-शोषण, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय और जातीय भेदभाव के प्रश्नों की तरफ कम ध्यान दिया है।

4. मानव अधिकारों की एक अन्य आलोचना मार्क्सवादी लेखकों की देन है। मार्क्सवादी लेखकों के अनुसार, स्वतंत्रता के साथ-साथ, समानता भी एक महत्त्वपूर्ण मानवीय मूल्य है। अधिकारों की उदारवादी-व्यक्तिवादी धारणा को वे 'बुर्जुआ भ्रम' (Bourgeois illusion) की संज्ञा देते हैं। उदारवादी-पूंजीवादी समाजों में आय, जीवनस्तर, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति में अत्यधिक असमानता तथा अमीर और गरीब वर्ग में अत्यधिक खाई होने के कारण अधिकार खोखले बनकर रहे जाते हैं। अत: मानव अधिकारों की यह पश्चिमी धारणा वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति को असमान बनाने का समान अवसर देने का वादा करती है, जैसे प्रत्येक व्यक्ति को अपने पड़ोसी से अमीर बने रहने का अधिकार। इसी तरह धन, शक्ति और विशेषज्ञता कुछ लोगों तक सीमित होने के कारण 'अवसर की समानता' भी एक मिथ्या बनकर रह जाती है। यह केन्द्रीकरण समाज के एक विशिष्ट वर्ग को आम जनता पर नियंत्रण का अवसर दे देता है और अल्पमत द्वारा बहुमत के शोषण को न्यायसंगत ठहराया है। ऐसी परिस्थितियों में मानव अधिकार केवल एक भ्रम के अलावा और कुछ नहीं हो सकते।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessmnet)

निम्नलिखित कथनों से सत्य/असत्य छाँटिए (State whether the following Statements are True/ False)—

7. अधिकार वास्तव में सामाजिक स्तर पर मानवीय संबंधों से जुड़े हुए हैं।
8. अधिकार अपरिवर्तनशील होते हैं।
9. प्रत्येक अधिकार सामाजिक दृष्टिकोण से कर्तव्य है।
10. प्राकृतिक अधिकारों का स्रोत प्राकृतिक कानून है।

नोट

6.3 सारांश (Summary)

आज हम सभ्यता के एक ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जब मानव अधिकारों को सार्वजनिक घोषणाओं द्वारा मान्यता प्राप्त हुई है और कई देशों ने इन्हें अपने राष्ट्रीय संविधानों का भाग बना लिया है। ऐसा दावा किया जाता है कि व्यक्ति कुछ सर्वव्यापक तथा सर्वविदित मानवीय अधिकारों के साथ पैदा होता है। परन्तु इस युग की दूसरी विडम्बना यह भी है कि मानव अधिकारों की बड़े पैमाने पर उल्लंघन और अवज्ञा हो रही है। अधिकार विहीन मानवों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है तथा खून-खराबा, डर, आंसू, उत्पीड़न आदि व्यक्तियों को जगह-जगह पर अपना शिकार बना रहे हैं। यह मानवीय अमानवता कई रूपों में हमारे सामने आती है। सामाजिक फूट तथा राजनीतिक अस्थिरता, तानाशाही राजनीतिक ढांचे तथा आर्थिक स्रोतों का अभाव संयुक्त राष्ट्र संघ के मानव अधिकार घोषणापत्र के कार्यान्वयन को लगभग असम्भव बना रहे हैं। ऐसा तर्क दिया जाता है कि या तो संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित अधिकार यह सिद्ध करने में अत्यधिक अस्पष्ट है कि वाकई किसी अधिकार का उल्लंघन हो रहा है या इस घोषणा के पीछे अन्तर्निहित विचार यह रहा है कि प्रत्येक देश को अपने स्रोतों, परम्पराओं और मूल्यों के अनुसार इन अधिकारों की व्याख्या करने की छूट दे दी जाये।

अधिकतर मानव अधिकार पश्चिमी प्रजातान्त्रिक राज्यों में दी जाने वाली नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताओं के संदर्भ में परिभाषित किए गए हैं। उन देशों के नागरिक इन अधिकारों का आम तौर पर उपभोग कर रहे हैं। जहाँ समाजवादी देश इन अधिकारों की प्रारम्भ से ही आलोचना करते रहे, वहाँ विकासशील देशों में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप होने वाली अव्यवस्थाओं और गड़बड़ियों के कारण मानव अधिकारों का पालन असम्भव हो गया। उदारवादी प्रजातंत्र का विकास ऐसे समाजों में हुआ जहाँ औद्योगीकरण, शहरीकरण, प्रतिव्यक्ति औसत आय, संचार व्यवस्था के उच्च स्तर थे। दूसरे शब्दों में, उदारवादी प्रजातंत्र और संस्थाओं की दृढ़ता के लिए सामाजिक, आर्थिक विकास के एक न्यूनतम स्तर की आवश्यकता है। विकासशील देशों के सामाजिक, राजनीतिक ढाँचे इस दृष्टिकोण से अभी कमज़ोर और अस्थायी है, अत: इनसे मानव अधिकारों की सुरक्षा की उम्मीद नहीं रखी जा सकती। परिणामस्वरूप, संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के बावजूद लाखों-करोड़ों लोग आज भी न्यूनतम मानव अधिकारों से वंचित हैं।

6.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **प्राकृतिक (Natural):** प्रकृति से उत्पन्न, नैसर्गिक, प्रकृति संबंधी, लौकिक, सांसारिक, प्रकृति।
2. **स्वायत्त (Autonomous):** जिसे स्थानीय स्वशासन का अधिकार प्राप्त हो, जिस पर अपना अधिकार हो।

6.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. अधिकार से क्या अभिप्राय है?
2. अधिकार के आधारों को समझाइए।
3. मानव अधिकार की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. अधिकारों की समीक्षा कीजिए।

नोट

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. बीसवीं	2. निजी	3. 1960	
4. (अ)	5. (ब)	6. (स)	
7. सत्य	8. असत्य	9. सत्य	10. सत्य

6.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. इन्ट्रोडक्शन टु माडर्न पॉलिटिकल थ्योरी—एन.पी. बैरी।
2. पॉलिटिकल थ्योरी, आइडियाज एंड कान्सेप्ट—एस. रामास्वामी।

नोट

इकाई–7 : आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार (Economic and Social Rights)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 आर्थिक अधिकार (Economic Rights)

7.2 सामाजिक अधिकार (Social Rights)

7.3 सारांश (Summary)

7.4 शब्दकोश (Keywords)

7.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

7.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- आर्थिक अधिकार का अर्थ जानने हेतु।
- सामाजिक अधिकार का अर्थ जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक राज्य कल्याणकारी राज्य है जिनका उद्देश्य अपने नागरिकों को अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान करना है। नागरिकों के विकास में अधिकारों का बहुत महत्त्व है। आधुनिक राज्य अपने नागरिकों को अधिक-से-अधिक अधिकार देने का प्रयत्न करता है ताकि नागरिक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। इनमें आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार उल्लेखनीय हैं।

7.1 आर्थिक अधिकार (Economic Rights)

नोट

लोकतंत्रीय राज्य में नागरिकों को आर्थिक विकास के लिए आर्थिक अधिकार भी प्राप्त होते हैं। नागरिकों को प्राय: निम्नलिखित आर्थिक अधिकार प्राप्त होते हैं–

1. काम पाने का अधिकार: काम करने का अधिकार से अभिप्राय यह है कि नागरिक वैतनिक काम करने की माँग करते हैं। राज्य का कर्तव्य है कि वह सभी नागरिकों को काम दे ताकि नागरिक अपनी आजीविका कमा सकें।

2. उचित मजदूरी का अधिकार: नागरिकों को काम मिलना ही काफी नहीं है, उन्हें अपने काम की उचित मजदूरी भी मिलनी चाहिए। रूस में उचित मजदूरी का अधिकार नागरिकों को संविधान से प्राप्त है। पूँजीवादी देशों में न्यूनतम वेतन क़ानूनी बनाए जाते हैं।

3. अवकाश पाने का अधिकार: मजदूरों को अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए काम करने के पश्चात् अवकाश पाने का अधिकार भी प्राप्त होता है। रूस में अवकाश पाने का अधिकार नागरिकों को संविधान से प्राप्त है। अवकाश के दिनों में वेतन भी दिया जाता है।

4. काम के नियत समय का अधिकार: आधुनिक राज्यों में काम करने के घण्टे भी निश्चित होते हैं ताकि पूँजीपति मजदूरों का शोषण न कर सकें। काम करने के घण्टे भी निश्चित किए जाने से पूर्व मजदूरों से 12-12 या 15-15 घण्टे काम लिया जाता था। आजकल प्राय: सभी राज्यों में मजदूरों से 8 घण्टे काम लिया जाता है।

5. आर्थिक सुरक्षा का अधिकार: नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा के अधिकार भी प्राप्त होते हैं। इस अधिकार के अंतर्गत यदि कोई व्यक्ति काम करते समय अंगहीन या अंधा हो जाता है तो सरकार उसको आर्थिक सहायता प्रदान करती है। ऐसी व्यवस्था होने पर कोई नागरिक किसी दूसरे पर आश्रित नहीं रहता और न ही उसे भीख आदि माँगनी पड़ती है। आर्थिक चिन्ता से स्वतंत्र होकर ही व्यक्ति राजनीतिक स्वतंत्रता का उचित प्रयोग कर सकता है।

6. सम्पत्ति का अधिकार: प्राय: सभी आधुनिक राज्यों में नागरिक को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता है। इस अधिकार से अभिप्राय यह है कि नागरिक सम्पत्ति खरीद, बेच और जिसे चाहे अपनी सम्पत्ति दे सकता है। नागरिक को पैतृक सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता है। लॉक के अनुसार सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक अधिकार है और राज्य का प्रथम कर्तव्य अपने नागरिकों के इस अधिकार की रक्षा करना है।

कई लोगों का विचार है नागरिकों को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए क्योंकि सम्पत्ति के अधिकार से पूँजीपति गरीबों का शोषण करते हैं। जिन व्यक्तियों के पास सम्पत्ति होती है सरकार पर उन्हीं का नियंत्रण होता है और वे सरकार की शक्तियों का प्रयोग अपने हितों के लिए करते हैं। रूस में उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियंत्रण है।

अधिकारों का बदलता स्वरूप: परिवर्तन प्रकृति का नियम है और प्रत्येक जीव विकासशील होता है। मानव समाज भी विकासशील है। मानव समाज के विकास के साथ-साथ अधिकारों में परिवर्तन आना स्वाभाविक है, इसीलिए व्यक्ति के अधिकारों की एक निश्चित एवं स्थायी देना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी है। अधिकारों का विषय-क्षेत्र देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा समय पर निर्भर करता है। 20वीं शताब्दी के मानव के अधिकार 19वीं शताब्दी के अधिकारों से भिन्न हैं। 19वीं शताब्दी में व्यक्तिवाद का बोलबाला था और प्रजातंत्र का अभी पूरी तरह विकास नहीं हुआ था। व्यक्ति का जीवन निरंकुश शासनों की दया पर निर्भर था, इसलिए 19वीं शताब्दी में व्यक्तियों को शिक्षा का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, काम करने का अधिकार इत्यादि प्राप्त नहीं थे। परन्तु 20वीं शताब्दी लोकतंत्र, अंतर्राष्ट्रवाद और कल्याणकारी राज्यों का युग है, इसलिए प्रत्येक कल्याणकारी राज्य ने अपने नागरिकों को ऐसे अधिकार प्रदान किए हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के सभी पहलुओं का विकास कर सके। आधुनिक लोकतंत्रीय राज्यों में नागरिकों को न केवल राजनीतिक

नोट

अधिकार बल्कि सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकार भी दिए जाते हैं, परन्तु साम्यवादी देशों में जैसे कि सोवियत रूस और चीन में काम करने का अधिकार सर्वप्रथम अधिकार है। परन्तु भारत में सभी आर्थिक अधिकार पूरी तरह नहीं दिए गए हैं, अत: अधिकारों का स्वरूप देश की राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है।

टास्क आर्थिक सुरक्षा के अधिकार पर अपने मत व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. नागरिकों को उनके काम के बदले ..... मजदूरी मिलनी चाहिए।
2. ..... के अनुसार सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक अधिकार है और राज्य का प्रथम कर्तव्य अपने नागरिकों के इस अधिकार की रक्षा करना है।
3. सोवियत रूस और चीन में काम करने का अधिकार ..... अधिकार है।

7.2 सामाजिक अधिकार (Social Rights)

सभ्य राज्यों में नागरिकों को प्राय: निम्नलिखित सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं–

1. जीवन का अधिकार: सामाजिक अधिकारों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार जीवन का अधिकार है। प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों को जीवन का अधिकार देता है। अरस्तु के मतानुसार, राज्य जीवन की रक्षा के लिए बना और वह अच्छे जीवन के लिए चल रहा है।

इस अधिकार के महत्त्व के संबंध में **प्रो. लॉस्की** (Laski) ने लिखा है कि "मनुष्य को यदि यह अधिकार प्राप्त न होगा तो वह अपना समस्त जीवन अपनी सुरक्षा के लिए ही बिता देगा।" हॉब्स के मतानुसार, लोगों ने प्राकृतिक अवस्था को इसलिए छोड़ा था कि उनका जीवन सुरक्षित नहीं था। उनके मतानुसार जीवन का अधिकार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार है।

नोट्स किसी भी व्यक्ति को आत्महत्या करने का अधिकार नहीं है। उसका जीवन समाज की अमानत है, अत: इसका प्रयोग समाज के लिए ही होना चाहिए। जो व्यक्ति आत्महत्या करता पकड़ा जाता है, राज्य उसे दण्ड देता है।

राजा व्यक्ति को मृत्यु की सजा भी दे सकता है। हत्या करने वाले को प्राय: फाँसी का ही दण्ड दिया जाता है, परन्तु कई लोगों का विचार है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के जीवन की रक्षा करना है न कि उसके जीवन का अंत करना। इसलिए मौत का दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। आज इस विचार को बहुत-से लोगों का समर्थन प्राप्त है।

2. शिक्षा का अधिकार: मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षा आवश्यक है। अनपढ़ व्यक्ति गंवार तथा पशु माना जाता है। बिना शिक्षा के उसे अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों का भी ज्ञान नहीं होता है कि यह नागरिकों

नोट

की शिक्षा का उचित प्रबंध करे। हो सके तो नागरिकों को अनिवार्य तथा नि:शुल्क शिक्षा दी जाए। भारत के संविधान में भी शिक्षा का अधिकार दिया गया है। जात-पाँत, धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच, रंग, वंश आदि के आधार पर नागरिकों को स्कूल तथा कॉलिज में प्रवेश देने से इनकार नहीं किया जा सकता। भारत में कई राज्यों में कुछ सीमा तक शिक्षा नि:शुल्क है। जम्मू-कश्मीर में एम.ए. तक शिक्षा नि:शुल्क है। रूस, इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में भी नागरिकों को शिक्षा का अधिकार दिया गया है।

3. परिवार का अधिकार: परिवार समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है। मनुष्य को परिवार बनाने का अधिकार प्राप्त है, अत: प्रत्येक नागरिक को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है वह जिससे चाहे शादी कर सकता है और परिवार का प्रबंध करने में भी उसे पूर्ण स्वतंत्रता है। परन्तु राज्य परिवार से संबंधित कुछ नियमों का भी निर्माण करता है। भारत सरकार ने सिविल मैरिज के लिए पुरुष की आयु 21 वर्ष तथा स्त्री की आयु 18 वर्ष निश्चित की है। उल्लेखनीय है कि विवाह के लिए वर-वधु दोनों की अनुमति आवश्यक है।

4. भाषण देने तथा विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता का अधिकार: मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता प्राप्त होती है। यह भाषण के द्वारा अपने विचार को प्रकट कर सकता है। जे.एस. मिल व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता देने के पक्ष में था। उसके मतानुसार, व्यक्ति को विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, उसकी इस स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होना चाहिए, उसके मतानुसार, मनुष्य जब अपने विचार प्रकट करता है तो वह विचार पूर्णतया ठीक हो सकता है, पूर्णतया गलत हो सकता है अथवा कुछ ठीक तथा कुछ गलत हो सकता है।

आज प्राय: सभी प्रजातंत्रात्मक देशों में नागरिकों को भाषण देने तथा विचार प्रकट करने का अधिकार प्राप्त है। परन्तु इस अधिकार का प्रयोग देश तथा समाज के हित के लिए होना चाहिए। किसी मनुष्य को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह दूसरे मनुष्यों को गालियाँ निकाले अथवा झूठी अफवाहें फैलाए।

क्या आप जानते हैं जब किसी भाषण अथवा लेख से शांति भंग होने तथा समाज के किन्हीं दो वर्गों के बीच घृणा फैलने की आशंका हो तो सरकार इस अधिकार पर प्रतिबंध लगा सकती है।

5. शांतिपूर्वक इकट्ठे होने तथा संस्थाएँ बनाने का अधिकार: संसार के प्राय: सभी देशों ने अपने नागरिकों को शांतिपूर्वक इकट्ठे होने तथा संस्थाएँ बनाने का अधिकार दिया हुआ है। नागरिक अपने भाषण के अधिकार का प्रयोग तभी कर सकते हैं जब नागरिकों को इकट्ठे होने का अधिकार प्राप्त हो। परन्तु वे हथियार लेकर इकट्ठे नहीं हो सकते। उन्हें संस्थाएँ बनाने का अधिकार भी प्राप्त होता है। वह राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक संस्थाओं की स्थापना करता है। यह ठीक है कि वह संस्थाओं की स्थापना कर सकता है, परन्तु संस्थाओं का उद्देश्य समाज के हित तथा देश के हित के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन संस्थाओं को शांतिपूर्ण साधनों का प्रयोग करना चाहिए।

6. व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार: व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का अर्थ व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने की स्वतंत्रता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का यह भी अर्थ है कि व्यक्ति को बिना किसी कारण गिरफ़्तार अथवा नज़रबंद नहीं किया जाएगा। यदि किसी व्यक्ति को बिना किसी कारण जेल में बंद कर दिया जाता है तो वह व्यक्ति न्यायालय को प्रार्थना-पत्र देकर अपनी रक्षा कर सकता है। बहुत-से देशों में व्यक्ति को अधिकार दिया गया है कि वह स्वयं अथवा उसके संबंधी न्यायालय में बंदी प्रत्यक्षीकरण का आज्ञा-पत्र जारी करने की प्रार्थना कर सकते हैं। इस आज्ञा-पत्र के अधीन सरकार को अपराधी को न्यायालय के सामने पेश करना पड़ता है और उसे गिरफ़्तार करने के लिए कारण ठीक नहीं है तो न्यायालय उस व्यक्ति को छोड़ने का आदेश दे सकता है। संकटकाल में सरकार व्यक्तियों के इस अधिकार पर प्रतिबंध लगा सकती है।

नोट

7. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार: धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार से अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण रूप से स्वतंत्रता है कि वह जिस धर्म में चाहे विश्वास करे, जिस देवी-देवता की पूजा चाहे करे और जिस तरह चाहे पूजा करे। राज्य को नागरिकों के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जिस तरह चाहे पूजा करे। राज्य को नागरिकों के धर्म का अनुयायी बनने के लिए मज़बूर नहीं करना चाहिए। राज्य को किसी विशेष धर्म को सरकारी धर्म घोषित नहीं करना चाहिए। सभी धर्मों के अनुयायियों को उन्नति के समान अवसर मिलने चाहिए। भारत के नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार संविधान से प्राप्त है। भारत राज्य धर्म-निरपेक्ष राज्य है अर्थात् भारत का कोई धर्म नहीं है पर भारतवासियों का धर्म है। भारत में नागरिकों को धर्म के आधार पर स्कूलों तथा कॉलिजों में दाखिल करने से इनकार नहीं किया जाता। परन्तु धार्मिक स्वतंत्रता की आड़ में कोई व्यक्ति अनैतिक बातों का प्रचार नहीं कर सकता। न ही किसी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह दूसरे धर्मों के विरुद्ध घृणा का प्रचार करे।

8. समानता का अधिकार: सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य में समान समझा जाना चाहिए। धर्म, भाषा, रंग, जात-पाँत, सम्प्रदाय आदि के आधार पर एक नागरिक तथा दूसरे नागरिक में मतभेद नहीं होना चाहिए।

9. घूमने-फिरने की स्वतंत्रता का अधिकार: नागरिकों को देश की सीमाओं के अंदर बिना किसी नियंत्रण के घूमने-फिरने की स्वतंत्रता होती है। नागरिक देश के जिस हिस्से में चाहें रह सकते हैं। सैर करने के लिए जा सकते हैं। बिना घूमने-फिरने की स्वतंत्रता के मनुष्य अपने-आपको क़ैदी समझता है। भारत के संविधान में नागरिकों को घूमने-फिरने की स्वतंत्रता दी गई है। पर कोई नागरिक यदि अपने इस अधिकार का गलत प्रयोग करता है तो सरकार उसकी स्वतंत्रता पर प्रतिबंध भी लगा सकती है।

10. संस्कृति की स्वतंत्रता पर अधिकार: नागरिकों को अपनी संस्कृति में विकास रखने तथा संस्कृति का विकास करने की स्वतंत्रता होती है। वे अपनी भाषा, रीति-रिवाजों तथा नैतिकता का विकास कर सकते हैं। भारत के नागरिकों को यह अधिकार संविधान द्वारा प्राप्त है। प्रत्येक सम्प्रदाय को अपनी संस्कृति के विकास का अधिकार प्राप्त है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए निम्न में से क्या आवश्यक है?
   (अ) रोजी-रोटी (ब) सम्पत्ति
   (स) शिक्षा (द) इनमें से कोई नहीं
5. 'जीवन का अधिकार सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार है' यह किसका कथन है?
   (अ) लॉस्की (ब) हॉब्स
   (स) अरस्तु (द) इनमें से कोई नहीं
6. भारत सरकार सिविल मैरिज के लिए पुरुष की आयु 21 एवं स्त्री की आयु ..... वर्ष निश्चित की है।
   (अ) 17 (ब) 18
   (स) 19 (द) 20

नोट

7.3 सारांश (Summary)

- नागरिकों को काम मिलना ही काफी नहीं है, उन्हें अपने काम की उचित मजदूरी भी मिलनी चाहिए।
- यदि कोई व्यक्ति काम करते समय अंगहीन या अंधा हो जाता है तो सरकार उसको आर्थिक सहायता प्रदान करती है।
- प्राय: सभी आधुनिक राज्यों में नागरिक को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता है। इस अधिकार से अभिप्राय यह है कि नागरिक सम्पत्ति खरीद, बेच और जिसे चाहे अपनी सम्पत्ति दे सकता है।
- सामाजिक अधिकारों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार जीवन का अधिकार है। प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों को जीवन का अधिकार देता है।
- व्यक्तिगत स्वतंत्रता का यह भी अर्थ है कि व्यक्ति को बिना किसी कारण गिरफ़्तार अथवा नज़रबंद नहीं किया जाएगा। यदि किसी व्यक्ति को बिना किसी कारण जेल में बंद कर दिया जाता है तो वह व्यक्ति न्यायालय को प्रार्थना-पत्र देकर अपनी रक्षा कर सकता है।
- धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार से अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णरूप से स्वतंत्रता है कि वह जिस धर्म में चाहे विश्वास करे, जिस देवी-देवता की पूजा चाहे करे और जिस तरह चाहे पूजा करे।

7.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **स्वतंत्रता (Freedom):** स्वतंत्र होने का भाव, आजादी, स्वाधीनता।
2. **अमानत (Entrusted):** धरोहर, थाती।

7.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आर्थिक अधिकार से आप क्या समझते हैं?
2. एक व्यक्ति के लिए आर्थिक अधिकार कितने आवश्यक हैं?
3. सामाजिक अधिकार से आप क्या समझते हैं?
4. जीवन एवं शिक्षा के अधिकार पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. उचित	2. लॉक	3. सर्वप्रथम
4. (स)	5. (ब)	6. (ब)

7.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. इन्ट्रोडक्शन टु मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी—एन. पी. बैरी।
2. राजनीतिक सिद्धान्त—वी. सी. नरुला, कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स।

नोट

इकाई–8 : स्वतंत्रता (Liberty)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 स्वतंत्रता का अर्थ (Meaning of Liberty)

8.1.1 स्वतंत्रता के दो दृष्टिकोण: नकारात्मक एवं सकारात्मक (Two Views of Liberty: Negative and Positive)

8.1.2 नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता के प्रतिमान की सीमाएँ और इससे आगे जाने के प्रयत्न (Limits of Negative and Positive Liberty Paradigm and Need to go Beyond)

8.2 जे. एस. मिल एवं स्वतंत्रता का महत्त्व (John Stuart Mill and The Value of Liberty)

8.3 मानव मुक्ति के रूप में स्वतंत्रता–स्वतंत्रता का मार्क्सवादी सिद्धांत (Freedom as Emancipation-Marxist Notion of Freedom)

8.4 अभिव्यक्ति एवं आस्था की स्वतंत्रता (Freedom of Expression and Belief)

8.5 सारांश (Summary)

8.6 शब्दकोश (Keywords)

8.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- स्वतंत्रता का अर्थ जानने हेतु।

नोट

- सकारात्मक एवं नकारात्मक स्वतंत्रता में भेद जानने हेतु।
- जे. एस. मिल द्वारा प्रतिपादित स्वतंत्रता के विचारों को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

स्वतंत्रता उदारवाद की केन्द्रीय धारणा एवं मूलभूत सामाजिक मान्यता है। आरंभ से ही, उदारवाद का मुख्य नारा रहा है स्वतंत्रता उन सभी प्रकार की सत्ताओं से जो अपनी मनमर्जी चलाती है तथा प्रत्येक मानव को व्यक्ति होने के नाते अपनी क्षमताओं का विकास करने की स्वतंत्रता। व्यक्ति की यह स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए तथा राज्य की निरंकुश शक्ति को सीमित करने के लिए उदारवाद ने मानव के हर क्षेत्र में स्वतंत्रता की मांग की–जैसे व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, बौद्धिक स्वतंत्रता। आज्ञापालन, न्याय, प्रजातंत्र, अधिकार जैसी सभी धारणाएँ स्वतंत्रता की परिकल्पना पर आधारित हैं। उदारवादी परंपरा के चिन्तक आरंभ से ही इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ते रहे हैं कि स्वतंत्रता की प्रकृति और इसकी न्यायसंगत सीमाएँ क्या हैं। पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन में स्वतंत्रता की धारणा और इसकी महत्ता इतनी प्रबल रही है कि इसके समर्थक एवं आलोचक दोनों इस तथ्य से सहमत हैं कि स्वतंत्रता समाज के सभी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संबंधों का सार है।

8.1 स्वतंत्रता का अर्थ (Meaning of Liberty)

उदारवादी चिन्तन का केंद्रीय तत्व और सार होने के बावजूद, स्वतंत्रता एक अस्पष्ट, अनिश्चित, अनेकार्थक परंतु महत्त्वपूर्ण धारणा है। विभिन्न चिन्तकों के लिए इसका अर्थ भिन्न रहा है। स्वतंत्रता क्या है? वे कौन–सी सीमाएँ हैं जो स्वतंत्रता समाप्त कर देती हैं? क्या स्वतंत्रता बिना किसी रोकटोक के अपनी मनमर्जी करती है? ऐसे प्रश्नों का कोई सर्वव्यापक उत्तर नहीं हैं। इसमें कोई शक नहीं कि सामाजिक स्तर पर स्वतंत्रता बिना किसी प्रकार की सीमाओं के असंभव है। स्वतंत्रता की परिभाषा पर सहमति होते हुए भी इन सीमाओं को लेकर गहरे मतभेद रहे हैं। कॉडवैल ने ठीक ही कहा है कि स्वतंत्रता एक ऐसी धारणा है जिसकी प्रकृति को लेकर लोगों में अत्यधिक विवाद रहा है। इसी तरह एक अन्य लेखक का विचार है कि उदारवादी परंपरा ने स्वतंत्रता को केन्द्रीय धारणा बनाया है परंतु प्रत्येक लेखक इसे अपने दृष्टिकोण से देखता है।

यदि परिभाषाओं के अनुसार स्वतंत्रता को समझने की कोशिश करें तो हॉब्स के अनुसार, स्वतंत्रता से अभिप्राय है, 'बाह्य बाधाओं की अनुपस्थिति... वे बाधाएँ जो व्यक्ति की कोई भी काम करने की शक्ति को घटाती हैं।' रूसो के अनुसार स्वतंत्रता 'सामान्य इच्छा' का पालन करने में है। हीगल के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ राज्य के कानूनों का पालन है। मिल अनुसार, स्वतंत्रता 'प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी मर्जी से अपना सुख ढूँढ़ने का अवसर है जितनी देर वह दूसरों के इसी तरह के सुख ढूँढ़ने में बाधा नहीं डालता।' लास्की के अनुसार स्वतंत्रता 'व्यक्ति के सुख के लिए आवश्यक सामाजिक परिस्थितियों पर किसी भी प्रकार की बाधाओं का अभाव है।' मैकफरसन के अनुसार, स्वतंत्रता का अर्थ है, 'एक पूर्ण मानव के रूप में कार्य करने की स्वतंत्रता।' मार्क्सवादी परंपरा ने स्वतंत्रता को दो चरणों में देखा: (*i*) जोर–जबरदस्ती करने वाली सामाजिक संस्थाओं और ढाँचों से मुक्ति, तथा (*ii*) ऐसी सामाजिक परिस्थितियों की स्थापना जिनमें व्यक्ति मानवता की आवश्यकताओं के अनुसार जी सके।

इतिहास के एक विशेष चरण में स्वतंत्रता को समाज में मुक्त आर्थिक प्रतियोगिता और अपने–अपने सुख की प्राप्ति की होड़ में लगे हुए व्यक्तियों पर किसी भी प्रकार के बंधनों का अभाव माना गया। इस संदर्भ में स्वतंत्रता का अर्थ था एक ऐसा वातावरण 'जहां क़ानून मौन हो और जहां राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम हो।' परंतु जल्दी ही स्वतंत्रता का यह विरोधाभास दूर किया गया और इसे व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा गया। जैसे–जैसे परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ,

नोट

वैसे-वैसे उन साधनों की तरफ भी ध्यान आकर्षित किया जाने लगा जो राज्य अथवा सामाजिक संस्थाएँ इस स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए उपलब्ध करवा सकते थे। परिणामस्वरूप स्वतंत्रता की धारणा काफी व्यापक हो गई, हालांकि स्वतंत्रता की पुरानी धारणा समाप्त नहीं हुई। स्वतंत्रता के विकास के संदर्भ में इन्हें नकारात्मक और सकारात्मक पक्षों के रूप में जाना जाता है। इनकी विस्तारपूर्ण चर्चा हम नीचे करेंगे।

स्वतंत्रता की धारणा को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए आवश्यक है कि इसे 'स्वतंत्रता में निहित समस्याओं' के संदर्भ में भी समझा जाये। ये समस्याएँ मुख्यत: तीन हैं: (*i*) स्वतंत्रता की प्रकृति, (*ii*) स्वतंत्रता की सुरक्षा तथा (*iii*) स्वतंत्रता प्राप्ति में बाधाएँ। प्रारंभिक उदारवाद ने स्वतंत्रता का अर्थ मूलत: व्यक्ति की स्वतंत्रता से लिया अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपना सुख ढूँढ़ने और अपनी इच्छानुसार कार्य करने की छूट। प्रारंभिक उदारवादी लेखकों के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत सुख और कल्याण से प्रेरित होता है। ये लेखक मध्यकालीन रूढ़िवादिता, सामंतवादी, अज्ञान और प्रथाओं के विरुद्ध जूझ रहे थे और उनका विचार था कि इन बाधाओं एवं कठिनाइयों का सामना केवल व्यक्तिगत उपक्रम द्वारा ही किया जा सकता है। अत: इन्होंने स्वतंत्रता के सामाजिक पक्ष की तरफ ध्यान नहीं दिया। उनका विश्वास था कि एक बार यदि तानाशाही सरकारों की निर्मम शक्ति से छुटकारा मिल जाए तो मानव जाति अपनी खुशहाली के लिए रास्ता निकाल सकती है। इस स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए वे उन सभी संस्थाओं के समर्थक थे जो व्यक्ति की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कर सकें। अत: उन्होंने प्रतिनिधि सरकार, क़ानून का शासन, राजनीतिक अधिकार, शक्तियों का पृथक्करण, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, मुक्त-बाज़ार अर्थव्यवस्थाा जैसी संस्थाओं पर बल दिया।

कालांतर में, राजनीतिक दलों को स्वतंत्रता की सुरक्षा का एक महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार किया गया। स्वतंत्रता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन संविधानवाद क़ानून का शासन तथा अधिकारों के प्रापत्र (Bill of Rights) हैं। आधुनिक राज्यों में दिए जाने वाले नागरिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकार उदारवाद की विरासत ही नहीं है बल्कि ये किसी भी राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली स्वतंत्रता के मानदंड भी हैं। उदारवादी संस्थाएँ 'लोगों' की स्वतंत्रता की सुरक्षा के उपाय हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश किसी भी उदारवादी देश में 'लोगों' की यह संख्या कुल जनसंख्या का थोड़ा-सा भाग ही होती है। स्वतंत्रता के संदर्भ में उदारवाद का यह एक बहुत बड़ा दोष है। समाजवाद इस दोष को दूर करके एक नए समाज का विकास करने का दम भरता है।

स्वतंत्रता की मार्क्सवादी धारणा वस्तुवादी है। यह स्वतंत्रता की समस्या का आरंभ स्वतंत्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं से करती है। इसके अनुसार व्यक्ति के कल्याण, खुशहाली तथा स्वतंत्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं की सूची केवल उत्पीड़क, तानशाही और अत्याचारी सरकार से मुक्ति पा लेने से ही समाप्त नहीं हो जाती। व्यक्ति की खुशहाली के मार्ग में इनसे भी बड़ी और विकट बाधाएँ हैं जैसे युद्ध, गरीबी, अज्ञान, बीमारी, भुखमरी, पलायन आदि। इन बाधाओं पर विजय पाने के लिए व्यक्तिगत पहल के स्थान पर मार्क्सवादी मानवजाति के सामूहिक प्रयत्न की अपेक्षा करता है। सामूहिक प्रयत्न की इस प्रक्रिया में हो सकता है कि लोग उन स्वतंत्रताओं से हाथ धो बैठें जिन्हें उदारवाद सर्वोच्च और पवित्र मानता है। समाजवादी सिद्धांत की यह वैसी ही विडंबना रही जैसी कि उदारवादी सिद्धांत की है।

नोट्स

मार्क्सवाद तथा उदारवाद दोनों ही स्वतंत्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रहे हैं।

हम जो जीवन बिता रहे हैं वह गुणमूलकता के दृष्टिकोण से कैसा है–आज के युग में स्वतंत्रता संबंधी चिन्तन का यह मूल प्रश्न है। मनुष्य को केवल अपना जीवन काटना नहीं है, उसे संपूर्णता से जीना है अर्थात् वे परिस्थितियाँ

जो जीवन को गुणमूलक और संख्यामूलक दोनों दृष्टिकोणों से अर्थपूर्ण बना सके। स्वतंत्रता की समकालीन धारणाएँ इन प्रश्नों के इर्द-गिर्द घूम रही हैं।

नोट

8.1.1 स्वतंत्रता के दो दृष्टिकोण: नकारात्मक एवं सकारात्मक (Two Views of Liberty: Negative and Positive)

पिछले तीन सौ सालों में, समय और परिस्थितियों के अनुरूप स्वतंत्रता की धारणा में परिवर्तन आता रहा है। एक लेखक के अनुसार, एडम स्मिथ से लेकर हॉब्हाउस तक स्वतंत्रता की बदलती हुई धारणा पिछले 150 सालों के राजनीतिक चिन्तन के विकास को समझने का उत्तम तरीका है। इस परिवर्तन को हम 'नकारात्मक' और 'सकारात्मक' पक्षों के नाम से पुकारते हैं जिसमें स्वतंत्रता की धारणा 'कानून का मौन' (silence of law) से धीरे-धीरे 'सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की उपस्थिति' (presence of socio-economic-political conditions) में बदल गई। आइये इनका थोड़ा विस्तार से अध्ययन करें।

1. नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Liberty)

प्रारंभिक उदारवाद के सिद्धांत और व्यवहार से स्वतंत्रता की जिस धारणा का जन्म हुआ उसे नकारात्मक स्वतंत्रता कहा गया। इसकी स्पष्टतम अभिव्यक्ति जॉन लॉक, डेविड ह्यूम, एडम स्मिथ, थॉमस पेन, हरबर्ट स्पेन्सर, बैंथम, जेम्स मिल, जे.एस. मिल जैसे लेखकों की रचनाओं में हुई। बीसवीं शताब्दी में इस धारणा के समर्थक हैं: माईकल ऑकशॉट, इसाया बर्लिन, मिल्टन फाइडमैन, हायेक, नोज़िक आदि।

प्रारंभिक उदारवाद का आधार व्यक्तिवाद था। इसने प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-जीवित इकाई और समाज को आत्म-संतुष्ट, आत्म-इच्छित एवं स्वार्थपूर्ति में लगे हुए व्यक्तियों का समूह माना। व्यक्ति और इसके हितों को सर्वोपरि मानते हुए प्रारंभिक उदारवाद ने स्वतंत्रता को उन सभी प्रकार के बंधनों का अभाव माना जो व्यक्ति पर उसकी इच्छा के विरुद्ध लगाये गये हैं। इस संदर्भ में स्वतंत्रता का अर्थ लिया गया: **बंधनों का अभाव।** ये बंधन आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक सभी माने गए। राजनीतिक स्तर पर इसका अर्थ था राज्य की मनमानी शक्ति का बंधन, समाज के आर्थिक और सामाजिक कार्यों में राज्य का अहस्तक्षेप तथा न्यूनतम राज्य का विचार। आर्थिक स्तर पर स्वतंत्रता का अर्थ था स्वेच्छाचारिता (Laissez-faire) अर्थात् व्यक्ति को आर्थिक मामलों में स्वतंत्र छोड़ देना, माँग और पूर्ति के प्राकृतिक नियम पर आधारित अर्थव्यवस्था में राज्य द्वारा किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप का अभाव तथा इस विचार में विश्वास कि 'आर्थिक संसार स्वयं-नियमित है, इसे अकेला छोड़ दिया जाए।' व्यक्तिगत स्तर पर स्वतंत्रता का अर्थ था प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत मामलों में स्वतंत्र छोड़ दिया जाए, राज्य और समाज निजी मामलों में हस्तक्षेप न करे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक हित में कोई विरोधाभास नहीं है, व्यक्तिगत हितों की पूर्ति में ही सामाजिक हित की पूर्ति निहित है। व्यक्ति के हित में ही समाज का हित है।

हॉब्स ने स्वतंत्रता को 'क़ानून का मौन' माना, अर्थात् जितनी देर तक राज्य का कानून कोई प्रतिबंध नहीं लगता, व्यक्ति अपनी मर्जी कर सकता है। लॉक ने भी राज्य को प्रभुसत्ता और जोर-जबरदस्ती की शक्ति को शंका के दृष्टिकोण से देखा और इस पर क़ानून द्वारा सीमाएँ लगाने का प्रयत्न किया। इसके अनुसार, क़ानून और स्वतंत्रता एक-दूसरे के विरोधी नहीं है; क़ानून का उद्देश्य व्यक्ति की स्वतंत्रता को बढ़ाना और सुरक्षित करना है। जहाँ क़ानून नहीं है, वहाँ स्वतंत्रता की आशा नहीं की जा सकती है। इसी तरह बैंजामिन का विचार था कि कम से कम धार्मिक, वैचारिक तथा संपत्ति की स्वतंत्रता की राज्य की मनमर्जी के खिलाफ सुरक्षा अवश्य होनी चाहिए। मॉन्टेस्क्यू ने स्वतंत्रता को एक ऐसा अधिकार माना जिसकी राज्य आज्ञा देता है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में जब स्वतंत्रता को क़ानून के माध्यम से सुरक्षित करने पर बल दिया जा रहा था, उस समय

नोट

क़ानून की भूमिका अपेक्षाकृत सीमित थी, अर्थात् उस समय न तो संसद क़ानून बनाने के लिए लगातार अपने सत्र करती रहती थी और न ही क़ानून के माध्यम से सरकार द्वारा किसी सकारात्मक कार्य की आशा की जाती थी। संसद समाज के संपत्तिशाली वर्ग की बपौती थी जिसकी आम लोगों के दैनिक जीवन में किसी प्रकार के हस्तक्षेप में कोई रुचि नहीं थी। नकारात्मक स्वतंत्रता पर कई लेखकों ने अपने विचार दिए परन्तु इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हमें जे. एस. मिल के विचारों में मिलती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. ..... के अनुसार, स्वतंत्रता 'सामान्य इच्छा' से है।
2. प्रारंभिक उदारवाद के सिद्धांत और व्यवहार से स्वतंत्रता की जिस धारणा का जन्म हुआ उसे ..... स्वतंत्रता कहा गया है।
3. 'स्वतंत्रता उस वातावरण का उत्साहपूर्ण संरक्षण है, जहाँ लोग सर्वोत्तम विकास के अवसर प्राप्त कर सकें।' कथन ..... का है।

नकारात्मक स्वतंत्रता के समकालीन समर्थक (Contemporary Exponents of Negative Liberty)

यद्यपि स्वतंत्रता की नकारात्मक धारणा बीसवीं शताब्दी में सकारात्मक में बदल गई, तथापि कुछ समकालीन चिन्तकों ने नकारात्मक धारणा को पुनः स्थापित करने की कोशिश की है। इसमें ऑकशॉट, बर्लिन, फ्राईडमैन, नोज़िक, हायेक आदि के नाम लिए जाते हैं। ऑकशॉट के अनुसार-'अधिकार स्वतंत्रताएँ होती हैं। अतः यह कानून में नहीं बल्कि 'कानून के मौन' में होती है।' बर्लिन के अनुसार, स्वतंत्रता का सार वास्तव में नकारात्मक ही होता है अर्थात् किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप का अभाव। नागरिक और व्यक्तिगत अधिकारों के लिए किया जाने वाला प्रत्येक अनुरोध, सार्वजनिक सत्ता द्वारा जन-परंपराओं के उल्लंघन के विरुद्ध प्रत्येक प्रदर्शन, वास्तव में व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना से उत्पन्न होता है। कोई भी समाज उतनी देर तक स्वतंत्र नहीं होता जब तक (*i*) शक्ति को नहीं बल्कि अधिकारों को इतना सर्वोपरि माना जाये कि लोग अमानवीय व्यवहार का विरोध कर सके तथा (*ii*) वे सीमाएँ स्पष्ट नहीं की जाती जिनके दायरे में व्यक्ति अपने ढंग से जीवन जी सके। संक्षेप में, स्वतंत्रता का अर्थ है 'जोर-जबरदस्ती का अभाव'। किसी भी व्यक्ति के साथ बल प्रयोग का अर्थ है उसे स्वतंत्रता से वंचित करना। नकारात्मक स्वतंत्रता का साधारण भाषा में अभिप्राय है वह कार्यक्षेत्र जहां व्यक्ति बिना हस्तक्षेप के कार्य कर सके। जितना यह क्षेत्र बड़ा होगा उतनी ही स्वतंत्रता अधिक होगी। इस संदर्भ में बर्लिन का विचार है कि स्वतंत्रता का प्रजातंत्र, समानता अथवा न्याय के साथ कोई संबंध है। जैसा कि वह लिखता है, 'स्वतंत्रता स्वतंत्रता है, न यह समानता है और न ही यह न्याय, संस्कृति, मानवीय सुख या आत्म-चेतना। यदि मेरी स्वतंत्रता को कम किया जाता है और इसकी क्षतिपूर्ति न्याय अथवा सुख या क़ानून-व्यवस्था आदि से कर दी जाती है तो भी वह कमी तो रहती है।' इसी तरह स्वतंत्रता और 'स्वतंत्रता की परिस्थितियों' (Conditions of liberty) में भी अंतर है। कल्याण, न्याय, संपत्ति के पुनर्वितरण आदि के नाम पर स्वतंत्रता का भी पुनर्वितरण नहीं किया जा सकता। न्याय अथवा सामाजिक कल्याण स्वतंत्रता से संबंधित हो सकते हैं परंतु वे इसका स्थान नहीं ले सकते।

इसी तरह फ्राईडमैन भी अपनी पुस्तक 'Capitalism and Freedom' में लिखता है कि स्वतंत्रता का अर्थ है: 'प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर ज़ोर-ज़बरदस्ती का अभाव।' इसका विचार है कि आर्थिक मामलों में राज्य का हस्तक्षेप लोगों की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए हानिकारक है। आर्थिक स्वतंत्रता से उसका अभिप्राय है, एक

नोट

मुक्त-बाज़ार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था। इच्छास्वतंत्र्यवादी लेखकों ने भी स्वतंत्रता को सामाजिक और क़ानूनी बाधाओं का अभाव माना है। नोज़िक के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है आत्म-स्वामित्व का प्राकृतिक अधिकार (Natural right to self-ownership)। न्यायोचित स्वतंत्रता प्राकृतिक अधिकारों की सीमाओं के अंतर्गत ही प्राप्त हो सकती है जिन्हें केवल स्वामित्व के संदर्भ में समझा जा सकता है। हालांकि ये लेखक स्वामित्व के समान अधिकार में विश्वास करते हैं परंतु वे स्वतंत्रता का समर्थन समानता के नाम पर नहीं करते। वे समान स्वतंत्रता का इसलिए समर्थन करते हैं, क्योंकि वे स्वतंत्रता में विश्वास करते हैं और क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र हो सकता है, इसलिए उसे स्वतंत्र होना चाहिए। साथ ही, इनकी यह भी मान्यता है कि केवल पूँजीवादी मुक्त अर्थव्यवस्था तथा राज्य का अहस्तक्षेप ही स्वतंत्रता में वृद्धि कर सकते हैं।

नकारात्मक स्वतंत्रता की विशेषताएँ (Characteristics of Negative Liberty)

उपरोक्त चर्चा के आधार पर नकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा की निम्न विशेषताएँ पहचानी जा सकती है:

1. नकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा प्रारंभिक उदारवाद के व्यक्ति, समाज और राज्य के प्रति मौलिक दार्शनिक विचारों पर आधारित है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा, उसकी बौद्धिकता और मूलभूत अच्छाई में विश्वास करती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना भला जानता है और कर सकता है। अपने व्यक्तिगत के विकास के लिए वह उन मनमर्जी की सत्ताओं से स्वतंत्रता चाहता है जो उसकी इच्छा के विरुद्ध काम कर सकती हैं। नकारात्मक धारणा स्वतंत्रता को व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व तक सीमित रखती है तथा समाज और राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता का शत्रु मानती है। यह स्वतंत्रता के सामाजिक पक्ष की अवज्ञा करती है। इस सिद्धांत के समर्थक हस्तक्षेप को ज़ोर-ज़बरदस्ती मानते हैं।

2. स्वतंत्रता का अर्थ है 'बंधनों का अभाव'। यह है 'स्वतंत्रता किससे' (Freedom from) न कि 'स्वतंत्रता किसके लिए' (Freedom to)। हॉब्स ने स्वतंत्रता को 'कानून का मौन' माना, बर्लिन इसे 'ज़ोर-ज़बरदस्ती का अभाव' मानते हैं, फ्राईडमैन इससे 'राज्य, समाज और अन्य नागरिकों द्वारा व्यक्ति के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती का अभाव' मानते हैं। एक अन्य लेखक इसे सामाजिक और क़ानूनी बाधाओं का अभाव मानता है। नोज़िक के अनुसार यह 'आत्म-स्वामित्व का प्राकृतिक अधिकार' है।

3. 'बंधनों का अभाव' की धारणा काफी व्यापक है। ये बंधन राजनीतिक, आर्थिक, नागरिक, व्यक्तिगत आदि कुछ भी हो सकते हैं। राजनीतिक स्तर पर इनका अर्थ है राज्य की मनमर्जी की शक्ति पर नियंत्रण तथा व्यक्ति के जीवन में राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप; आर्थिक स्तर पर इसका अर्थ है मुक्त-व्यापार, स्वेच्छाचारी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था तथा संपत्ति का असीमित अधिकार; नागरिक स्तर पर इसका अर्थ है विचार, भाषण, अन्त:करण की स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत स्तर पर इसका अर्थ है व्यक्ति द्वारा अपने जीवन से सम्बन्धित निर्णय समाज तथा राज्य के दबाव के बिना लेने के स्वतंत्रता।

4. राज्य के क़ानून व्यक्ति की स्वतंत्रता छीन नहीं सकते, वे केवल इसे सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में नियंत्रित कर सकते हैं। क्योंकि यह स्वतंत्रता वास्तव में राज्य से स्वतंत्रता है, अत: राज्य यह स्वतंत्रता केवल अपने कार्यों को न्यूनतम करके ही सुरक्षित कर सकता है। क़ानून और स्वतंत्रता विरोधाभासी हैं अर्थात् जितने क़ानून अधिक, उतनी स्वतंत्रता कम तथा जितनी स्वतंत्रता अधिक, उतने क़ानून कम।

5. स्वतंत्रता का प्रजातंत्र, समानता अथवा संपत्ति के साथ संबंध अवश्य है परंतु ये इसकी आवश्यक शर्तें नहीं है। समानता अथवा प्रजातंत्र स्वतंत्रता के लिए खतरा भी बन सकते हैं।

6. स्वतंत्रता तथा 'स्वतंत्रता की परिस्थितियों' में अंतर होता है। स्वतंत्रता का सीधा-साधा अर्थ है व्यक्ति के जीवन में राज्य, समाज अथवा अन्य व्यक्तियों द्वारा मनमाने हस्तक्षेप का अभाव।

नोट

नकारात्मक स्वतंत्रता के कुछ तत्व ध्यान देने योग्य है। पहला, नकारात्मक स्वतंत्रता एक ऐसा क्षेत्र सुनिश्चित करती है जहाँ क़ानून चुप हो तथा व्यक्ति बिना किसी हस्तक्षेप के कुछ कर सकता है। बर्लिन के शब्दों में नकारात्मक स्वतंत्रता इस प्रश्न का उत्तर है कि–वह कौन-सा क्षेत्र है जहां व्यक्ति अथवा समुदाय को बिना किसी अन्य व्यक्ति अथवा समुदाय के हस्तक्षेप के वह सब कुछ करने के लिए छोड़ दिया जाये जो वह करने के योग्य है। हालांकि इस विषय पर विभिन्न लेखकों में मतभेद अवश्य है कि स्वतंत्र छोड़ने के इस क्षेत्र की सीमाएँ क्या होनी चाहिए। दूसरी, नकारात्मक स्वतंत्रता में निहित सीमाएँ (अपनी मर्जी से कार्य करने पर) व्यक्ति द्वारा लगाई जाने वाली हैं अर्थात् ये प्राकृतिक अक्षमता अथवा अभाव से पैदा होने वाली सीमाएँ नहीं हैं।

नकारात्मक स्वतंत्रता की आलोचना (Criticism of Negative Liberty)

नकारात्मक स्वतंत्रता की आलोचना मुख्यत: तीन आधारों पर की जाती है: दार्शनिक, नैतिक एवं आर्थिक।

दार्शनिक स्तर पर आलोचकों का कहना है कि प्रारंभिक उदारवादी तथा उपयोगितावादी लेखकों ने व्यक्ति की प्रकृति को सही ढंग से नहीं पहचाना। व्यक्ति न तो इतना स्वार्थी है और न ही इतना बौद्धिक जैसा कि इन लेखकों ने प्रस्तुत किया। इसी तरह व्यक्ति का इतिहास अलग-अलग और अकेले घूमने फिरने वाले व्यक्तियों का इतिहास नहीं है जिन्होंने एक दिन अचानक नागरिक समाज का निर्माण कर लिया। इसके विपरीत व्यक्ति हमेशा समुदाय में रहता आया है और एक सामाजिक प्राणी है। उसके जीवन के सभी आदर्श सामाजिक स्तर पर निश्चित होते हैं। वे सामाजिक क़ानून जो इन आदर्शों के लिए बनाये जाते हैं, ज़रूरी नहीं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता को कम ही करें।

नैतिक स्तर पर यह तर्क दिया गया कि स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति को अपनी मर्जी से कोई कार्य करने की छूट है बल्कि वे कार्य करने की होनी चाहिए जो नैतिक दृष्टिकोण से ठीक हों। नैतिक मूल्य स्वतंत्रता के विरुद्ध नहीं होते, वे स्वतंत्रता के सही प्रयोग की गारंटी देते हैं।

क्या आप जानते हैं नकारात्मक स्वतंत्रता वहाँ तक अधूरी है जहां तक यह नैतिक मूल्यों के महत्त्व को अस्वीकार करती है।

आर्थिक स्तर पर नकारात्मक स्वतंत्रता अर्थहीन है। यह आर्थिक स्वतंत्रता को स्वेच्छाचारिता के संदर्भ में परिभाषित करती है अर्थात् अर्थव्यवस्था को मांग और पूर्ति के प्राकृतिक नियम तथा मुक्त-प्रतियोगिता के सहारे छोड़ दिया जाये। यह स्वतंत्रता को आर्थिक सुरक्षा अथवा अभाव से मुक्ति के संदर्भ में नहीं देखती। नकारात्मक स्वतंत्रता और मुक्त-प्रतियोगिता संपत्ति को कुछ हाथों में केंद्रित कर देती है और बहुसंख्यक लोगों के शोषण को जन्म देती है। नकारात्मक स्वतंत्रता वास्तव में निजी-संपत्ति की सुरक्षा के साथ तादात्म्य स्थापित करती है तथा समाज के गरीब वर्ग को उन अवसरों का लाभ उठाने से भी वंचित कर देती है जिनके वे क़ानूनी रूप से हकदार होते हैं। अत: ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा अधूरी और अपर्याप्त भी सिद्ध हुई। इस धारणा को केवल मार्क्सवाद ने ही चुनौती नहीं दी जिसका विचार था कि निजी संपत्ति के रहते हुए स्वतंत्रता भी प्राप्त नहीं हो सकती बल्कि बाद में आने वाले उदारवादी लेखकों ने भी स्वतंत्रता को पुनर्परिभाषित किया तथा इसे सकारात्मक स्वतंत्रता का नाम दिया।

2. सकारात्मक स्वतंत्रता (Positive Liberty)

स्वतंत्रता की सकारात्मक धारणा स्वतंत्रता को समाज, सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ, अधिकार, समानता और न्याय के साथ जोड़ती है। यह व्यक्ति और समाज की उस परिवर्तित अवधारणा पर आधारित है जो समाजवादी तथा उदारवादी लेखकों की आलोचना के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह परिवर्तन टी.एच.

नोट

ग्रीन, बोसांके, हॉब्हाउस, लिंडसे, बार्कर, लास्की, मैकाईवर आदि की रचनाओं से स्पष्ट हुआ। मैकफरसन, रॉल्स, बर्लिन इस धारणा के समकालीन समर्थक हैं।

उदारवादी विचारधारा में सकारात्मक परिवर्तन उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में आरंभ हुआ जब यह अनुभव किया गया कि इस दर्शन को व्यक्तिवाद की संकुचित नींव पर स्थायी रूप से खड़ा नहीं किया जा सकता। इस नये दृष्टिकोण का यह विश्वास था कि उदारवाद की केंद्रीय धारणा सामाजिक हित (व्यक्तिगत हित के विपरीत) का विचार है जिसमें सभी लोग भागीदार बन सकें। स्वतंत्रता का मानदंड केवल व्यक्तिगत इच्छा अथवा उसकी स्वतंत्र इच्छा पर न्यूनतम बंधन नहीं होते। क्योंकि स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग एक परिस्थिति विशेष में होता है और कई बार परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि स्वतंत्र इच्छा एक मजाक बनकर रह जाती है। दूसरे शब्दों में, औपचारिक स्तर पर इच्छापूर्ति का अधिकार निर्बाध हो सकता है परन्तु अनौपचारिक तौर पर परिस्थितियों पर अनंत सीमाएँ हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, एक विकलांग व्यक्ति को कृत्रिम अंग की सुविधा देना या एक अनपढ़ व्यक्ति को शिक्षा देना या एक बेकार व्यक्ति को नौकरी देना स्वतंत्रता की धारणा के सकारात्मक पहलू है। केवल यह कहकर छोड़ देना कि विकलांग को कृत्रिम अंग लेने से रोका किसने है या अनपढ़ को पढ़ने से रोका किसने है, स्वतंत्रता की अधूरी व्याख्या है क्योंकि यदि इसमें व्यक्ति को मना नहीं किया गया, तो उसे कुछ मिला भी तो नहीं। अर्थात् स्वतंत्रता का अर्थ यदि स्वतंत्र इच्छा अथवा चयन से हैं तो वह स्वतंत्र इच्छा कुछ अवसरों की माँग करती है। अवसरों का अर्थ है वह समाज जो इस तरह के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढाँचों एवं संस्थाओं का निर्माण करे जहाँ इस स्वतंत्र इच्छा की पूर्ति प्रभावशाली बन सके। स्वतंत्रता एक व्यक्तिगत धारणा के साथ-साथ सामाजिक धारणा भी है। जैसा कि ग्रीन ने स्पष्ट किया, 'स्वतंत्रता बंधनों का अभाव नहीं है बल्कि समाज के दूसरे लोगों के साथ मिलकर वह सब कुछ करने और भोगने की सकारात्मक शक्ति है जो करने और भोगने योग्य है।' यह उन आदर्शों और उद्देश्यों का अनुसरण करने की सकारात्मक शक्ति है जिनका संबंध सामाजिक हित से है। यह व्यक्ति की क्षमताओं का विकास करने की केवल क़ानूनी ही नहीं बल्कि वास्तविक संभावना है। संक्षेप में, स्वतंत्रता का अभिप्राय है व्यक्ति की सामाजिक भलाई में योगदान देने की क्षमता तथा समाज द्वारा उत्पादित की गई वस्तुओं और सेवाओं में भागीदार होने का समान अधिकार।

इसी तरह बोसांके का विचार था कि स्वतंत्रता दो तत्वों पर निर्भर करती है—व्यक्ति की प्रकृति तथा स्वतंत्रता की प्रकृति। व्यक्ति सामाजिक संपूर्णता का एक भाग है और केवल सामाजिक संदर्भ में ही इसका अध्ययन किया जा सकता है। व्यक्ति की जड़ें समाज में है। स्वतंत्रता मानव जीवन का एक अनिवार्य गुण है क्योंकि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसका 'स्वयं' होने की निशानी है। यह व्यक्ति के आंतरिक विकास की बाह्य परिस्थितियाँ हैं। बोसांके के अनुसार, नकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ था बंधनों का अभाव अर्थात् स्वतंत्रता किससे (freedom from), जबकि सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ है स्वतंत्रता किसके लिए (freedom to) अर्थात् उन सभी परिस्थितियों की उपस्थिति जो व्यक्ति के स्वतंत्र और संपूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं और जिन्हें सुरक्षित करना राज्य का कर्तव्य है।

स्वतंत्रता पर लास्की के विचार (Laski's Views on Liberty)

सकारात्मक स्वतंत्रता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हमें लास्की की पुस्तक '*A Grammar of Politics*' में मिलती है। इसमें लास्की ने स्वतंत्रता की तीन स्तरों पर जाँच की है—,

1. स्वतंत्रता की प्रकृति (Nature of Liberty)
2. स्वतंत्रता के स्वरूप (Forms of Liberty)
3. स्वतंत्रता की सुरक्षा (Safeguards of Liberty)

नोट

स्वतंत्रता की प्रकृति की व्याख्या करते हुए लास्की लिखते हैं कि 'स्वतंत्रता उस वातावरण का उत्साहपूर्ण संरक्षण हैं जहाँ लोग सर्वोत्तम विकास के अवसर प्राप्त कर सकें।' स्वतंत्रता अधिकारों की देन है। स्वतंत्रता एक सकारात्मक धारणा है, यह केवल बंधनों का अभाव नहीं है। लास्की स्वतंत्रता को केवल 'बंधनों का अभाव' इसलिए नहीं मानते क्योंकि मनुष्य के सभी व्यवहार सामाजिक होते हैं। वह जो कुछ भी करता है या करना चाहता है, वह समाज के एक सदस्य के नाते ही कर सकता है। अत: स्वतंत्रता और बंधन दोनों अलग-अलग नहीं बल्कि जुड़े हुए हैं। स्वतंत्रता का नियमन व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है क्योंकि व्यक्ति बिना क़ानूनों के नहीं रह सकता। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये नियम अथवा क़ानून सामाजिक समुदाय के अनुभव के आधार पर बने होने चाहिए। ये उन लोगों की इच्छाओं पर आधारित होने चाहिए जिन्हें वे प्रभावित करते हैं। तथापि, स्वतंत्रता केवल क़ानूनों का आंख मूंदकर आज्ञापालन नहीं है। सामान्य हित के नाम पर सरकार व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए खतरा भी बन सकती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए कुछ निजी कार्यक्षेत्र सुनिश्चित करना चाहता है। वे बन्धन जो इस निजी कार्य क्षेत्र से होने वाले लाभों को रोकते हैं, वास्तव में स्वतंत्रता के नाशक हैं।

लास्की स्वतंत्रता को 'अवसरों की उपलब्धि' (Availability of Opportunities) के साथ भी जोड़ते हैं। स्वतंत्रता वे अवसर हैं जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से व्यक्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य हैं। इस संदर्भ में स्वंतत्रता को अधिकारों से पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि विकास के ये अवसर अधिकारों द्वारा निश्चित होते हैं। लास्की स्वतंत्रता को राज्य की दयादृष्टि पर भी नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि व्यक्ति को असली स्वतंत्रता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक वह सरकार के कार्यों का लेखा-जोखा नहीं ले सकता। सरकार से यह लेखा-जोखा लेना भी चाहिए जब भी वह अधिकारों का हनन करती है।

स्वतंत्रता के विभिन्न स्वरूप इन अधिकारों के अनुरूप परिस्थितियों से ही जुड़े हुए हैं। लास्की स्वतंत्रता के तीन स्वरूपों की चर्चा करते हैं: व्यक्तिगत, राजनीतिक और आर्थिक। व्यक्तिगत स्वतंत्रता से अभिप्राय उन अवसरों से है जिनका संबंध व्यक्ति के निजी जीवन से है। धर्म इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता एक तरह से नकारात्मक है क्योंकि इसका प्रभाव दूसरों पर नहीं पड़ता। लास्की का विचार है कि आधुनिक राज्य में निजी स्वतंत्रता का उल्लंघन काफी सरल हो गया है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में उन्हें वापस लेने के लिए पर्याप्त कानूनी सुरक्षा प्राप्त नहीं कर सकता तो वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन ही कहलायेगा। संक्षेप में, निजी स्वतंत्रता का अर्थ है जीवन के व्यक्तिगत संबंधों में अपनी मर्जी के अनुसार चलने का अवसर।

राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है राज्य के कार्यों के सक्रिय होने का अवसर, अर्थात् सभी प्रजातांत्रिक राजनीतिक अधिकारों की उपलब्धि। राजनीतिक स्वतंत्रता तभी संभव हो सकती है यदि प्रत्येक व्यक्ति राजनीतिक दृष्टिकोण से इतना बुद्धिमान हो कि वह अपने विचार अभिव्यक्त कर सके तथा समाचारों का ईमानदारी से प्रसार हो ताकि उनके आधार पर कोई राजनीतिक जनमत तैयार हो सके। प्रोपेगंडा के माध्यम से समाचारों को विकृत कर देने से राजनीतिक निर्णयों में भी अंतर आ सकता है। विश्वसनीय समाचार राजनीतिक स्वतंत्रता का ठोस आधार होते हैं।

आर्थिक स्वतंत्रता का अभिप्राय है, 'दैनिक जीवन के लिए रोजी-रोटी की चिंता से मुक्ति।' इसका अर्थ है बेकारी के निरंतर भय तथा उस अभाव से मुक्ति जो व्यक्तित्व की संपूर्ण शक्ति को नष्ट कर देते हैं। व्यक्ति को आने वाले कल की चिन्ताओं से छुटकारा अवश्य मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त, आर्थिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है उद्योग में प्रजातंत्र। इसके दो अर्थ हैं: औद्योगिक संगठनों पर भी अधिकारों की वह व्यवस्था लागू होनी चाहिए जो आम नागरिकों के लिए होती है, तथा औद्योगीकरण की दिशा और प्रबंध किसी एक व्यक्ति के समूह की तानाशाही के विपरीत सभी कर्मचारियों की सहमति एवं सहभागिता पर आधारित होने चाहिए। डर पर आधारित औद्योगिक व्यवस्था स्वतंत्रता के विरुद्ध होगी।

नोट

स्वतंत्रता पर लास्की के विचारों का तीसरा पक्ष है स्वतंत्रता की सुरक्षा। लास्की का विश्वास है कि जनसाधारण के लिए स्वतंत्रता बिना विशेष गारंटी के उपलब्ध नहीं हो सकती। इसके लिए लास्की तीन शर्तों की चर्चा करते हैं: (*i*) स्वतंत्रता उतनी देर तक सुरक्षित नहीं हो सकती जब तक समाज में विशेषाधिकार हैं। विशेषाधिकार की उपस्थिति जनसाधारण में निराशा की भावना को जन्म देती है जिसके परिणामस्वरूप लोग अपने हितों को पूरा करने की क्षमता खो बैठते हैं। जैसा कि वे लिखते हैं, 'विशेषाधिकार और स्वतंत्रता आपस में मेल नहीं खाते। स्वतंत्रता केवल समानता के संदर्भ में ही प्राप्त की जा सकती हैं'; (*ii*) सकारात्मक स्वतंत्रता की दूसरी शर्त है अधिकारों की उपस्थिति उस समाज में स्वतंत्रता कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती जहाँ जन साधारण के अधिकार कुछ लोगों की कृपादृष्टि पर निर्भर करते हों। अधिकारों की उपस्थिति का अर्थ है उन अनिश्चितताओं की अनुपस्थिति जो सामाजिक हानि का एक बड़ा कारण बनती है; (*iii*) सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए। राज्य के कार्य पक्षपातपूर्ण नहीं होने चाहिए। यहाँ अधिकारों की उपलब्धि इतनी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि वे स्वतंत्रता की न्यूनतम गारंटी बन जाते हैं। वे इस बात की सुरक्षा कर देते हैं कि राजनीतिक शक्ति कुछ लोगों की भलाई के लिए प्रयुक्त नहीं की जाएगी।

सकारात्मक स्वतंत्रता के समकालीन लेखक (Contemporary Writers on Positive Liberty)

सकारात्मक स्वतंत्रता का कुछ समकालीन चिन्तकों ने गहरा अध्ययन किया है जिनमें मैकफरसन, रॉल्स, बर्लिन, जॉन ग्रे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बर्लिन ने अपने लेख '*Two Concepts of Liberty*' में जहाँ नकारात्मक स्वतंत्रता को 'व्यक्ति के जीवन में राजनीतिक और सामाजिक हस्तक्षेप का अभाव' माना, वहाँ उसकी सकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा काफी व्यापक है। सकारात्मक स्वतंत्रता वास्तव में व्यक्ति की 'आत्मा-स्वामी तथा आत्म-निर्देशित होने, अपने उद्देश्यों से प्रेरित और स्वयं निर्णय लेने तथा कार्य करने की स्वतंत्रता है' बजाय इसके कि ये निर्णय और आदेश किसी और द्वारा दिए जाएँ।' सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ है 'एक संपूर्ण मानव के रूप में जीना।' बर्लिन की सकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा में तीन तत्वों का मिश्रण हैं: (*i*) यह व्यक्तिगत स्वामित्व और निर्देश है, (*ii*) स्वतंत्रता आत्म-स्वामित्व और आत्म-निर्देश प्राप्त लोगों द्वारा उन लोगों द्वारा उन लोगों को आज्ञाएँ देना है जो अभी इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाये हैं; तथा (*iii*) स्वतंत्रता राज्य-सत्ता को नियंत्रित करने वाली प्रजातांत्रिक धारणा है।

मैकफरसन अपनी पुस्तक '*Democratic Theory*' में स्वतंत्रता को व्यक्ति की विकासीय शक्ति में वृद्धि के संदर्भ में देखते हैं। विकास से उनका अभिप्राय है—व्यक्ति द्वारा अपनी क्षमताओं को विकसित और प्रयोग करने की योग्यता। स्वतंत्रता का अर्थ है 'व्यक्ति के जीवन और श्रम के साधनों तक पहुँच के मार्ग में बाधाएँ हटाना।' संक्षेप में, स्वतंत्रता व्यक्ति की शोषणकारी शक्तियों में कमी और विकासीय शक्ति में वृद्धि का नाम है।

एक अन्य लेखक जॉन ग्रे के अनुसार, सकारात्मक स्वतंत्रता का राजनीतिक सार यह है कि यदि व्यक्ति के आत्मविकास की उपलब्धि के लिए कुछ स्रोतों, सुविधाओं और शक्तियों की आवश्यकता है तो ये स्रोत स्वतंत्रता का एक अभिन्न अंग माने जाने चाहिए। इन्हीं आधारों पर आधुनिक उदारवाद ने कल्याणकारी राज्य की धारणा को स्वतंत्रता में वृद्धि करने वाली संस्था के रूप में विकसित किया है। यह इस बात का संकेत है कि व्यक्ति के जीवन के विकास के लिए जिन सुविधाओं की आवश्यकता है, राज्य उन्हें प्रदान करने के साधन रखता है।

इसी तरह रॉल्स का तर्क है कि स्वतंत्रता में अधिकतम वृद्धि की माँग को यदि ठोस रूप देना है तो इसे कुछ मौलिक स्वतंत्रताओं में विभाजित कर देना चाहिए जैसे भाषण की स्वतंत्रता, समुदाय बनाने और घूमने-फिरने की स्वतंत्रता और जीवन शैली की स्वतंत्रता आदि। इन मौलिक स्वतंत्रताओं की कोई निश्चित सूची नहीं होती बल्कि ये किसी भी समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों के लिए आवश्यक शर्तों तथा स्वायत्तता चिन्तन और कार्य की शक्ति के प्रयोग में निहित होती हैं।

नोट

सकारात्मक स्वतंत्रता की विशेषताएँ (Characteristics of Positive Liberty)

उपरोक्त चर्चा के आधार पर, सकारात्मक स्वतंत्रता की निम्नलिखित विशेषताएँ रेखांकित की जा सकती हैं–

1. स्वतंत्रता व्यक्ति के भौतिक और नैतिक विकास की आवश्यक शर्त है। न्याय और समानता की तरह यह हवा में तैरता हुआ कोई खोखला सामाजिक विचार नहीं है बल्कि यह किसी भी समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों से अपनी विषय-वस्तु प्राप्त करती है। समकालीन संदर्भ में यह 'बंधनों का अभाव' न होकर उन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की उपस्थिति है जिनके अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता।

2. सही प्रकार के बंधन बुरे नहीं होते। सकारात्मक स्वतंत्रता का विचार है कि सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप कुछ बंधन स्वतंत्रता के विरोधी न होकर उसकी गारंटी होते हैं। 'बंधनों के अंतर्गत स्वतंत्रता' (freedom through compulsion) की धारणा न्यायसंगत और व्यवहारिक है। लास्की के अनुसार स्वतंत्रता गलत तरीके के बंधन हटाकर सही तरीके के बंधन लगाना है। सामाजिक और कल्याणकारी क़ानून केवल इसी संदर्भ में ही उचित ठहराये जा सकते हैं।

3. स्वतंत्रता का रूप सामाजिक है। स्वतंत्रता का उद्देश्य मानव का सामाजिक व्यक्ति के रूप में विकास करना है। सामाजिक हित के विरुद्ध स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती।

4. सकारात्मक स्वतंत्रता का यह दृढ़ विश्वास है कि बिना समानता के विशेषकर बिना संतोषजनक आर्थिक समानता के, स्वतंत्रता संभव नहीं है। केवल समानता ही स्वतंत्रता को सकारात्मक रूप देती है।

5. स्वतंत्रता की एक अन्य शर्त है अधिकारों की उपस्थिति। इसी तरह स्वतंत्रता न्याय और नैतिकता से भी जुड़ी हुई है।

6. राज्य स्वतंत्रता का शत्रु न होकर इसके विकास का महत्त्वपूर्ण साधन है। राज्य का कार्य व्यक्ति को अकेला छोड़ना नहीं है बल्कि सकारात्मक कार्यों से वे अवसर और सुविधाएँ जुटाना है जिनसे स्वतंत्रता प्राप्त हो सके।

7. आधुनिक राज्य में इस स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के कुछ उपाय हैं: प्रजातांत्रिक सरकार, अधिकारों की संवैधानिक गारंटी, राजनीतिक सहभागिता, राजनीतिक शक्ति का विकेंद्रीकरण, न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा न्यायिक जाँच आदि।

मूल्यांकन (Assessment)

उपरोक्त चर्चा के आधार पर ऐसा लगता है कि स्वतंत्रता का सच्चा, स्पष्ट और निश्चित अर्थ ढूँढ़ना थोड़ा मुश्किल है। इसके दो कारण हैं। **पहला,** सर्वव्यापक स्तर पर स्वतंत्रता की इच्छा इतनी प्रबल और वांछनीय है कि यह सिद्ध करने के लिए कि 'हमारी स्वतंत्रता असली है हमारे विरोधियों की नकली', लोग किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। **दूसरा,** दार्शनिक स्तर पर भी वैचारिक भिन्नता काफी गंभीर है। नकारात्मक स्वतंत्रता का दावा है कि व्यक्ति का सार उसके स्वायत्त, साध्य और आत्म-स्वामी होने में है जबकि सकारात्मक स्वतंत्रता का मानना है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसके सभी नैतिक मूल्य एवं उद्देश्य सामाजिक समुदाय की आवश्यकताओं द्वारा प्रेरित होते हैं। तथापि यदि हम स्वतंत्रता के सच्चे अर्थ को समझना चाहते हैं तो इसके किसी एक पक्ष तक सीमित रहना गलत होगा। उदाहरण के लिए, स्वतंत्रता की किसी भी व्यापक धारणा में से नकारात्मक धारणा को बाहर रखना गलत होगा क्योंकि यह वह धारणा है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग किया गया था और आम बातचीत की भाषा में लोग आज भी यही अर्थ समझते हैं। नकारात्मक धारणा के विरुद्ध शिकायत यह नहीं है कि यह गलत है अथवा अवांछनीय है; इसकी कमी यह है कि आधुनिक परिस्थितियों के संदर्भ में यह अधूरी और अपर्याप्त है। सकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा थोड़ी जटिल है क्योंकि सकारात्मक के नाम पर कौन-सी सुविधाएँ दी जाएँ, यह निर्णय प्रत्येक राज्य और समाज की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न हो सकता है। इसके बावजूद, यह धारणा आधुनिक राज्य की अनिवार्य आवश्यकता है; आज स्वतंत्रता को मुक्त-बाज़ार की दयादृष्टि पर नहीं छोड़ा जा सकता।

नोट

एंथोनी बीरच के अनुसार, नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थकों को यह अनुभव कर लेना चाहिए कि आज के प्रजातांत्रिक राज्य सामुदायिक सहमति और मान्यताओं पर ही आधारित किए जा सकते हैं। व्यक्ति की योग्यताओं और क्षमताओं में वृद्धि करना वास्तव में स्वतंत्रता में वृद्धि करना है। इसी तरह सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थकों को भी यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्ति को नकारात्मक स्वतंत्रता भी काफी मात्र में मिलनी चाहिए। स्वतंत्रता राज्य द्वारा थोपी नहीं जा सकती। नकारात्मक और सकारात्मक—ये स्वतंत्रता के दो पक्ष हैं। व्यवहारिक स्तर पर व्यक्ति को दोनों की आवश्यकता होती है और यदि दोनों पक्ष एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझ लें, तो स्वतंत्रता के अर्थ और महत्त्व को समझना काफी आसान हो जाएगा।

टास्क स्वतंत्रता के नकारात्मक एवं सकारात्मक पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

8.1.2 नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता के प्रतिमान की सीमाएँ और इससे आगे जाने के प्रयत्न (Limits of Negative and Positive Liberty Paradigm and Need to go Beyond)

स्वतंत्रता एकत्रयी धारणा (Freedom As a Triadic Concept)

1967 में अमरीका के एक प्रसिद्ध क़ानूनी दर्शनशास्त्री गेराल्ड मैक्कलुमिन ने एक प्रभावशाली लेख में यह तर्क दिया कि नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक स्वतंत्रता की एकल परिभाषा पर आकर मिल जाते हैं, अन्तर केवल इनके अभिमुख होने का भिन्न दृष्टिकोण है। बर्लिन द्वारा स्थापित किये गये नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता के दो पक्षों में मतभेद केवल इस बात को लेकर है कि स्वतंत्रता की कौन-सी धारणा सर्वश्रेष्ठ है जिसे वास्तव में स्वतंत्रता का नाम दिया जा सकता है। क्या यह तथ्य इन दोनों पक्षों के बीच कुछ और अधिक मूल सहमति की तरफ इशारा नहीं करता? वे अपने मतभेद को स्वतंत्रता की परिभाषा के संदर्भ में कैसे देख सकते हैं यदि उन्हें यह अहसास नहीं है कि वे दोनों एक ही विषय के बारे में बात कर रहे हैं? मैक्कलुमिन का उत्तर था कि वास्तव में स्वतंत्रता की केवल एक ही मूलधारणा है जिस पर चर्चा के दोनों पक्ष अभिमुख होते हैं। नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता के सिद्धांतकारों के बीच मतभेद इस एकल धारणा की व्याख्या को लेकर है। मैक्कलुमिन के अनुसार स्वतंत्रता की कई व्याख्याएँ की जा सकती हैं। दुर्भाग्य से बर्लिन के कृत्रिम विभाजन ने इसे केवल दो पक्षों—नकारात्मक तथा सकारात्मक—तक सीमित कर दिया है।

मैक्कलुमिन स्वतंत्रता की धारणा को इस प्रकार परिभाषित करता है—(*i*) एक कर्ता अथवा एजेन्ट, समूह, (*ii*) स्वतंत्र है कुछ प्रतिबधों अथवा रोकने वाली परिस्थितियों से, (*iii*) कुछ करने अथवा कुछ बनने के लिए। अत: स्वतंत्रता एकत्रयी सम्बन्ध है (Liberty is a triad relationship) अर्थात् यह तीन तत्वों के बीच सम्बन्ध है (*i*) व्यक्ति अथवा कर्ता, (*ii*) कुछ बंधनकारी परिस्थितियाँ (*iii*) तथा कर्ता द्वारा कुछ करने अथवा बनने की इच्छा। स्वतंत्रता अथवा परतंत्रता के बारे में किसी भी कथन की व्याख्या उपरोक्त त्रयी स्वरूप के संदर्भ में की जा सकती है—जैसे स्वतंत्र अथवा परतंत्र कौन है, वह किससे स्वतंत्र अथवा परतंत्र है और कुछ करने बनने से सम्बन्धित स्वतंत्रता अथवा परतंत्रता क्या है? किसी भी परिस्थिति विशेष में स्वतंत्रता की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का दावा इन मान्यताओं अथवा पूर्वानुमानों पर आधारित होगा कि व्यक्ति अथवा कर्ता कौन है, स्वतंत्रता पर सीमाएँ कौन-सी है और वे उद्देश्य कौन-से हैं जिसे प्राप्त करने के लिए कर्ता स्वतंत्र अथवा परतंत्र है।

मैक्कलुमिन के विश्लेषण के अनुसार नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता में कोई द्विभाजन नहीं है। बल्कि हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि स्वतंत्रता की एकल धारणा की कई सम्भव व्याख्याएँ हो सकती हैं। मैक्कलुमिन ने

नोट

तो यहाँ तक कहा कि स्वतंत्रता की धारणा के प्रतिपादक कई चिन्तकों को स्पष्ट रूप से किसी एक अथवा दूसरी धारणा तक सीमित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए जॉन लॉक को क्लासिकी उदारवाद का जनक माना जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसे नकारात्मक स्वतंत्रता का कट्टर समर्थक माना जाता है। लॉक स्पष्ट रूप से लिखता है कि स्वतंत्रता का अर्थ है दूसरों के बंधनों अथवा हिंसा से मुक्ती। परन्तु लॉक साथ ही यह भी लिखता है कि स्वंतत्रता को स्वच्छंदता के साथ नहीं जोड़ा जा सकता–जो अवरोध हमारी दलदलों अथवा जोखिमों से रक्षा करते हैं, उन्हें बंधन नहीं कहा जा सकता। जहाँ लॉक स्वतंत्रता के संदर्भ में ऐसे बंधनों का वर्णन करता है जिन्हें बर्लिन के अनुसार नकारात्मक कहा जा सकता है, वहाँ वह मैक्कलुमिन की त्रयी स्वतंत्रता की धारणा के तीसरे पक्ष का भी समर्थन करता है जिन्हें बर्लिन के अनुसार सकारात्मक स्वतंत्रता माना जाएगा, अर्थात् स्वतंत्रता को ऐसे कार्यों तक सीमित रखना जो अनैतिक नहीं है (जैसे स्वतंत्रता स्वच्छन्दता नहीं है) तथा वे जो कर्ता के हितों के अनुकूल है। अर्थात् यदि मुझे दलदल में घुसने से बचाया जाता है तो मेरी स्वतंत्रता बढ़ती है। नोज़िक तथा रॉथबार्ड जैसे समकालीन इच्छास्वातंत्र्यवादी लेखकों ने भी स्वतंत्रता की कुछ ऐसी परिभाषाएँ दी है जो नैतिकता पर आधारित है। ये सभी उदाहरण मैक्कलुमिन के दावे को स्पष्ट करते हैं कि ऐतिहासिक एवं अवधारणा के दृष्टिकोण से स्वतंत्रता को दो भागों में विभाजित करना भ्रमपूर्ण हो सकता है कि नकारात्मक धारणा उदारवादी है और सकारात्मक धारणा ग़ैर-उदारवादी।

संक्षेप में मैक्कलुमिन का तर्क है कि स्वतंत्रता की केवल एक ही मूल धारणा है जिसे त्रयी सम्बन्ध के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है–कर्ता, कुछ बंधनकारी परिस्थितियाँ तथा कर्ता द्वारा इनसे निकलने के लिए कुछ कार्य। नकारात्मक स्वतंत्रता के अनुसार कर्ता व्यक्ति है, बंधन बाह्य है, उद्देश्य वे हैं जो व्यक्ति की इच्छा है। दूसरी तरफ सकारात्मक स्वतंत्रता के अनुसार कर्ता व्यक्ति समूह अथवा समुदाय हो सकते हैं, बंधन आंतरिक एवं बाह्य हो सकते हैं तथा पूरा किये जाने वाला उद्देश्य सीमित हो सकता है। स्वतंत्रता की यह त्रयी धारणा स्वतंत्रता के दो पक्षों को समन्वित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

क्या नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा अभी भी लाभदायक है?
(Are the Concept of Negative and Positive Liberty still usefull?)

हमने इस अध्याय का आरंभ स्वतंत्रता की दो धारणाओं के बीच साधारण अन्तर से आरंभ किया और अब त्रयी धारणा पर पहुँचे हैं। मैक्कलुमिन के त्रयी फार्मूले की उपयोगिता तथा विश्लेषणकारी दार्शनिकों पर इसके शक्तिशाली प्रभाव के बावजूद राजनीति तथा सामाजिक स्वतंत्रता से सम्बन्धित प्रमुख चर्चाओं में अभी भी बर्लिन की द्वि-विभाजित धारणा ही प्रबल है। परन्तु सवाल यह है: नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता के प्रति यह सतत् हवाला दार्शनिक दृष्टिकोण से कितना आधारभूत है। इस नकारात्मक/सकारात्मक विभाजन की एक अन्य लेखक एरिक नेल्सन ने भी आलोचना की है। नेल्सन का मानना है कि सकारात्मक स्वतंत्रता से जुड़े हुए कई लेखकों, जैसे ग्रीन तथा बोंसाके ने स्वतंत्रता को 'बंधनों को अभाव' तथा 'स्वतंत्रता के कुछ करने या बनने' के रूप में विभाजन नहीं किया है। इसके लिए स्वतंत्रता का अर्थ स्वयं सिद्धी प्रदान करने की दिशा में सभी प्रकार के बंधनों का अभाव है। अत: अन्तर केवल यह रह जाता है कि जो स्वतंत्रता की विभिन्न व्याख्याओं का वर्गीकरण यह दर्शाता है कि वे क्लासिकी उदारवादी परम्परा के साथ किस सीमा तक फिट बैठते हैं। वस्तुत: स्वतंत्रता की उन धारणाओं में कुछ पारिवारिक सम्बन्ध है जो सामान्यत: बर्लिन द्वारा किए गये विभाजन के एक अथवा दूसरी तरफ झुके हुए दिखाई देते हैं और इस पारिवारिक स्वरूप को निश्चित करने का निर्णायक तत्व है सिद्धांतकारी का 'आत्म' की धारणा के साथ सम्बन्ध की सीमा अथवा अवस्था। सकारात्मक तत्व के समर्थक व्यक्ति के विश्वासों, मूल्यों तथा इच्छाओं की प्रकृति एवं स्रोतों जैसे प्रश्नों को व्यक्ति की स्वतंत्रता निश्चित करने में सुसंगत मानते हैं जबकि जो नकारात्मक पक्ष का समर्थन करते हैं वे क्लासिकी उदारवादी परम्परा के प्रति अधिक निष्ठावान है और इसके अनुसार इस प्रकार के प्रश्नों को उठाना कर्ता की साख/ईमानदारी पर शक करने जैसा है। जहाँ एक पक्ष कर्ता के विश्वासों, मूल्यों तथा इच्छाओं में सकारात्मक रुचि लेता है, वहाँ दूसरा पक्ष इनकी अवज्ञा करने में अपना भला समझता है।

नोट

स्वतंत्रता के परम्परागत धारणाओं की अपर्याप्तता
(Inadequacy of Traditional Concepts of Freedom)

स्वतंत्रता की इन दो परम्परागत धारणाओं से असंतुष्ट, इसके समकालीन सिद्धांतकार स्वतंत्रता की कुछ आवश्यक महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों का निर्माण करने के लिए संघर्षरत है। स्वतंत्रता के लिए ये सामाजिक परिस्थितियाँ राज्य द्वारा जीवन के कुछ क्षेत्रों में भौतिक तथा क़ानूनी अवरोधी के विरुद्ध सुरक्षा की गारंटी तथा भौतिक स्रोतों (जैसे आय, शिक्षा अथवा स्वास्थ्य आदि) के सामाजिक प्रावधानों तक सीमित नहीं है। इसके अतिरिक्त, वे इसमें दो अन्य प्रावधान जोड़ना चाहते हैं जिन पर अभी पूर्ण सहमति नहीं है। स्वतंत्रता के लिए तीसरी प्रावधान है किसी व्यक्ति के सांस्कृतिक संदर्भ की उस समाज में सुरक्षा जहाँ वह रहता है। यह सांस्कृतिक संदर्भ उस प्रक्रिया का वह भाग होता है जिनके माध्यम से व्यक्ति अपनी स्वायत्त अभिरुचियों का निर्माण करता है। सांस्कृतिक अधिकारों की माँग के पीछे भी यही महत्त्वपूर्ण है। इनका मानना है कि लोग किसी भी समाज में उतनी देर तक समान रूप से स्वतंत्र नहीं है जितनी देर तक विभिन्न सांस्कृतियों का समान आदर नहीं किया जाता। स्वतंत्रता की चौथी धारणा 'सामूहिक स्वतंत्रता' की धारणा है जो सभी लोगों के वोट देने के अधिकार जैसी राजनीतिक स्वतंत्रता अथवा विचाराभिव्यक्ति के अधिकार से कहीं अधिक बढ़कर है।

उत्तर-आधुनिकवादी लेखकों ने भी स्वतंत्रता की आधुनिक धारणा की आलोचना की है। वे इसे निरंतर बढ़ते नियंत्रणों की व्यवस्था वाले आधुनिक समाज की वास्तविकता को छुपाने का एक नकाब मानते हैं। फूका के अनुसार आधुनिकता उत्पीड़क राजकीय ढाँचें का ही नहीं बल्कि स्कूलों एवं नौकरशाही जैसी नियामक संस्थाओं का व्यापक पैमाने पर प्रसार है जो नागरिकों को इस प्रकार कार्य करने के लिए मज़बूर करते हैं जो उनकी स्वतंत्रता में नहीं बल्कि परतंत्रता में वृद्धि करते हैं। आधुनिकता के बुद्धिवादियों द्वारा इस अदृश्य आधिपत्य की अवज्ञा करते हुए स्वतंत्रता की धारणा का प्रयोग करना गलत है। इसके अतिरिक्त कुछ नारीवादी लेखकों ने भी स्वतंत्रता के वर्तमान सिद्धांतों पर प्रहार है, जो उनके अनुसार, पुरुष पूर्वाग्रहों पर आधारित है और महिलाओं की स्वतंत्रता के प्रसार में समस्या पैदा कर सकते हैं। उनका तर्क है कि स्वतंत्रता की धारणा अभी तक केवल पुरुष की परिस्थितियों एवं अनुभवों को ध्यान में रखकर निर्मित की गई है। स्वतंत्रता की इस धारणा को स्वीकार करने का अर्थ है महिलाओं द्वारा की जाने वाली कई प्रकार की गतिविधियों की अवज्ञा करना जो महिलाओं के हित में नहीं होगा। यहाँ तक दावा किया गया है कि स्वतंत्रता की इस धारणा के ऊपर अत्यधिक केन्द्रीकरण महिला विरोधी हो सकता है अर्थात् उदाहरण के लिए स्वतंत्रता को बंधनों के अभाव के रूप में परिभाषित करना नारी की ग़ैर-मानवीय अवस्थिति का दृढ़तापूर्वक समर्थन करने का एक साधन हो सकता है। संक्षेप में, नारीवाद तथा उत्तर-आधुनिकवाद दोनों ने स्वतंत्रता के नकारात्मक तथा सकारात्मक पक्षों को कड़ी चुनौती दी है।

समग्र रूप में, स्वतंत्रता की नकारात्मक एवं सकारात्मक पक्षों में विभाजन को आज अपर्याप्त माना जाता है और इससे आगे जाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

8.2 जे. एस. मिल एवं स्वतंत्रता का महत्त्व
(John Stuart Mill and the Value of Liberty)

मिल की कृति '*On Liberty*' स्वतंत्रता पर आज तक लिखे गये लेखों में उत्तम मानी जाती है। यह राज्य, सामाजिक दबावों, जनमत तथा रीतिरिवाजों के विरुद्ध व्यक्ति की विचाराभिव्यक्ति तथा अपनी मर्जी से कार्य करने की स्वतंत्रता के लिए एक शक्तिशाली अनुरोध है। स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए मिल के सामने एक विशिष्ट लक्ष्य था—व्यक्ति के आत्म-विकास का लक्ष्य। मिल के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मर्जी तथा अनुभव के आधार पर जीने का विशेषाधिकार है। रीतिरिवाजों तथा परंपराओं का अनुसरण करने वाले व्यक्ति की कोई पहचान नहीं होती, उसके

नोट

जीवन में कोई विकल्प नहीं होता, उसके पास अपने पूर्वजों की नकल करने के सिवाय और कुछ नहीं होता। समाज के विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न तरीकों से जीवन जीने का हक होना चाहिए क्योंकि यही विभिन्नता स्वतंत्रता का आधार है। जिस स्वतंत्रता की मिल चर्चा करते हैं वह है व्यक्ति की अपने व्यक्तित्व का विकास तथा प्रसार करने की स्वतंत्रता। अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह स्वतंत्रता की परिभाषा इन शब्दों में करते हैं, 'व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अपने हित पूरे करने की छूट, बशर्ते कि वह दूसरों के इन्हीं हितों की पूर्ति में बाधा नहीं बनता।' इस तरह परिभाषित करने से स्वतंत्रता एक उद्देश्य प्राप्ति का साधन बन जाती है और वह उद्देश्य है: व्यक्ति का सुख। वह आगे लिखते हैं, 'व्यक्ति अपने व्यवहार के केवल उस पक्ष के लिए ही समाज के प्रति उत्तरदायी है जो दूसरों को प्रभावित करता है। जिसका प्रभाव उसके अपने ऊपर पड़ता है, उस क्षेत्र में उसकी स्वतंत्रता संपूर्ण है। स्वयं पर, अपने शरीर और मन पर व्यक्ति स्वयंभू है....समाज के किसी भी सदस्य पर राज्य की शक्ति का न्यायसंगत प्रयोग केवल उसे दूसरों को हानि पहुँचाने से रोकने के लिए ही किया जा सकता है।' व्यक्ति के नैतिक अथवा भौतिक हित के नाम पर भी किसी प्रकार का हस्तक्षेप अन्यायपूर्ण है। किसी भी व्यक्ति को कोई भी कार्य करने के लिए इसलिए मज़बूर नहीं किया जा सकता है कि यह उसके भले के लिए है या यह उसके सुख में वृद्धि करेगा या बड़े-बूढ़ों के अनुसार यह ठीक है। ये अपने-आप में अच्छे कारण हो सकते हैं परन्तु यदि कोई ऐसा नहीं करता तो इसके लिए उसे सजा देना गलत होगा।

स्वतंत्रता की उपरोक्त परिभाषा के आधार पर इसकी कुछ विशेषताएँ रेखांकित की जा सकती हैं। पहली मिल जिस स्वतंत्रता की बात कर रहा है। वह है व्यक्ति की स्वतंत्रता। व्यक्ति अपने शरीर तथा मन का खुद मालिक है और उसे अपनी मर्जी से जीने के लिए अकेला छोड़ दिया जाना चाहिए। समाज को उसके ऊपर किसी प्रकार का बंधन लगाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभी प्रकार के बंधन मूलत: गलत होते हैं। कार्य करने की स्वतंत्रता के संदर्भ में मिल ने व्यक्ति की गतिविधियों को दो भागों में बाँटा–वे कार्य जिनका प्रभाव स्वयं व्यक्ति पर पड़ता है तथा वे कार्य जिनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। आत्मा-प्रभावी कार्यों में मिल ने संपूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन किया। व्यक्ति के केवल उन्हीं कार्यों पर सीमाएँ लगाई जा सकती हैं जिनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। स्वयं-प्रणाली कार्यों के लिए समाज को चाहिए कि वह व्यक्ति अकेला छोड़ दें। इन स्वयं प्रभावी कार्यों में मिल ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, आत्मा की स्वतंत्रता, चिन्तन, भावना, धर्म, नैतिकता आदि के बारे में मत, अपने जीवन के उद्देश्य, विवाह, व्यवसाय आदि की स्वतंत्रता को निहित किया।

दूसरा, मिल व्यक्ति की स्वतंत्रता राज्य तथा समाज दोनों से सुरक्षित करना चाहता है। मिल अपनी रचनाएँ उस समय लिख रहे थे जब प्रजातंत्र का उदय हो रहा था और राजनीति में हिस्सा लेने का अधिकार समाज के उन लोगों को भी प्राप्त होने लगा था जिन्हें राज्य के हस्तक्षेप से लाभ हो सकता था। ऐसा अनुभव किया जाने लगा था कि लोगों के कल्याण में वृद्धि करने में राज्य सकारात्मक और न्यायोचित भूमिका निभा सकता है। तथापि मिल सभी लोगों को वोट का समान अधिकार देने वाले प्रजातंत्र के पक्ष में नहीं था। उसका विचार था कि स्वशासन या 'जनशक्ति' (power of people) जैसी धारणाएँ मिथ्या अधिक और सच कम हैं। जनशक्ति का अर्थ है समाज के बहुसंख्यक अथवा समाज के राजनीतिक दृष्टिकोण से सक्रिय सदस्यों की शक्ति या कह लीजिए–बहुमत। परंतु इस 'बहुमत की तानाशाही' में अल्पमत की स्वतंत्रता नष्ट हो सकती है। प्रजातंत्र का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि वह अल्पमत को स्वतंत्रता समाप्त कर दे। अत: व्यक्ति की स्वतंत्रता को एक प्रजातांत्रिक राज्य से भी सुरक्षित करने की ज़रूरत है। मिल ने उन लोगों की तीव्र आलोचना की जो एक शक्तिशाली राज्य के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बलि चढ़ाने को तैयार हैं क्योंकि राज्य की कीमत उन लोगों की कीमत से ज्यादा नहीं होती जो इसकी रचना करते हैं। मिल के अनुसार, 'वह राज्य जो अपने नागरिकों को (चाहे कल्याणकारी उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही सही) इस कदर बौना बना देता है कि वे उसके लिए एक आज्ञापरायण यंत्र से अधिक न हो, जल्द ही यह अनुभव करेगा कि छोटे लोगों से बड़े लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती'।

नोट

तीसरे, जिस तरह मिल ने इस भ्रम को तोड़ा कि निरंकुश सरकारों को यदि प्रजातांत्रिक सरकारों में बदल दिया जाए तो स्वतंत्रता स्वयंमेव सुरक्षित हो जाएगी, उसी तरह उसने इस तथ्य पर विशेष बल दिया कि सामाजिक निरंकुशता कई बार राजनीतिक उत्पीड़न से ज्यादा भयंकर होती है क्योंकि यह बचाव के कोई रास्ते नहीं छोड़ती और व्यक्ति के जीवन में गहराई तक पहुँचने में सफल रहती है। अत: स्वतंत्रता की केवल राजनीतिक निरंकुशता से ही नहीं, बल्कि प्रचलित विचारों, भावनाओं और परंपराओं की निरंकुशता से भी सुरक्षा ज़रूरी है। व्यक्तिगत विचाराभिव्यक्ति में सबसे बड़ी बाधा समाज का विरोध होता है। जब भी कुछ ऐसे लोग सामने आते हैं जो अपना जीवन गैर-परंपरावादी तरीकों से जीना चाहते हैं तो समाज में कुछ ऐसी शक्तियाँ खड़ी हो जाती हैं जो इनकी प्रतिकूलता का विरोध करती है। मिल स्वतंत्र विचाराभिव्यक्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना चाहते थे। जैसे कि वे लिखते हैं: जब समाज स्वयं तानाशाही हो तो तानाशाही को केवल राजनीतिक शासकों के स्तर पर ही सीमित नहीं रखा जा सकता। समाज अपने आदेशपत्र लेकर चलता है और जब इन्हें पूरा करने के लिए यह व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करता है तो यह ऐसी तानाशाही चला रहा होता है जो राजनीतिक उत्पीड़न से भी अधिक भयानक होती है।

चौथे, स्वतंत्रता के संदर्भ में मिल ने समाज में प्रचलित जनमत, भावनाओं तथा संवेदनाओं की तानाशाही के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता को विशेष महत्त्व दिया। उसके अनुसार किसी सरकार अथवा समाज को व्यक्ति के विचारों को दबाने का हक नहीं है चाहे इसके लिए उसे सारे समाज की स्वीकृति प्राप्त हो। किसी भी भिन्न मतावलम्बी के ऐसे गैर-परंपरावादी विचार हो सकते हैं जो पूर्णतया ठीक या पूर्णतया गलत या आंशिक रूप से गलत/ठीक हो। यदि वे सत्य है तो उन्हें दबाना समाज के लिए एक कलंक होगा। किसी भी प्रकार के विचारों अथवा मत को जबरदस्ती दबाना भ्रमातीत की पूर्वधारणा पर आधारित है। मिल का प्रसिद्ध वाक्य था—यदि सारे मानव समाज के विचार एक हैं और एक व्यक्ति का विचार उससे भिन्न है, तो सारी मानव जाति को भी यह अधिकार नहीं है कि उस एक व्यक्ति के विचार को दबा दे और न ही उस व्यक्ति को अधिकार है कि यदि उसके पास सारी शक्ति है तो वह सारी मानव जाति को दबा दे।

इसी तरह मिल का विचार था कि किसी भी प्रकार की चर्चा बिना किसी दबाव के होनी चाहिए। मिल को इस प्रकार के परंपरावादी झूठ में विश्वास नहीं था कि 'सत्य की हमेशा जीत होती है।' इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं जब सत्य का गला घोंटा गया। अत: उसने बिना चर्चा अथवा तर्क के किसी भी सत्य के पुराने फार्मूलों को अपनाने से इंकार कर दिया। उसका मानना था कि सत्य को सशक्त करने के लिए ज़रूरी है कि इस पर चर्चा हो, बार-बार चर्चा हो तथा बिना किसी दबाव अथवा डर के चर्चा हो। केवल चुनौती की आग में तपकर ही सत्य उजागर हो सकता है। संक्षेप में, मिल ने विचार की स्वतंत्रता को तीन आधारों पर वैध ठहराया: (*i*) दबाया जाने वाला विचार सही हो सकता है; (*ii*) यदि दबाया गया विचार गलत भी है तो वह आंशिक रूप से सही होगा क्योंकि किसी भी सामाजिक विषय पर जनमत कभी भी एकमत नहीं होता; केवल विरोधी विचारों के परस्पर टकराव से ही सच पैदा होने की संभावना होती है; (*iii*) यदि प्रचलित विचार सही भी है तो भी यदि इसे विरोधी विचार से चुनौती नहीं दी जाएगी तो वह धीरे-धीरे एक रूढ़ि का रूप ले लेगा।

पाँचवें, व्यापक स्तर पर, मिल के विचारों को नकारात्मक माना जाता है। उसने व्यक्ति के स्वयं-प्रभावी कार्यों पर समाज अथवा राज्य के हस्तक्षेप को गलत माना क्योंकि उसके विचार में सभी प्रकार के बंधन बुरे हैं। व्यक्ति उन कार्यों के लिए समाज के प्रति जिम्मेदार नहीं है जिनका संबंध उसके अपने से है। समाज की भलाई इसी में है कि वह व्यक्ति का आत्म-विकास का पूरा अवसर दे। स्वतंत्रता बंधनों के अभाव में है। व्यक्ति के लिए उत्तम यह है कि उसे अपना सुख अपनी मर्जी से ढूँढ़ने के लिए अकेला छोड़ दिया जाए। मिल ने स्वतंत्रता को व्यक्ति तक सीमित रखा तथा समाज एवं राज्य को स्वतंत्रता का दुश्मन माना। स्वतंत्रता का उद्देश्य व्यक्ति के लिए एक ऐसा क्षेत्र सुरक्षित करना है जिसमें वह बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के कार्य कर सके। हालांकि मिल स्वतंत्रता की धारणा को काफी उच्च धरातल तक ले गया परंतु जड़ें व्यक्ति की स्वतंत्रता में ही रही।

नोट

और अन्त में, मिल के अनुसार स्वतंत्रता को केवल उपयोगिवाद के आधार पर ही उचित नहीं ठहराया जा सकता। स्वतंत्रता का अभिप्राय कुछ ऐसी सामाजिक उपयोगिताओं से भी है जिसका उद्देश्य केवल व्यक्ति के सुख में वृद्धि ही नहीं बल्कि सामाजिक विभिन्नता के संदर्भ में मानवीय व्यक्तित्व का विकास करना भी है। मिल का मानना था कि केवल मानवीय चरित्र तथा सामाजिक अवस्था में सुधार से ही प्रगति का रास्ता स्पष्ट हो सकता है। केवल सरकारी स्तर पर छुटपुट सुधारों से व्यक्ति के दु:खों में कमी नहीं होगी। मिल संसद में बहुमत द्वारा अल्पमत पर तानाशाही से काफी चिंतित था तथा व्यक्ति को जनमत की तानाशाही से भी सुरक्षित करना चाहता था।

मूल्यांकन (Assessment)

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर हम मिल की स्वतंत्रता की इस धारणा की सीमाओं की चर्चा कर सकते हैं–

(*i*) स्वतंत्रता की यह धारणा केवल शिक्षित बौद्धि वर्ग पर ही लागू होती है, बच्चों, युवाओं अथवा पिछड़ी जातियों एवं नस्लों पर नहीं। मिल के अनुसार पिछड़ी जातियों के लिए तानाशाही उत्तम शासन है। जब तक कोई मानवीय समुदाय समान तथा स्वतंत्र चर्चा करने के योग्य नहीं हो जाता तब तक उनके लिए अकबर अथवा चंगेज़खान जैसे तानाशाहों की आज्ञापालन ही श्रेस्यकर है।

(*ii*) इसमें कोई शक नहीं कि वैचारिक स्तर पर व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा सभ्यता के विकास के लिए मिल विचार तथा अभिव्यक्ति की निरंकुश स्वतंत्रता का समर्थन करता है परन्तु व्यवहारिक स्तर पर उसका मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग उस सीमा तक करें जहाँ तक वह दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा नहीं बनता।

(*iii*) व्यक्तित्व का उन्मुक्त विकास समाज में असमानता को जन्म दे सकता है। बैंथम के बहुमत के शासन के सिद्धांत को मिल ने अस्वीकार कर दिया। मिल की इच्छा थी कि समाज का नेतृत्व अनुभवी नेताओं तथा विशेषज्ञों के हाथ में होना चाहिए ताकि वे निम्नवर्ग को सही दिशा दे सकें। अत: स्वतंत्रता तथा समानता के संबंध में मिल के विचारों में असमंजस दिखाई देता है।

(*iv*) बार्कर के अनुसार मिल 'खोखली स्वतंत्रता' का मसीहा है। उसकी पुस्तक *'On Liberty'* पुरानी बोतल में नई शराब' डालने का प्रयत्न मात्र है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वह व्यक्तिवाद की धारणा से बंधा रहा। वह सामाजिक संपूर्णता के विचार से दूर रहा जो व्यक्ति तथा समाज में सामंजस्य स्थापित कर सकता है। व्यक्ति के आत्म-प्रभावी और समाज-प्रभावी कार्यों का अंतर बाद में आने वाले लेखकों (जैसे ग्रीन, हॉबहाऊस, लास्की आदि) ने स्वीकार नहीं किया।

तथापि मिल का महत्त्व इस तथ्य पर बल देने में है कि सामाजिक और राजनीतिक उन्नति बहुत हद तक व्यक्तिगत क्षमताओं और स्वतंत्र चयन पर निर्भर करती है। मिल का दृढ़ विश्वास था कि राज्य की शक्ति में किसी भी प्रकार की वृद्धि, चाहे सरकार का स्वरूप कोई भी हो, व्यक्ति की स्वतंत्रता के विरुद्ध है। ज़ोर-ज़बरदस्ती की शक्ति के अन्तर्गत किया जाने वाला कोई भी कार्य व्यक्ति के लिए चयन का अवसर कम कर देता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी स्वतंत्रता का उल्लंघन हो जाता है। इसी तरह विचार, भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए दिए गए तर्क भी उदारवादी दर्शन के मौलिक आधार बन गए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. 'On Liberty' पुस्तक के लेखक निम्न में से कौन हैं?

(अ) जॉन स्टुअर्ट मिल (ब) लॉस्की

(स) अरस्तु (द) हॉब्स

नोट

5. मिल 'खोखली स्वतंत्रता' का मसीहा है– कथन किसका है?

(अ) हॉब्स (ब) लॉस्की

(स) बार्कर (द) अरस्तु

8.3 मानव मुक्ति के रूप में स्वतंत्रता–स्वतंत्रता का मार्क्सवादी सिद्धांत (Freedom as Emancipation–Marxist Notion of Freedom)

मार्क्सवाद स्वतंत्रता की धारणा को व्यापक मानव मुक्ती के संदर्भ में देखता है। इसके अनुसार, मानव इतिहास में वर्ग-संघर्ष हमेशा स्वतंत्रता के संघर्ष का ही रूप रहा है–वे विशेष स्वतंत्रताएँ जिन्हें प्राप्त करने के लिए लोगों ने संघर्ष किया। इन स्वतंत्रताओं को परंपरागत दृष्टिकोण से नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता कहा जाता है। जन-साधारण अपने ऊपर लगे कुछ विशेष बंधनों से मुक्त होना चाहते हैं ताकि वे अपनी मर्जी से कुछ कर सके। अपने वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में लोगों ने कई तरह के उत्पीड़नों और दमन से छुटकारा पाना है तथा कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त किए हैं। परन्तु साथ ही साथ, यह भी एक तथ्य है कि विभिन्न संघर्षों के बावजूद, समाज के निम्न और शोषित वर्ग अपने शोषण से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके। शोषणकारी वर्ग के विशेषाधिकार अभी भी जारी है। मार्क्स और मार्क्सवादी लेखकों का सबसे बड़ा योगदान यह सिद्ध करना था कि किस प्रकार उत्पादन के स्तर पर निजी संपत्ति के अधिकार ने समाज के बहुसंख्यक लोगों को उनकी स्वतंत्रता से वंचित रखा है तथा इस समस्या को सैद्धांतिक आधार पर तैयार करना था कि इस निम्न वर्ग के लिए स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो सकती है। स्वतंत्रता की मार्क्सवादी धारणा को निम्न आधारों पर समझा जा सकता है:

1. स्वतंत्रता का अर्थ
2. स्वतंत्रता की बुर्जुआ धारणा की आलोचना
3. स्वतंत्रता: अलगाव की समाप्ति
4. स्वतंत्रता: शोषण की समाप्ति
5. स्वतंत्रता: विवशताओं से मुक्ति
6. स्वतंत्रता: एक सामूहिक प्रयास।

स्वतंत्रता का अर्थ (Meaning of Freedom)

उदारवाद के परंपरागत अर्थ के अनुसार स्वतंत्रता बंधनों का अभाव है। मार्क्सवाद स्वतंत्रता के व्यापक और गहन दृष्टिकोण का उत्तराधिकारी था जिसके स्रोत स्पीनोजा, रूसो, कांत, हीगल आदि थे। इन लेखकों ने स्वतंत्रता को आत्मनिश्चय, आत्मसिद्धी, आत्मविकास, आत्म-पूर्णता तथा आत्म-सृष्टि जैसे दार्शनिक संदर्भों में देखा था। यदि स्वतंत्रता को बंधनों का अभाव भी माना जाए तो मार्क्स ने इन बंधनों की व्यापक व्याख्या की। मार्क्स और मार्क्सवाद ने स्वतंत्रता को मानव मुक्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं का अभाव माना अर्थात् मानवीय शक्तियों का चहुँमुखी विकास तथा एक ऐसे सामाजिक समुदाय का निर्माण करना जो मानवीय प्रकृति के अनुरूप हो। ये महत्त्वपूर्ण बाधाएँ हैं: श्रमिकों की दयनीय स्थिति; जीवन तथा अस्तित्व की वे परिस्थितियाँ जिन पर श्रमिकों का कोई नियंत्रण नहीं होता और न ही सामाजिक संगठन उन्हें किसी प्रकार का नियंत्रण दिला सकता है। समाजवादी लेखक ह्यूबरमैन और स्वीजी के अनुसार मार्क्सवादी स्वतंत्रता का अर्थ है, 'जीवन को संपूर्णता से जीना' अर्थात् रोटी, कपड़ा, मकान जैसी शारीरिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की शक्ति तथा व्यक्तित्व का विकास करने, अपने व्यक्तित्व की व्यक्तिगत पहचान बनाने एवं विकास के प्रभावशाली ठोस अवसर'। इसी तरह पैट्रोस्यान लिखते हैं, 'मार्क्स की स्वतंत्रता की धारणा का अर्थ है कि व्यक्ति के स्वतंत्र चहुँमुखी विकास के लिए परिस्थितियाँ जुटाना तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास'।

नोट

मानव मुक्ति की राह में आने वाली बाधाओं को समाप्त करने का काम एक सामूहिक प्रयत्न है। अत: स्वतंत्रता की धारणा इस दृष्टिकोण से सामूहिक है। यह प्रकृति तथा उत्पादन की सामाजिक परिस्थितियों पर समाज द्वारा संगठित और निर्देशित मानवीय नियंत्रण है। मार्क्स के अनुसार, व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न समाज की स्वतंत्रता के साथ द्वन्द्वात्मक तरीके से जुड़ा हुआ है। सच्ची व्यक्तिगत स्वतंत्रता समाज की स्वतंत्रता के साथ जुड़ी है। यह सामाजिक स्वतंत्रता निजी संपत्ति पर आधारित पूंजीवादी उत्पादन के ढाँचे को नष्ट करके तथा एक ऐसे स्वतंत्र सामाजिक समुदाय की स्थापना करके प्राप्त हो सकती है जो लोगों के स्वतंत्र विकास को अपने नियंत्रण में ले ले। केवल तभी प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक समुदाय में अपनी रचनात्मक शक्तियों को विकसित करने का अवसर मिलेगा।

स्वतंत्रता की बुर्जुआ धारणा की आलोचना (Criticism of Bourgeois Concept of Freedom)

अपनी प्रारंभिक रचनाओं में मार्क्स ने उदारवाद द्वार प्रचलित स्वतंत्रता की भ्रमपूर्ण व्याख्या की आलोचना की। उदारवाद स्वतंत्रता को एक मानवीय अधिकार के रूप में देखता है। मार्क्स का विचार था कि बुर्जुआ क्रांति ने व्यक्ति को राजनीतिक मुक्ति दिलाई है परन्तु राजनीतिक मुक्ति का अर्थ संपूर्ण मानव मुक्ति नहीं होता। उदारवाद ने राजनीतिक मुक्ति को मानव मुक्ति समझने की भूल की है। इसी तरह समानता केवल क़ानूनी स्तर पर प्राप्त हुई है, वास्तविक समानता (आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि) अभी कोसों दूर हैं। जनसाधारण और श्रमिक वर्ग संपत्ति के अभाव में पूंजीवादी वर्ग पर निर्भर रहता है जो उत्पादन के साधनों का स्वामी है। अत: वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष पर आधारित समाज में निम्न वर्ग के लिए स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। मुक्त अर्थव्यवस्था पर आधारित समाज में 'व्यक्ति बनाम व्यक्ति' के संबंध मुख्यत: पैसे और विनिमय के संबंध होते हैं। वे राजनीतिक स्तर पर क़ानून द्वारा और आर्थिक स्तर पर विनिमय मूल्य द्वारा शासित होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति कभी भी स्वतंत्र नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, वह धर्म से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता; केवल धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है। वह संपत्ति से मुक्त नहीं हो सकता; केवल सम्पत्ति की स्वतंत्रता प्राप्त करता है। वह श्रम से मुक्ति नहीं पा सकता, वह केवल खुले बाज़ार में श्रमिक प्राप्त कर सकता है। राज्य में मुक्त होने के बजाय वह राज्य के अंदर राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है। हालांकि बुर्जुआ राज्य धर्म, संपत्ति, श्रम आदि की स्वतंत्रता का अधिकार देता है परन्तु श्रमिक वर्ग के लिए ये काफी नहीं है। **मार्क्सवादी की स्वतंत्रता की धारणा अत्यधिक व्यापक और गहन है, इस दृष्टिकोण से कि यह सभी प्रकार की 'आवश्यकताओं, उत्पीड़न, शोषण, अलगाव और प्रभुत्व से मुक्ति' का नाम है।** नकारात्मक दृष्टिकोण से इसका अर्थ है मुक्त बाज़ार व्यवस्था से मुक्ति, अर्थात् व्यक्ति पर अमानवीय बाह्य शक्तियों के प्रभुत्व का अभाव, भौतिक निर्भरता का अभाव, श्रम के सामाजिक विभाजन का अभाव, एक वर्ग के यंत्र के रूप में राज्य का अभाव, धर्म (एक झूठी चेतना के अर्थ में) से स्वतंत्रता का अर्थ है 'व्यक्ति का किसी चीज से नहीं' बल्कि 'किसी चीज के लिए' स्वतंत्र होना। इसका अर्थ है व्यक्ति का चहुँमुखी विकास। व्यक्ति स्वभाव से अपने जीवन की परिस्थितियों का रचियता है। व्यक्ति की क्षमताओं की कोई सीमा नहीं है। यद्यपि वह कर्ता के रूप में पैदा नहीं होता, तथापि मानव-मुक्ति की लंबी प्रक्रिया में वह कर्ता बन सकता है। इस मानव मुक्ति का अर्थ है मानवीय विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं का दमन करने वाली प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी। मार्क्स के अनुसार व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है तथा परिस्थितियों में परिवर्तन करके वह स्वयं में भी परिवर्तन कर सकता है।

संक्षेप में, मार्क्स ने स्वतंत्रता की धारणा को मानवीय स्वतंत्रता के साथ जोड़ा तथा स्वतंत्रता के एक ऐसे क्रांतिकारी सिद्धांत की स्थापना की जो समाज में भौतिक साधनों के स्वामित्व में परिवर्तन करके एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज में ही प्राप्त हो सकती है।

स्वतंत्रता-अलगाव का अंत (Freedom: End of Alienation)

उत्पादन के साधनों तथा संपत्ति के निजी स्वामित्व पर आधारित पूंजीवादी समाज के अमानवीय प्रभाव मार्क्स ने अपने अलगाव के सिद्धांत (Theory of Alienation) में स्पष्ट किये। साधारण भाषा में अलगाव का अर्थ है 'अपनी

नोट

व्यक्तिगत पहचान अथवा व्यक्तिगत पहचान की भावना खोना'। जैसा मार्क्स ने लिखा, उत्पादन के साधनों में निजी स्वामित्व व्यक्ति को अपने श्रम और उस श्रम के उत्पादन से अलग कर देता है। अन्य वस्तुओं की तरह श्रम भी एक खरीदने-बेचने वाली वस्तु बन जाता है। परिणामस्वरूप इस श्रम का धारक श्रमिक भी एक वस्तु मात्र बन जाता है जिसे अपना श्रम बाज़ार भाव के अनुसार बेचना पड़ता है। श्रम द्वारा किए गये उत्पादन पर भी उसका नहीं बल्कि मालिक का मालिकाना होता है। श्रम, जो कि मानवजाति की रचनात्मक शक्ति है, व्यक्ति की शरीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मात्र बनकर रह जाता है। मानव जीवन का स्वाभाविक तत्व (जो उसके जीवन का सार है) व्यक्ति के अस्तित्व का यंत्र मात्र बन जाता है। यह पराया श्रम व्यक्ति को अन्य भाई-बंधुओं से भी अलग कर देता है; प्रतिस्पर्धात्मक समाज में सभी लोग एक-दूसरे से बेगाने हो जाते हैं। इस अवस्था में, सामाजिक स्तर पर सामुदायिक जीवन और मेल-जोल असंभव हो जाता है। जीवन परस्पर विरोधाभासी अहंकारों का रूप ले लेता है। निजी-संपत्ति, जो इस अलगाव का परिणाम है, समाज में विभाजन का मुख्य स्रोत बन जाती है। इसका प्रभाव संपत्तिशाली और संपत्तिहीन दोनों पर पड़ता है। जहाँ श्रमिक का जीवन केवल पाश्विक आवश्यकताओं तक सीमित हो जाता है, वहाँ पूंजीपति समाज में धनशक्ति और धन-संचय का प्रतीक बन जाता है और उसके मानवीय मूल्य भी इसी के अनुसार बदल जाते हैं। ऐसी अवस्था में, जहाँ बहुसंख्यक श्रमिक दास-अवस्था, दमन और उत्पीड़न का जीवन जी रहे हों, उनके लिए स्वतंत्रता का क्या अर्थ हो सकता है। एक परीकीय व्यक्ति वास्तव में दास-स्तर से ऊपर नहीं होता। वह स्वतंत्र रूप से किसी शारीरिक अथवा आध्यात्मिक शक्ति का विकास नहीं कर पाता, बल्कि अपने शरीर का नाश और आत्मा का सर्वनाश कर लेता है।

सच्ची स्वतंत्रता व्यक्ति के जीवन से अलगाव को समाप्त करके सार और अस्तित्व (essence and existence) का मेल करवाना है। इसके लिए उत्पादन के स्तर पर निजी संपत्ति का अस्तित्व तथा इससे उत्पन्न वर्ग विभाजन को समाप्त किया जाना आवश्यक है। यह उद्देश्य केवल पूंजीवादी समाज को क्रांतिकारी तरीकों से समाजवादी/साम्यवादी समाज द्वारा प्रतिस्थापित करके ही प्राप्त हो सकता है।

स्वतंत्रता-शोषण की समाप्ति (Freedom: End of Exploitation)

उदारवाद की तरह मार्क्सवाद का भी विश्वास है कि स्वतंत्रता बंधनों का अभाव है। परन्तु ये बंधन कैसे और कौन से हैं—यहाँ मार्क्सवाद और उदारवाद में मौलिक अंतर है। मार्क्सवाद के अनुसार, कानून और राज्य के बंधनों के अतिरिक्त कुछ और बंधन भी होते हैं जैसे काम की लंबी अवधि, कठिन और नीरस कार्य, स्वस्थ भोजन तथा रहन-सहन की परिस्थितियों का अभाव, शिक्षा तथा अच्छे स्वास्थ्य की कमी, बेकारी आदि जिनके कारण व्यक्ति चाहते हुए भी स्वतंत्र नहीं हो सकता। उदारवाद का विचार था कि यदि एक बार शासकों की शक्ति पर नियंत्रण लग जाएगा तो बाकी स्वतंत्रताएँ अपने-आप प्राप्त हो जाएगी। परन्तु मार्क्स का विचार था कि राजनीतिक मुक्ति के बाद भी श्रमिक वर्ग को आर्थिक दासता भुगतनी पड़ रही है। अत: केवल उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करके ही व्यक्ति को वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है—ऐसी सच्ची स्वतंत्रता जब व्यक्ति का शोषण समाप्त हो सकेगा।

सच्ची स्वतंत्रता का अर्थ है व्यक्ति के बजाय संपूर्ण समाज को उत्पादन के साधनों का मालिक बनाना ताकि सामाजिक स्रोतों का एक सामाजिक योजना के अनुसार प्रयोग किया जा सके तथा व्यक्ति की दासता और शोषण समाप्त किया जा सके। इसका अर्थ होगा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक और मानसिक योग्यताओं के चहुमुँखी विकास का अवसर देना। सच्ची स्वतंत्रता तब शुरू होगी जब श्रम समाज की रोजी-रोटी की समस्याओं पर निर्भर रहने की आवश्यकता से ऊपर उठ जायेगा।

संक्षेप में, स्वतंत्रता का अर्थ है उत्पादन के साधनों का सामाजिक मालिकाना तथा योजनाबद्ध उत्पादन, श्रम विभाजन के विकृत प्रभावों की समाप्ति तथा व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण का अंत। दूसरे शब्दों में, केवल समाजवाद की स्थापना ही सच्ची स्वतंत्रता की शुरुआत है। इसके लिए राजनीतिक शासकों पर प्रजातांत्रिक नियंत्रण ही काफी नहीं है बल्कि सामाजिक-आर्थिक संबंधों में भी आमूल परिवर्तन आवश्यक है।

नोट

स्वतंत्रता-विवशताओं का अंत (Freedom: End of Necessities)

मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार, व्यक्ति असली स्वतंत्रता तब प्राप्त करता है जब वह भौतिक परिस्थितियों को अपने उद्देश्यों के लिए नियंत्रित और उपयोग करने में सक्षम हो जाए। अत: स्वतंत्रता की उपलब्धि हमारे भौतिक अस्तित्व की आवश्यकताओं एवं विवशताओं को समझना और उन पर विजय पाना है। एंगेल्स के अनुसार, 'स्वतंत्रता विवशता पर विजय है।' स्वतंत्रता का अर्थ प्रकृति के क़ानूनों की कल्पना करना नहीं है बल्कि इनके बारे में संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करके इन्हें मानवीय हितों के अनुरूप ढालना है। प्रकृति एवं समाज दोनों में वस्तुपरक परिस्थितियों के रूप में विवशता हमेशा विद्यमान रहती है जैसे गुरुत्वाकर्षण का क़ानून, उत्पादन प्रणाली के कानून, निजी संपत्ति के कानून, भूख-प्यास के क़ानून आदि। जितनी देर तक हम प्रकृति के क़ानूनों को नहीं समझते, हम उस अंधी विवशता के दास बने रहते हैं; और यदि हम इन्हें समझ लें तो इनके मालिक बन जाते हैं। अत: स्वतंत्रता इन वस्तुपरक विवशताओं का ज्ञान है ताकि हम उन्हें जीतकर अपनी इच्छानुसार मोड़ सकें। सभ्यता के आरंभ में, व्यक्ति प्रकृति के रहस्यों को समझने में असमर्थ था अत: वह इस अनजान प्रकृति का दास था। जैसे-जैसे वह इन क़ानूनों/रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करता गया वैसे-वैसे वह और अधिक स्वतंत्र एवं सचेत होता गया। प्रकृति की तरह व्यक्ति की स्वतंत्रता में अन्य महत्त्वपूर्ण बाधाएँ सामाजिक शक्तियाँ हैं जो उसे एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में नियंत्रित करती हैं। एक वर्ग विभाजित समाज में लोग आपस में बँटे रहते हैं जिसके कारण निम्न वर्ग अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। इस संदर्भ में स्वतंत्रता का अर्थ पूंजीवादी उत्पादन के ढाँचे, वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष को समझना तथा क्रांति द्वारा वर्ग-संघर्ष का नाश करके और समाजवादी समाज की स्थापना करके लोगों की स्वतंत्रता बहाल करना। 'तभी विवशता के क्षेत्र से कूदकर स्वतंत्रता के क्षेत्र में कदम रखा जा सकेगा।' अत: स्वतंत्रता वहाँ शुरू होती है जहाँ विवशता खत्म होती है।

स्वतंत्रता–एक सामूहिक प्रयास (Freedom: A Collective Enterprise)

मार्क्सवाद स्वतंत्रता को एक सामूहिक धारणा के रूप में देखता है। अर्थात् व्यक्ति को स्वतंत्र करने के लिए समाज (वर्गों, जातियों, राष्ट्रीयताओं आदि) की स्वतंत्रता जरूरी है। विलोमत: समाज की स्वतंत्रता व्यक्ति की स्वतंत्रता के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। व्यक्तिगत और सामाजिक स्वतंत्रता का द्वन्द्वात्मक संबंध है। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता के अधिकार का आधार व्यक्ति से व्यक्ति का संबंध है न कि व्यक्ति का व्यक्ति से पृथक्करण, एक ऐसे सामाजिक समुदाय का अधिकार जहाँ व्यक्ति स्वयं को समुदाय का सदस्य समझे न कि एक नागरिक समाज में ऐसे जीवन का अधिकार जहाँ मनुष्य अपने को एक निजी व्यक्ति समझे। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और मानवीय सार वास्तव में समुदाय की भावना है। केवल समुदाय में और समुदाय के माध्यम से ही व्यक्ति सामाजिक बनता है। साम्यवादी समुदाय की चर्चा करते हुए मार्क्स लिखते हैं कि यह एक ऐसा समुदाय होगा जो सामान्य भावनाओं, हितों, विचारों और मूल्यों पर आधारित होगा, ऐसा समुदाय जहाँ वर्ग समाप्त हो चुके होंगे, जहाँ शक्ति का सत्ता में परिवर्तन हो चुका होगा, जो परस्पर सहायता, स्वशासन एवं आत्म-प्रबंध पर आधारित होगा। इससे पहले कि लोग स्वतंत्रता के इस लोक में जाएँ उन्हें निजी संपत्ति से विमुक्त होना होगा। इसके लिए क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। मार्क्स के अनुसार यह क्रांति दो कारणों से आवश्यक है: (*i*) शासकवर्ग को बिना क्रांति के अपदस्थ नहीं किया जा सकता तथा (*ii*) क्रांति करने वाली वर्ग इसके बिना पुरानी व्यवस्था से छुटकारा पाकर एक नये समाज का भाग नहीं बन सकता। अत: सच्ची स्वतंत्रता का आनंद उठाने से पहले व्यक्ति को स्वयं को बदलना होगा तथा क्रांति के माध्यम से स्वयं को नये समाज के अनुरूप पुन: शिक्षित करना होगा।

संक्षेप में, स्वतंत्रता की यह धारणा मार्क्सवादी मानवतावाद का अभिन्न अंग है। उदारवाद की तुलना में इसका अर्थ अधिक व्यापक है। यह स्वतंत्रता को स्वतंत्र समाज (जिसे वह साम्यवादी समाज कहते हैं) के संदर्भ में देखता है।

नोट

यह स्वतंत्रता को बंधनों के अभाव तक सीमित नहीं रखता परन्तु इसे अलगाव, शोषण, प्रभुत्व तथा विवशताओं का अभाव भी मानता है। सर्वसाधारण के लिए यह स्वतंत्रता केवल साम्यवादी समाज में ही संभव है। स्वतंत्रता की जिस व्यापक धारणा और व्यक्ति के चहुँमुखी विकास की बात मार्क्सवाद करता है इसमें स्वार्थी व्यक्ति की नकारात्मक स्वतंत्रता तथा बुर्जुआ प्रजातंत्र की क़ानूनी स्वतंत्रता दोनों अर्थहीन लगती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य/असत्य बताइए (State whether the following Statements are True/ False)–

6. उदारवाद के परंपरागत अर्थ के अनुसार स्वतंत्रता बंधनों का अभाव है।
7. अलगाव का अर्थ है अपनी व्यक्तिगत पहचान की भावना को बनाना।
8. सच्ची स्वतंत्रता व्यक्ति के जीवन से अलगाव को समाप्त करके सार और अस्तित्व का मेल करवाना है।

8.4. अभिव्यक्ति एवं आस्था की स्वतंत्रता (Freedom of Expression and Belief)

आइये अब हम स्वतंत्रता से जुड़े एक महत्त्वपूर्ण विषय पर बात करें जिसे हम अभिव्यक्ति तथा आस्था की स्वतंत्रता कहते हैं।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (Freedom of Expression)

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार के बिना आज किसी भी प्रजातांत्रिक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। किसी भी समाज तथा इसमें रहने वाले व्यक्तियों की उन्नति विचारों एवं सूचनाओं के आदान-प्रदान की सम्भावनाओं पर निर्भर करती है। यह स्वतंत्रता केवल ऐसी अभिव्यक्तियों के ऊपर ही लागू नहीं होती, जिन्हें अनुकूल अथवा आपत्तिहीन माना जाता है बल्कि ऐसे विचारों की स्वतंत्रता पर भी लागू नहीं होती, जिन्हें अनुकूल अथवा आपत्तिहीन माना जाता है बल्कि ऐसे विचारों की स्वतंत्रता पर भी लागू होती है जो राज्य अथवा समाज के किसी समुदाय को नाराज, उत्तेजित अथवा विक्षुब्ध कर सकते हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी भी प्रजातांत्रिक समाज की आधारशिला है। यह समाज सभी लोगों द्वारा उपयोग किया जाने वाला मूल मानव अधिकार है, इस बात की परवाह किए बिना कि उसकी सांस्कृतिक, धार्मिक, प्रजातीय, राजनीतिक स्वरूप अथवा पृष्ठभूमि क्या है। वाक् तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अभिप्राय है बिना किन्हीं सीमाओं, प्रतिबंधों अथवा सेंसरशिप के विचारों की अभिव्यक्ति करने, बोलने, लिखने या प्रसारित करने की स्वतंत्रता; अर्थात् इसका अभिप्राय केवल मौखिक वाक् से ही नहीं है बल्कि किसी भी प्रकार के माध्यम से सूचनाएँ, विचार, दृष्टिकोण प्राप्त करने अथवा देने का अधिकार है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा वाक् स्वतंत्रता दोनों आपस में जुड़े हुए होने के बावजूद विचार एवं अन्त:करण की स्वतंत्रता से भिन्न है। जे.एस. मिल के तर्क पर आधारित वाक् तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को आज एक बहुआयामी अधिकार माना जाता है जिसमें केवल अभिव्यक्ति तथा प्रसार का अधिकार अथवा सूचनाएँ अथवा विचारों का ही नहीं बल्कि इसके तीन और आयाम हैं: (*i*) सूचनाएँ तथा विचार प्राप्त करने का अधिकार, (*ii*) सूचनाएँ तथा विचार तलाश करने का अधिकार (*iii*) सूचनाएँ तथा विचार प्रदान करने का अधिकार। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय मानक भी वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को मान्यता देते हैं जिसमें मौखिक, लिखित, मुद्रित, इन्टरनेट अथवा कलात्मक आदि सभी स्वरूप शामिल है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, बहुलवाद, मीडिया की स्वतंत्रता, सामुदायिक समाचारपत्रों का विकास, रेडियो स्टेशन, टी.वी. आदि समाज में सामाजिक बंधनों को पुन:स्थापित करने तथा सामाजिक मेलजोल की प्रक्रिया के लिए

नोट

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आधुनिक प्रजातांत्रिक समाजों का एक अभिन्न अंग मानी जाती है जहाँ यह सेंसरशिप का विरोध करती है। ऐसा भी तर्क दिया जाता है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी भी प्रजातंत्र के लिए अति आवश्यक है क्योंकि चुनाव के समय वोटरों द्वारा उम्मीदवारों के बारे में उन्मुक्त चर्चा के आधार पर निर्णय लेना वांछनीय है। केवल अपनी वाक्शक्ति के आधार पर ही लोग सरकार को प्रभावित कर सकते हैं। इसी तरह सरकारी पदाधिकारियों को भी उनकी आलोचना करके उन्हें उत्तरदायी ठहराया जा सकता है और आवश्यकता पड़े तो उन्हें बदला जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि यदि नागरिक अपने असंतोष की अभिव्यक्ति करना छोड़ दे, इस डर से कि सरकार उनसे बदला लेगी, तो सरकार जनता के प्रति जिम्मेवार नहीं रहती। अत: कई बार ऐसा भी कहा जाता है कि यही मुख्य कारण है कि सरकारें वाक् की स्वतंत्रता पर क्यों प्रतिबंध लगाती है ताकि उत्तरदायित्व से बचा जा सके।

वाक् तथा अभिव्यक्ति के अधिकार को अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय मानव अधिकार कानून के अन्तर्गत भी मान्यता मिली हुई है। इस अधिकार को नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (International Convention on Civil and Political Rights) के अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत मानव अधिकारों की यूरोपीय अभिसमय (European Convention on Human Right) के अनुच्छेद 10, मानव अधिकारों की अमरीकी अभिसमय (American Convention of Human Rights) के अनुच्छेद 13 तथा मानवीय तथा जन अधिकारों के अफ्रीकी चार्टर (African Charter of Human and Peoples' Right) के अनुच्छेद 9 में निहित किया गया है। इसी तरह (Summit of Information Society) ने भी अपने सिद्धांत घोषणापत्र (Declaration of Principles) में विचाराभिव्यक्ति के अधिकार पर विशेष बल दिया है। इसके अनुसार, 'हम इस बात को पुन: दोहराते हैं कि विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। इस अधिकार का अर्थ है बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपने विचारों के प्रति विश्वास, किसी भी माध्यम से तथा बिना किन्हीं राष्ट्रीय सीमाओं के सूचना एवं विचार तलाशने, प्राप्त करने या प्रदान करने का अधिकार। सम्प्रेक्षण एक मूल सामाजिक प्रक्रिया है, एक मानवीय आवश्यकता तथा सभी सामाजिक संगठनों की आधारशिला। यह एक सूचना समाज (Information Society) के लिए केन्द्रीभूत है। प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति को भागीदारी का अवसर मिलना चाहिए तथा सूचना समाज द्वारा दिए जाने वाले लाभों से किसी को भी वंचित नहीं किया जाना चाहिए।'

विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का विकास
(Development of the Right to Freedom of Expression)

वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का काफी लम्बा इतिहास है तथा यह आधुनिक उदारवादी प्रजातांत्रिक विचारधारा का एक अभिन्न अंग रहा है। विचाराभिव्यक्ति के अधिकार के प्रारम्भिक लेखकों में इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि तथा राजनीतिक लेखक जॉन मिल्टन का नाम उल्लेखनीय है। उसने अपनी पुस्तक एरोपागीतिका (Aeropagitica) (1644) में वाक् की स्वतंत्रता के पक्ष में कई तर्क दिए। उसने लिखा कि किसी भी राज्य की एकता व्यक्तिगत मतभेदों को एक सूत्र में बांधकर लाई जाती है न कि समरूपता को ऊपर से थोपकर; कि किसी भी विषय पर उससे सम्बन्धित अधिकतम भिन्न विचारों की जाँच पड़ताल करने की योग्यता किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्ति के लिए अनिवार्य है; कि जब तक हम सभी दृष्टिकोणों की जाँच न कर ले उतनी देर तक सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता; कि स्वतंत्र विचार अथवा चिन्तन का ध्यान रखते हुए सेंसरशिप जैसे कार्य भौतिक उन्नति में भी बाधक है। मिल्टन का मानना था कि यदि सभी तथ्यों को खोलकर रख दिया जाए तो इस मुक्त प्रतिस्पर्धा में सत्य असत्य को हरा देगा। मिल्टन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना सत्य स्वयं उघारने का अधिकार है, कोई भी व्यक्ति इतना समझदार नहीं हैं कि वह दूसरों के लिए सेंसर का काम कर सके।

नोट

मिल्टन के अतिरिक्त, जे. एस. मिल ने अपनी पुस्तक *On Liberty* में विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार की जोरदार वकालत की। वह लिखता है किसी भी विचार को अभिव्यक्त करने या उस पर चर्चा करने की एक नैतिक धारणा के रूप में अधिकतम स्वतंत्रता होनी चाहिए चाहे उस विचार को कितना ही अनैतिक क्यों न माना जाये। मिल का तर्क था कि अभिव्यक्ति की अधिकतम स्वतंत्रता इसलिए आवश्यक है ताकि किसी भी तर्क को सामाजिक लज्जा की सीमाओं से निकालकर उसकी तार्किक सीमाओं तक पहुँचाया जा सके। मिल का विचार था कि जब तक विचार तथा भावनाओं-वैज्ञानिक, नैतिक, धार्मिक–की सम्पूर्ण स्वतंत्रता को गारंटी नहीं दी जाती, तब तक कोई भी समाज पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं होगा। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, मिल का प्रसिद्ध वाक्य था; "यदि सारे मानव समाज के विचार एक है और वह व्यक्ति का विचार उससे भिन्न है तो सारी मानव जाति को भी यह अधिकार नहीं है कि वह उस एक व्यक्ति के विचार को दबा दे और न ही उस व्यक्ति को अधिकार है कि यदि उसके पास शक्ति है तो वह सारी मानवजाति को दबा दे।" किसी भी प्रकार के नये गैर-परंपरागत विचार को दबाना केवल गलत ही नहीं बल्कि हानिकारक भी है। यह मानवजाति द्वारा एक नया विचार के साथ रूबरु होने का अवसर खो दती है, जो हो सकता है सत्य अथवा बेहतर हो (या अर्ध सत्य भी हो सकता है)। सभी प्रकार की चर्चाओं को दबाने का अर्थ है भ्रमातीतत्व (Infallibility) सिद्धान्त में विश्वास।

मिल ने विचार तथा वाक् की स्वतंत्रता के सिद्धान्त को तीन आधारों पर न्यायोचित ठहराया; (*i*) दबाया जाने वाला विचार सही हो सकता है (*ii*) यदि दबाया गया विचार गलत है तो भी वह आंशिक रूप से सही होगा क्योंकि किसी भी सामाजिक विषय पर जनमत कभी भी एकमत नहीं होता, केवल विरोधी विचारों के टकराव से ही सच पैदा होने की सम्भावना होती है तथा (*iii*) यदि प्रचलित विचार सही भी है तो भी यदि इसे विरोधी विचार की चुनौती नहीं दी जायेगी तो वह धीरे-धीरे एक रूढ़ि का रूप ले लेगा। इसके साथ-साथ विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संदर्भ में मिलने 'हानि सिद्धान्त' (harm principle) की भी रचना की जिसमें इस अधिकार के ऊपर कुछ सीमाएँ लगाई जा सकती हैं। केवल एक ही उद्देश्य जिसके लिए नागरिक समुदाय के किसी सदस्य पर, उसकी मर्जी के विरुद्ध, शक्ति का वैध प्रयोग किया जा सकता है, वह है दूसरों को हानि पहुँचाने से रोकना।

विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार पर सीमाएँ तथा सेंसरशिप का मुद्दा (Limitations on the Right to Freedom of Expression and the issue of censorship)

व्यावहारिक स्तर पर विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार किसी भी देश में निरंकुश नहीं है और सामान्यत: इस पर कई सीमाएँ लगाई जाती हैं जैसे 'घृणित भाषण' (hate speech)। ऐसा इसलिए है क्योंकि वाक् की स्वतंत्रता का प्रयोग हमेशा प्रतिस्पर्धी मूल्यों के संदर्भ में होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार, विचाराभिव्यक्ति के अधिकार पर सीमाएँ वैध तथा आवश्यक कानूनी आधारों के अनुरूप होनी चाहिए। संक्षेप में, इन सीमाओं को तीन प्रकार के परीक्षणों से गुजरना आवश्यक है: (*i*) ये सीमाएँ कानून द्वारा निर्धारित होनी चाहिए, (*ii*) ये ऐसे उद्देश्य से प्रेरित हो जो वैध हो तथा (*iii*) ये उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक हो जिन उद्देश्यों को वैध माना जाता है उनमें प्रमुख हैं: दूसरों के अधिकारों की सुरक्षा (मानहानि को रोकना), राष्ट्रीय सुरक्षा तथा सार्वजनिक व्यवस्था, स्वास्थ्य एवं नैतिकता की सुरक्षा।

विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के कई सिद्धान्त हैं। इसका एक दृष्टिकोण यह है कि लोग अपने विचारों को अभिव्यक्त करने से हिचकिचाते हैं, इसलिए नहीं कि सरकार उनसे बदला लेने की कोशिश करेगी बल्कि इसलिए कि उन पर कई सामाजिक दबाव होते हैं। जब कोई व्यक्ति अपने कोई अलोकप्रिय अथवा नये विचार रखता है तो उसे समाज की घृणा या निन्दा का सामना करना पड़ता है या उसके विरुद्ध कोई हिंसात्मक प्रतिक्रिया भी हो सकती है। हालांकि इस प्रकार के दमन को रोक पाना थोड़ा कठिन है, परन्तु यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि वाक् की स्वतंत्रता के अधिकार के अन्तर्गत आता है, जिसे मुख्यत: नागरिक स्वतंत्रता या सरकार की कार्यवाही से स्वतंत्र माना जाता है।

नोट

सेंसरशिप का मुद्दा (The Issue of censorship)

विचाराभिव्यक्ति के अधिकार को अधिकार प्रजातांत्रिक राज्यों का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। तथापि इस पर अनेक सीमाएँ लगाई जा सकती हैं जैसे सेंसरशिप, गिरफ़्तारी, किताबों का जलाना, प्रोपगैन्डा आदि और ऐसे सभी कार्य विचार की स्वतंत्रता को निरोत्साहित करते हैं। विचाराभिव्यक्ति पर सीमा लगाने का सबसे लोकप्रिय तरीका सेंसरशिप है। सेंसरशिप से अभिप्राय एक ऐसी नीति से होता है जो विचारों, मतों, धारणाओं अथवा संवेदनाओं की सार्वजनिक अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाती है–इस आधार पर कि ये शासन, सत्ता अथवा समाज की नैतिक व्यवस्था को नुकसान पहुँचा सकते हैं जिन्हें सरकार सुरक्षित एवं संरक्षित कर रही है। विचारों पर ये प्रतिबन्ध अभिव्यक्ति से पहले अथवा अभिव्यक्ति के बाद, दोनों परिस्थितियों में लगाये जा सकते हैं। सेंसरशिप इस नियम पर आधारित है कि 'विचार अकसर भड़काने का कार्य करते हैं', अत: ये सामाजिक चिन्ता का विषय होते हैं और होने चाहिए। विचारों का उन्मुक्त आदान-प्रदान 20वीं शताब्दी की देन है और अभी भी इसे सर्वत्र मान्यता प्राप्त नहीं है। तथापि सौभाग्य से, सेंसरशिप का इतिहास वास्तव में स्वतंत्रता तथा सहनशीलता के लिए संघर्ष का इतिहास भी है क्योंकि इसके बिना विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक विचारों का विकास सम्भव नहीं था और मानवजाति बौद्धिक विकास से वंचित रह जाती। वास्तव में स्वतंत्रता का इतिहास दमन, प्रतिबन्ध, अनभिज्ञता तथा अन्धविश्वास के विरुद्ध एवं परिवर्तनोन्मुखी संघर्ष भी रहा है। सेंसरशिप का प्रचलन केवल तानाशाही राज्यों की विशेषता नहीं है, यह प्रजातांत्रिक सरकारों का भी अभिन्न अंग है, हालांकि यहाँ सेंसरशिप की विषयवस्तु तथा सीमाओं में अपेक्षाकृत काफी उदारता बरती जाती है। सेंसरशिप सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाओं द्वारा लागू की जाती है। व्यापक स्तर पर इसे राज्य के साथ जोड़ा जाता है परंतु समाज में विभिन्न धार्मिक, जातीय अथवा वर्गीय समूहों द्वारा इसका प्रयोग भी आम बात है।

सेंसरशिप को मुख्यत: चार प्रकार के समूहों में बांटा जा सकता है: (*i*) राजनीतिक सेंसरशिप, (*ii*) धार्मिक सेंसरशिप, (*iii*) अश्लीलता (नैतिक) के विरुद्ध सेंसरशिप तथा (*iv*) बौद्धिक स्वतंत्रता के विरुद्ध सेंसरशिप। सेंसरशिप के किसी आदेश में धार्मिक, नैतिक अथवा राजनीतिक सभी तत्त्व हो सकते हैं। सेंसरशिप का समर्थन अथवा विरोध करने वाले व्यक्ति अथवा समूह क्लासिकी परम्परा में स्थापित दो विभिन्न दृष्टिकोणों का हवाला देते हैं। सेंसरशिप का समर्थन करने वाले समूह प्लेटो, ऑगस्टाईन तथा मैक्यावली के विचारों पर निर्भर करते हैं जिनका मूलमन्त्र था कि 'जो समाज में बुराई को पहचानने की शक्ति रखते हैं, उनके पास इस बुराई को दूर करने और इसे फैलने से रोकने की शक्ति भी होनी चाहिए' इसके विपरीत जो सेंसरशिप का विरोध करते हैं वे अरस्तू तथा जॉन ड्यूई के विचारों का हवाला देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति तभी स्वतंत्र है यदि उसे समाज में अपने चयन खुद करने की शक्ति हो, अर्थात् उस पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जाये।

क्या सेंसरशिप उचित है? (Is Censorship Justified?)

सेंसरशिप का सम्बन्ध विचारों से है जो लिखित अथवा उच्चारित रूप में प्रकट होते हैं तथा जिन पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इसका अर्थ है कि कुछ विशिष्ट विचार वैध नहीं हैं, इन्हें प्रकट नहीं किया जाना चाहिए और ये समाज के व्यापक स्वास्थ्य के लिए खतरनाक हैं। सेंसरशिप का सम्बन्ध समाज में खतरनाक विचारों को फैलने से रोकना तथा उन पर नियंत्रण लगाना होता है। इन विचारों पर नियंत्रण राज्य अथवा समाज में सत्ताधारी समूहों द्वारा लगाया जाता है। सेंसरशिप के संदर्भ में सबसे सफल धार्मिक समुदाय, निरंकुश राजा, तानाशाह अथवा प्रजातांत्रिक सत्तायें रही हैं। ये प्रशासनिक सत्तायें राजनीतिक, आर्थिक तथा वैचारिक शक्ति का प्रयोग करके उन सभी विचारों पर प्रतिबन्ध लगाने की कोशिश करती हैं जो यथास्थिति के लिए खतरनाक माने जाते हैं। सेंसरशिप द्वारा अपनाये जाने वाले तरीके कई हैं जैसे–किताबों अथवा कॉमिक्स के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध, विभिन्न साहित्यकारों अथवा नाटककारों को ब्लैकलिस्ट करना, मीडिया तथा संचार साधनों के माध्यम से उन्हें विचार प्रकट करने से

नोट

रोकना, टी.वी. के कार्यक्रमों तथा चलचित्रों के लिए पूर्व-अनुमति लेना, स्कूल तथा कॉलेजों की पाठ्य-पुस्तकों की जाँच करना आदि। इस संदर्भ में, उदारवादी देशों में अखबार तथा प्रेस की स्थिति थोड़ी अलग होती है, इन पर प्राय: कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता और इन्हें कोई समाचार प्रकाशित करने के लिए पूर्व अनुमति की भी आवश्यकता नहीं होती।

सैद्धान्तिक स्तर पर सेंसरशिप का विचार उदारवादी व्यक्तिवादी विचारधारा तथा स्वतंत्रता के विरुद्ध है परंतु इसके बावजूद सेंसरशिप को तीन आधारों पर उचित ठहराया जाता है:

(*i*) शासक वर्ग की दृष्टि में स्थापित मानदण्डों के अनुसार प्रस्तुत अथवा प्रस्तुत किए जाने वाले विचार झूठे अथवा खतरनाक है और उन्हें दबाने की आवश्यकता है। एक बहुजातीय तथा बहु-सांस्कृतिक समाज में ऐसे विचार समाज के किसी सामाजिक/सांस्कृतिक समुदाय की भावनाओं तथा संवेदनाओं को चोट पहुँचा सकते हैं तथा सामाजिक अव्यवस्था की समस्या पैदा कर सकते हैं। (उदाहरण के लिए भारत में सलमान रशदी की पुस्तक *The Satanic Verses* पर लगाया गया प्रतिबन्ध।)

(*ii*) सेंसरशिप के दूसरे औचित्य का आधार प्लेटो की पुस्तक (*Republic*) में मिलता है। यहाँ यह विचार दिया गया कि जन साधारण जिन पर सेंसरशिप लगाई जाती है, समाज के प्राय: वे लोग होते हैं जिनका दिमाग सच/झूठ तथा सही/ठीक में अन्तर करने में सक्षम नहीं होता जिसके परिणामस्वरूप उसका मन भटक सकता है। हालांकि पश्चिमी उदारवादी प्रजातांत्रिक परम्परा इस विचार को स्वीकार नहीं करती परंतु समाज में अधिकतर सामाजिक/धार्मिक/सांस्कृतिक समुदाय इस पर काफी बल देते हैं। आधुनिक समाज में चलचित्र, कॉमिक्स, मैगज़ीन, पत्र-पत्रिकाओं अथवा पाठ्य पुस्तकों पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्ध इसी श्रेणी में आते हैं। तथापि ऐतिहासिक तथ्य इस बात को भी सिद्ध करते हैं कि जो प्रभावशाली सामाजिक समुदाय आज प्रतिबन्ध लगा रहे हैं वे उतने ही गलत होते हैं जितने कि वे जिनके विचारों पर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा होता है।

(*iii*) ऐसे विचार जो समाज विरोधी गतिविधियों को जन्म देते हैं इन पर कठोर सेंसरशिप की आवश्यकता होती है जैसे–अश्लीलता अथवा अश्लील साहित्य (Pornography)। आज के इन्टरनेट तथा SMS/MMS के युग में यह समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है।

विचाराभिव्यक्ति के अधिकार के संदर्भ में हम न्यायपूर्ति वैन्डल होम्स के वाक्य से सहमत हैं कि "प्रत्येक विचार भड़काने वाला होता है।" इसमें कोई शक नहीं कि समाज में विचारों का उन्मुक्त आदान-प्रदान होना चाहिए परंतु केवल स्वथ्य विचारों का। जब राज्य अथवा सामाजिक समूह सेंसरशिप को लागू करते हैं तो वे विचारों पर नहीं बल्कि उन विचारों से उत्पन्न होने वाले परिणामों को प्रतिबन्धित कर रहे होते हैं। यहाँ पर महत्त्वपूर्ण आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति की उन्मुक्त विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सार्वजनिक व्यवस्था/नैतिकता के बीच सन्तुलन लाने से अधिक नहीं होनी चाहिए। इसका प्रयोग अपवाद के रूप में ही किया जाना चाहिए। विचारों का सामना विचारों से किया जाना चाहिए, प्रतिबन्ध से नहीं।

आस्था की स्वतंत्रता (Freedom of Belief)

आस्था/विचार अत: करण की स्वतंत्रता का अर्थ है किसी भी व्यक्ति द्वारा दूसरे से अलग और स्वायत्त विचार, दृष्टिकोण, विश्वास अथवा व्याख्या करने या रखने का अधिकार। यह अभिव्यक्ति के अधिकार से जुड़ा हुआ परंतु उससे अलग अधिकार है क्योंकि विचार की स्वतंत्रता की सम्पूर्ण धारणा व्यक्ति के किसी भी विचार-जिसे वह सर्वोच्च मानता है–को रखने की स्वतंत्रता पर आधारित है, अत: धर्म की स्वतंत्रता की धारणा इसके साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। आधुनिक उदारवादी राज्य, समाजों तथा सरकारों में इस प्रकार की स्वतंत्रता पर गर्व किया जाता है और आज वस्तुत: इसे मानकर चला जाता है। तथापि विश्व में अभी भी बहुत से ऐसे समाज एवं राज्य हैं जहाँ धर्म अथवा आस्था की स्वतंत्रता के अधिकार का अर्थ है व्यक्ति द्वारा अपनी मर्जी से धर्म चुनने तथा मानने का अधिकार; इसमें किसी धर्म को मानने अर्थात् नस्तिकता का अधिकार भी सम्मिलित है। धार्मिक आस्थाओं के आधार

नोट

पर लोगों पर अत्याचार करने या यातनाएँ देने का इतिहास बड़ा पुराना है और इस प्रथा पर अभी भी पूरी तरह नियंत्रण नहीं पाया जा सका है। धार्मिक स्वतंत्रता का अर्थ है सरकार द्वारा इस बात की गारंटी कि व्यक्ति किसी भी धर्म, सम्प्रदाय अथवा आस्था में विश्वास कर सकता है और व्यक्ति एवं समुदायों को अपने धर्म/आस्था के अनुसार पूजा-अर्चना करने का अधिकार है। इसे किसी भी धर्म को मानने की स्वतंत्रता भी माना जाता है। स्वतंत्रता अधिकतर देशों एवं समुदायों द्वारा एक मौलिक मानवीय अधिकार माना जाता है। एक कानूनी धारणा के रूप में धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार का सम्बन्ध धार्मिक सहिष्णुता, राज्य एवं धर्म का पृथक्करण अथवा एक धर्मनिरपेक्ष राज्य से है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'धार्मिक स्वतंत्रता' (Freedom of religion) शब्द का प्रयोग आस्था की भिन्न धार्मिक व्यवस्थाओं के प्रति परस्पर सहिष्णुता के लिए किया गया है, जबकि पूजा-अर्चना की स्वतंत्रता (Freedom of worship) को व्यक्ति के कार्यकलापों की स्वतंत्रता के साथ जोड़ा गया है। व्यक्तिगत स्तर पर धार्मिक सहिष्णुता का अर्थ प्राय: दूसरे से लोगों को धर्म को स्वीकार करने के दृष्टिकोण से लिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे धर्म के प्रति किसी व्यक्ति के विचार ठीक अथवा सत्य हैं या वह उनसे सहमत है; इसका अर्थ केवल इतना है कि दूसरों को भी अपना धर्म अथवा आस्था रखने का समान अधिकार है।

आस्था का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार क़ानून का भी अभिन्न अंग है। मानव अधिकारों के सर्वव्यापी घोषणापत्र में इसका वर्णन अनुच्छेद 18 में किया है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति विचार, अन्त:करण तथा धर्म का अधिकार रखता है, इस अधिकार में धर्म अथवा आस्था में परिवर्तन करने का अधिकार भी शामिल है। इसमें अकेले अथवा समुदाय के दूसरे सदस्यों के साथ मिलकर सार्वजनिक अथवा निजी स्तर पर अपने धर्म अथवा आस्था की पूजा-अर्चना, शिक्षण, अनुपालन अथवा अभ्यास के माध्यम से अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता भी निहित है। मानव अधिकार समिति (Human Rights Committee) के अनुसार नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय के लागू होने के बाद यह अनुच्छेद सभी देशों पर कानूनी स्तर पर लागू हो गया है। इसके अनुसार विचार, अन्त:करण, धर्म अथवा विश्वास की स्वतंत्रता का यह अधिकार धर्म अथवा आस्था को प्रकट करने से कहीं अधिक व्यापक है। यह विचार अथवा अन्त:करण को स्वतंत्रता या किसी भी धर्म अथवा विश्वास को अपनाने, उसमें परिवर्तन करने आदि के ऊपर किसी भी प्रकार की सीमा को स्वीकार नहीं करता। इन स्वतंत्रताओं की बिना किसी शर्त के सुरक्षा की जानी चाहिए। यह सुरक्षा उन पर भी लागू होती है जो किसी भी धर्म में विश्वास नहीं करते जैसे मानवतावादी, नास्तिक, बुद्धिवादी, विवादप्रिय आदि। इस संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र के एक पूर्व महासचिव ने सभ्यताओं के गठबंधन की बात कही जिसका उद्देश्य संस्थागत एवं नागरिक समाज के स्तर पर परस्पर पूर्वाग्रहों, गलत व्याख्याओं तथा ध्रुवीकरण के विरुद्ध ठोस उपाय करने के लिए अभियान चलाना हो। किसी भी तरह का गम्भीर वार्तालाप तभी आंरभ हो सकता है यदि दूसरे समाजों एवं संस्कृतियों के प्रति वास्तविक सम्मान तथा समझ हो। मानव अधिकारों के प्रति सम्मान, प्रजातंत्र, कानून का शासन तथा उत्तरदायित्त्व जैसी मान्यताएँ मानव जाति की सामूहिक समझ-बूझ, प्रगति एवं चेतना का परिणाम है।

धार्मिक स्वतंत्रता के संदर्भ में सबसे विवादास्पद विषय अपना धर्म परिवर्तन करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त कुछ प्रकार की मिशनरी गतिविधियों पर रोक लगाने के लिए भी कई देशों में चर्चायें चलती हैं। कई इस्लामिक राज्यों तथा चीन जैसे देशों में अन्य धर्मों की मिशनरी गतिविधियों पर बैन लगा हुआ है। इसी तरह यूरोपीय देशों में ग्रीस भी अपनी मैजोरिटी चर्च के अतिरिक्त और किसी धर्म की मिशनरी गतिविधियों की आज्ञा नहीं देता। भारत में भी कई राज्यों में मिशनरी गतिविधियों विशेषत: ज़ोर-ज़बरदस्ती, लालच अथवा चालाकी से धर्म परिवर्तन करने के विरुद्ध क़ानून पर पिछले कई वर्षों से चर्चा चल रही है।

धार्मिक बहुलवाद तथा सामाजिक सम्बद्धता-वैश्वीकृत समाजों में बढ़ता धार्मिक बहुलवाद (Religious Pluralism and Social Integration)

यूरोप, अमरीकी तथा ऐशिया के उपमहाद्वीपों के बहुसांस्कृतिक समाजों में धार्मिक बहुलवाद में बढ़ोतरी ने धार्मिक एवं अन्य मान्यताओं में इतनी विविधता ला दी है कि इनसे सामाजिक सम्बद्धता की समस्या पैदा हो गई है। जहाँ

नोट

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् एक सामाजिक शक्ति के रूप में धर्म कमज़ोर पड़ने लगा था, वहाँ 1980 के दशक में, विशेषकर सोवियत यूनियन तथा समाजवादी गुट के पतन के बाद परिस्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है। आज एक बार फिर धर्म राजनीति शक्ति तथा पहचान का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत बनाया जा रहा है। वैश्विक स्तर पर इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं; 1979 की इरान की इस्लामिक क्रांति, 1981 के दशक में अमरीका में क्रिश्चियन दक्षिणपंथियों का उदय तथा 21वीं शताब्दी के आरंभ में वैश्विक स्तर पर इस्लामिक आतंकवाद का उदय। राजनीतिक स्तर पर धर्म के उदय की दार्शनिक अथवा सैद्धान्तिक व्याख्याओं में मतभेद हो सकता है परंतु यह निश्चित है कि समाजवादी/साम्यवादी खेमों के पतन ने पश्चिमी वैश्विक आधिपत्य के विरुद्ध एक समानान्तर विचारधारा का समापन कर दिया और इसके एक विकल्प के रूप में धर्म के राजनीतिकरण को एक अवसर मिल गया। इसके अतिरिक्त वैश्वीकरण ने धर्म तथा संस्कृति के संदर्भ में राष्ट्रीय सीमाओं की पुरानी सुसंगता को अपेक्षाकृत कम कर दिया है। बढ़ते हुये पराराष्ट्रीयवाद से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि राष्ट्रीय शासकों द्वारा अपनी ही भूमि पर धार्मिक गतिविधियों पर नियंत्रित करने के साधन अपेक्षाकृत सीमित हो गये हैं।

बहुसांस्कृतिक समाजों में धर्म तथा अन्य मान्यताओं की बढ़ती विविधता ने कई चुनौतियाँ खड़ी की है। ये परिस्थितियाँ नागरिकों, राज्यों तथा अन्य पात्रों, जिनमें धार्मिक संस्थाएँ तथा मीडिया शामिल है। द्वारा आत्म-विश्लेषण तथा कई नई परिवर्तित परिस्थितियों को अपनाने की माँग करती हैं। सार्वजनिक चर्चा कई तरीकों में से एक है जिसके माध्यम से विषयों की पहचान की जा सकती है, उन्हें चुनौती दी जा सकती है तथा उन पर समझौता किया जा सकता है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे एक व्यापक सामाजिक वास्तविकता के साथ भी जुड़े होते हैं। क्योंकि धार्मिक अस्मिताओं का सामान्य स्तर पर तथा मुस्लिम अस्मिताओं का विशेषत:, अत्यधिक राजनीतिकरण हो गया है, अत: यह स्पष्ट है कि संघटन एवं सामाजिक अन्तर्वेशन के क्षेत्र में धर्म धीरे-धीरे सामाजिक वार्तालाप के सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में से एक बनता जा रहा है। इसका अर्थ है कि धार्मिक गतिविधियाँ व्यापक महत्त्व का मंच बनती जा रही हैं जहाँ सभी प्रकार के मुद्दों, धर्म की भाषा का प्रयोग करते हुये या इसके बिना पर चर्चा हो सकती है। उदारवादी धर्मनिरपेक्ष राज्यों को इन धार्मिक माँगों को वैध ठहराने में काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा हैं यद्यपि ऐसा सम्भव है कि अन्ततोगत्वा यदि इन दावों का धर्मनिरपेक्ष भाषा में अनुवाद किया जाये जो वे बहुत अधिक भिन्न न लगे। प्रजातीय तथा नस्लीय समूहों के दावों को आसानी से स्वीकार कर लिया जाता है। कई मान्यताओं पर आधारित बहुलवादी समाजों में विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कई मुश्किल परिस्थितियाँ पैदा करती है जहाँ परस्पर सहिष्णुता प्राप्त करना काफी कठिन होता है, आदर तथा आपसी समझ तो दूर की बात है।

निष्कर्ष (Conclusion)

स्वतंत्रता का विचार उदारवादी विचारधारा का केन्द्रीभूत विषय है। यह एक विवेकशील व्यक्ति को अपने दर्शन का आधार बनाता है और व्यक्ति एवं उसकी स्वायत्तता तथा समाज एवं राज्य में एक निश्चित सीमा रेखा खीचता है। उदारवादी चिन्तन के अन्तर्गत स्वंतत्रता दो रूपों में उभरी जिसे नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता का नाम दिया जाता है। इसका प्रारम्भ नकारात्मक स्वतंत्रता से हुआ जिसने व्यक्ति की स्वतंत्रता का एक क्षेत्र सुनिश्चित किया। इसे बंधनों के अभाव का नाम दिया गया। इसमें व्यक्ति द्वारा आरोपित बंधनों की बात की गई न कि प्राकृतिक अथवा किसी क्षमता की कमी की। परंतु यह सिद्धान्त इस तथ्य पर विचार करने में असफल रहा कि स्वतंत्रता की आत्म निश्चय की धारणा सामाजिक परिस्थितियों के विश्लेषण की भी माँग करती है। सकारात्मक स्वतंत्रता ने यह अनुभव किया कि स्वतंत्रता के लिए क़ानूनी बाधाओं के अतिरिक्त कुछ बाह्य स्रोतों की उपलब्धता की आवश्यकता पड़ती है। इसने व्यक्ति की क्षमताओं को पूर्ण करने के लिए अवसरों एवं योग्यताओं का हवाला दिया। इसने स्वतंत्रता को समानता तथा समान अधिकार जैसी सुविधाओं के साथ जोड़ा। परंतु नकारात्मक तथा सकारात्मक स्वतंत्रता के द्वैध को मार्क्स तथा मार्क्सवाद ने निरर्थक माना जिन्होंने केवल उदारवाद की स्वतंत्रता की धारणा की आलोचना ही नहीं की बल्कि मानवीय मुक्ति की एक वृहत्तर धारणा भी प्रस्तुत की।

नोट

उत्तर–आधुनिकवाद के आलोचनात्मक सिद्धान्तकारों में इस बात को लेकर बड़ी निराशा रही कि स्वतंत्रता की धारणा अपने वचन को निभाने में असफल रही है। वे स्वतंत्रता के वर्तमान मुक्तिवादी परम्परा की भी निन्दा करते हैं जो वृद्धि नियंत्रण की व्यवस्था रूपी आधुनिक समाज की वास्तविकता को छुपाने का एक नकाब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उत्तर–आधुनिकवादी लेखकों के अनुसार इस गुप्त आधिपत्य की अवज्ञा करते हुये स्वतंत्रता की धारणा का प्रयोग करके आधुनिकता के बुद्धिजीवियों ने गलती की है। इसी तरह नारीवादी लेखकों ने भी स्वतंत्रता की वर्तमान धारणा की इस आधार पर आलोचना की कि यह पुरुष प्रधान है तथा नारी की स्वतंत्रता के विस्तार में समस्या खड़ी कर सकती है। अत: स्वतंत्रता की दो परम्परागत प्रमुख अवधारणाओं से असंतुष्ट, आज सिद्धान्तकार स्वतंत्रता की कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ परिभाषित करने में संघर्षरत है। ऐसा तर्क दिया जा रहा है कि स्वतंत्रता की ये सामाजिक परिस्थितियाँ केवल भौतिक तथा कानूनी बाधाओं के विरुद्ध सार्वजनिक गारंटी देने अथवा आय, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी सामाजिक प्रावधान करने से ही समाप्त नहीं हो जाती। ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि स्वतंत्रता की धारणा में वह सांस्कृतिक संदर्भ भी निहित होना चाहिए जिसमें व्यक्ति रहता है क्योंकि यह उस प्रक्रिया का भाग है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी स्वायत्त वरीयताएँ निश्चित करता है। इसका अभिप्राय यह भी है कि किसी भी समाज में लोग उतनी देर तक स्वतंत्र अनुभव नहीं करेंगे जब तक विभिन्न संस्कृतियों के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार किया जायेगा। इसके अतिरिक्त, व्यक्तिगत धारणा के साथ-साथ स्वतंत्रता में सामूहिक स्वतंत्रता की धारणा भी निहित की जानी चाहिए।

सबसे रोचक बात यह है कि स्वतंत्रता की उपयुक्त धारणा की खोज नकारात्मक अथवा सकारात्मक खेमों के किसी एक का पक्ष लेकर नहीं की जा रही जिसमें स्वतंत्रता के परम्परागत समर्थक विभाजित थे। समकालीन राजनीतिक दार्शनिकों ने अनन्य रूप से किसी विशिष्ट स्वतंत्रता पर ध्यान केन्द्रित करना बंद कर दिया है और इस प्रकार के प्रश्न पूछने आरंभ कर दिये हैं कि क्या हम इस प्रकार के दावों का कुछ अर्थ निकाल सकते हैं? कि क्या एक व्यक्ति अथवा समाज दूसरे से अधिक स्वतंत्र है? या उदारवाद के इस आदर्शवादी दावे का कि स्वतंत्रता को अधिकाधिक प्राप्त किया जाना चाहिए; या लोगों को समान स्वतंत्रता का उपयोग करना चाहिए; या प्रत्येक व्यक्ति का न्यूनतम स्वतंत्रता का अधिकार है आदि। इन दावों का वास्तविक अर्थ समग्र स्वतंत्रता की डिग्री आंकने की (कभी-कभी तुलनात्मक दृष्टिकोण से या कभी निरंकुश दृष्टिकोण से) सम्भावना पर निर्भर करती है, जिसे स्वतंत्रता की समग्र धारणा (overall concept of freedom) कहा जाता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

9. आस्था का अधिकार ..... मानव अधिकार क़ानून का भी अभिन्न अंग है।
10. सैद्धांतिक स्तर पर ..... का विचार उदारवादी व्यक्तिवादी विचारधारा तथा स्वतंत्रता के विरुद्ध है।

8.5 सारांश (Summary)

- स्वतंत्रता से अभिप्राय है, 'बाह्य बाधाओं की अनुपस्थिति... वे बाधाएँ जो व्यक्ति की कोई भी काम करने की शक्ति को घटाती हैं।'
- स्वतंत्रता की मार्क्सवादी धारणा वस्तुवादी है। यह स्वतंत्रता की समस्या का आरंभ स्वतंत्रता के मार्ग में आने वाली बाधाओं से करती है।
- स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए मिल के सामने एक विशिष्ट लक्ष्य था–व्यक्ति के आत्म-विकास का लक्ष्य। मिल के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मर्जी तथा अनुभव के आधार पर जीने का विशेषाधिकार है।

नोट

- 'बंधनों का अभाव' की धारणा काफी व्यापक है। ये बंधन राजनीतिक, आर्थिक, नागरिक, व्यक्तिगत आदि कुछ भी हो सकते हैं।
- राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है राज्य के कार्यों के सक्रिय होने का अवसर, अर्थात् सभी प्रजातांत्रिक राजनीतिक अधिकारों की उपलब्धि।
- नकारात्मक स्वतंत्रता का दावा है कि व्यक्ति का सार उसके स्वायत्त, साध्य और आत्म-स्वामी होने में है जबकि सकारात्मक स्वतंत्रता का मानना है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसके सभी नैतिक मूल्य एवं उद्देश्य सामाजिक समुदाय की आवश्यकताओं द्वारा प्रेरित होते हैं।
- सच्ची स्वतंत्रता का अर्थ है व्यक्ति के बजाय संपूर्ण समाज को उत्पादन के साधनों का मालिक बनाना ताकि सामाजिक स्रोतों का एक सामाजिक योजन के अनुसार प्रयोग किया जा सके तथा व्यक्ति की दासता और शोषण समाप्त किया जा सके।

8.6 शब्दकोश (Keywords)

1. **सहभागी (Participatory):** समानता के भाव से शामिल होने वाला, हिस्सेदार (जैसे: सुख-दुख का सहभागी, व्यापार में सहभागी होना)।
2. **धारणा (belief):** धारण करने की शक्ति, व्यक्तिगत विश्वास।

8.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. स्वतंत्रता से क्या अभिप्राय है?
2. सकारात्मक एवं नकारात्मक स्वतंत्रता में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. जे. एस. मिल के स्वतंत्रता के विचारों का उल्लेख कीजिए।
4. स्वतंत्रता के मार्क्सवादी सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. रूसो	2. नकारात्मक	3. लॉस्की
4. (अ)	5. (स)	6. सत्य
7. असत्य	8. सत्य	9. अंतर्राष्ट्रीय
10. सेंसरशिप		

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. ऑन लिबर्टी—जे. एस. मिल।
2. द पॉलिटिकल थ्योरी—आर. के. परूथी।

नोट

इकाई–9 : समानता (Equality)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 समानता का अर्थ (Meaning of Equality)

9.1.1 समानता के विभिन्न पक्ष या आयाम (Various Dimensions of Equality)

9.2 अवसर की समानता (Equality of Opportunity)

9.3 सारांश (Summary)

9.4 शब्दकोश (Keywords)

9.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

9.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- समानता का अर्थ जानने हेतु।
- समानता के विभिन्न पक्ष जानने हेतु।
- अवसर की समानता को जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

साधारणतया समानता का यह अर्थ लगाया जाता है कि मनुष्य जन्म से समान होते हैं और इसी कारण सभी व्यक्तियों को व्यवहार और आय का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए, किन्तु **स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय उतना ही**

नोट

भ्रमपूर्ण है जितना यह कहना कि पृथ्वी समतल है। प्रकृति के द्वारा भी सभी व्यक्तियों को समान शक्तियाँ प्रदान नहीं की गई हैं। मानवीय समाज में मोटे, पतले, लम्बे, नाटे, कुशाग्र और मन्द बुद्धि के जो विभिन्न प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं, वे प्राकृतिक असमानता के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार की असमानता की धारणा को समाज द्वारा अपनाया जाना अनुचित ही नहीं वरन् असम्भव भी है।

वर्तमान समय में हम समाज में जिस प्रकार की असमानता देखते हैं, उस असमानता के कारण दो प्रकार के हैं और इन दो प्रकार के कारणों के आधार पर असमानता भी दो प्रकार की है। एक प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल व्यक्तियों में प्राकृतिक भेद है। प्रकृति के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों में बुद्धि, बल और प्रतिभा की दृष्टि से भेद किया जाता है और भेद के कारण जो असमानता उत्पन्न होती है, उसे प्राकृतिक असमानता कहते हैं। इस प्राकृतिक असमानता का निराकरण सम्भव और उचित नहीं है।

समाज में विद्यमान दूसरे प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल समाज द्वारा उत्पन्न की गई विषमताएँ हैं। अनेक बार बुद्धि, बल और प्रतिभा की दृष्टि से श्रेष्ठ होने पर भी निर्धन व्यक्तियों के बच्चे अपने व्यक्तित्व का वैसा विकास नहीं कर पाते, जैसा विकास उससे निम्नतर बुद्धिबल के धनिक बच्चे कर लेते हैं। इस सामाजिक असमानता का मूल कारण समाज द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का वह वैषम्य होता है जिसके कारण सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर प्राप्त नहीं हो पाते हैं। राजनीतिक विज्ञान की एक धारणा के रूप में समानता का तात्पर्य सामाजिक वैषम्य द्वारा उत्पन्न इस असमानता के अन्तर से है। **इसका तात्पर्य यह है कि राज्य के सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर दिए जाने चाहिए,** ताकि किसी भी व्यक्ति को कहने का अवसर न मिले कि यदि उसे यथेष्ठ सुविधाएँ प्राप्त होतीं, तो वह भी अपने जीवन का विकास कर सकता था। अत: समानता की विधिवत् परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि **"समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिसके कारण व्यक्तियों के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो सकें और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके, जिसका मूल कारण सामाजिक वैषम्य है।"** लॉस्की ने इसी प्रकार का विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि **"समानता मूल रूप में समानीकरण की एक प्रक्रिया है। इसलिए प्रथमत: समानता का आशय विशेषाधिकारों के अभाव से है। द्वितीय रूप में इसका आशय यह है कि सभी व्यक्तियों को विकास हेतु पर्याप्त अवसर प्राप्त होने चाहिए।"**

9.1 समानता का अर्थ (Meaning of Equality)

समानता लोकतंत्र का मूल आधार है। यह एक ऐसा उच्च आदर्श है, जिसको प्राप्त करने के लिए मानव इतिहास में अनेक संघर्ष हुए। प्राचीन काल में समानता का अभाव था, क्योंकि उस समय दास रखने की प्रथा आम प्रचलित थी और दास प्रथा को प्राकृतिक माना जाता था और इसकी घोषणा (American Declaration of Independence) में समानता के विषय में एक महत्त्वपूर्ण और आदर्शात्मक घोषणा की गई। इसमें कहा गया कि हम इन सत्यताओं को स्पष्ट मानते हैं कि सभी मनुष्य समान पैदा हुए हैं। समानता का सामान्य अर्थ सभी व्यक्तियों की प्राकृतिक समानता है। लेकिन इस प्रकार की समानता किसी समाज में संभव नहीं हो सकती। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समानता का अर्थ है कि सभी व्यक्ति समान हैं; सभी के साथ समान व्यवहार होना चाहिए तथा सभी को समान वेतन मिलना चाहिए।

नोट्स यदि समाज में प्राकृतिक असमानताएँ रहेंगी, तो अवसर की समानता का कोई लाभ नहीं।

नोट

9.1.1 समानता के पक्ष या आयाम (Various Dimensions of equality)

समानता वर्तमान समय की सम्भवतया सर्वाधिक लोकप्रिय धारणा है और विभिन्न विचारकों तथा विचारधाराओं ने अपने-अपने तरीके से समानता की धारणा का प्रतिपादन किया है। इस स्थिति ने समानता के विभिन्न रूपों या आयामों को जन्म दिया है। समानता के ये विभिन्न आयाम इस प्रकार हैं:

1. वैधिक या क़ानूनी समानता अथवा समानता का क़ानूनी पक्ष (Legal Dimension of Equality)
2. राजनीतिक समानाता या समानता का राजनीतिक पक्ष (Political Dimension of Equality)
3. सामाजिक समानता या समानता का सामाजिक पक्ष (Social Dimension of Equality)
4. आर्थिक समानता या समानता का आर्थिक पक्ष (Economic Dimension of Equality)

1. वैधिक या क़ानूनी समानता

क़ानूनी समानता का अर्थ यह है कि राज्य के द्वारा अपने नागरिकों के साथ मनमाना व्यवहार नहीं किया जा सकता। क़ानून की दृष्टि में सभी नागरिक समान हों और सभी नागरिकों को क़ानून का समान संरक्षण प्राप्त हो। ब्रिटेन की संवैधानिक व्यवस्था **'विधि का शासन'** (Rule of Law) क़ानूनी समानता की स्थिति को प्राप्त करने की ही व्यवस्था है। क़ानूनी समानता में निम्न बातें आती हैं:

1. **क़ानून के समक्ष समानता** (Equality before Law): इसका अर्थ यह है कि क़ानून के सामने सभी व्यक्ति समान हैं। राज्य सभी व्यक्तियों के लिए एक से क़ानून बनायेगा और इन क़ानूनों को एक समान लागू करेगा। **आइवर जैनिंग्ज** के अनुसार इसका यह अर्थ है कि **'समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के साथ क़ानून का व्यवहार एक समान होगा।'** अंग्रेज विधिशास्त्री **डायसी** ने 'विधि के समक्ष समानता' की व्याख्या इस प्रकार की थी–"हमारे देश में प्रत्येक प्राधिकारी चाहे वह प्रधानमन्त्री हो या पुलिस का सिपाही या कर वसूल करने वाला; अवैधानिक कार्यों के लिए उतना ही दोषी माना जाएगा, जितना अन्य कोई साधारण नागरिक।"

2. **क़ानून का समान संरक्षण** (Equal Protection of Law): क़ानून के समक्ष समानता क़ानून समानता का नकारात्मक पक्ष है, लेकिन इसके साथ ही क़ानूनी समानता का एक सकारात्मक पक्ष भी है, जिसका अर्थ है कि राज्य के सभी नागरिकों को क़ानून का समान संरक्षण प्राप्त होगा। राज्य क़ानूनों के माध्यम से अपने नागरिकों को जो स्वतन्त्रताएँ प्रदान करता है तथा स्वास्थ्य और जीवन के अन्य क्षेत्रों में जो सुविधाएँ प्रदान करता है उनके सम्बन्ध में राज्य अपने नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं करेगा। इसमें यह बात निहित है कि अपने अधिकारों की रक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायालय की शरण ले सकता है। भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 14** में कहा गया है– "भारत के राज्य क्षेत्र में राज्य किसी व्यक्ति का क़ानून के साथ समानता या क़ानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।"

3. **क़र्तव्यों के प्रसंग में समानता:** क़ानूनी समानता की धारणा में यह बात भी सम्मिलित है कि अधिकारों के साथ सभी व्यक्तियों के कर्तव्य भी एक समान होंगे। जन्म, वंश, धर्म या सम्पत्ति, आदि के आधार पर न तो किसी को विशेष सुविधाएँ प्राप्त होंगी और न उनके कर्तव्य ही अलग-अलग माने जाएँगे।

4. **करों के निर्धारण में समानता:** करों का निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि करों का बोझ सभी के ऊपर डाला जाए। इस प्रसंग में कर देने की क्षमता के आधार पर अवश्य ही भेद किया जा सकता है। धनी व्यक्तियों पर करों का अधिक बोझ और निर्धन व्यक्तियों पर करों का कम बोझ कानूनी समानता के इस सिद्धान्त के अनुसार ही है।

नोट

5. **विवेकसंगत आधार पर भेदभाव मान्य:** क़ानूनी समानता का विचार राज्य द्वारा मनमाने आधार पर किए जाने वाले भेदभाव का ही निषेध करता है; विवेकसंगत आधार पर यदि किसी वर्ग विशेष को विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, तो समानता का सिद्धान्त इसका निषेध नहीं करता, शर्त यह है कि उस स्थिति में उस वर्ग के सब लोगों पर वे समान रूप से लागू हों। उदाहरण के लिए, राज्य ऐसा कोई कानून बना सकता है कि अमुक राशि से कम आय वाले लोगों को सरकारी दुकानों से सस्ता अनाज मिलेगा अथवा ऐसे परिवारों के बच्चों को शिक्षण शुल्क में छूट दी जाएगी। भारतीय राज व्यवस्था में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को जो विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं, वे इसी श्रेणी मे आती हैं। वर्ग विशेष को प्रदान की गई इस प्रकार की विशेष सुविधाओं को इस आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे क़ानून के समक्ष समता के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

2. राजनीतिक समानता

राजनीतिक समानता का अर्थ यह है कि राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करने के अवसर सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होने चाहिए। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र या तानाशाही व्यवस्था राजनीतिक समानता के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करती। इन व्यवस्थाओं में जन्म या वंश के आधार पर भेदभाव एक सामान्य स्थिति है, लेकिन लोकतान्त्रिक व्यवस्था राजनीतिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित होती है। राजनीतिक समानता के अन्तर्गत सामान्य रूप से निम्नलिखित समानताएँ आती हैं:

1. **मतदान का अधिकार:** मतदान का अधिकार राजनीतिक समानता की प्रथम स्थिति है। इसका आशय यह है कि धर्म, जाति, सम्पत्ति, शिक्षा या लिंग के आधार पर किसी भेदभाव के बिना सभी व्यक्तियों को मत देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। अवयस्क व्यक्तियों, पागल, दिवालिये या संविधान द्वारा मान्य अन्य किसी आधार पर अवश्य ही किन्ही व्यक्तियों को मताधिकार से वंचित किया जा सकता है।

2. **चुनाव में उम्मीदवार बनने का अधिकार:** नागरिकों को चुनाव में उम्मीदवार होने का अधिकार समान रूप से प्राप्त होना चाहिए। इसमें यह बात निहित है कि संविधान में उल्लिखित किन्हीं अयोग्यताओं से ग्रसित व्यक्तियों को उम्मीदवार होने के अयोग्य घोषित किया जा सकता है। भारत में 'जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951' में ऐसी योग्यताओं का निर्धारण किया गया है और यह राजनीतिक समानता के विरुद्ध नहीं हैं।

3. **प्रार्थना-पत्र अधिकार:** नागरिकों को प्रार्थना-पत्र देने और इस माध्यम से अपनी शिकायतें सरकार तक पहुँचाने का अधिकार समान रूप से होना चाहिए।

4. **राजकीय नियुक्तियाँ तथा सम्मान प्राप्त करने का अधिकार:** राजकीय नियुक्तियाँ तथा राजकीय सम्मान करने के लिए सभी को समान रूप से अधिकारी समझा जाना चाहिए। केवल शिक्षा सेवा या किसी विशेष योग्यता के आधार पर इस सम्बन्ध में भेदभाव किया जा सकता है।

5. **विचारों की अभिव्यक्ति तथा दलीय संगठनों के निर्माण का अधिकार** भी सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्राप्त होना चाहिए।

3. सामाजिक समानता

समानता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामाजिक समानता है। सामाजिक समानता का आशय यह है कि समाज और सामाजिक जीवन में सभी व्यक्तियों को समान समझा जाना चाहिए और धर्म, जाति, वंश, लिंग अथवा जन्म स्थान के स्थान पर व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

भूतकाल में अमेरिका और अन्य कई देशों में दास-प्रथा का प्रचलन था, आज भी दक्षिण अफ्रीका जैसे देश में वर्ण के आधार पर भेदभाव की स्थिति है, अमेरिका में नीग्रो लोगों और भारत में दलित वर्ग के प्रति अपमानजनक व्यवहार

नोट

किया जाता है। ये सभी स्थितियाँ सामाजिक समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। भारतीय संविधान द्वारा प्रदान किए गए मौलिक अधिकारों में सामाजिक समानता के अधिकार की विशेष व्यवस्था की गई है और संविधान के **अनुच्छेद** 17 में अस्पृश्यता को एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। सामाजिक समानता की मांग है कि समाज में **सती-प्रथा और कन्या भूर्ण हत्या जैसी अमानवीय स्थितियों का कोई प्रचलन नहीं हो।**

सामाजिक समानता के अन्तर्गत मुख्यतया ये बातें आती हैं:

(*i*) वंश, धर्म, जाति और वर्ण के आधार पर किसी को श्रेष्ठ या अन्य किसी को हेय न समझा जाए।

(*ii*) स्त्रियों को पुरुषों से कम अधिकार न दिए जाएँ। सामाजिक समानता की मांग है कि स्त्रियों को पुरुषों के बराबर सम्मानजनक स्थिति व्यवहार में भी प्राप्त होनी चाहिए।

(*iii*) सामाजिक समानता एक ऐसे समाज की स्थापना पर बल देती है, जसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच **'सामाजिक समागम'** (Social Intercourse) को बढ़ावा मिले। 'सामाजिक समागम' का अर्थ है–विवाह सम्बन्धों व खान-पान के क्षेत्र में निषेधों का अभाव। सामाजिक असमानताओं को उदार शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है। इसके साथ ही सामाजिक दृष्टि से पिछड़े लोगों की उन्नति के लिए उनके आर्थिक विकास हेतु विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करना भी बहुत आवश्यक है।

सामाजिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि राज्य स्त्रियों, बच्चों या पिछड़े वर्गों के लिए विशेष सुविधाएँ नहीं जुटा सकता। इसके नितान्त विपरीत सामाजिक समानता की मांग है कि सभी कमज़ोर वर्गों के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिए। इतना आवश्यक है कि विशेष सुविधाएँ प्रदान करने के सम्बन्ध में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच ऐसा कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए, जिसे न्यायसंगत न ठहराया जा सकता हो। सामाजिक समानता सामाजिक जीवन की स्थिति है और इसे केवल क़ानून के माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

4. आर्थिक समानता

आज के जीवन में अर्थ को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है और यदि हम न केवल सिद्धान्त वरन् व्यवहार में समानता को प्राप्त करना चाहते हैं तो आर्थिक समानता की स्थिति को प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। रूसो अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Social Contract' में लिखते हैं, "सरकार की नीति ऐसी होनी चाहिए कि न तो अमीरों की ही संख्या बढ़ने पाए और न ही भिखमंगों की।" अभिप्राय यह है कि समाज में भरी आर्थिक विषमताएँ नहीं होनी चाहिए। आर्थिक विषमताएँ समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को दूषित कर देती हैं। **लॉस्की** के अनुसार, "जिस देश में सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधन कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों में केन्द्रित होते हैं उस देश की राजनीति, संस्कृति, शिक्षण-संस्थाओं तथा न्यायपालिका पर धन पूर्णतया हावी हो जाता है।" इतना ही नहीं, वरन् धार्मिक समुदाय भी उन्हीं के इशारों पर चलते हैं। **रॉबर्ट डैल** ने राजनीतिक स्थायित्व और आर्थिक समानताओं को एक-दूसरे से सम्बन्धित माना है। **डैल** के अनुसार, "यदि हम चाहते हैं कि राजनीतिक स्थायित्व और सरकार का लोकतन्त्रीय स्वरूप बना रहे तो हमें भूमि के समुचित वितरण, कर प्रणाली में सुधार तथा शिक्षण सुविधाओं का विस्तार करके आर्थिक क्षेत्र में समानता को लाना होगा।"

आर्थिक समानता का आशय: आर्थिक समानता का आशय यह नहीं है कि सभी व्यक्तियों को समान वेतन मिले या सभी व्यक्ति बराबर-बराबर भौतिक साधनों का उपभोग करें। इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर पाना न तो सम्भव है और न ही उचित। आर्थिक समानता का आशय यह है कि **सभी व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए तथा सम्पत्ति की दृष्टि से समाज में भारी विषमताएँ नहीं होनी चाहिए।**

नोट

आर्थिक समानता के मुख्य पहलू: आर्थिक समानता के मुख्य पहलू निम्नलिखित हैं:

(*i*) सभी व्यक्तियों की न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने चाहिए। जब तक सभी व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाएँ प्राप्त न हो जाएं तब तक किन्हीं व्यक्तियों को विलासिता के साधन प्राप्त करने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

(*ii*) सभी व्यक्तियों को रोज़गार, पर्याप्त मज़दूरी और उचित अवकाश की सुविधाा प्राप्त होनी चाहिए।

(*iii*) बेरोज़गारी, बुढ़ापे, बीमारी और अंगभंग की स्थिति में व्यक्तियों को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त होनी चाहिए।

(*iv*) पुरुषों और महिलाओं को समान कार्य के लिए समान वेतन मिलना चाहिए तथा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि महिलाओं और बच्चों का उनकी आर्थिक मज़बूरियों के कारण शोषण न किया जा सके।

(*v*) सभी व्यक्तियों को ऐसे अवसर प्राप्त होने चाहिए कि उनके द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास किया जा सके। इसमें यह बात निहित है कि सामाजिक दृष्टि से दलित और सभी निर्धन परिवारों के बच्चों को ऐसी सुविधाएँ दी जानी चाहिए कि उनके द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास किया जा सके।

(*vi*) राष्ट्र की सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधन कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित नहीं होने चाहिए। इस प्रसंग में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि कुछ व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के आधार पर किन्हीं अन्य व्यक्तियों का शोषण न कर सकें।

(*vii*) भीषण आर्थिक असमानताओं का अन्त किया जाना चाहिए। पूर्ण समानता की स्थिति प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं है, लेकिन राज्य की नीति ऐसी होनी चाहिए जो समानता की दिशा में आगे बढ़ने वाली हो।

आर्थिक समानता के लक्ष्य को ठोस कार्यों के आधार पर ही प्राप्त कर पाना सम्भव है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. समानता की प्रथम विशेषता यह है कि समाज में किसी वर्ग को ..... प्राप्त नहीं होना चाहिए।
2. किसी व्यक्ति को धर्म, लिंग, धन के आधार पर ..... की सुविधा प्राप्त नहीं होनी चाहिए।
3. एक तरफ लखपति-करोड़पति दूसरी तरफ ..... व्यक्ति नहीं होने चाहिए।

स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और समानता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीतिशास्त्रियों में मतभेद है। कुछ व्यक्तियों द्वारा स्वतन्त्रता और समानता के लोक प्रचलित अर्थों के आधार पर इन्हें परस्पर विरोधी बताया गया है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है जबकि समानता का तात्पर्य प्रत्येक प्रकार के सभी व्यक्तियों को समान समझने से है। इन व्यक्तियों का विचार है कि यदि सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है तो जीवन के परिणाम नितान्त असमान होंगे और शक्ति के आधार पर सभी व्यक्तियों को समान कर दिया जाए तो यह समानता व्यक्तिगत स्वतंत्रता को नष्ट कर देगी। केवल सामान्य व्यक्ति ही नहीं वरन् **डी. टाकविले** और **लार्ड एक्टन** जैसे राजनीति विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वानों का भी यह विचार है कि स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं। **लॉर्ड एक्टन** एक स्थान पर कहते हैं कि **"समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण स्वतन्त्रता की आशा ही व्यर्थ हो गई है।"**

नोट

किन्तु टाकविले और लॉर्ड एक्टन आदि विद्वानों का यह विचार सत्य नहीं है। वस्तुतः लॉर्ड एक्टन, आदि विद्वानों द्वारा स्वतन्त्रता और समानता के जिस रूप की कल्पना की गई है, स्वतन्त्रता और समानता का वह रूप न तो समाज में कहीं प्राप्त है और न ही राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता और समानता को उस रूप में स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में **लॉस्की** ने लिखा है कि **"डी. टाकविले और लॉर्ड एक्टन के मस्तिष्क में स्वतन्त्रता के प्रति उत्कृष्ट अभिलाषा होने के कारण ही उनके द्वारा स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी समझा गया। किन्तु यह एक गलत निष्कर्ष है और उनके द्वारा समानता का तात्पर्य गलत रूप से लेने के कारण ही ऐसा किया गया।"** सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता तो हॉब्स के बर्बर समाज में ही प्राप्त थी, जिसमें वास्तविक अर्थ में कोई भी स्वतन्त्र नहीं था। इसी प्रकार सभी व्यक्तियों की प्राकृतिक समानता या आय की समानता तो स्वप्नलोक की वस्तु है जिसे समानता पर आधारित साम्यवादी शासन की व्यवस्था के प्रमुख स्टालिन ने भी **'मूर्खतापूर्ण बकवास'** कहा है।

राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता और समानता का जो तात्पर्य लिया जाता है, उस अर्थ में स्वतन्त्रता और समानता विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं। स्वतन्त्रता का ठीक परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों, विशेषाधिकार का नितान्त अभाव हो और व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त हों।"

क्या आप जानते हैं "समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिनके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हों इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके जिसका मूल सामाजिक वैषम्य है।"

स्वतन्त्रता और समानता की इन परिभाषाओं के अनुसार स्वतन्त्रता और समानता दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस सम्बन्ध में **एक्टन** ने लिखा है कि **"विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी के रूप में प्रारम्भ होते हैं, विश्लेषण करने पर एक-दूसरे के लिए आवश्यक हो जाते हैं। यह सत्य है कि समानता के अर्थ की उचित व्याख्या स्वतन्त्रता के सन्दर्भों में ही की जा सकती है।"** यदि समान अवसरों के द्वार सबके लिए खुले रहते हैं तो व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार अपनी शक्तियों का विकास करने की यथार्थ स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। जिस समाज में किसी एक वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त रहते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक अन्तर पाए जाते हैं, वहाँ वह निम्न वर्गों पर दबाव डालने की अनुचित शक्ति प्राप्त कर लेता है और निम्न वर्गों को केवल नाममात्र की ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। **लॉस्की** के मतानुसार, **"सम्पत्ति की असमानता स्वतन्त्रता की विरोधी है। साधनों के अभाव के कारण निर्धन व्यक्ति न्यायालयों में उचित न्याय नहीं प्राप्त कर सकतें है और मुकदमेबाजी की लम्बी प्रक्रिया से धनी लोग अपने निर्धन पड़ोसियों को तबाह कर देते हैं।"**

वास्तव में, समानता के द्वारा स्वतन्त्रता के आधार के रूप मे कार्य किया जाता है। एक ऐसे राज्य में जिसमें समानता नहीं है, स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती। इस बात को निम्न रूपों मे स्पष्ट किया जा सकता है:

1. यदि राजनीतिक समानता नहीं होगी तो स्वतन्त्रता व्यर्थ हो जायेगी और जनता के एक बहुत बड़े भाग को शासन में कोई भाग प्राप्त नहीं होगा।

2. यदि नागरिक समानता नहीं होगी, तो जो व्यक्ति नागरिक अयोग्यताओं से पीड़ित हैं, उन्हें स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं होगी।

नोट

3. यदि सामाजिक समानता नहीं होगी, तो स्वतन्त्रता कुछ ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार हो जाएगा।

4. यदि आर्थिक समानता नहीं होगी, तो धन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाएगा और केवल वही वर्ग स्वतन्त्रता का लाभ उठा सकेगा।

ऐसी स्थिति में **डॉ. आशीर्वादम** ने ठीक ही कहा है कि **"फ्रांस के क्रान्तिकारी न तो पागल थे और न मूर्ख, जब उन्होंने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाया था।"**

प्रो. पोलर्ड ने इस सच्चाई को एक ही वाक्य में इस प्रकार व्यक्त किया है **"स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में निहित है।"** वास्तव में, स्वतन्त्रता और समानता मानव जीवन सरिता के दो तट हैं, ये मानव कल्याण रूपी रथ के दो पहिए हैं। सत्य तथा शिव का जो अभिन्न अंग है, वही मानवीय जीवन में स्वतन्त्रता और समानता का है।

यह नितान्त सम्भव है कि भारत के गरीब किसानों और मज़दूरों में अनेक व्यक्ति नेहरू और टैगोर के समान ही प्रतिभा सम्पन्न हों, लेकिन पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त न होने के कारण वे अपने जीवन का विकास न कर सके हों। वस्तुत: समानता के अभाव में सबसे अधिक योग्य व्यक्तियों की खोज उसी प्रकार से बहुत अधिक कठिन है जिस प्रकार एक ऐसी दौड़ में सबसे तेज दौड़ने वाले व्यक्ति का पता लगाना, जिसके अन्तर्गत प्रतियोगी अलग-अलग स्थानों से दौड़ शुरू करते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे की पूरक और सहायक हैं। **आर. एच. टॉनी** ने सत्य ही कहा है कि **"समानता की एक बड़ी मात्रा स्वतन्त्रता के विरोधी न होकर इसके लिए आवश्यक है।"**

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. समानता का वास्तविक अर्थ है:
   (अ) सब मनुष्य बराबर हों
   (ब) सभी मनुष्यों में किसी भी प्रकार का कोई भेद न हो
   (स) सभी मनुष्यों को समान वेतन प्राप्त हो
   (द) प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समान अवसर प्राप्त हों
5. 'सभी मनुष्य आधारभूत रूप से समान हैं' यह धारणा समानता के जिस रूप को प्रतिपादित करती है, वह है:
   (अ) सामाजिक समानता (ब) प्राकृतिक समानता
   (स) राजनीतिक समानता (द) आर्थिक समानता
6. अपनी इच्छानुसार काम करने की स्वतंत्रता को किसने 'मूर्खतापूर्ण बकवास' कहा है?
   (अ) स्टालिन (ब) अरस्तु
   (स) लेनिन (द) कार्ल मार्क्स

9.2 अवसर की समानता (Equality of Opportunity)

प्रत्येक व्यक्ति को अवसर की समानता प्राप्त होनी चाहिए। कोई भी व्यक्ति अवसरों के समान अभाव के कारण किसी वस्तु को प्राप्त करने से वंचित नहीं रहना चाहिए। अवसर की समानता को निम्न रूप में बेहतर जाना जा सकता है–

नोट

1. विशेष अधिकारों का अभावः समानता की प्रथम विशेषता यह है कि समाज में किसी वर्ग को विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होने चाहिए। किसी व्यक्ति को धर्म, लिंग, धन के आधार पर अवसर की सुविधा प्राप्त नहीं होनी चाहिए। जहाँ किसी वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं वहाँ अवसर की समानता का प्रश्न ही नहीं उठता।

2. प्राकृतिक असमानताओं का नाशः अवसर की समानता की विशेषता यह होनी चाहिए कि समाज में प्राकृतिक असमानताओं को नष्ट कर देना चाहिए।

टास्क समानता पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

3. सभी व्यक्तियों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्तिः अवसर की समानता की यह भी विशेषता है कि समाज के सभी व्यक्तियों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। सभी व्यक्तियों को समान वेतन तो नहीं दिया जा सकता परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। एक तरफ लखपति-करोड़पति तथा दूसरी तरफ भूखे व्यक्ति नहीं होने चाहिए। काम के पश्चात् व्यक्ति को भूखा न रहना पड़े।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य छाँटिए (State whether the following Statements are True/ False)–

7. समानता लोकतंत्र का मूल आधार है।
8. कानून के सामने सभी व्यक्ति समान नहीं हैं।
9. समानता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामाजिक समानता है।
10. प्रो. पोलर्ड के अनुसार, स्वतंत्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में निहित है।

9.3 सारांश (Summary)

- समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिसका कारण व्यक्तियों के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो सकें और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके, जिसका मूल कारण सामाजिक वैषम्य है।
- क़ानूनी समानता का विचार राज्य द्वारा मनमाने आधार पर किए जाने वाले भेदभाव का ही निषेध करता है; विवेकसंगत आधार पर यदि किसी वर्ग विशेष को विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, तो समानता का सिद्धान्त इसका निषेध नहीं करता।
- राजनीतिक समानता का अर्थ यह है कि राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करने के अवसर सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होने चाहिए।
- समानता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामाजिक समानता है। सामाजिक समानता का आशय यह है कि समाज और सामाजिक जीवन में सभी व्यक्तियों को समान समझा जाना चाहिए और धर्म, जाति, वंश, लिंग अथवा जन्म स्थान के स्थान पर व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

नोट

9.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **रूढ़िवादी (Conventional):** परंपरागत, परंपरा से चला आ रहा।
2. **प्रक्रिया (Process):** प्रक्रम, क्रिया और परिवर्तन का संबद्ध कार्य।

9.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. समानता के क़ानूनी, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्वरूपों की विवेचना कीजिए।
2. समानता को परिभाषित कीजिए तथा इस कथन की समीक्षा कीजिए कि 'आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक कल्पना है।'
3. स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. विशेषाधिकार	2. अवसर	3. भूखे
4. (द)	5. (ब)	6. (अ)
7. सत्य	8. असत्य	9. सत्य
10. सत्य		

9.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. द पॉलिटिकल थ्योरी—आर. के. परूथी।
2. पॉलिटिकल थ्योरी, आइडियाज एंड कान्सेप्ट—एस. रामास्वामी।

नोट

इकाई–10: न्याय (Justice)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 न्याय का अर्थ एवं अवधारणाएँ (Meaning of Justice and Concepts)

10.1.1 प्रक्रियात्मक न्याय (Procedural Justice)

10.1.2 रॉल्स का न्याय संबंधी सिद्धान्त (Rawls's Theory of Justice)

10.2 वैश्विक न्याय (Global Justice)

10.3 सारांश (Summary)

10.4 शब्दकोश (Keywords)

10.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

10.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- न्याय को परिभाषित करने हेतु।
- प्रक्रियात्मक न्याय को जानने हेतु।
- राल्स के न्याय संबंधी सिद्धान्त को जानने हेतु।
- वैश्विक न्याय को समझने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

न्याय राजनीतिक जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है हालांकि राजनीतिक चर्चाओं का विषय अधिकतर अन्याय होता है। अन्याय को पहचानना तथा इसकी निन्दा करना आसान है जबकि न्याय को परिभाषित करना और उसे प्राप्त करना

नोट

बहुत कठिन है। विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं ने न्याय की विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। न्याय किसी भी समाज की अंतिम निर्णायक अवधारणा होती है, एक ऐसी मूल अवधारणा जिसके आगे अन्य सभी धारणाएँ शीष नवाती हैं। न्याय अन्य अवधारणाओं–जैसे अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, संपत्ति–में समन्वय करवाता है। अत: न्याय की किसी भी व्याख्या में इसके बहुपक्षीय चरित्र को ध्यान में रखना जरूरी है।

राजनीतिक सिद्धान्तों में न्याय को 'वितरण का गुण' (property of distribution) माना जाता है। कोल्ब के अनुसार, न्याय को दो अर्थों में समझा जाता है: (*i*) किसी भी व्यक्ति को उसका हक देना (to give one one's due), तथा (*ii*) पुरस्कार अथवा सजा द्वारा गलत को ठीक करना (to set the wrongs right either by compensation or punishment) **पहले** अर्थ में न्याय का संबंध समाज में अधिकार और कर्तव्य, भौतिक पदार्थ, सुरक्षा, प्रतिष्ठा, अवसर आदि के वितरण के सिद्धान्त निश्चित करना होता है। क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं का वितरण प्रत्येक समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, अत: न्याय के सिद्धान्त कभी भी निरंकुश, सर्वव्यापक तथा समरूप नहीं होते। प्रत्येक समाज की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन आता रहता है। दूसरे अर्थ में न्याय का सम्बन्ध क़ानून, व्यवस्था तथा सजा देने वाले नियमों की व्याख्या से होता है। यदि किसी व्यक्ति का कोई हक उसका मानव होने के नाते है तो वह प्राकृतिक न्याय (natural justice) कहलाता है। यदि वह हक किसी ऐसे नियम के अनुसार है जिसके उल्लंघन के लिए व्यक्ति राज्य के प्रति उत्तरदायी है तो वह क़ानूनी न्याय (legal justice) होता है।

डी.डी. रेफल के अनुसार, न्याय दोमुखी (Janus like) धारणा है। यह क़ानूनी और नैतिक दोनों होता है। इसका संबंध समाज की व्यवस्था तथा समाज के अधिकारों से उतना ही होता है जितना व्यक्तिगत अधिकारों से। यह परंपरागत तथा सुधारवादी दोनों विशेषताओं का पोषक होता है। एक अन्य लेखक के अनुसार न्याय को दो अर्थों में समझा जा सकता है: (*i*) वर्तमान क़ानूनों का गंभीरता से पालन तथा इनका उल्लंघन करने वालों को सजा देकर सामाज को गलत लोगों से बचाना तथा (*ii*) न्याय का संबंध क़ानून के पीछे उनके दार्शनिक आधारों के अध्ययन से भी है; अर्थात् समाज में जिस क़ानून की रक्षा की जा रही है, उस क़ानून के उद्देश्य क्या है? क़ानूनों की रक्षा के माध्यम से हम क्या प्राप्त करना चाहते हैं? इस अर्थ में न्याय का अभिप्राय बहुत गहरा हो जाता है और विभिन्न विचार धाराओं तथा चिंतकों के विचार भी सर्वथा भिन्न हो जाते हैं। यहाँ न्याय की धारणा व्यापक भी हो जाती है और यह नैतिकता, अर्थव्यवस्था, समाज आदि सबके साथ जुड़ जाती है। राजनीतिक सिद्धान्तों में न्याय की चर्चा मुख्यत: इसी अर्थ की व्याख्या के संदर्भ में होती है।

न्याय के मानदंड (Criteria for justice)

समकालीन राजनीतिक चिंतन में न्याय को 'वितरण का गुण' माना जाता है। न्याय की व्याख्या इस बात पर निर्भर करती है कि समाज में भौतिक वस्तुओं और सेवाओं के वितरण के मानदंड क्या हैं। आधुनिक प्रजातांत्रिक समाजों में न्याय के मुख्यत: तीन मानदंड निश्चित किए गए हैं: समानता (Equality),योग्यता (Merit) तथा आवश्यकता (Need)।

पिछले 200 सालों में, जब से मानवीय समानता तथा व्यक्ति के अधिकारों को सर्वव्यापक स्तर पर मान्यता मिली है, **समानता** न्याय के किसी भी सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण आधार बन गई है। आज न्याय की यह मूलभूत माँग है कि समाज में सभी लोगों के हक बराबर होते हैं जब तक कि कोई ऐसी परिस्थितियाँ न हो जो असमानता को उचित ठहराये। आज 'क़ानून के समक्ष समानता' (Equality before law) क़ानूनी व्यवस्था का अभिन्न अंग है। इसी तरह समतावाद के रूप में आर्थिक समानता; जाति, धर्म, रंग, भाषा आदि में भेदभावहीनता के रूप में सामाजिक समानता; वयस्क मताधिकार तथा एक व्यक्ति–एक वोट के रूप राजनीतिक समानता न्याय की न्यूनतम आवश्यकताएँ मानी जाती है। तथापि समानता में विश्वास का अर्थ यह जरूरी नहीं है कि इससे न्यायपूर्ण समाज की स्थापना

नोट

स्वयमेव हो जायेगी क्योंकि समाज में लोग अपनी क्षमताओं और परिस्थितियों के दृष्टिकोण से भिन्न होते हैं और भिन्न व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं। समानता तब स्थापित हो सकती है जब 'समान लोगों के साथ समान तथा असमान लोगों के साथ असमान व्यवहार' किया जाये। फिर भी, समान व्यवहार की धारणा न्याय के सिद्धान्त में अन्तर्निहित होती है।

न्याय का दूसरा मानदंड है **योग्यता।** यह मानदंड व्यक्तियों में योग्यता के आधार पर अंतर करता है और समाज में विभिन्न लोगों के विभिन्न प्रतिफलों (rewards) को उचित ठहराता है। व्यक्ति के नैतिक अथवा अंतर्निहित गुण तथा क्षमतायें पारिश्रमिक के योग्य होती हैं और सामाजिक कल्याण में उनके योगदान के आधार पर यह मेहनताना उन्हें मिलना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से योग्यता के विचार ने इस धारणा को चुनौती देने में प्रगतिशील भूमिका निभाई है कि लोग अनिवार्यत: वही सब कुछ करने के अधिकारी हैं जो विरासत में मिलता है–अर्थात् धनी अपना धन और गरीब अपनी गरीबी। पूँजीवादी के उदय के साथ योग्यता न्याय का महत्त्वपूर्ण आधार बन गई। उदारवाद ने इस विचार का समर्थन किया कि जो अधिक उत्पादन करते हैं या अधिक योग्यता रखते हैं उन्हें पारिश्रमिक भी अधिक मिलना चाहिए। योगदान द्वारा जांची गई योग्यता उदारवादी न्याय का महत्त्वपूर्ण अंग है जिसे 'अवसर की समानता' द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है अर्थात् अपनी योग्यता सिद्ध करने तथा उत्पादन आदि में योगदान देने का अवसर सबको समान रूप से दिया जायेगा परन्तु प्रतिफल वास्तविक योग्यता के आधार पर ही दिया जायेगा।

न्याय का तीसरा आधार है **आवश्यकता**। इस मानदंड के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की मानव होने के नाते कुछ न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं जिसकी योग्यता/अयोग्यता की परवाह न करते हुए संतुष्टि होनी ही चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्ति होने के नाते प्रतिष्ठा, आदर, स्वतंत्रता जैसे कुछ मौलिक अधिकार हैं जो तब तक पूरे नहीं हो सकते जब तक व्यक्ति की रोटी, कपड़ा, मकान जैसी मौलिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती। परन्तु इस आधार की व्यावहारिक समस्या यह है कि 'आवश्यकता क्या है?' –इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। उदाहरण के लिए, एक अमरीकी नागरिक को गरीबी की रेखा से ऊपर रखने के लिए जितने वेतन की आवश्यकता है वह एक भारतीय को अपेक्षाकृत अमीर लोगों की श्रेणी में ले आयेगा। इसी तरह अच्छा स्वास्थ्य एक सार्वजनिक आवश्यकता है परन्तु प्रत्येक देश में स्वास्थ्य के मानदंड अलग-अलग हैं जो उनकी स्वास्थ्य सुरक्षा की सुविधाओं की उपलब्धि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त, आवश्यकता के अनुसार वेतन देना कई बार हानिकारक भी हो सकता है क्योंकि इससे क्षमता अथवा योग्यता को धक्का लगेगा।

संक्षेप में, न्याय का कोई भी आधार समस्याओं से मुक्त नहीं है। समानता का कोई मानदंड नहीं होता। आवश्यकता का मानदंड मानवीय समानता के मूलभूत विचार की तरफ संकेत करता है परन्तु गुण और योग्यता की बलि चढ़ा देता है। इसी तरह योग्यता का आधार समाज के विभिन्न लोगों में अंतर करके चलता है और ऐसे समाज में अयोग्य लोगों को कोई स्थान नहीं है। न्याय का सच्चा मानदंड इन तीनों आधारों के समन्वय में निहित है।

10.1 न्याय का अर्थ एवं अवधारणाएं (Meaning of Justice and Concepts)

एक शाब्दिक रूप में जस्टिस (Justice) लैटिन भाषा के जस (Jus) शब्द से बना है। जिसका अर्थ है 'बंधना' या बाँधना। इस प्रकार न्याय से तात्पर्य उस सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें परस्पर संबंधों से बंधे रहते हैं। साधारण अर्थ में न्याय उस अवस्था का नाम है, जिसमें उचित व्यवस्था हो, व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों में सामंजस्य हो, निष्पक्षता, स्वार्थहीनता और तर्कसंगतता हो। जिसमें व्यक्ति अपने-अपने अधिकारों व कर्तव्यों का पालन करते हों।

प्लेटो के अनुसार, "न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक माँग है।"

ग्रीक और रोमन अवधारणाएँ (Greek and Roman Concepts of Justice)

न्याय की धारणा परिवर्तनशील और बहुमुखी रही है। प्रत्येक समाज में न्याय की अपनी विशिष्ट धारणा रही है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक *Republic* में न्याय की आदर्शवादी धारणा प्रस्तुत की। इसके अनुसार न्याय व्यक्ति की प्रकृति

नोट

के पूर्णतया अनुकूल है और इसे मानवीय बौद्धिक तर्क के आधार पर खोजा और समझा जा सकता है। उसके न्याय को सद्गुण के चार अंगों में एक अंग माना (अन्य तीन अंग हैं: बुद्धि, साहस और संयम)। न्याय को सर्वोच्च गुण की संज्ञा दी गई क्योंकि यह बाकी सभी गुणों–बुद्धि, साहस और संयम–में समन्वय करवाता है। प्लेटो के अनुसार, प्रकृति ने कुछ लोगों को दर्शनिक और चिन्तक बनाया है, जिन्हें कुलीन कहा जा सकता है; कुछ लोगों को आक्रामक और पराक्रमी बनाया है जैसे योद्धा तथा अन्य को अच्छे श्रमिक अथवा शिल्पकार। न्याय की माँग है कि 'प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति द्वारा आवंटित अपने स्टेशन पर रहे, अर्थात् वे कर्त्तव्य निभाये जिसके वह योग्य है।' इसके अलावा क्योंकि व्यक्तिगत गुण सामाजिक संपूर्णता अर्थात् 'राज्य' के गुणों का ही लघु रूप होते हैं, अत: न्याय की प्रकृति का अध्ययन राज्य की सामंजस्यकारी प्रकृति के आधार पर ही किया जा सकता है। यह सामंजस्य राज्य द्वारा निश्चित किये जाने वाले कार्यों को निभाने में निहित होता है। प्लेटो के अनुसार, न्याय उस संतुलन और सामंजस्य का नाम है जो इसके परिणामस्वरूप पैदा होता है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तु ने न्याय के सिद्धान्त में परिवर्तन किया और यह माना कि न्याय की धारणा में कुछ हद तक समानता भी अंतर्निहित होती है। इस समानता का आधार समान व्यवहार (Equal treatment) तथा समानुपात (Proportionality) हो सकता है। व्यवहार की समानता विनिमयात्मक (Commutative) न्याय की तरफ ले जाती है जबकि समानुपातिक समानता वितरणात्मक (Distributive) न्याय में परिलक्षित होती है। वितरणात्मक न्याय के मानदंड निश्चित करना विधानमंडल का कार्य है जबकि विनिमयात्मक न्याय देना न्यायाधीश का कर्त्तव्य होता है। अरस्तु के अनुसार, राजनीतिक अधिकार, विशेषाधिकार, धन, संपत्ति, भौतिक वस्तुएँ, प्रतिष्ठा आदि वितरणात्मक न्याय के आधार पर आवन्टित होनी चाहिए। इसके विपरीत वितरणात्मक न्याय के आधार पर बने हुए क़ानूनों का उल्लंघन करने वालों को सजा तथा जुर्माने विनिमयात्मक न्याय के आधार पर मिलने चाहिए। इसके अतिरिक्त, इस धारणा में विश्वास करते हुए कि सामाजिक भलाई का सर्वोच्च मानदंड समाज के विभिन्न वर्गों में संतुलन या उचित मध्यमार्ग होता है, अरस्तू ने न्याय के एक तीसरे पक्ष को भी मान्यता दी–एक ऐसे गतिशील संतुलन (Moving Equilibrium) के रूप में न्याय जो वितरणात्मक और विनिमयात्मक न्याय में निरंतर सामंजस्य करवाता रहता है।

उदारवाद का उदय और न्याय की अवधारणाओं में परिवर्तन
(Dawn of Liberalism and Changes in the Concepts of justice)

पुनर्जाग्रति धार्मिक सुधारवादी आंदोलन तथा वाणिज्यिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप में न्याय के नये आधारों और नयी धारणाओं का विकास हुआ। न्याय की इस नयी धारणाओं के प्रवर्तक थे ग्रोशियस, प्यूफनडोरफ, हॉब्स, लॉक, रूसो, कांत आदि। हॉब्स ने न्याय को राज्य के सत्तात्मक आदेशों का पालन माना। लॉक, रूसो और कांत ने इसे स्वतंत्रता, समानता तथा मानव-निर्मित क़ानूनों में समन्वय के साथ जोड़ा। सामंतवादी व्यवस्था, निरंकुश राजतंत्र तथा जाति पर आधारित विशेषाधिकारों को अन्यायपूर्ण और गैर-क़ानूनी माना गया। न्याय केवल लोगों की सहमति पर आधारित एक ऐसे सामाजिक समझौते के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता था जो लोगों की स्वतंत्रता और समानता सुरक्षित करे।

उन्नीसवीं शताब्दी में न्याय की कुछ परस्पर विरोधी धारणाएँ भी देखने को मिली। बैंथम और मिल ने अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त द्वारा न्याय को व्यक्ति के सुख के साथ जोड़ा। यह सुख व्यक्ति के अधिकार और स्वतंत्रताओं तथा उन क़ानूनों और नियमों का निर्माण करने में निहित है जो मानव कल्याण में सहायक हों। तथापि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के परिणामस्वरूप पैदा होने वाली असमानताओं को इन लेखकों ने अन्यायपूर्ण नहीं माना। इसके विपरीत मार्क्सवाद ने पूँजीवादी उत्पादन के ढाँचे, वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष की समाप्ति तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना को न्याय के मौलिक तत्त्व माना। तथापि आलोचना के बावजूद न्याय का उपयोगितावादी दृष्टिकोण द्वितीय विश्वयुद्ध तथा उदारवादी विचारधारा का प्रमुख सिद्धान्त रहा। विश्वयुद्ध के उपरांत यूरोप में कल्याणकारी राज्य की

नोट

स्थापना के परिणामस्वरूप न्याय का यह दृष्टिकोण अधूरा प्रतीत होने लगा। इस संदर्भ में 1971 में प्रकाशित जॉन रॉल्स की पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' (*A Theory of justice*) न्याय की अवधारणा के विकास में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। स्वतंत्रता, समानता तथा सामाजिक कल्याण का समन्वय करके रॉल्स ने आज के उदारवादी-समतावादी राज्य के अनुरूप न्याय का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त इच्छा स्वातंत्र्यवाद के उदय तथा इसके द्वारा मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था, न्यूनतम राज्य, स्वतंत्रता और संपत्ति के निरंकुश व्यक्तिगत अधिकार के समर्थन ने न्याय की एक समानांतर धारणा प्रस्तुत की जिसे 'न्याय का आधिकारिक सिद्धान्त' (Entitlement Theory of justice) कहा जाता है। इस धारणा की व्याख्या नोज़िक ने अपनी पुस्तक 'एनार्की, स्टेट एंड यूटोपिया' (*Anarchy, State and Utopia*) में की है। अब हम इन समकालीन सिद्धान्तों का थोड़ा विस्तार से अध्ययन करेंगे।

10.1.1 प्रक्रियात्मक न्याय (Procedural justice)

जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, न्याय दो प्रकार का होता है– (*i*) प्रत्येक व्यक्ति को वह सब कुछ देना जो उसका हक है तथा (*ii*) सजा अथवा क्षतिपूर्ति द्वारा गलतियों को ठीक करना। जहाँ पहले प्रकार के न्याय का सम्बन्ध उन सिद्धान्तों के बारे में निर्णय लेना है जो समाज में अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा भौतिक पदार्थों के आवंटन करेंगे, वहाँ दूसरे प्रकार का न्याय क़ानूनी व्यवस्था एवम् सजा/क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित है। इसका सम्बन्ध मनमर्जी के उल्लंघनों के विरुद्ध वर्तमान क़ानूनों को निष्ठापूर्ण ढंग से लागू करना है। इसे प्रक्रियात्मक न्याय भी कहा जाता है। प्रक्रियात्मक न्याय का विचार क़ानून के संदर्भ में काफी प्रभावशाली रहा है। प्रक्रियात्मक न्याय उस प्रक्रिया में निष्पक्षता के विचार की तरफ संकेत करता है जो झगड़ों को सुलझाती है तथा संसाधनों का आवंटन करती है।

यह विचार काफी लोकप्रिय रहा है कि निष्पक्ष प्रक्रिया निष्पक्ष परिणामों की उत्तम गारंटी है। इस न्याय का सम्बन्ध निष्पक्ष प्रक्रिया द्वारा निर्णयों का निर्माण एवं कार्यान्वयन से है। यदि इस प्रकार की प्रक्रियाएँ अपनाई जाये जो लोगों को सम्मान एवं प्रतिष्ठा के साथ देखती है तो लोग क़ानून के प्रति आश्वस्त अनुभव करते हैं और इस प्रकार ऐसे परिणामों को स्वीकार करना भी आसान हो जाता है जो लोगों को पसन्द नहीं होते।

प्रक्रियात्मक न्याय का एक पक्ष न्याय के प्रशासन तथा क़ानूनी कार्यवाही विवरण सम्बन्धी चर्चा से सम्बन्धित है। इस प्रकार के प्रक्रियात्मक न्याय को भारत में क़ानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Procedure Established by Law), अमरीका में क़ानून की उचित प्रक्रिया (Due Process of Law), आस्ट्रेलिया में प्रक्रियात्मक निष्पक्षता (Procedural fairness) तथा कनाडा में प्राथमिक न्याय (Primary law) के नाम से पुकारा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रक्रियात्मक न्याय के विचार को ग़ैर-क़ानूनी संदर्भों में भी लागू किया जा सकता है जहाँ झगड़ों के निवारण एवं सामाजिक लाभ एवं हानि को बांटने के लिए कुछ एक प्रक्रियाओं की आवश्यकता पड़ सकती है।

प्रक्रियात्मक न्याय की धारणा हालांकि अरस्तू के समय से चली आ रही परन्तु उदारवाद ने इसे औपचारिक रूप दिया जिसमें यह माना गया कि मूल्यवान वस्तुओं, सेवाओं, लाभों आदि के आवंटन की प्रक्रिया न्यायपूर्ण होनी चाहिए; इसके पश्चात् किसी को क्या मिलता है, यह चर्चा का विषय नहीं है। प्रक्रियात्मक न्याय का सिद्धान्त जाति, धर्म, क्षेत्र, नस्ल, भाषा, संस्कृति आदि के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोध करता है और समाज में सभी की समान गरिमा और समान महत्त्व को स्वीकार करता है।

क्या आप जानते हैं प्रक्रियात्मक न्याय प्रक्रियाओं तथा कार्यविधियों की न्यायसंगति तथा औचित्य एवं निष्पक्षता की तरफ संकेत करता है जिनके माध्यम से किसी नियम अथवा नीति अथवा निर्णय तक पहुँचा जा सकता है और उसे प्रयोग में लाया जा सकता है।

नोट

जॉन रॉल्स ने अपनी पुस्तक *'A Theory of justice'* में प्रक्रियात्मक न्याय के तीन स्वरूप स्पष्ट किये हैं। न्याय की प्राथमिकताओं को निश्चित करने के बाद रॉल्स तीन प्रकार के न्याय में भेद करते हैं। ये हैं: (*i*) पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय (Perfect Procedural justice) (*ii*) अपूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय (Imperfect Procedural Justice) और (*iii*) शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय (Pure Procedural Justice)। पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय का सम्बन्ध उन परिस्थितियों से होता है जहाँ निष्पक्ष वितरण का स्वतंत्र आधार हो तथा ऐसी प्रक्रिया भी हो जिससे इस सम्बन्ध में निष्पक्षता सुनिश्चित की जा सके। अपूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय का अर्थ है वे परिस्थितियाँ जहाँ निष्पक्ष न्याय का स्वतंत्र आधार तो है परंतु ऐसी विधि का अभाव हो जिससे इसे सुनिश्चित किया जा सके; ऐसी स्थिति में अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि किसी विधि विशेष से अपेक्षित नतीजा निकलने की आशा संभावना मात्र है। शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय का सम्बन्ध उस स्थिति से है जहाँ निष्पक्ष निष्कर्ष का कोई स्वतंत्र आधार नहीं होता, केवल निष्पक्ष विधियों और प्रक्रियाओं का ही आधार होता है।

प्रक्रियात्मक निष्पक्षता के प्रारूप (Models of Procedural Fairness)

प्रक्रियात्मक न्याय का सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से थोड़ा विवादास्पद है कि निष्पक्ष प्रक्रिया क्या है—इस प्रकार के कई उत्तर दिये गये हैं। इन्हें हम तीन व्यापक श्रेणियों में बांट सकते हैं: (*i*) परिणाम प्रारूप, (*ii*) सन्तुलन प्रारूप तथा (*iii*) साझेदारी स्वरूप।

प्रक्रियात्मक न्याय के **परिणाम प्रारूप** (Outcome Model) के अनुसार, किसी भी प्रक्रिया की निष्पक्षता उस कार्यविधि पर निर्भर करती है जो सही परिणाम देती है। उदाहरण के लिए यदि कोई मामला आपराधिक मुकदमें का है तो इसका सही परिणाम निर्दोष को बरी करना तथा दोषी व्यक्ति को सजा देना होगा यदि प्रक्रिया वैधानिक है तो निष्पक्ष प्रक्रिया उस सीमा तक होगी जहाँ तक यह उचित क़ानूनों का निर्माण करती है और वहाँ तक अनुचित होगी जहाँ तक गलत क़ानून का निर्माण करती है। तथापि इसकी काफी सीमाएँ हैं सैद्धान्तिक तौर से यदि दो प्रक्रियाएँ समान परिणाम पैदा करती है तो वे इस मॉडल के अनुसार दोनों सही होनी चाहिए। तथापि जैसा की अगले दो प्रारूपों में स्पष्ट किया गया है, किसी भी प्रक्रिया की कुछ अन्य विशेषताएँ होती हैं जो इसे उचित अथवा अनुचित बनाती हैं। उदाहरण के लिए, कुछ लोग यह तर्क दे सकते हैं कि एक परोपकारी तानाशाह उतना न्यायपूर्ण नहीं हो सकता जितनी कि एक प्रजातांत्रिक सरकार चाहे इन दोनों के परिणाम समान हो।

सन्तुलन प्रारूप (Balance Model) का सम्बन्ध खर्चे से है। कई प्रक्रियाएँ अत्यधिक खर्जीली होती है। सन्तुलन प्रारूप का मानना है कि एक उचित निष्पक्ष प्रक्रिया वह है जो प्रक्रिया की कीमत तथा प्रक्रिया से प्राप्त होने वाले लाभ के बीच सन्तुलन पैदा कर सके। अत: 'प्रक्रियात्मक निष्पक्षता का सन्तुलन' दृष्टिकोण के अनुसार अत्यधिक खर्चे से बचने के लिए कोई व्यक्ति कुछ एक परिस्थितियों में किसी गलत फैसले को भी मानने या सहन करने के लिए तैयार हो सकता है।

भागेदारी प्रारूप के विचार के अनुसार एक निष्पक्ष प्रक्रिया वह है जो आक्रान्त पक्ष को निर्णय निर्माण प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर देता है। उदाहरण के लिए एक मुकदमे के दौरान, भागेदारी प्रारूप यह आशा करता है कि बचाव पक्ष को अपना पक्ष प्रस्तुत करने, प्रमाण प्रस्तुत करने, गवाहों को प्रश्न पूछने आदि का अवसर दिया जाये। किसी भी प्रक्रिया के निष्पक्ष होने की शर्त यह है कि किसी कार्यवाही से सम्बन्धित सभी लोगों/पक्षों को भाग लेने का अवसर दिया जाना चाहिए। इस भागेदारी के लिए न्यूनतम अधिकारों जैसे एक औपचारिक नोटिस भेजना, उसे अपनी बात कहने का अवसर देने का पालन अवश्य होना चाहिए ताकि यह प्रक्रिया निष्पक्ष कहलाने के योग्य हो सके।

उपरोक्त के अतिरिक्त, किसी प्रक्रिया को निष्पक्ष बनाने के लिए कुछ अन्य तत्त्व भी है। इनमें **पहला** है, सुसंगति (Consistency) पर बल अर्थात् निष्पक्ष प्रक्रिया को इस बात का आश्वासन देना चाहिए कि समान लोगों के साथ

नोट

समान व्यवहार किया जायेगा और किसी भी प्रकार का अन्तर केवल व्यक्तिगत विशिष्टता के आधार पर होना चाहिए न कि भिन्न प्रक्रियाओं की बाहरी विशेषताओं के आधार पर।

दूसरा, इस प्रक्रियात्मक न्याय को लागू करने वाले लोग निष्पक्ष तथा तटस्थ होने चाहिए। निष्पक्ष निर्णय-निर्माता के लिए इन प्रक्रियाओं को इनके निष्पक्ष एवं सटीक परिणामों तक पहुँचाना अनिवार्य है। इस प्रक्रिया से जुड़े हुये सभी पक्षों को इस बात में विश्वास करना चाहिए कि तृतीय पक्ष (न्यायालय) की नीयत सही है कि वे लोगों के साथ निष्पक्ष व्यवहार करना चाहते हैं तथा वे प्रभावित पक्षों के दृष्टिकोणों तथा आवश्यकताओं पर विचार करेंगे। यदि लोग इस तृतीय पक्ष पर विश्वास करते हैं तो वे इस निर्णय-निर्माण प्रक्रिया की निष्पक्षता पर भी विश्वास करेंगे।

तीसरा, निर्णयों के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने वालों को इस प्रक्रिया में अपनी आवाज़ उठाने तथा प्रतिनिधित्व का अवसर मिलना चाहिए। इस प्रकार का प्रतिनिधित्व समूह के सदस्यों की स्थिति को सुदृढ़ करता है तथा निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में विश्वास पैदा करता है। विशेषत: यह कमजोर पक्ष के लिए बहुत आवश्यक है जिसकी आवाज कई बार नहीं सुनी जाती और अन्त में, लागू की गई प्रक्रियाएँ पारदर्शी होनी चाहिए। सभी निर्णय खुली प्रक्रियाओं के आधार पर लिए जाने चाहिए और इनमें गोपनीयता अथवा धोखाधड़ी नहीं होनी चाहिए। प्रक्रियात्मक न्याय उन प्रक्रियाओं की निष्पक्षता तथा पारदर्शिता से जुड़ा हुआ है जिसके माध्यम से निर्णय लिए जाते हैं। यह वितरणात्मक न्याय से भिन्न है जिसका सम्बन्ध अधिकारों तथा संसाधनों के वितरण से है तथा प्रतिशोधात्मक न्याय जिसका अर्थ है गलतियों की क्षतिपूर्ति अथवा सजा में निष्पक्षता।

निष्पक्ष प्रक्रियाएँ राजनीतिक व्यवस्था के प्रति निष्ठा की भावना पैदा करती हैं, नेताओं की शक्ति को वैध ठहराती है तथा क़ानून के शासन का स्वेच्छा से पालन में सहायता करती है इस प्रकार का अनुपालन कई स्वरूपों में अभिव्यक्त होता है जैसे कार्यस्थल पर राजनीतिक संगठनों में अथवा क़ानूनी संदर्भ में। अत: प्रक्रियात्मक न्याय से सम्बन्धित मुद्दे कई विविध प्रकार के निर्णयों के सन्दर्भ में उभरकर आते हैं। उदाहरण के लिए, क़ानूनी कार्यवाही के संदर्भ में प्रक्रियात्मक न्याय को यह आश्वस्त करना होता है कि मुकदमें की कार्यवाही निष्पक्ष हो। क़ानून के कार्यान्वयन से यह आशा की जाती है कि वह निष्पक्षता, सामन्जस्य तथा पारदर्शिता आश्वस्त करे। इसी तरह यह आश्वस्त करने के लिए कि प्रतिशोधात्मक न्याय किया जाये तथा अपराधियों को उचित सजा मिले, यह आवश्यक है कि न्यायाधीश तथा जूरी सजा देते समय निष्पक्ष तथा तटस्थ हो समझौतों तथा क़ानूनी कार्यवाही की निष्पक्ष प्रक्रियायें भी निर्णयों की वैधता में केन्द्रीभूत होती है। ऐसे मामलों में जहाँ भिन्न पक्षों को यह अनुभव होता है कि निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के परिणामों को स्वीकार करने के लिए मज़बूर होना पड़ रहा है, जो उनकी सोच के अनुसार अनुचित है, तो इसके प्रतिक्रियात्मक प्रभाव भी हो सकते हैं। तथापि काफी लोगों को मानना है कि प्रक्रियात्मक न्याय अपने-आपमें प्रयाप्त नहीं है। उचित परिणामों तक पहुँचना उचित प्रक्रियाओं को लागू करने से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

नोट्स संतुलन प्रारूप (Balance Model) का संबंध खर्चे से है।

10.1.2 रॉल्स का न्याय संबंधी सिद्धान्त (Rawls's Theory of Justice)

1. न्याय का समझौतावादी सिद्धान्त–जॉन रॉल्स के विचार (Contractarian Theory of Justice–Views of John Rawls)

न्याय के उपयोगितावादी सिद्धान्त का स्थान पिछले कुछ वर्षों में एक वैकल्पिक सिद्धान्त ने ले लिया है जिसे अमरीका के सुप्रसिद्ध दार्शनिक जॉन रॉल्स ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक *'A Theory of justice'* में स्पष्ट किया है। इस पुस्तक की तुलना प्लेटो, मिल और कांत की रचनाओं से की गई है। इस पुस्तक का मूल उद्देश्य न्याय की धारणा

नोट

को एक ऐसा सुनिश्चित सैद्धान्तिक आधार प्रदान करता रहा है जो उपयोगितावादी धारणा का स्थान ले सके तथा जो आधुनिक उदारवादी प्रजातांत्रिक कल्याणकारी राज्य की आवश्यकताओं के अनुरूप हो।

रॉल्स न्याय को सभी सामाजिक संस्थाओं का सर्वप्रथम एवं मौलिक गुण मानते हैं और इस बात का विश्लेषण करते हैं कि न्याय के किन सिद्धान्तों को सर्वोचित ठहराया जा सकता है। ऐसा करते हुए वह हॉब्स लॉक और रूसो की भाँति सामाजिक समझौते पर आधारित न्याय के सिद्धान्त की रचना करते हैं। रॉल्स के अनुसार क्योंकि न्याय किसी भी सामाजिक व्यवस्था की नींव है, अत: सभी राजनीतिक और वैधानिक निर्णय इन नियमों के अंतर्गत ही लिए जाने चाहिए। रॉल्स के अनुसार न्याय वितरण का गुण (Property of Distribution) है और इसका सम्बन्ध समाज में वस्तुओं और सेवाओं के वितरण से है। रॉल्स इन वस्तुओं को मौलिक पदार्थ (Primary Goods) का नाम देते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं:

(1) सामाजिक पदार्थ (Social Goods): वे पदार्थ जो सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वितरित किये जाते हैं, जैसे वेतन, संपत्ति, अवसर, भौतिक पदार्थ, अधिकार, स्वतंत्रता आदि तथा

(2) प्राकृतिक पदार्थ (Natural Goods): जैसे स्वास्थ्य, बुद्धि, काल्पनिक शक्ति, क्षमता जो सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वितरित नहीं किये जाते परन्तु उनसे प्रभावित अवश्य होते हैं।

एक न्यायोचित समाज में इन पदार्थों का वितरण कैसे होता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनकी अधिकार व्यवस्था, क़ानून प्रक्रिया तथा पद प्रतिष्ठा आदि में न्याय के कौन से सिद्धान्त परिलक्षित होते हैं।

कुछ मूल मान्यताएँ (Some Basic Assumptions)

न्याय के मूल सिद्धान्तों का वर्णन करने से पहले रॉल्स कुछ मूल मान्यताओं की व्याख्या करता है जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। **पहली,** रॉल्स न्याय की धारणा का विकास इस दृष्टिकोण से करता है कि समाज में सभी व्यक्ति स्वतंत्र एवं समान है। उनकी यह स्वतंत्रता उनके दो नैतिक नियमों के स्वामित्व के साथ जुड़ी हुई है–(*i*) न्याय की समझ की क्षमता (Capacity for a sense of justice) तथा (*ii*) अच्छाई की अवधारणा (Conception of good)। 'समाज के सम्पूर्ण सहयोगी सदस्य के रूप में' रहने के लिए ये नियम जिस सीमा तक उपलब्ध है, उसी सीमा तक वह समाज समान हैं। इसकी और व्याख्या करते हुये रॉल्स लिखता है कि 'न्याय की समझ' का अर्थ है 'न्याय की सार्वजनिक धारणा, जो उचित सहयोग की माँग करती है, को समझने, लागू करने तथा उसके अनुसार कार्य करने की क्षमता'। यह समझ एक ऐसी इच्छा की अभिव्यक्ति करती है कि दूसरों के साथ सम्बन्ध के संदर्भ में इस प्रकार का व्यवहार किया जाये जिनका वे भी सार्वजनिक तौर पर अनुमोदन कर सके। तथा 'अच्छाई की अवधारणा' में वह सब कुछ निहित है जो मानव जीवन के लिए मूल्यवान है। सामान्यत: इसमें उन सभी अन्तिम उद्देश्यों को शमिल किया जाता है जो हम अपने लिए प्राप्त करना चाहते हैं और साथ ही साथ दूसरे लोगों के साथ लगाव तथा अन्य समूहों तथा समुदायों के प्रति निष्ठा।

दूसरा, रॉल्स निष्पक्षता के रूप में न्याय के सिद्धान्त को एक 'राजनीतिक धारणा' (Political Concept) मानता है। इस प्रकार की धारणा की तीन विशेषताएँ हैं: (*i*) यह एक नैतिक धारणा है जिसका सम्बन्ध समाज के मूल ढाँचें से है, अर्थात् समाज के मुख्य सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं से, तथा ये सभी मिलकर सामूहिक सहयोग की एक व्यवस्था में किस तरीके से फिट हो जाये और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलते रहें। दूसरा, 'सार्वजनिक राजनीतिक संस्कृति' (Public Political Culture) में अवधारणाओं का एक ऐसा नेटवर्क उपस्थित होता है जिसमें से राजनीतिक अवधारणा की व्याख्या की जा सकती है तथा उसका औचित्य प्रस्तुत किया जा सकता है। तीसरा, इसकी विषय-वस्तु कुछ मौलिक विचारों के संदर्भ में अभिव्यक्त होती है जिसे किसी प्रजातांत्रिक समाज की सार्वजनिक राजनीतिक संस्कृति में निहित देखा जा सकता है। यह सार्वजनिक संस्कृति एक संवैधानिक शासन की राजनीतिक संस्थाओं तथा इसकी व्याख्याओं की सार्वजनिक परम्पराओं से मिलकर बनती है।

नोट

तीसरी, न्याय की राजनीतिक धारणा एक 'विवेकशील नागरिक' (reasonable citizen) की धारणा की तरफ संकेत करती है। नागरिकों को उस स्थिति में विवेकशील माना जा सकता है जब पीढ़ियों से सहयोग की एक व्यवस्था में एक-दूसरे को स्वतंत्र एवं समान समझते हुये, वे एक-दूसरे को सामाजिक सहयोग की उचित शर्तें प्रस्तुत करने को तत्पर रहते हैं। इसका अभिप्राय है लिये गये निर्णयों को मान्यता देना तथा इनके परिणामों के बोझ को वहन करने के लिए तैयार रहना। हमें यह स्वीकार करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए कि विवेकशील व्यक्ति बिना किसी पूर्वाग्रह के अथवा अपने अथवा समूह हित का अनावश्यक ध्यान रखे बिना भी एक-दूसरे के साथ मतभेद रख सकते हैं। एक विवेकशील व्यक्ति राजनीतिक शक्ति, यदि वह उसे मिल जाती है, का प्रयोग ऐसे व्यापक विचारों को दबाने के लिये अविवेकपूर्ण मानेगा जो अविवेकशील नहीं है हालांकि ये विचार उसके विचारों से मेल न खाते हो। उसका अर्थ है कि विवेकशील व्यक्ति किसी धर्म को दबाने अथवा उसे ग़ैर-क़ानूनी घोषित नहीं करेगा चाहे वह उसके अपने धर्म से भिन्न हो। वह उस स्थिति में भी ऐसा नहीं करेगा जब उसका धर्म बहुमत में हो जाये और उन्हें दबाये जाने का डर भी समाप्त हो जाये।

चौथी, रॉल्स के न्याय पर विचार हॉब्स तथा लॉक के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की परम्परा पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार, राजनीतिक आज्ञापालन को समझने के लिए, हमें इस स्थिति की कल्पना करनी चाहिए कि सरकार अथवा क़ानून के अन्तर्गत किन्हीं संगठित समाज से पहले व्यक्ति कैसा था और फिर यह सवाल पूछे (*i*) कि किन कारणों ने व्यक्ति को एक संगठित समाज बनाने के लिए प्ररित किया होगा (*ii*) इस प्राक्-राजनीतिक अवस्था में अपने परस्पर सामाजिक सम्बन्धों को निर्देशित करने के लिए किन सिद्धान्तों को चुना होगा। सामाजिक समझौते में तीन विशेषताएँ हैं जो इसे विशिष्ट बनाती है: (*i*) प्राक-राजनीतिक अवस्था (*ii*) राजनीतिक व्यवस्था जो लोगों ने प्राक-राजनीतिक व्यवस्था से निकलने के लिए बनाई तथा (*iii*) वह वास्तविक व्यवस्था जो कि अन्यायपूर्ण है जिसके अन्तर्गत अब हम रह रहे हैं। इसी क्रम में रॉल्स ने अपने सिद्धान्त में तीन अवस्थाओं की बात की है (*i*) मूल स्थिति (original position), (*ii*) न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था जिसका ढाँचा न्याय के दो सिद्धान्तों के संदर्भ में स्पष्ट किया गया है, (*iii*) वास्तविक समाज (actual society)।

क्योंकि रॉल्स का सिद्धांत हॉब्स, लॉक की भान्ति सामाजिक समझौते पर आधारित है, अत: रॉल्स भी प्राक् प्राकृतिक अवस्था (pre-social state of nature) की बात करता है जिसमें लोग सहमति के आधार पर उस समाज का स्वरूप निश्चित करेंगे जिसमें वे रहना पसंद करेंगे जो निष्पक्ष चयन की परिस्थितियों में न्यायसंगत होगा (which will be just under conditions of impartial choice)। इस संदर्भ में रॉल्स कई अनुमान लगाते हैं। **पहला,** सभी लोग एक-दूसरे के प्रति उदासीन होते हैं। जब तक उनके व्यक्तिगत हितों की पूर्ति होती रहती है वे न तो दूसरों के कार्यों में दखल देते हैं और न ही एक-दूसरे से ईर्ष्या अनुभव करते हैं। **दूसरा**, एक नये समाज के बारे में निर्णय लेते हुए सभी अपने-अपने हितों की अधिकतम संतुष्टि का प्रावधान करना चाहेगें जैसे अधिकार, समानता, अवसर, धन आदि। तीसरा, वे सभी 'अनभिज्ञता के पर्दे' (veil of ignorance) में होंगे जो उन्हें दूसरों की क्षमताओं की जानकारी से वंचित रखेगा। समझौते की इस स्थिति को रॉल्स मूल अवस्था (original position) का नाम देता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत समझदारी (individual wisdom) तथा सामान्य अनभिज्ञता (general ignorance) की स्थिति में है। **चौथा,** हालांकि वे अनभिज्ञता के पर्दे के पीछे ही है, फिर भी उन्हें इस बात का ज्ञान है कि मनुष्य को अपने अतीत का स्मरण है, वे अपने भविष्य के बारे में कल्पना कर सकते हैं तथा वर्तमान अवस्था में अन्य व्यक्ति और वस्तुओं के साथ आदान-प्रदान कर सकते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान है कि लोगों के विविध हित एवं योग्यताएँ होती हैं। उन्हें उस सामान्य परिस्थितियों के बारे में भी ज्ञान है जिनमें लोग अक्सर लिप्त रहते हैं (जैसे लोग बीमार अथवा सेहतमंद हो सकते हैं गरीब अथवा अमीर, शिक्षित अथवा अनभिज्ञ, कुशल अथवा अकुशल, ऋणग्रस्त अथवा ऋणमुक्त, एक प्राकृतिक वातावरण अथवा दूषित वातावरण, स्वतंत्र अथवा दास आदि।)

नोट

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि रॉल्स ने सामाजिक समझौते की धारणा को क्यों अपनाया। सामाजिक समझौते के सिद्धांत को अपनाने का मूल कारण यह दर्शाना था कि न्याय के नियम जो समाज के मूल ढांचे का निर्माण करते हैं, वास्तव में आम लोगों की सहमति पर आधारित होने चाहिए। ये वे नियम हैं जो स्वतन्त्र एवं विवेकशील लोग अपने हितों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से मूल स्थिति में स्वीकार करेंगे। कैली के अनुसार, रॉल्स द्वारा अपनाया गया सामाजिक समझौते का सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि राजनीतिक तथा सामाजिक प्रबंध तभी वैध होंगे यदि समाज का निर्माण निष्पक्ष सामाजिक सहयोग की स्वैच्छिक योजना के आधार पर किया जाता है जिसमें व्यक्तियों को स्वतन्त्र एवं समान माना जाये। रॉल्स के लिए समझौते की धारणा काफी गम्भीर है क्योंकि यह एक ऐसा औचित्य प्रदान करना है जो व्यक्तियों के स्वतंत्र एवं समान होने की धारणा के साथ समायोजित है। संक्षेप में, सामाजिक समझौता काल्पनिक होते हुए भी दो उद्देश्यों की पूर्ति करता है–(*i*) यह न्याय के दो सिद्धांत चुनने में सहायता करता है तथा (*ii*) यह दर्शाने का प्रयत्न करता है कि लोगों को इन दो सिद्धांतों के अन्तर्गत दी गई शर्तों को क्यों स्वीकार करना चाहिए।

न्याय के दो नियम (Two Principles of Justice)

उपरोक्त परिकल्पनाओं पर आधारित और अवसर मिलने पर, एक नये समाज के निर्माण के संदर्भ में, प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों में वृद्धि करना चाहेगा। परन्तु क्योंकि 'अनभिज्ञता के पर्दे' के कारण वह अपने और दूसरों के हितों में अंतर नहीं कर सकता; अत: वह कुछ ऐसे नियमों का समर्थन करना चाहेगा जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकतम विकास करने का अवसर प्रदान करे। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहेगा जो उसकी हानियों को कम से कम करे और जो यह आश्वासन दे कि गरीब से गरीब व्यक्ति भी निराश्रय नहीं होगा (क्योंकि हो सकता है कल को कहीं वही गरीब न हो जाये)। रॉल्स इस नियम को अधिकतमता का नियम (Maximization Principle) का नाम देते हैं क्योंकि यह न्यूनतम कल्याण को अधिकतम सीमा तक प्राप्त करना चाहता है। उदाहरण के लिए, इन लोगों में से कोई भी दास प्रथा के समाज में नहीं रहना चाहेगा क्योंकि कोई भी व्यक्ति दास बनना पसंद नहीं करेगा। (यह बात अलग है कि हो सकता है कल को वह मालिक ही बन जाये)। अत: अपने हितों को अधिकतम सीमा तक आगे बढ़ाते हुए और मूल पदार्थों (Primary Goods) का वितरण करने के दृष्टिकोण से, रॉल्स के अनुसार, लोग न्याय के दो नियम चुनेंगे:

(1) प्रत्येक व्यक्ति को व्यापक स्तर पर मौलिक स्वतंत्रताओं का ऐसा समान अधिकार जो दूसरों के इसी समान अधिकार के अनुरूप हो तथा

(2) सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं को इस तरह क्रमबद्ध किया जाये कि वे दोनों (A) अवसर की निष्पक्ष समानता के अंतर्गत पद तथा प्रतिष्ठा की प्राप्ति सभी के लिए सुलभ हो तथा (B) समाज के न्यूनतम सुविधा प्राप्त लोगों को अधिकतम लाभ पहुँचायें।

(1) Each person to have an equal right to the most extensive basic liberties compatible with similar liberties of others and

(2) Social and economic inequalities are to be so arranged that both are (A) attached to positions and offices open to all under conditions of fair equality of opportunity and (B) to the greatest benefit to the last advantaged.

न्याय के ये सिद्धान्त विषयकोश प्राथमिकता (lexical priority) के क्रम पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि समान स्वतंत्रता का पहला सिद्धान्त प्राथमिकता के क्रम से पहले स्थान पर है। दूसरे नम्बर पर 'समान अवसर का सिद्धान्त' (2A) तथा तीसरे नम्बर पर सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं पर आधारित भेदमूलक सिद्धान्त (2B) आयेगा। रॉल्स के अनुसार यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि पहला सिद्धान्त तार्किक दृष्टिकोण से दूसरे सिद्धान्त

नोट

से ऊँचा है अर्थात् न्याय की प्राप्ति के लिए दूसरे सिद्धान्त 2A तथा 2B तक पहुँचने से पहले सिद्धान्त 1 को पूरी तरह से लागू करना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में, प्रथम सिद्धान्त का दूसरे सिद्धान्त पर तार्किक वरीयता का अभिप्राय है कि किसी भी प्रकार के मूल अधिकारों के उल्लंघन को यह तर्क देकर उचित नहीं ठहराया जा सकता कि इस प्रकार के उल्लंघन से सामाजिक/आर्थिक लाभ होगा। इसी तरह दूसरे सिद्धान्त का तार्किक नियम है पहले अवसर की उचित समानता को लागू करना तथा इसके पश्चात् भेदमूलक सिद्धान्त तक पहुँचना। अर्थात् न्याय की दिशा में भेदमूलक सिद्धान्त को संतुष्ट करने से पहले अवसर की उचित समानता के सिद्धान्त को संतुष्ट करना आवश्यक है। आइये अब हम इन सिद्धान्तों की व्याख्या करें।

पहला सिद्धान्त (First principle)

रॉल्स के अनुसार न्याय का पहला सिद्धान्त, अर्थात् समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त, दोनों सिद्धान्त में प्रथम श्रेणी का सिद्धान्त है जिसे दूसरे सिद्धान्त से पहले संतुष्ट किया जाना चाहिए अर्थात् स्वतंत्रता पर कोई भी सीमा केवल स्वतंत्रता के संदर्भ में ही लगाई जा सकती है, धन अथवा आय में वृद्धि करने के दृष्टिकोण से नहीं। जैसा रॉल्स लिखते हैं, बिना पर्याप्त कारणों के (व्यक्ति के) व्यवहार के विरुद्ध क़ानूनी तथा अन्य सीमाएँ लगाना आम धारणा है परन्तु यह धारणा किसी विशेष स्वतंत्रता के लिए कोई विशिष्ट प्राथमिकता का निर्माण नहीं करती। इसके विपरीत, स्वतंत्रता की प्राथमिकता का अर्थ है कि न्याय का पहला सिद्धान्त मूल स्वतंत्रताओं को **विशेष** स्थान देता है। सार्वजनिक कल्याण तथा पूर्णतावादी मूल्यों के लिए इनका महत्त्व सर्वोच्च है। इसमें समान स्वतंत्रताओं से किसी भी सामाजिक समुदाय को केवल इसलिए वंचित नहीं किया जा सकता कि उनकी यह स्वतंत्रता आर्थिक निपुणता तथा विकास से सम्बन्धित नीतियों में बाधा डालती है। स्वतंत्रता की प्राथमिकता का अभिप्राय है कि मूल स्वतंत्रता केवल किसी अन्य स्वतंत्रता में वृद्धि के संदर्भ में ही सीमित या वंचित की जा सकती है। संक्षेप में, ये मूल स्वतंत्रताएँ: (*i*) विचार की स्वतंत्रता, (*ii*) अन्त:करण की स्वतंत्रता (इसमें धार्मिक, दार्शनिक स्वतंत्रता तथा इस विश्व के प्रति हमारे नैतिक विचार भी निहित है।), (*iii*) राजनीतिक स्वतंत्रतायें। ये स्वतंत्रतायें प्रतिनिधि-प्रजातांत्रिक संस्थाओं, भाषण, अभिव्यक्ति तथा प्रेस की स्वतंत्रता तथा इकट्ठे होने की स्वतंत्रता की माँग करती है, (*iv*) संगठन बनाने की स्वतंत्रता, (*v*) व्यक्तित्व की स्वतंत्रता एवं अखंडता। इनका अर्थ है दासता तथा कृषिदासता से मुक्ति, आवागमन की स्वतंत्रत, व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता तथा (*vi*) क़ानून के शासन के अन्तर्गत आने वाले अधिकार एवं स्वतंत्रतायें। इसके अतिरिक्त इन मूल स्वतंत्रताओं में रॉल्स जिन्हें निहित करता है, वे हैं व्यक्तिगत संपत्ति रखने तथा उसका उपयोग करने का अनन्य अधिकार। ऐसा इसलिए है कि यह स्वतंत्रता व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा आत्म-सम्मान की भावना का आधार है। तथापि इन मूल स्वतंत्रताओं में दो व्यापक धारणाओं को निहित नहीं किया गया– अधिग्रहण एवं वसीयत सम्बन्धी कुछ अधिकार, उत्पादन के साधनों एवं प्राकृतिक साधनों के स्वामित्व का अधिकार तथा उत्पादन के साधनों तथा प्राकृतिक साधनों के नियंत्रण में भागेदारी का अधिकार जो, रॉल्स के अनुसार, सामाजिक संपत्ति होने चाहिए। ये मूल स्वतंत्रतायें हमें (*i*) न्याय के नियमों को समझने, लागू करने तथा पालन करने की क्षमता के योग्य बनाती है तथा (*ii*) अच्छाई की धारणा का निर्माण करने, उसमें संशोधन करने तथा उसे प्राप्त करने के योग्य बनाती है।

दूसरा सिद्धान्त (Second Principle)

सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं के प्रबंध से सम्बन्धित न्याय के दूसरे सिद्धान्त का अर्थ है कि समाज कुछ ऐसे कार्यक्रम भी आरम्भ कर सकता है जिसमें कुछ लोगों को दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्ति, आय तथा सम्मान दिया जाये। उदाहरण के लिए, उच्च प्रबंधकों तथा विशेषज्ञों अथवा लेखाकारों को आम मज़दूरों अथवा क्लर्कों आदि से अधिक वेतन अथवा सुविधायें दी जायें, बशर्ते कि ये इन दो शर्तों को पूरा करे: (*i*) ऐसे कार्यक्रमों से उन लोगों के जीवन में सुधार आये जिनका जीवन इस समय बदतर है अर्थात इससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन स्तर में सुधार हो तथा समाज के निम्नतम वर्ग के लोगों का उनके कल्याण के अनुरूप सशक्तीकरण हो तथा (*ii*) समाज के ये विशेषाधिकारी पद अवसर की उचित समानता के आधार पर सभी के लिए खुले हो, अर्थात् वे किन्हीं बेफजूल

नोट

मानदंडों के आधार पर किये जाने वाले भेदभावों के आधार पर प्रतिबन्धित न किये जायें। न्याय के इस दूसरे सिद्धान्त में हमें समाजवादी विचारों की झलक मिलती है जिसके अनुसार उत्तरदायित्व एवं बोझ का आवंटन योग्यता के अनुसार होना चाहिए तथा लाभों का वितरण आवश्यकता के अनुसार। ऐसा अनुमान हम आसानी से लगा सकते हैं कि समाज के निम्नतम वर्ग की आवश्यकताएँ सबसे अधिक होती हैं और जिन्हें विशेष शक्तियाँ (जो कि सामाजिक असमानता ला सकती है) दी गई है उनके उत्तरदायित्व एवं बोझ भी अधिक है। तथापि यह योग्यता सिद्धान्त कि विशिष्ट कुशलताओं को पुरस्कृत किया जाना चाहिए, रॉल्स के भेदमूलक सिद्धान्त का भाग है। परन्तु **इस भेदमूलक सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यह उन सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं में किसी प्रकार के परिवर्तन की आज्ञा नहीं देता जो उन लोगों के जीवन को बेहतर बनाये जो पहले ही बेहतर है परन्तु उनके लिए कुछ न करे जिनका जीवन बदतर है या जो समाज में निम्नतम स्तर पर है।**

क्योंकि सामाजिक मूल पदार्थों के वितरण को समाज के सभी सदस्यों की समानता, स्वतंत्रता तथा कल्याण का सम्मान करना है, अत: यह निरंकुश समान वितरण नहीं हो सकता। रॉल्स के अनुसार, एक बार लोगों की मूल आवश्यकताएँ पूरी हो जाती है तो उनकी मूल स्वतंत्रताओं के दूसरे नियम अर्थात् अवसर की समानता तथा भेदमूलक सिद्धान्त पर ध्यान दिया जा सकता है। जहाँ रॉल्स मूल स्वतंत्रताओं के असमान वितरण के पक्ष में नहीं है, वहाँ उसका मानना है कि आय तथा धन में कुछ असमानताएँ सम्भव है और अवांछनीय नहीं है। अत: दूसरे सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य इन असमानताओं 'निष्पक्षता के रूप में न्याय' के दायरे के अन्दर रखना है। रॉल्स के सिद्धान्त में उचित एवं न्यायोचित असमानताओं तथा अनुचित असमानताओं में अन्तर महत्त्वपूर्ण है। सकारात्मक दृष्टिकोण से उचित अवसर की समानता का अर्थ है कि राज्य शैक्षणिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में अवसर की उचित समानता प्रदान करे तथा बेकारी तथा बीमारी भत्ता प्रदान करें। इनके लिए एक हस्तक्षेपी कल्याणकारी राज्य की आवश्यकता है जो शैक्षणिक संस्थाओं का संचालन कर तथा अर्थव्यवस्था को भी नियमित करे।

रॉल्स के अनुसार, धन तथा आय में अत्यधिक समानता वृहतर रचनात्मक शक्ति तथा उत्पादन के लिए आवश्यक आर्थिक प्रोत्साहन को नष्ट कर सकती है। यह अमीर तथा गरीब दोनों के लिए हानिकारक होगा। गरीबों के दृष्टिकोण से, न्याय सभी प्रकार की आर्थिक असमानताओं की सम्पूर्ण समाप्ति नहीं चाहता। रॉल्स का मानना है कि कुछ असमानतायें जो वृहतर रचनात्मक शक्ति तथा वृहतर उत्पादन के लिए प्रोत्साहन का कार्य करती है, उन्हें सामाजिक ढाँचे अथवा संवैधानिक प्रबंधों में संघटित किया जाना चाहिए ताकि इनका लाभ समाज में सभी विशेषकर समाज के न्यूनतम स्तर को मिल सके। उसका यह भी तर्क है कि समाज के निम्नतम वर्ग को लाभ पहुँचाने का अर्थ होगा सभी को लाभ पहुँचाना। समाज अपनी मूल संस्थाओं के ढाँचे का निर्माण अथवा पुनर्निर्माण इस प्रकार कर सकता है जिससे आय तथा धन की असमानतायें निम्नतम वर्ग को अधिकतम लाभ पहुँचाये। भेदमूलक सिद्धान्त का उद्देश्य असमानताओं को समानता में परिवर्तित करना नहीं है बल्कि आर्थिक असमानताओं के अनुचित तथा पक्षपातपूर्ण पक्ष को उचित एवं निष्पक्ष पक्ष में बदलना है ताकि समाज के निम्नतम वर्ग को लाभ मिल सके। इसके अनुसार वे असमानताएँ, जो केवल अमीरों का भला करती हैं, गरीबों का नहीं, अनुचित है।

आर्थिक और सामाजिक स्तर पर रॉल्स पुनर्वितरणात्मक न्याय (Redistributive Justice) के पक्ष में है। इसके अनुसार राज्य का कार्य केवल सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा ही नहीं है बल्कि सबसे अधिक जरूरतमंद लोगों की आवश्यकताओं को उच्चतम सामाजिक आदर्श बनाकर मूल पदार्थों को पुनर्वितरण द्वारा उपलब्ध करवाना है। तथापि रॉल्स पूर्णतया समतावादी वितरण का समर्थन नहीं करते। वह असमानताओं का भी समर्थन करते हैं—अधिकतम सामाजिक भलाई के उपयोगितावादी दृष्टिकोण से नहीं बल्कि समाज के निम्नतम लोगों की जीवन दशा में सुधार के दृष्टिकोण से। रॉल्स का तर्क है कि प्राकृतिक योग्यतायें और जन्म की परिस्थितियों समाज में विशेषाधिकारों और असमानताओं को जन्म देती हैं। क्योंकि इन असमानताओं को खत्म नहीं किया जा सकता, इसलिए एक न्यायपूर्ण समाज का कर्तव्य है कि वह अपने स्रोतों का प्रयोग, जिसमें योग्य व्यक्तियों के प्रयत्न और क्षमतायें निहित हैं, इस ढंग से करे जिससे समाज के निम्नतम वर्ग की दशा में सुधार हो सके और विशेषाधिकारों से उत्पन्न होने वाली असमानताओं की क्षतिपूर्ति हो सके। केवल योग्य व्यक्ति को पुरस्कृत करना मनमाना न्याय होगा। न्याय का सही अर्थ

नोट

'योग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत करना नहीं बल्कि निम्नतम लोगों की क्षतिपूर्ति करना है।' जैसा रॉल्स लिखते हैं, 'न्याय पुरस्कार का सिद्धान्त न होकर क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त है' (Justice is 'not an ethics of reward' but 'an ethics of redress')

न्याय के सिद्धान्त तथा प्राथमिकता निश्चित करने के बाद, रॉल्स के अनुसार, समझौते का अगला कदम एक ऐसे संविधान का निर्माण है जो न्याय के इन सिद्धान्तों को संतुष्ट कर सके तथा न्यायसंगत और प्रभावशाली विधि-निर्माण का आधार बन सके। इसके लिए संविधान को 'अंत:करण की स्वतंत्रता, विचाराभिव्यक्ति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा समान राजनीतिक अधिकार' सुरक्षित करने होंगे। दूसरे शब्दों में, संविधान के स्तर पर भी रॉल्स न्याय के सिद्धान्त में स्वतंत्रता के नियम को ही प्राथमिकता देते हैं। संविधान-निर्माण के बाद लोगों को समाज के लिए नीति तथा क़ानून-निर्माण के बारे में सोचना होगा। विधि निर्माण का सम्बन्ध जहाँ एक तरफ दीर्घकालीन सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों की उपलब्धि होगा, वहाँ दूसरी तरफ न्याय के 'दूसरे नियम' का भी परिपालन करना होगा जिसके अनुसार सामाजिक और आर्थिक नीतियों का उद्देश्य अवसर और न्यायसंगत समानता की परिस्थितियों में, समाज के निम्नतम लोगों की दीर्घकालीन आकांक्षाओं को अधिकतम लाभ पहुँचाना है।' अत: विशेषाधिकारों का समर्थन करने वाले सभी क़ानूनों को वहाँ तक अन्यायपूर्ण घोषित कर दिया जायेगा जहाँ तक वे समाज के निम्नतम लोगों को अधिकतम लाभ उपलब्ध नहीं करवाते।

समग्र रूप से, परंपरागत उदारवाद के स्वेच्छाचारी सिद्धान्त जो व्यक्ति की स्वतंत्रता में दृढ़ विश्वास करता था और व्यक्ति को अकेला छोड़ने के पक्ष में था तथा साम्यवाद का अत्यधिक नियंत्रित सिद्धान्त जो सामाजिक समानता के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता को न्यौछावर कर देता है– इन दोनों सिद्धान्तों से ऊपर उठकर रॉल्स ने न्याय के एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो समकालीन उदारवादी–प्रजातांत्रिक कल्याणकारी राज्य की आवश्यकताओं के अनुरूप है। यह सिद्धान्त एक ऐसे संवैधानिक प्रजातंत्र में विश्वास करता है जो सीमित, प्रतिष्ठित और उत्तरदायी हो। यह मुक्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को कई तरीकों से नियंत्रित करना चाहता है। जैसा कि रॉल्स लिखते हैं, 'यदि क़ानून और सरकार बाज़ार-अर्थव्यवस्था को प्रभावकारी ढंग से प्रतिस्पर्धात्मक रखते हैं; भौतिक और मानवीय स्रोतों का सर्वोत्तम प्रयोग होता है, संपत्ति और धन का व्यापक वितरण होता है, समाज में सबकी न्यूनतम मांगे पूरी होती हैं, सार्वजनिक शिक्षा के आधार पर समाज में अवसर की समानता है, तो इस तरह का वितरण न्यायपूर्ण होगा।'

मूल्यांकन (Evaluation)

इसमें कोई संदेह नहीं कि रॉल्स की पुस्तक *'A Theory of justice'* ने राजनीतिक दर्शन में रुचि पुन: स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है परन्तु फिर भी यह आलोचना से मुक्त नहीं है। इसकी कुछ एक आलोचनाओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है।

1. न्याय के अन्य सिद्धान्तों की तरह रॉल्स की भी आलोचना की गई है। ब्रयान बैरी ने रॉल्स के सिद्धान्त पर कई तरह की आपत्तियाँ जाहिर की हैं, जैसे समाज में न्यूनतम सुविधा वाले व्यक्तियों और समूहों को ढूंढ़ना मुश्किल है, आत्मसम्मान की धारणा स्पष्ट नहीं है, संविधान निर्माण के संदर्भ में भी यह सिद्धान्त स्पष्ट नहीं है आदि।

2. इसी तरह नॉर्मन बैरी का भी कहना है कि रॉल्स का सिद्धान्त उदारवादी-पूँजीवादी सिद्धान्त की पुन: व्याख्या ही है तथा इसकी न्याय व्यवस्था में अमीरों का सुख गरीबों के दु:ख की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकता।

3. मैकफरसन के अनुसार, रॉल्स का सिद्धान्त मानकर चलता है कि पूँजीवादी समाज एक वर्ग-विभाजित समाज है तथा उत्पादन में कार्यकुशलता लाने के लिए उत्साहवर्धन के रूप में समाज में संपत्ति और आय की असमानता अभी भी आवश्यक है। अत: कल्याणकारी राज्य में अमीर-वर्ग से गरीब-वर्ग को संपत्ति तथा धन का हस्तांतरण उस सीमा तक ही संभव है जहाँ तक यह धनी वर्ग की समृद्धता के लिए खतरा नहीं बनता। रॉल्स इस बात को भूल जाते हैं कि संपत्ति की यह असमानता शक्ति तथा आय की असमानता को जन्म देती है और एक वर्ग को दूसरे पर अपना आधिपत्य जमाने का अवसर देती है।

नोट

4. नोज़िक जैसे इच्छास्वातंत्र्यवादी लेखक रॉल्स के इस तर्क को पूर्णतया अस्वीकार कर देते हैं कि व्यक्तिगत योग्यतायें और क्षमतायें समाज की सार्वजनिक संपत्ति हैं और उनका सामाजिक न्याय के आधार पर पुन: वितरण किया जाना चाहिए। नोज़िक ने रॉल्स के भेदमूलक सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की है कि इसे लागू करने से अमीर वर्ग हो सकता है निम्न वर्ग के साथ सहयोग करना मना कर दे, ठीक उसी तरह जिस तरह रॉल्स का अभिप्राय है कि सामाजिक सहयोग के नाम पर अमीर वर्ग द्वारा निम्नतम वर्ग की सहायता की जायगी। नोज़िक पूछता है कि अमीर लोग अपनी असमानता तथा सामाजिक सहयोग की खातिर न्यूनतम वर्ग की सहायता करने के लिए बाध्य क्यों होंगे; ऐसा भी तो हो सकता है कि वे निम्नतम वर्ग से अमीरों की असमानता तथा व्यय को स्वीकार करवा लें। इसके अतिरिक्त नोज़िक का यह भी मानना है कि अमीरों द्वारा उपभोग की जाने वाली प्राकृतिक योग्यतायें (लाभ) किसी के अधिकार का हनन नहीं करती अत: उन्हें अपने आत्म-स्वामित्व का अधिकार है। नोज़िक का मानना है कि रॉल्स का यह विचार कि असमानताओं को निम्नतम वर्ग की सहायता के अनुसार प्रबन्धित किया जाना चाहिए, अपने-आपमें नैतिक दृष्टिकोण से मनमर्जीपूर्ण है।

5. रॉल्स के सिद्धान्त की एक अन्य आलोचना माईकल वालज़र तथा सेन्डल जैसे समुदायवादियों ने की है जिनका मानना है कि रॉल्स हमें हमारे मूल्यों, परम्पराओं तथा आकांक्षाओं से पृथक करके न्याय के बारे में विचार करने के लिए कहता है।

6. सूसन ओकिन जैसी नारीवादी लेखिका इस बात पर ध्यान केंन्द्रित करती हैं कि रॉल्स का न्याय का सिद्धांत पारिवारिक सम्बन्धों में गुथे हुये अन्यायों तथा स्तरविन्यासों पर कितना ध्यान देता है। रॉल्स का तर्क है कि न्याय का सम्बन्ध 'समाज के मूल ढाँचें' से होना चाहिए जबकि नारीवादी लेखकों ने 'personal is political' के विचार के इर्दगिंद कार्य करते हुये रॉल्स की इस आधार पर आलोचना की कि उसने पितृसत्ता पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले अन्याय तथा लिंग पर आधारित श्रम विभाजन, विशेषत: गृहस्थी की तरफ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया।

7. कुछ समतावादी आलोचकों ने रॉल्स के 'प्राथमिक सामाजिक पदार्थ' पर अत्यधिक बल पर चिन्ता जताई है। उदाहरण के लिए अमृत्यसेन का तर्क है कि हमारा उद्देश्य केवल प्राथमिक पदार्थों का वितरण ही नहीं होना चाहिए बल्कि यह भी कि लोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इन पदार्थों का उपयोग कितने प्रभावकारी तरीके से कर पाते हैं।

2. न्याय का आधिकारिक सिद्धान्त–रॉबर्ट नोज़िक के विचार

(Entitlement Theory of Justice: Views of Robert Nozick)

न्याय का आधिकारिक सिद्धान्त इच्छास्वातंत्र्यवादी लेखकों, विशेषकर रॉबर्ट नोज़िक द्वारा प्रतिपादित किया गया है एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में इच्छास्वातंत्र्यवाद मुक्त-बाज़ार अर्थव्यवस्था का समर्थन है और राज्य की कल्याणकारी नीतियों को सीमित करना चाहता है। आर्थिक और सामाजिक समानता लाने के लिए यह कर-प्रणाली द्वारा धन के किसी भी प्रकार के पुनर्वितरण के विरुद्ध है। इसका विचार है कि पुनर्वितरण कर-प्रणाली मौलिक रूप से गलत है और व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन करती है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुएँ और सेवाएँ अपनी मर्जी से खरीदने-बेचने का अधिकार है। जैसा नोज़िक लिखते हैं, 'लोगों के अधिकार होते हैं और कुछ ऐसी चीजें हैं जिनमें व्यक्ति अथवा समूह हस्तक्षेप नहीं कर सकते (जब तक वे अधिकारों का हनन न करें)।' ये अधिकार इतने शक्तिशाली और गहरे होते हैं कि यह सवाल पैदा कर देते हैं कि राज्य तथा इसके अधिकारियों को क्या करना चाहिए (यदि उन्हें कुछ करना है)। इच्छास्वातंत्र्यवाद के अनुसार, सरकार का हस्तक्षेप बंधुआ मज़दूरी के समान है क्योंकि यह हमारे मौलिक तथा नैतिक अधिकारों का हनन करता है। इच्छास्वातंत्र्यवाद न्याय को मार्किट के साथ जोड़ता है।

नोज़िक का आधिकारिक सिद्धान्त जॉन लॉक तथा फ्रेडरिक हायेक के विचारों से प्रभावित है यह व्यक्ति को अपने-आपमें केवल एक साध्य मानता है तथा सामाजिक पदार्थों के किसी भी प्रकार के पुनर्वितरण को केवल लोगों की

नोट

स्पष्ट सहमति पर आधारित करना है। नोज़िक की पुस्तक *एकार्की, स्टेट एंड यूटोपिया* इच्छास्वातंत्र्यवाद का ज़ोरदार समर्थन करती है। नोज़िक द्वारा रॉल्स के न्याय के सिद्धान्त पर चर्चा उदारवाद एवं इच्छास्वातंत्र्यवाद के विचार को उच्च स्तर तक पहुँचा देती है। इच्छास्वातंत्र्यवाद के सिद्धान्त को इस वाक्य में रेखांकित किया गया: प्रत्येक व्यक्ति से उसकी इच्छा के अनुसार लिया जाये तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके चयन के अनुसार दिया जाये।

नोज़िक के न्याय के सिद्धान्त की चर्चा करने से पहले यह आवश्यक होगा कि उसके न्याय के सिद्धान्त की कुछ सामान्य धारणाओं के बारे में जान लिया जाये। **पहला,** नोज़िक का मानना है कि सभी व्यस्क व्यक्तियों के कुछ शक्तिशाली प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनमें शारीरिक सुरक्षा का अधिकार भी निहित है (जो अधिकार के धारक को मारने, सताने या कोई अंग भंग करने से रोकता है)। ये अधिकार इस दृष्टिकोण से प्राकृतिक हैं क्योंकि वे किसी क़ानूनी अथवा सामाजिक परम्पराओं पर निर्भर नहीं है। **दूसरा,** अभी लोगों में कुछ समान न्यूनतम विशेषतायें होती हैं जैसे–अच्छे जीवन की सोची-समझी गई धारणा के अनुरूप स्वायत्त एवं विवेकपूर्ण चयन करने की योग्यता। **तीसरा,** न्याय की यह धारणा इस दृष्टिकोण से ऐतिहासिक है कि न्यायपूर्ण क्या है यह बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि अतीत में क्या होता रहा है। उदाहरण के लिये, किसी के गाल पर थप्पड़ मारना सामान्यत: न्यायसंगत नहीं माना जाता, परन्तु यदि यह किसी परस्पर सहमति पर आधारित बॉक्सिंग मैच का भाग है तो यह गलत नहीं होगा। इसी तरह, किसी को कमरे में बंद करना कोई अच्छी बात नहीं है परन्तु यदि किसी व्यक्ति ने कोई हत्या की है तो ऐसा करना गलत नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, किसी समय विशेष में क्या न्यायसंगत है इसके लिये अतीत की सहमति तथा अतीत की गलतियाँ दोनों प्रासंगिक होते हैं। नोज़िक के सिद्धान्त का यह पक्ष काफी युक्तियुक्त है तथा उसकी इस विशेषता पर बल ने सैद्धान्तीकरण पर काफी सकारात्मक प्रभाव डाला।

नोट्स कोई भी सिद्धान्त शुद्ध ऐतिहासिक (अर्थात् भावी परिणामों को बेफजूल बताया) न होने के बावजूद ऐतिहासिक (अर्थात् अतीत के प्रति संवेदनशील) हो सकता है।

चौथा, नोज़िक का न्याय का सिद्धान्त सम्पत्ति अधिकार पर आधारित सिद्धान्त है। उसका दावा है कि व्यक्तियों का विभिन्न वस्तुओं पर सम्पूर्ण स्वामित्व का अधिकार होता है या वे अर्जित कर सकते हैं। यहाँ सम्पूर्ण स्वामित्व का अर्थ है: (*i*) किसी वस्तु अथवा वस्तुओं के प्रयोग तथा दूसरों द्वारा प्रयोग को नियंत्रित करने का अधिकार, (*ii*) जिन लोगों ने व्यक्ति का वस्तुओं के ऊपर इस अधिकार का उल्लंघन किया है, उनसे क्षतिपूर्ति लेने का अधिकार, (*iii*) जो लोग किसी व्यक्ति के अधिकार का उल्लंघन करने जा रहे हैं उनके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार, जिन्होंने इस अधिकार का उल्लंघन कर दिया है उनसे क्षतिपूर्ति लेने का अधिकार तथा ऐसे लोगों को सजा देने का अधिकार, (*iv*) ऐसे अधिकार को किसी और को हस्तान्तरित करने का अधिकार तथा (*v*) ऐसे अधिकार को खोने से मुक्ति जब तक कोई व्यक्ति किसी दूसरे के अधिकार का उल्लंघन नहीं करता या करने का प्रयत्न नहीं करता।

नोज़िक के न्याय के सिद्धान्त का केन्द्रीभूत सार इस प्रकार है। **यदि हम यह मानकर चलें कि प्रत्येक व्यक्ति उन सभी पदार्थों और संपत्ति का अधिकारी है जो इस समय उसके पास हैं, तो न्यायपूर्ण वितरण वह होगा जो लोगों के आपसी स्वतंत्र विनिमय का परिणाम होगा। कोई भी वितरण जो किसी न्यायपूर्ण उचित परिस्थिति में मुक्त हस्तांतरण का परिणाम होता है, न्यायपूर्ण होता है।** सरकार द्वारा इन विनिमयों पर लोगों की इच्छा के विरुद्ध टैक्स लगाना अन्यायपूर्ण है, चाहे इस टैक्स का प्रयोग कुछ लोगों की प्राकृतिक विकलांगता की क्षतिपूर्ति के लिए ही क्यों न किया जाये। टैक्स लगाने का औचित्य केवल इस मुक्त विनिमय की व्यवस्था और वातावरण को बनाये रखने के लिए अनिवार्य संरक्षण है–अर्थात् पुलिस और न्याय की वह व्यवस्था जो लोगों के आपसी समझौतों का लागू करवा सके। आधिकारिक न्याय का सिद्धान्त तीन नियमों पर आधारित है:

नोट

(1) हस्तांतरण का नियम (Principle of Transfer): जो वस्तु न्यायपूर्ण ढंग से अर्जित की गई है, उसका अपनी मर्जी से हस्तांतरण हो सकता है,

(2) न्यायपूर्ण प्रारंभिक अर्जन का सिद्धान्त (Principle of Just Acquisition): हस्तांरतण योग्य वस्तुओं को लोग प्रारंभिक स्तर पर कैसे प्राप्त करते हैं तथा

(3) अन्याय के परिष्कार का सिद्धान्त (Principle of Rectification of Justice):

अन्यायपूर्ण ढंग से प्राप्त की गई या हस्तांतरित की गई प्राप्तियों से कैसे निपटा जाये।

उदाहरण के लिए, यदि मेरे पास जमीन का एक टुकड़ा है, तो पहले नियम के अनुसार मैं उसे अपनी मर्जी से किसी को भी हस्तांतरित कर सकता हूँ; दूसरा नियम माँग करता है कि यह भूमि का टुकड़ा मैंने कैसे अर्जित किया, अर्थात्, यह न्यायपूर्ण तरीके से अर्जित किया गया होना चाहिए; और तीसरा सिद्धान्त यह बताया है कि यदि पहले दो सिद्धान्तों में कहीं उल्लंघन हुआ है तो उनका परिष्कार कैसे किया जाये। तीनों नियमों को यदि हम मिला दें तो ऐसा कहा जा सकता है कि 'यदि लोगों की वस्तुएँ आगे संपत्ति न्यायपूर्ण तरीके से अर्जित की गई हैं तो न्यायपूर्ण वितरण का सिद्धान्त होगा– **'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी इच्छानुसार लिया जाये तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके चयन के अनुसार दिया जाये'** (From each as they choose, to each as they are chosen.)।

अब सवाल यह है कि नोज़िक का आधिकारिक न्याय का सिद्धान्त क्यों स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके लिए नोज़िक दो तर्क देते हैं: (1) संपत्ति का उन्मुक्त हस्तांतरण अधिक आकर्षक है (Free exercise of property is more attractive); तथा (2) संपत्ति का अधिकार 'आत्म-स्वामित्व' में निहित है (Property right lies in self-ownership)।

पहले तर्क-कि संपत्ति का उन्मुक्त हस्तांतरण अधिक आकर्षक है–के अनुसार, यदि हमने कोई वस्तु उचित ढंग से अर्जित या प्राप्त की है तो इस पर हमें पूर्ण स्वामित्व का अधिकार है। इसे जैसा हम चाहें बेच सकते हैं, चाहे इस विक्रय से होने वाले हस्तांतरण के परिणाम समाज में अत्यधिक असमान आय अथवा अवसरों को जन्म दें, क्योंकि समाज में कुछ व्यक्ति बेहरत प्राकृतिक योग्यताओं के साथ पैदा होते हैं, अत: उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें अधिक पुरस्कृत किया जाना स्वाभाविक है और जिनकी योग्यता बाज़ार में बिकाऊ नहीं हैं उन्हें अपेक्षाकृत कम फल मिलेगा प्राकृतिक योग्यताओं में अंतर होने के कारण कुछ व्यक्ति समृद्ध हो सकते हैं जबकि अन्य भूखे मर सकते हैं। यह असमानतायें, नोज़िक के अनुसार, उन्मुक्त पूँजीवाद के संभावित परिणाम हैं। नोज़िक का कहना है कि हम कोई भी प्रारंभिक वितरण, जिसे हम उचित समझते हैं, का मानदंड निश्चित कर लें और इसके बाद यदि लोगों में परस्पर उन्मुक्त विनिमय फिर असमानताओं को जन्म देते हैं, तो केवल न्यायसंगत ही नहीं होंगे बल्कि जो इस विनिमय के परिणामस्वरूप अमीर हो गये हैं उन पर वितरणात्मक न्याय के नाम पर टैक्स लगाना अन्यायपूर्ण होगा। नोज़िक के अनुसार, 'किसी भी व्यक्ति का ऐसी वस्तु पर कोई अधिकार नहीं है जिसे प्राप्त करने के लिए उसे उन वस्तुओं और सेवाओं को प्रयोग करना पड़े जिन पर दूसरे व्यक्तियों का अधिकार है" (No one has a right to something whose realization requires certain uses of things and activities that other people have rights and entitlements over)। हालांकि इसमें कोई शक नहीं कि सामाजिक सहयोग के लाभों से वंचित होकर अनुचित असमानताओं का शिकार होना अन्यायपूर्ण है, परन्तु समस्या यह है कि दूसरे व्यक्तियों को भी अपनी कमाई हुई आय और संपत्ति का अधिकार है जिसे किसी भी अवस्था में छीनना गलत है।

आधिकारिक न्याय का दूसरा तर्क है– 'आत्म-स्वामित्व का सिद्धान्त'। नोज़िक के अनुसार व्यक्ति अपने-आपमें एक साध्य है। व्यक्ति के कुछ अधिकार हैं और अन्य व्यक्ति अथवा समाज इनका उल्लंघन नहीं कर सकते। समाज का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति के इन अधिकारों का आदर करें क्योंकि यह इस बात का प्रतीक है कि व्यक्ति एक साध्य

नोट

है, साधन नहीं। दूसरे लोगों के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए, बिना सहमति के, इनकी बलि नहीं चढ़ाई जा सकती। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की अलग पहचान है और उसके अनन्य अधिकार है; इसलिए दूसरों के लाभ के लिए किये जाने वाले बलिदान की भी सीमाएँ हैं। इच्छास्वातंत्र्यवादी व्यक्ति को किसी अन्य के लिए 'यंत्र या स्रोत' नहीं मानता। यह ऐसे व्यक्ति को मान्यता देता है जिसके कुछ व्यक्तिगत अधिकार हैं और उनके अनुरूप उसकी प्रतिष्ठा है। अधिकारों का आदर करके लोगों का आदर करते हुए यह हमें अपने जीवन को चुनने, अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने तथा अपने-आपको समझने की स्वतंत्रता देता है। संक्षेप में, न्याय का अधिकारिक सिद्धान्त दो बातों में विश्वास करता है: (*i*) लोगों को समान समझने के लिए उन्हें आत्म-स्वामी (self-owners) समझना ज़रूरी है, (*ii*) केवल उन्मुक्त पूँजीवाद ही आत्म-स्वामित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

नोज़िक के आधिकारिक न्याय का निष्कर्ष यह है कि 'राज्य न्यूनतम होना चाहिए, इसे केवल बल, चोरी तथा समझौते लागू होने में हेरा-फेरी के विरुद्ध सुरक्षा के कार्यों तक ही सीमित रहना चाहिए; इससे अधिक कार्य व्यक्ति के अधिकारों का हनन करेंगे; अत: अन्यायपूर्ण होंगे। इस सिद्धान्त के अनुसार, न तो सार्वजनिक शिक्षा की आवश्यकता है, न ही स्वास्थ्य सेवाओं की, न परिवहन, सड़कें अथवा पार्कों की। इन सबके लिए लोगों पर ज़ोर-ज़बरदस्ती टैक्स लगाने पड़ते हैं जो न्याय के उस मौलिक नियम का हनन करते हैं जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति से उसकी मर्जी के अनुसार उससे कुछ लिया जाये और प्रत्येक व्यक्ति को उसके चयन के अनुसार दिया जाये।

मूल्यांकन (Evaluation)

नोज़िक के अनुसार व्यक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार आत्म-स्वामित्व का अधिकार है। इसका अर्थ है, 'जिसका मैं मालिक हूँ और जो चीज मेरी है यह दोनों एक है और यह दोनों मिलकर संपूर्ण व्यक्ति का निर्माण करते हैं।' दूसरे शब्दों में, यदि मैं खुद का मालिक हूँ तो मैं अपनी योग्यताओं तथा इन योग्यताओं से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों का भी मालिक हूँ। अत: पुनर्वितरण की माँग के नाम पर योग्य व्यक्तियों की आय पर टैक्स लगाकर अयोग्य व्यक्तियों का भला करना इस 'आत्म-स्वामित्व' के अधिकार का उल्लंघन है। इसके विपरीत, समतावादी लेखक रॉल्स का कहना है कि यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यताओं का उचित मालिक है, तथापि योग्यता केवल किस्मत की बात है जो किसी को मिलती है और किसी को नहीं। अत: योग्यता पर अधिकार का अर्थ उन योग्यताओं से प्राप्त असमान पुरस्कार का अधिकार नहीं है। जो लोग प्राकृतिक दृष्टिकोण से अयोग्य हैं उनका प्राकृतिक दृष्टिकोण से योग्य लोगों पर कुछ अधिकार है। योग्य व्यक्तियों को अपनी-अपनी योग्यता का असली लाभ तब मिलेगा जब इस योग्यता से गरीबों का भला होगा। नोज़िक का विचार है कि यह आत्म-स्वामित्व के अधिकार का हनन है तथा व्यक्ति को अपने-आपमें एक साध्य न मानना है। अत: इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। दूसरे, इच्छास्वातंत्र्यवाद का यह तर्क कि संपत्ति के अधिकार को सीमित करके उदारवाद के कल्याणकारी कार्यक्रम लोगों के आत्म-निर्णय में हस्तक्षेप करते हैं-समतावादी लेखक इसे भी स्वीकार नहीं करते।

इसमें कोई शक नहीं कि पुनर्वितरण के कार्यक्रम सम्पत्तिशाली वर्ग की स्वतंत्रता को कुछ हद तक सीमित करते हैं; परन्तु ये कार्यक्रम उन लोगों को आत्मनिर्णय का अवसर भी देते हैं जिन्हें यह अवसर पहले नहीं मिला था। यह पुनर्वितरण किसी और उद्देश्य के लिये आत्मनिर्णय की बलि नहीं देता बल्कि यह आत्मनिर्णय के लिये आवश्यक साधनों का पुनर्वितरण करता है। इच्छास्वातंत्र्यवादी विचार वितरण में अनावश्यक असमानताओं को स्वीकार करता है जो उन लोगों को हानि पहुँचा सकते हैं जिनको इसकी ज़रूरत है। जैसा विल किमिलिका लिखता है: यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपने-आपमें एक साध्य मानना है तो न्याय का समतावादी सिद्धान्त इच्छास्वातंत्र्यवादी सिद्धान्त से अधिक श्रेयस्कर है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. न्याय की धारणा परिवर्तनशील एवं ..... रही है।
2. 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' ..... द्वारा लिखी पुस्तक है।
3. ..... का न्याय का सिद्धान्त सम्पत्ति अधिकार पर आधारित सिद्धान्त है।

10.2 वैश्विक न्याय (Global Justice)

वैश्विक न्याय राजनीतिक सिद्धान्तों में एक ऐसा मुद्दा है जो इस धारणा पर आधारित है कि 'हम एक न्यायपूर्ण संसार में नहीं रहते।' (we do not live in a just world)। इस समय संसार में अधिकतर लोग अत्यधिक गरीब है जबकि अन्य अत्यधिक समृद्ध। कई अभी भी तानाशाही शासकों के अन्तर्गत जी रहे हैं। अनगिनत लोग हिंसा, बीमारी तथा भुखमरी के शिकार हैं। कई अकाल मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। अत: मूल प्रश्न यह है– इस प्रकार के तथ्यों को हम किस प्रकार समझे या इन पर अपनी प्रतिक्रिया जाहिर करें। इस विश्व में रहने वाले लोग एक-दूसरे के प्रति यदि ऋणी है (यदि वे हैं तो), तो इस सम्पूर्ण विश्व में हमें किस प्रकार की संस्थाएँ तथा नैतिक मानदंड स्वीकार करने चाहिए तथा कार्यान्वित करने चाहिए।

आधुनिक युग के आरम्भ से लेकर 20 वीं शताब्दी तक राष्ट्र-राज्य एक प्रधान राजनीतिक तथा प्रभुसत्ताधारी संस्था रहा है जो एक निश्चित भूमि पर रहने वाले लोगों पर शक्ति के वैध प्रयोग का एकाधिकार रखता है। साथ ही यह अन्य प्रभुसत्ताधारी राज्यों पर आधारित एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का भाग है। इस सम्पूर्ण अवधि में न्याय की धारणा में रुचि रखने वाले राजनीतिक दार्शनिकों ने अनन्य रूप से केवल राष्ट्र के अन्दर राष्ट्रीय मुद्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया–अर्थात् राज्य को अपने नागरिकों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए और नागरिकों का परस्पर सम्बन्ध क्या तथा कैसा होना चाहिए। परस्पर प्रभुसत्ताधारी राज्यों के बीच अथवा अपनी सीमाओं से पार व्यक्तियों के बीच न्याय एक गौण विषय था जिसे उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्तकारों के लिए छोड़ दिया। तथापि पिछले तीन दशकों में, वैश्वीकरण के उदय तथा कई पराराष्ट्रीय राजनीतिक तथा आर्थिक संस्थाओं जैसे संयुक्त राष्ट्र, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व व्यापार संगठन तथा कई विविध अन्तर्राष्ट्रीय निगमों एवं ग़ैर-सरकारी संगठनों के परिणामस्वरूप राष्ट्र-राज्य पर आधारित राष्ट्र-व्यवस्था परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रही है। परिणामस्वरूप, विशेषकर 1980 के बाद वैश्विक न्याय समकालीन राजनीतिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा बन गया है।

वैश्विक न्याय में मुद्दे (Issues in Global Justice)

वैश्विक न्याय की धारणा तीन सम्बन्धित मुद्दों के इर्द-गिर्द घूमती है जो निम्नलिखित हैं:

1. पहला मुद्दा वैश्विक न्याय का कार्यक्षेत्र है अर्थात् जैसा की नैतिक मुक्तिवादी (moral universalists) दावा करते हैं, क्या कोई ऐसे नैतिक मानदंड हैं जो विश्व के सभी लोगों पर उनकी संस्कृति, लिंग, धर्म, राष्ट्रीयता अथवा अन्य विशिष्ट तत्त्वों की परवाह किये बिना लागू किये जा सकें या क्या ये नैतिक मानदंड केवल संस्कृति, राष्ट्र-समुदाय अथवा ऐच्छिक समुदायों के सीमित सन्दर्भों के अन्तर्गत लागू होते हैं?

2. दूसरा मुद्दा वितरणात्मक न्याय से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए 1.1 अरब से अधिक लोग अर्थात् सम्पूर्ण जनसंख्या का 18% भाग- विश्व बैंक द्वारा निर्धारित 2 डालर प्रतिदिन की गरीबी की रेखा से नीचे रहते हैं जबकि कनाडा की सरकार अपने किसानों को पशुओं के चारे के लिए तीन डालर प्रतिदिन देती है। अर्थात् कनाडा के पशुओं का खान-पान तृतीय विश्व में रहने वाले लोगों से कहीं बेहतर है। अत: यहाँ पर गम्भीर सवाल है: क्या धन, सम्पदा एवं संसाधनों का वर्तमान वितरण न्यायोचित है? गरीबी के मूल कारण क्या हैं और क्या वैश्विक अर्थव्यवस्था में

नोट

कोई अन्तर्निहित दोष है? गरीबों की सहायता करना क्या अमीरों का कर्त्तव्य है या यह केवल एक दान अथवा परोपकार तक सीमित है जिसकी प्रशंसा की जा सकती है परन्तु जो नैतिक दृष्टिकोण से ज़रूरी नहीं और यदि गरीबों की सहायता करनी भी है तो कितनी, किस सीमा तक– (*i*) इतनी कि वे अपनी मौलिक जरूरतों को पूरा कर सकें या (*ii*) इतनी कि वे एक मानव के रूप में सम्मानपूर्वक जिन्दगी जी सकें या (*iii*) उतनी देर तक जब तक वे अमीरों के बराबर न आ जायें?

3. वैश्विक न्याय के आदर्श को प्राप्त करने के लिए कौन-सी संस्थाएँ उत्तम होगी-क्या वे राज्य हैं या समुदाय या संघीय इकाइयाँ, वैश्विक वित्तीय संस्थाएँ जैसे विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय ग़ैर-सरकारी संगठन, बहुराष्ट्रीय निगम, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या एक विश्व राज्य? ये हमारा समर्थन किस प्रकार प्राप्त करेंगे तथा इन संस्थाओं की स्थापना तथा रख-रखाव की जिम्मेवारी किसकी होगी? भिन्न क्षेत्रीय इकाइयों के बीच इन संस्थाओं का आदान-प्रदान कितना सहज होगा?

वैश्वीकरण की सबसे बड़ी चुनौती नैतिक है अर्थात् क्या पश्चिम के समृद्ध देशों को अविकसित और विकासशील देशों के उपेक्षित वर्गों, परम्पराओं एवं संस्कृतियों पर अधिक ध्यान केंद्रित करना चाहिए जिनके साथ इनका अपना भविष्य अभिन्न तरीके से जुड़ा हुआ है **या** इन्हें केवल इनके प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों के दोहन तक सीमित रहना चाहिए। ये विकल्प वृहत वैश्विक न्याय (global justice) का प्रश्न खड़ा करते हैं। अभी तक न्याय, स्वतंत्रता, समानता, अधिकार जैसे विषय निश्चित भूमि के अन्दर राष्ट्र-राज्यों के अधिकार क्षेत्र में थे। परन्तु वैश्वीकरण की धारणा ने इन परम्परागत मान्यताओं को मूलभूत चुनौती दी है। वैश्वीकरण का अभिप्राय सामाजिक सम्बन्धों में गुणात्मक वृद्धि तथा प्रसार है। मानव जीवन के कई क्षेत्रों में अब राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय का अंतर धुँधला पड़ता जा रहा है। यदि हम प्रजातंत्र तथा न्याय की धारणाओं पर गंभीरता से विचार करें तो हम पाते हैं कि वैश्वीकृत संसार के राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र जटिल रूप से आपस में जुड़ गये हैं। अत: विश्व स्तर पर न्याय तथा प्रजातंत्र की कमी राष्ट्रीय स्तर पर इनकी उपलब्धि को भी प्रतिकूल प्रभावित कर सकती है।

न्याय के संदर्भ में वैश्वीकरण की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि क्या यह स्वतंत्रता में वृद्धि करता है? प्रजातंत्र को प्रोत्साहित करता है? गरीब लोगों को गरीबी से निकलने का अवसर देता है? आम आदमी को सशक्त बनाता है?, क्या यह ऐसा वरदान है जो अधिकतर लोगों का सांझा है?, क्या यह कामगारों के हित में है? इन प्रश्नों के संदर्भ में देखें तो यह स्पष्ट है कि पिछले दो दशकों में जिस तरह के विश्व बाज़ार की स्थापना की गई है, उसमें वैश्विक न्याय के लिए कोई जगह नहीं है। ये सभी समस्याएँ इसलिए खड़ी हुई हैं क्योंकि राष्ट्रों की आर्थिक अन्योन्याश्रिता असमान शक्ति वितरण पर आधारित है। इस अन्योन्याश्रिता में एक कमज़ोर राज्य की स्वेच्छा भी मज़बूरी बन जाती है क्योंकि उसके पास न तो कोई लेनदेन की शक्ति होती है और न ही अपने संसाधनों के शोषण से बचने का कोई रास्ता।

वैश्विक न्याय पर भिन्न दृष्टिकोण (Positions on Global Justice)

वैश्विक न्याय का मूल मुद्दा जिस पर विचार करना अनिवार्य है, वह है– वैश्विक न्याय की परियोजना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कितनी सम्भव है? इस संदर्भ में पाँच प्रमुख दृष्टिकोण पहचाने जा सकते हैं। ये हैं: **राष्ट्रवाद (Nationalism), यथार्थवाद (Realism), विशिष्टवाद (Particularism), राज्यों का समाज परम्परा (Society of States Tradition) तथा विश्वबंधुत्व (Cosmopolitanism)।**

राष्ट्रवादियों, जैसे डेविड मिल्लर का तर्क है कि वांछित परस्पर उत्तरदायित्त्व की परम्परा एक विशेष प्रकार के मूल्यवान समुदाय अर्थात् राष्ट्र द्वारा निर्मित की जाती है। विश्व के किसी कोने में दु:खी लोगों की सहायता करने का हमारा एक मानवीय कर्त्तव्य हो सकता है परन्तु ये कर्त्तव्य हमारे अपने देश के नागरिकों की तुलना में अपेक्षाकृत कम तात्कालिक, कठोर तथा अनिवार्य होते हैं। राष्ट्रवाद में प्रारम्भ से ही यह भावना अन्तर्निहित रही है कि राष्ट्र के

नोट

अन्दर तथा राष्ट्र से बाहर के नैतिक कर्त्तव्यों में मौलिक अन्तर होता है जिसका उदाहरण इस तथ्य में प्रतिबिम्बित होता है कि किसी राज्य विशेष के कल्याणकारी लाभ राज्य की सीमाओं से परे के लोगों को उपलब्ध नहीं होते। इनका मानना है कि वितरणात्मक न्याय का मुद्दा राष्ट्र के अन्दर रहने वाले लोगों के संदर्भ में होता है, राज्यों के बीच नहीं।

दूसरा, मोरगेन्थ्यू, कैनेथ वैज़ जैसे यथार्थवादी का तर्क है कि वैश्विक न्यायिक मानदंड जैसी कोई धारणा नहीं है तथा नैतिक सर्वत्रवाद जैसी धारणा भी एक मिथ्या है। अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के इस युग में केवल राज्य ही एक प्रमुख खिलाड़ी है जो हमेशा अपने हितों की रक्षा के लिए कार्य करते हैं और करना चाहिए। किन्हीं गरीब देशों के लोगों की सहायता करना कोई कर्त्तव्य नहीं है जब तक कि यह सहायता किसी राष्ट्र के सामरिक हित को आगे न बढ़ाती हो।

तीसरा, विशिष्टवाद (उदाहरण के लिये वालज़र) का मानना है कि किसी भी प्रकार के नैतिक मानदंड सांझी परम्पराओं एवं मूल्यों में से निकलते हैं जो किन्हीं विशेष संस्कृति अथवा समाज द्वारा निर्मित तथा सम्पोषित किये जाते हैं। नैतिक तथा सामाजिक आलोचना भी ऐसे समूहों की सीमाओं के भीतर ही सम्भव है, इनसे बाहर नहीं। प्रत्येक समाज के अपने भिन्न मानदंड होते हैं और केवल उस समाज में रहने वाले लोग ही इनके प्रति बाध्य होते हैं और स्वयं की सही तरीके की आलोचना भी कर सकते हैं। अत: नैतिक सर्वत्रवाद एक झूठी धारणा है क्योंकि विविध समाजों एवं संस्कृतियों के निष्पक्ष नैतिक मानदंड भिन्न होते हैं। हम अजनबियों के साथ वितरण के वे मानदंड नहीं अपना सकते जो हम अपने लोगों/नागरिकों के साथ अपनाते हैं तथा राष्ट्र राज्य, जो लोगों की साझी तथा विशिष्ट नैतिक समझबूझ की अभिव्यक्ति करता है, स्थानीय एवं विषम न्याय प्रदान करने की उपयुक्त संस्था है। हालांकि समुदायवादी वैश्विक असमानता को समाप्त करने के विरोधी नहीं है परंतु वे किसी ऐसे क़ानूनी तथा राजनीतिक सुधार को आवश्यक नहीं समझते जहाँ प्रत्येक वर्ष 18 मिलियन लोग भूखमरी के कारण अपनी जान गंवाते हों। वे इस बात से इनकार नहीं करते कि वैश्वीकरण एक कटु सत्य है परन्तु उन्हें इस बात पर शक है कि मानवता ने सांझे भाग्य की कोई ऐसी समृद्ध एवं सुस्पष्ट सोच प्राप्त कर ली है जो न्याय (अर्थात् अमीरों से गरीबों को पुन: वितरण) प्राप्त करने के लिए सफल होगी। समुदायवादियों का मानना है कि यदि राज्य की सीमाओं पर किसी प्रकार की ढील दे दी जाती है तो कई प्रकार की समस्यायें पैदा हो सकती हैं जैसे भारी संख्या में प्रवासियों तथा शरणार्थियों का आगमन, सार्वजनिक व्यवस्था की समस्या, बेकारी, बाज़ारों एवं श्रम बाज़ार में श्रमिकों प्रजातीय पृथक्करण, सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था में दरार, सार्वजनिक सेवाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, निवास आदि पर अत्यधिक बोझ आदि। इनके राजनीतिक प्रभाव भी काफी गम्भीर होते हैं जैसे जनकल्याण के विरुद्ध प्रतिक्रिया, अन्धा देश प्रेम, नस्लवाद, सांस्कृतिक अलगाव, कट्टरवाद आदि। इस प्रक्रिया में समुदायवादियों को सांस्कृतिक विशिष्टता के खो जाने का भी डर है जो किसी विशिष्ट समुदाय के इतिहास तथा अनन्यता का पोषक होती है। इसके अतिरिक्त इसमें राज्य की प्रभुसत्ता खो जाने का भी खतरा है जिससे आत्म-निश्चय तथा सुरक्षा की धारणा में कमी आ सकती है।

चौथा, राज्यों की समाज परम्परा में राज्यों को एक विशिष्ट व्यक्तिगत इकाई के रूप में देखा जाता है जो अपने सांझे हितों तथा अन्तर्सम्बन्धों, नैतिक नियमों समेत, पर परस्पर सहमति जुटा सकते हैं वैसे ही जैसे व्यक्ति बनाम व्यक्ति आपस में करते हैं। विभिन्न अभिजनों के बीच सहमति को सामाजिक समझौते के माध्यम से औपचारिक रूप दिया जाता है। इस परम्परा के मुख्य समर्थक रॉल्स है जिसने अपनी पुस्तक *'The Law of Peoples'* में वैश्विक न्याय की धारणा का अपनी पहली पुस्तक *'The Theory of justice'* से आगे विस्तार किया है। उसका तर्क है कि हम एक वैश्विक शासन को उचित ठहरा सकते हैं, यह दिखाकर कि यह विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों द्वारा एक ऐसी काल्पनिक मूल अवस्था (imagined original position) में चुना जायेगा जिसमें किसी को यह नहीं पता होगा कि वह किसका प्रतिनिधित्व कर रहा है। अनभिज्ञता के आधार पर लिया गया यह निर्णय उचित होगा क्योंकि

नोट

इसमें किसी प्रकार के स्वार्थी पूर्वाग्रहों का अभाव है। जब रॉल्स ने इस मॉडल को घरेलू न्याय के संदर्भ में अपनाया तो उसमें मूल अवस्था में भाग लेने वाले प्रतिनिधि एक समाज के सभी सदस्य थे तथा जिसमें उसने एक समतावादी पुनः वितरणात्मक उदारवादी राजनीतिक का समर्थन किया। तथापि रॉल्स जब इस तरीके को वैश्विक न्याय के स्तर पर अपनाता है तो यह एक परम्परागत सिद्धांत, (कान्त की अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की धारणा) का समर्थन करता है जिसमें राज्यों का प्रमुख कर्त्तव्य सन्धियों का पालन करना तथा युद्ध पर कड़ी सीमायें लगाना है परन्तु जो सम्पत्ति तथा सम्पदा का वैश्विक स्तर पर किसी प्रकार का पुनर्वितरण बिल्कुल नहीं है। अतः रॉल्स ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर न्याय के भिन्न मानदंड अपनाये हैं। यदि राज्यों के अन्दर न्याय के लिए समतावाद की आवश्यकता है भी, तो भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसकी आवश्यकता नहीं है। इसके लिए वैश्विक न्याय की धारणा परस्पर सहयोग करने वाले परन्तु स्वतंत्र राज्यों की व्यवस्था तक सीमित है। रॉल्स ने इस आदर्श को 'एक वास्तविक स्वप्नलोक' (realistic utopia) का नाम दिया है। इसके बारे में हम और विस्तार से वर्णन इस अध्याय के अगले भाग में करेंगे।

पाँचवाँ **विश्वबंधुत्त्व** (Cosmopolitanism) के समर्थकों को तर्क है कि नैतिक सर्वत्रवाद की धारणा काफी हद तक सत्य है। सभी लोग केवल एक-दूसरे के संगी-साथी अथवा हमवतन होने के कारण ही नहीं बल्कि एक मानव होने के नाते व्यापक न्याय की धारणा के अन्तर्गत आते हैं। इसका तर्क इस प्रकार है:

(*i*) व्यक्तियों की नैतिक स्थिति कुछ एक नैतिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण विशेषताओं पर आधारित होती है,

(*ii*) यह विशेषताएँ सम्पूर्ण मानव जाति की सांझी है, ये केवल कुछ एक राष्ट्रों, संस्कृति, समाज अथवा राज्य का एकाधिकार नहीं है,

(*iii*) अतः सम्पूर्ण मानव जाति एक नैतिक स्थिति की धारणा है और इस संदर्भ में राष्ट्रों, संस्कृतियों, समाजों तथा राज्यों में सीमायें निश्चित करना नैतिक दृष्टिकोण से बेफालतू है। विश्वबंधुत्व के समर्थक समुदायवादियों पर एक समुदाय विशेष, जिसकी नैतिक प्राथमिकता का वे समर्थन करते हैं, पर वैश्वीकरण से पैदा होने वाला खतरों को धुंधला करने का आरोप लगाते हैं। इनका मानना है कि समुदायवादियों की एक राष्ट्र-राज्य के सदस्यों के बीच नैतिक उत्तरदायित्व का समर्थन करने की प्रवृत्ति राजनीतिक व्यवहारों तथा संस्थाओं के द्रुत पतनकारी सूमह के प्रति एक विमार्गदशी तथा अत्यधिक प्रतिक्रियावादी विरह का प्रतिनिधित्व करती है।

वैश्वीकरण की विचारधारा (Ideology of Globalisation)

क्योंकि वैश्विक न्याय का सवाल वैश्वीकरण के संदर्भ में पैदा हुआ है अतः यह वांछनीय होगा कि हम वैश्विकरण की प्रधान विचारधारा के प्रति थोड़ा ज्ञान प्राप्त करे। ऐसा माना जाता है कि वैश्विक न्याय के अभाव का एक महत्त्वपूर्ण कारण इसकी विचारधारा भी रहा है। 1990 के दशक से जब से वैश्वीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई, नव-उदारवाद (neo-liberalism) इसकी प्रधान विचारधारा रही है। विश्व व्यापार संगठन तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भी यही विचारधारा रही है। नाफ्टा संधि के देशों में भी सैद्धांतिक स्तर पर इसी विचारधारा का अनुसरण किया जा रहा है। यूरोपीय देशों में भी यूरोपीय संघ की यही प्रधान विचारधारा है। यह नीति मूलतः वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व तथा वित्तीय संस्थाओं की केन्द्रीय भूमिका प्रतिबिंबित करती है। नव-उदारवादी विचारधारा का मूल तत्त्व वित्तीय पूँजी की धारणा है। क्षेत्रीय एवं वैश्विक विकास में पूँजी तथा वित्तीय कार्य केन्द्रीय तथा नियामक तत्त्वों की भूमिका अदा करते हैं। क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वित्त में कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः मौद्रिक उतार-चढ़ाव तथा अन्य वित्तीय प्रपत्रों में सट्टेबाजी उत्पादन एवं वाणिज्य से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। शेयर बाज़ार में 24 घंटे व्यापार के उतार-चढ़ाव ने खतरे को वैश्विक रूप दे दिया है। लाभांश तथा टैक्स में सम्बन्ध धुँधला पड़ गया है। निजी वित्तीय संस्थानों की टैक्स दर में कमी आ रही है। टैक्स का स्थान सरकार की आर्थिक सब्सिडी तथा प्रोत्साहन ले रहे हैं। नियमों में ढील तथा साइबर-स्पेस तथा पहुँच न वित्तीय संस्थानों को अपने देश की सीमाओं से बाहर पंजीकृत करवाने तथा अपने लाभांश को विदेशी बैंकों में जमा करवाने में सहायता की है।

नोट

इस नव-उदारवादी विचारधारा में अस्थिरता के कई तत्त्व हैं जैसे (*i*) नये उभरते देशों में वित्तीय अस्थिरता, (*ii*) बेकारी एवं नौकरीहीन विकास तथा नौकरशाही के कार्यों में स्वचालित यंत्रों का अधिकाधिक प्रयोग (automation), (*iii*) समाजों के बीच असमानता एवं गरीबी, (*iv*) पर्यावरण सम्बन्धी खतरे, (*v*) वैश्विक स्तर पर अत्यधिक आपूर्ति का खतरा, (*vi*) बाजार तथा राष्ट्रीय प्रशासन के हितों में विरोधाभास आदि। ये सभी तत्त्व भौतिक एवं सामाजिक वस्तुओं के अमीर एवं गरीब देशों के बीच उचित वितरण पर प्रश्न चिह्न लगा देते हैं।

कुछ विशेषज्ञों के अनुसार उदारीकरण, निजीकरण तथा मुक्त व्यापार समस्या का हल नहीं है। किसी न किसी प्रकार का नियमन बलवान तथा निर्बल दोनों के लिए वांछनीय होता है। इसी तरह यह भी एक तथ्य है कि बिना टैक्स इकट्ठा किये समाज के मूलभूत ढाँचे जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास आदि से सम्बन्धित सुविधायें देना असम्भव है। वास्तव में बिना टैक्स के सार्वजनिक क्षेत्र ही लुप्त हो जायेगा, बिना सार्वजनिक क्षेत्र के राज्य की वैधता भी क्षीण हो जायेगा तथा बिना वैधता के मौलिक सुरक्षा भी खतरे में पड़ सकती है। वास्तव में एक तरफ अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक तथा दूसरी तरफ संयुक्त राष्ट्र की संस्थाओं जैसे UNDP, UNCTAD, UNICEF, UNESCO, UNEP में लगातार संघर्ष चल रहा है। जहाँ विश्व बैंक तथा विश्व मुद्राकोष वित्त एवं वाणिज्य जैसे कठोर विषयों के संदर्भ में लेन-देन करता है, वहाँ संयुक्त राष्ट्र की संस्थाओं का सम्बन्ध सामाजिक कल्याण, शिक्षा, पर्यावरण, मानवीय अधिकार तथा न्याय जैसे कोमल विषयों से है।

वैश्विक स्तर पर अन्याय (Injustice at Global Level)

आइये अब हम वैश्विक स्तर पर प्रचलित अन्याय के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त करें। वैश्विक स्तर पर अन्याय कई अकरण तथा करण (omissions and commissions) त्रुटियों का परिणाम है। पहला, अकरण कारणों में, वैश्विक अर्थव्यवस्था में वितरणात्मक ढाँचों के लाभ, अन्य के अलावा, विविध संस्थागत प्रबंधों पर निर्भर करते हैं जैसे व्यापार समझौते, चिकित्सक उपक्रम, शैक्षणिक आदान-प्रदान, पारिस्थित प्रोत्साहन, पर्यावरण सीमाएँ तथा अतीत के तानाशाही शासकों द्वारा लिए गये ऋणों की अदायगी के साथ निष्पक्ष व्यवहार। दूसरा, करण कारणों से भी कई गम्भीर समस्यायें पैदा होती हैं जिन्हें प्राथमिक वैश्विक न्याय प्राप्त करने के लिए सुलझाया जाना आवश्यक है जैसे अकुशल तथा असमान व्यापार सीमाएँ जो निर्धन देशों से अमीर देशों को निर्यात पर दबाव डालती है, पेटेन्ट क़ानून जो जीवन रक्षक दवाओं (जैसे एड्स) पर प्रतिबन्ध लगाते हैं; हथियारों में वैश्विक व्यापार जो आतंकवाद को बढ़ावा देते हैं। स्थानीय युद्ध तथा सैनिक झगड़े केवल क्षेत्रीय तनावों को नहीं बढ़ाते वे अस्त्रों-शस्त्रों में वैश्विक व्यापार को भी बढ़ावा देते हैं। अस्त्र-शस्त्रों के अन्तर्राष्ट्रीय निर्यात के 4/5 से भी अधिक भाग के लिए कई सालों तक G8 के देश जिम्मेवार रहे हैं।

वैश्वीकरण के समकालीन स्वरूप में परा-राष्ट्रीय संस्थागत प्रबन्ध (transnational institutional arrangement) व्यक्ति की जीवन शैली में वृहतर महत्त्व ग्रहण करते जा रहे हैं। पोगी के अनुसार वैश्वीकरण के बावजूद असलियत यह है कि वर्तमान वैश्विक संस्थागत व्यवस्था अत्यधिक अन्यायपूर्ण है क्योंकि यह परिहार्य तीव्र गरीबी पैदा करती है। लगभग सम्पूर्ण विश्व की आधी जनसंख्या (2700 मिलियन) अभी भी विश्व बैंक द्वारा निर्धारित 2 डालर प्रतिदिन की गरीबी रेखा से नीचे जी रही है। लगभग 18 मिलियन लोग हर साल भूखमरी तथा अन्य गरीबी सम्बन्धित बीमारियों का शिकार होते है। यह आँकड़ा कुछ वार्षिक मृत्युओं का तीसरा हिस्सा है। इन अकाल मृत्युओं की सबसे बड़ी विडम्बना, जो इन्हें अन्यायपूर्ण बनाती है, यह है कि इनसे बचा जा सकता है क्योंकि प्रति व्यक्ति वैश्विक सामाजिक उत्पादन की राशि 5000 डालर है जो एक गरीबी की रेखा से ऊपर औसतन गृहस्थी से 20 गुना अधिक है। गरीबी की रेखा से नीचे जी रहे सभी 2700 मिलियन लोगों की सामूहिक आय 2100 बिलियन डालर है जो कुछ वैश्विक उत्पाद का केवल 1.2 प्रतिशत है। इसके विपरीत अमीर देशों के नागरिक, जो विश्व जनसंख्या का 16.1 है, विश्व के 81% उत्पाद के मालिक है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह तीव्र गरीबी कम हो सकती थी

नोट

यदि अमीर देश तथा उनके नागरिक इसके उन्मूलन के लिए 11 मिलियन डालर प्रतिवर्ष की वर्तमान राशि में थोड़ी वृद्धि कर दें। यह इतनी तीव्र न होती यदि वैश्विक संस्थागत व्यवस्था के नियम ऐसे न होते जिनका उद्देश्य अमीर देशों तथा गरीब देशों के राजनीतिक तथा आर्थिक विशिष्ट वर्गों को लाभ पहुँचाना हो। गरीबी को समाप्त करने के लिए कई तरह के सुधार सम्भव है परन्तु इन्हें स्थानीय जनसंख्या के घोर विरोध का सामना भी करना पड़ता है। उदाहरण के लिए अमीर देश यदि चाहें तो उन सभी संरक्षणवादी उपायों को समाप्त कर सकते हैं जो उन्होंने WTO संधि के अन्तर्गत प्राप्त किये हुये हैं जैसे उनकी कोटा दर सूची, डंम्पिग विरोधी शुल्क, निर्यात ऋण तथा घरेलू उत्पादकों को व्यापक सबसीडी आदि। अमीर देश यदि चाहें तो ऐसे अंतर्राष्ट्रीय संसाधन तथा ऋण प्राप्त करने के विशेषाधिकार पर सीमायें लगा सकते हैं जो एक विकासशील देश में किसी व्यक्ति अथवा समूह को अपनी मर्जी से संसाधनों को बेचने तथा अपने नाम पर पैसा उधार लेने की प्रभावकारी शक्ति का उपयोग करने के काबिल बनाती है। अमीर देश यदि चाहे तो वे 300 बिलियन डालर प्रतिवर्ष का एक वैश्विक संसाधन लाभांश (Global Resource Dividend) या कोई ऐसी ही योजना आरम्भ कर सकते हैं जो गरीबी उन्मूलन के किसी भी गम्भीर कार्यक्रम के लिए प्रारम्भिक कुछ वर्षों के लिए आवश्यक होगी।

वैश्विक न्याय कैसे प्राप्त किया जाये? (How to Achieve Global justice?)

यदि वैश्विक स्तर पर अन्याय की यह स्थिति है तो अगला प्रश्न है वैश्विक न्याय की प्रकृति क्या है और इसे प्राप्त करना कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का सरल और सीधा उत्तर नहीं है। इस संदर्भ में जहाँ कुछ लेखक अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का ईमानदारी से पालन पर ज़ोर देते हैं, वहाँ कुछ अन्य संसाधनों को अमीर देशों से गरीब देशों को हस्तान्तरित करने का समर्थन करते हैं। यहाँ हम जॉन रॉल्स, अमृत्यसेन तथा UNDP की रिपोर्ट के संदर्भ में वैश्विक न्याय प्राप्त करने की बात करेंगे।

वैश्विक न्याय पर रॉल्स के विचार (Rawls' Views on Global Justice)

रॉल्स की पुस्तक *'The Law of peoples'* अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर लिखी गई पुस्तक है। इस पुस्तक में रॉल्स ने प्रत्यन किया है कि न्याय की उदारवादी धारणा में से राज्यों के बीच न्याय की विषयवस्तु को किस प्रकार निकाला जा सकता है जो निष्पक्ष न्याय (justice of Fairness) जैसी ही हो परन्तु उससे थोड़ी अधिक व्यापक हो। जिस प्रकार राष्ट्रीय न्याय के स्तर पर समझौते के भागीदार नागरिक है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राज्य हैं जिन्हें राज्यों के समाज (Society of Peoples) का नाम दिया गया है। यद्यपि *'The Law of peoples'* मूलत: उदारवादी विदेश नीति का एक अंग है परन्तु इसमें जिन लोगों (राज्यों) की रॉल्स चर्चा करता है, वे सभी उदारवादी नहीं हैं।

इस पुस्तक में रॉल्स ने एक व्यापक योजना तथा तर्कों के साथ यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों को अपने परस्पर नैतिक उत्तरदायित्व तथा मानव अधिकारों के बारे में समझना चाहिए। यह पुस्तक रॉल्स की पहली पुस्तक *'A Theory of Justice'* का विस्तार है जिसमें उसने एक एकल समाज में न्याय के सिद्धान्तों की स्थापना की थी। यह पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का विकास करने के थोड़े कठिन कार्य पर ध्यान केन्द्रित करती है जो अत्यधिक विविध, उदारवादी तथा ग़ैर-उदारवादी समाजों पर लागू होगा। इसमें पहले रॉल्स उदारवादी लोगों (राज्यों) के लिए न्याय की अन्तर्राष्ट्रीय धारणा की स्थापना करता है। यहाँ रॉल्स की 'लोगों' की धारणा परम्परागत राज्य की धारणा से थोड़ी भिन्न है क्योंकि यह अपनी धारणा में राज्यों को युद्ध करने का निरंकुश अधिकार नहीं देता। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की धारणा का निर्माण करने के लिए रॉल्स एक सैद्धांतिक मूल स्थिति की कल्पना करता है जहाँ उदारवादी समाजों के विवेकशील प्रतिनिधि इकट्ठे होंगे तथा वे *'Law of the Peoples'* के बारे में मिलकर निर्णय लेंगे।

नोट

लोगों (राज्यों) के ये प्रतिनिधि अनभिज्ञता के पर्दे के पीछे है तथा वे उस देश की विशिष्ट परिस्थितियों के बारे में कुछ नहीं जानते जिनका वे प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, ये प्रतिनिधि नहीं जानते कि जिस देश का वे प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, उसका आकार, जनसंख्या, औद्योगिक तथा सैनिक शक्ति आदि क्या है। *The Law of Peoples* से रॉल्स का अभिप्राय है अधिकारों तथा न्याय की एक विशिष्ट राजनीतिक धारणा जो अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून तथा व्यवहार के नियमों तथा आदर्शों पर लागू होती है। न्याय की इस राजनीतिक धारणा को मूल स्थिति के माध्यम से प्राप्त किया जाता है अर्थात् एक काल्पनिक प्रबन्ध द्वारा जहाँ प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि कुछ ऐसे नियम निश्चित करने के उद्देश्य से इकट्ठे होते हैं जो उनके संगठन की शर्तों को शासित करेंगे। इस प्रक्रिया में से निकले नियम Law of Peoples की विषय सूची होंगे। ये नियम मुख्यत: आठ हैं:

1. लोग (अपनी सरकारों द्वारा शासित) स्वतंत्रत एवं स्वायत्त है तथा उसकी स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता का दूसरे लोगों द्वारा सम्मान किया जाना आवश्यक है।

2. अपने समझौतों में सभी लोग समान तथा अभागीदार है।

3. लोगों को आत्म रक्षा का अधिकार है परन्तु युद्ध का कोई अधिकार नहीं है,

4. लोगों को अहस्तक्षेप के कर्त्तव्य का पालन करना होगा।

5. लोगों को समझौतों तथा संधियों का पालन करना होगा।

6. युद्ध के संचालन के संदर्भ में लोगों को कुछ विशिष्ट प्रतिबन्धों का पालन करना होगा (अर्थात् यह केवल आत्मरक्षा के लिए ही लड़ा जा सकता है)

7. लोगों को मानव अधिकारों का सम्मान करना होगा।

8. लोगों को ऐसे अन्य लोगों की सहायता करना कर्त्तव्य होगा जो ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में रह रहे हैं जो उनके एक न्यायपूर्ण तथा सम्मानजनक राजनीतिक तथा सामाजिक शासन प्राप्त करने के प्रयत्न में बाधा डाल रही है।

रॉल्स की मुख्य चुनौती केवल उदारावादी राज्यों के लिए न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त ढूँढ़ना ही नहीं था परन्तु एक ऐसे सिद्धान्त का विकास करना भी था जो गैर-उदारवादी तथा ग़ैर-पश्चिमी (जिन्हें वह मर्यादित तथा अमर्यादित लोगों) (decent and non-decent peoples) में विभाजित करता है, लोगों पर भी लागू हो सके।

मर्यादित लोगों से रॉल्स का अभिप्राय उन राज्यों से है जो मूलत: श्रेणीबद्ध समाज है जो अपने नागरिकों को पूर्ण राजनीतिक समानता नहीं देते परन्तु कुछ नीतियों पर उनका परामर्श अवश्य लेते हैं तथा उन्हें जीवन, स्वतंत्रता, संपत्ति तथा औपचारिक समानता जैसे अधिकारों की गारंटी देते हैं। रॉल्स का तर्क है कि उदारवादी लोगों को ऐसे लोगों का सम्मान करना चाहिए क्योंकि अन्य विश्व दृष्टिकोणों को सहन करना उदारवाद का मूल तत्त्व है और फिर सम्मान से इनकार केवल कटुता को बढ़ावा देगा। तथापि उदारवादी सहिष्णुता की भी एक सीमा है। मर्यादित समाजों द्वारा मानव अधिकारों की रक्षा करना अनिवार्य है, जो एक विशिष्ट प्रकार के तात्कालिक अधिकार हैं जिसमें दासता से मुक्ति, अन्त:करण की स्वतंत्रता तथा नरसंहार जैसे विषय निहित है। रॉल्स के लिए ये मानव अधिकार न्यूनतम शर्तें हैं, ये उदारवादी राज्यों द्वारा प्रदान किया जाने वाला व्यापक सर्वधानिक अधिकारों के समतुल्य नहीं है।

एक उदारवाद तथा मर्यादित लोगों के समाज की स्थापना के पश्चात्, रॉल्स इस बात पर ध्यान केन्द्रित करता है कि लोगों का समाज (Society of Peoples) अमर्यादित लोगों (non-decent) के साथ किस प्रकार निपटेगा। अमर्यादित लोगों को वह आगे दो भागों में बाँटता है– वे अमर्यादित लोग जो निर्वासित राज्य (outlawed state) है अर्थात् जो अपने कल्पित हितों के लिए युद्ध का रास्ता अपनाने को हमेशा तैयार रहते हैं तथा दूसरे वे बोझित समाज (burdened society) जहाँ की ऐतिहासिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ उनके एक सुव्यवस्थित समाज बनने में कठिनाइयाँ पैदा कर रही हैं। रॉल्स के अनुसार विदेश नीति का उद्देश्य ऐसे बोझित समाजों को लोगों के समाज (society of peoples) की मुख्यधारा में लाना होना चाहिए।

नोट

बोझित समाजों के प्रति विदेशी नीति को व्यवस्थित करने के लिए रॉल्स तीन दिशानिर्देशों का वर्णन करता है। **पहला,** एक सुव्यवस्थित समाज का समृद्ध होना आवश्यक नहीं है; इसे केवल इतनी न्यूनतम पूँजी की आवश्यकता है कि वह अपनी न्यायिक संस्थाओं को स्थापित तथा संरक्षित कर सके। **दूसरा,** राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं में सुधार लाने के लिए राजनीतिक संस्थाओं में सुधार लाने के लिए राजनीतिक संस्कृति एक केन्द्रीभूत तत्त्व है। किसी भी समाज के राजनीतिक मूल्य उनके अन्य सभी संसाधनों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। अत: केवल पैसा भेजना कई बार निरर्थक सिद्ध होता है और रॉल्स किसी प्रकार के हस्तक्षेप के भी विरुद्ध है। अत: उसका मानना है कि एक सुव्यवस्थित समाज को केवल परामर्श देने तक सीमित रहना चाहिए। रॉल्स इस बात को स्वीकार करता है कि बोझित समाजों की राजनीतिक संस्कृति में परिवर्तन लाने की कोई रामबाण औषधि नहीं है। **तीसरा** दिशानिर्देश रॉल्स **के** अनुसार यह है कि इन बोझित समाजों को स्वयमेव प्रबंधन का अवसर देना चाहिए ताकि अन्ततोगत्वा वे 'लोगों के समाज' की मुख्यधारा का भाग बन सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर असमानता को रॉल्स समस्यामूलक नहीं मानता और उसका यह भी मानना है कि इसे समाप्त करने के लिए राज्य बाध्य नहीं है। राज्यों के समाज की केवल एक बाध्यता सभी के लिए एक मूल न्यूनतम स्तर संरक्षित करने की है। एक बार यह स्तर प्राप्त हो जाता है तो इसके बाद किसी प्रकार का अन्य उत्तरदायित्व नहीं है। अत: उत्तरदायित्व केवल बोझित समाजों की सहायता के प्रति है जो प्रतिकूल परिस्थितियों (चाहे वे एतिहासिक हो या प्राकृतिक) के परिणामस्वरूप एक सुव्यवस्थित समाज का निर्माण करने में असमर्थ है। सुव्यवस्थित समाजों का एक अन्य उत्तरदायित्व अन्य समाजों में मानव अधिकारों के प्रति सम्मान प्रोत्साहित करना है जिन्हें रॉल्स निर्वाह तथा सुरक्षा अधिकार के रूप में परिभाषित करता है। वे राष्ट्र जो अपने नागरिकों के अधिकारों का सम्मान करने में असफल रहते हैं, वे निर्वासित राज्यों (outlawed states) की श्रेणी में आते हैं और जो सुव्यवस्थित राज्यों को कई प्रकार के हस्तक्षेप के लिए प्रेरित करते हैं ताकि मानव अधिकारों के प्रति सम्मान को वापस लाया जा सके। यदि हम इन दोनों उत्तरदायित्वों को इकट्ठा करें तो यह स्पष्ट है कि वैश्विक गरीबी उन्मूलन को रॉल्स सभी देशों का सामूहिक कर्त्तव्य मानता है तथापि वितरणात्मक न्याय के उत्तरदायित्व पर एक महत्त्वपूर्ण सीमा यह दावा है कि इसमें वैश्विक असमानता को कम करने या समाप्त करने जैसा कोई उत्तरदायित्व नहीं है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रॉल्स की वैश्विक न्याय की इस धारणा में *'A Theory of Justice'* में दिये गये वितरणात्मक न्याय का विस्तार नहीं किया गया है। रॉल्स के कई आलोचकों को आशा थी कि रॉल्स वैश्विक स्तर पर भी भेदमूलक सिद्धान्त (Differential Principle) को लागू करेगा जिसमें समृद्ध देश निर्धनतम देशों के विकास के लिए विश्वकोषीय सिद्धान्त लागू करने के लिए बाध्य होंगे या कम से कम इन देशों के लिए प्राथमिक पदार्थों की आपूर्ति आश्वस्त करेंगे। परन्तु रॉल्स एक 'राष्ट्रीय समाज' (national scoiety) तथा 'लोगों के समाज' (society of peoples) में अन्तर करते है। उदाहरण के लिए, घरेलू समाज (domestic society) में असमानता राजनीतिक प्रक्रिया में लांछन अथवा पक्षपात की तरफ ले जा सकती परन्तु ये ऐसे सरोकार नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय समाज को प्रभावित करते हो। यदि राजनीतिक संस्कृति, न कि प्राकृतिक संसाधन, किसी देश की सम्पदा को निश्चित करती है, तो वैश्विक पुन: वितरण की आवश्यकता नहीं है तथा यह उन समाजों के लिए अनुचित होगा जो अपने समाजों को सम्पदा पैदा करने के दृष्टिकोण से व्यवस्थित नहीं करते। यह समृद्ध समाजों का कर्त्तव्य तो हो सकता है कि अन्य लोगों की मूल आवश्यकताओं की आपूर्ति का आश्वासन दे, परन्तु धन के व्यापक पुनर्वितरण का कोई औचित्य नहीं है। अत: वैश्विक न्याय के संदर्भ में रॉल्स स्वयं को अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून, मानव अधिकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के अन्तर्गत उत्तरदायित्वों तक सीमित रखते हैं।

वैश्विक न्याय पर अमर्त्यसेन के विचार (Amartya Sen on Global Justice)

अमर्त्यसेन के अनुसार वैश्वीकरण के लाभ और हानियों पर चिन्तन करते समय न्याय की आवश्यकता के बारे में सोचना अनिवार्य है। इस तर्क के कई कारण दिये जा सकते हैं कि वैश्वीकरण एक उत्तम उद्देश्य है परन्तु इसके बारे

नोट

में संसार में बहुत से लोगों के संदेह दूर करना काफी कठिन है कि यह उनके लिए वरदान है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वैश्वीकरण एक गलत उद्देश्य है परन्तु इसका अर्थ है कि इसमें ऐसे संशोधन किये जायें कि यह सबको अच्छा लगे। न्याय का मूल आधार है संसाधनों का उचित वितरण (fair distribution of resources)। अत: वैश्वीकरण के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण सवाल है– कि क्या वैश्वीकरण के लाभों का वितरण उचित अथवा स्वीकार्य हुआ है, न कि इससे सभी भागीदारों को कुछ न कुछ लाभ हुआ है। दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि क्या आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अवसरों के अपेक्षाकृत कम असमान वितरण द्वारा उन्हें अपेक्षाकृत उचित न्याय प्राप्त हो सकता है और यदि ऐसा है तो इसके लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रबंध क्या होंगे। असली मुद्दा यह है। वैश्वीकरण के संदर्भ में एक संशोधित वैश्विक व्यवस्था का प्रयत्न होना चाहिए अपेक्षाकृत उचित न्याय तथा अवसरों का और अधिक उचित वितरण।

रॉल्स के विपरीत, अमर्त्यसेन वैश्वीकरण की वर्त्तमान विचारधारा में परिवर्तन करके वैश्विक पुन:वितरित न्याय की बात करता है। हालांकि वह नव-उदारवादी विश्व बाज़ार अर्थव्यवस्था के पक्ष में नहीं है, तथापि उसका मानना है कि हल इस बाज़ार अर्थव्यवस्था को समाप्त करने में नहीं है। वास्तव में यह बाज़ार अर्थव्यवस्था कई प्रकार के समानान्तर स्वामित्व के पैटर्न, संसाधन उपलब्धियों, सामाजिक अवसरों तथा पेटेन्ट क़ानून एवं ट्रस्ट विरोधी नियमों आदि के साथ भी संभव है। ऐसी नई परिस्थितियों पर निर्भर करते हुए बाज़ार अर्थव्यवस्था भिन्न कीमतें, व्यापार के स्वरूप, आय वितरण तथा व्यापक स्तर पर भिन्न परिणाम पैदा कर सकती है। परन्तु इसमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व जोड़ना आवश्यक है, वह है सामाजिक सुरक्षा। बाज़ार अर्थव्यवस्था में संशोधन और सामाजिक सुरक्षा दोनों मिलकर असमानता तथा गरीबी के वर्तमान स्तरों में काफी कमी ला सकते हैं। इसके लिए बाज़ार अर्थव्यवस्था को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है। संशोधित बाज़ार व्यवस्था के परिणाम वर्तमान व्यवस्था से भिन्न होंगे परन्तु वे इस बात पर निर्भर करेंगे कि भौतिक संसाधनों का आवंटन कैसे किया जाता है, व्यापार सम्बन्धी क़ानून कैसे हैं, सामाजिक सुरक्षा के क्या प्रबंध किये गये हैं आदि। और ये सभी परिस्थितियाँ राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं पर निर्भर करती हैं। इसी तरह बाज़ार परिणामों की प्रकृति शिक्षा, भूमि अधिकार, सूक्ष्म ऋण सुविधा तथा क़ानूनी सुरक्षा जैसी सार्वजनिक नीतियों से भी अत्यधिक प्रभावित होती हैं। वैश्विक स्तर पर न्याय के संदर्भ में समृद्धि, समता तथा सुरक्षा लाने के लिए हमें इस तरह की अन्योन्याश्रिता का विकास करने की आवश्यकता है।

विचार करने योग्य एक अन्य पहलू है मानव अधिकार तथा गरीबी उन्मूलन के बीच सम्बन्ध। जैसा कि अमर्त्य सेन लिखते हैं, आर्थिक प्रगति उतनी देर तक सही तरीके से सम्भव नहीं हो सकती जब तक यह नागरिक स्वतंत्रताओं (जैसे विचाराभिव्यक्ति अथवा इकट्ठे होने की स्वतंत्रता) के साथ न जुड़ी हो। वे सरकारें जो मानव अधिकारों का संरक्षण करती हैं, वास्वत में यह भी आश्वस्त करती हैं कि आर्थिक विकास का लोगों द्वारा व्यापक आनंद उठाया जायेगा तथा ऐसी सम्भावना कम होगी कि भ्रष्टाचार ऐसे व्यक्तियों एवं व्यावसायियों के कार्यों में हस्तक्षेप करेगा जो क़ानून का पालन करते हैं। कई सर्वेक्षणों ने यह स्पष्ट किया है कि सरकारों को पुलिस तथा नौकरशाहों द्वारा मूल मानव अधिकारों के हनन के प्रति उतनी ही चिन्ता है जितनी कि सुधारीकृत आर्थिक सम्भावनाओं के प्रति।

इसी तरह एक अन्य लेखक टॉड सलोन का विचार है कि आवश्यकता वैश्वीकरण को समाप्त करने की नहीं है बल्कि वैश्वीकरण को ऊपर से थोपने के बजाय नीचे से (Globalization from below) आरंभ करने की है। हालांकि निगम-पूँजीवाद के कुछ गुण भी हैं परन्तु इसका मूल सिद्धान्त पूँजी के संचय के लिए अधिकतम लाभ समाज के बहुमत के हितों के विरुद्ध जाता है। यह पर्यावरण संरक्षण के भी विरुद्ध है। भविष्य की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वैश्विक अर्थव्यवस्था तथा बाज़ार के लाभों को भी बचाकर रखा जाये तथा समुदाय, पर्यावरण तथा मानवीय संसाधनों को भी नुकसान न हो। यह अन्योन्याश्रिता के प्रत्येक स्तर पर मानवीय अधिकारों तथा सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करके ही हो सकता है जो सामूहिक तथा व्यक्तिगत कल्याण को प्रभावित करते

नोट

हैं। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों (सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी दोनों), राष्ट्रीय संगठनों, सामुदायिक संगठनों तथा नागरिकों-सभी को भागेदारी के नये नेटवर्क के साथ जुड़ने की आवश्यकता है ताकि विश्व के वंचित समूहों की भौतिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ किया जा सके।

UNDP की मानव विकास रिपोर्ट 1999 (Human Development Report of UNDP 1999)

वैश्विक न्याय प्राप्त करने के संदर्भ में UNDP की मानव विकास रिपोर्ट 1999 ने भी एक वैश्विक ढांचे की परिकल्पना प्रस्तुत की जो निम्नलिखित हैं:

1. वैश्विक केंद्रीय बैंक गरीब देशों को ऋण देने तथा वित्तीय बाज़ार को नियमित करने में उनकी सहायता करे।

2. एक वैश्विक निवेश संस्थान (global investment trust) तृतीय विश्व के देशों में विदेश पूँजी के आगमन तथा निर्गमन के बहाव को सन्तुलित करे तथा वैश्विक प्रदूषण तथा अल्पकालीन निवेश पर टैक्स लगाकर विकास के लिए फंड इकट्ठा करे।

3. WTO के लिए नये नियमों, एकाधिकार विरोधी शक्ति समेत की स्थापना की जाये ताकि ये बहुराष्ट्रीय वैश्विक निगमों को उद्योगों पर प्रभुत्व जमाने से रोक सके।

4. नये वैश्विक नियमों की स्थापना जो पेटन्ट व्यवस्था को तृतीय विश्व के देशों के विकास, ज्ञान तथा स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्रों में बाधा बनने से रोके।

5. वैश्विक निवेश संधि पर नया वार्तालाप जिसमें विकासशील देश तथा स्थानीय क़ानूनों के प्रति सम्मान निहित हो।

6. अधिक लचीले मौद्रिक नियम जो विकासशील देशों को अपनी अर्थव्यवस्था संरक्षित करने के लिए पूँजी नियंत्रण लागू करने के योग्य बनाये।

7. अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के लिए एक वैश्विक आचार संहिता ताकि वे वही श्रम एवं पर्यावरण सम्बन्धी नियमों को पालन करें जो उनके अपने देश में प्रचलित है।

कई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा गैर-सरकारी संस्थाएँ वैश्विक अर्थव्यवस्था में सुधार लाने की दिशा में कार्य कर रही है ताकि निम्न वर्ग के शोषण तथा असमानता को कम किया जा सके। परन्तु इस तृतीय क्षेत्र (सरकार तथा बाज़ार के बाद) की आशाएँ तभी पूरी हो सकती हैं यदि ये गैर-सरकारी संस्थाएँ प्रजातांत्रिक स्तर पर कार्य करें तथा तानाशााही न बन जायें। ये नये समूह प्रदर्शनों तथा हड़तालों द्वारा विश्व के वित्तीय एवं व्यापारिक संगठनों को क़ानूनों में परिवर्तन करने, सरकारों को अपने निवेश गरीबों की आवश्यकताओं की तरफ मोड़ने तथा समुदाय को नकारात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित करने वाला निगमों पर दबाव डाल सकते हैं।

वैश्विक न्याय प्राप्त करने के मार्ग में बाधाएँ–वैश्वीकरण बनाम राज्य प्रभुसत्ता (Hurdles in the way of Achieving Global Justice—Globalization Vs State Sovereignty)

समग्र रूप में, वैश्विक न्याय प्राप्त करना अत्यधिक कठिन है। वैश्विक न्याय प्राप्त करने की दिशा में सबसे बड़ी बाधा यह है कि इसमें राज्यों को अपनी प्रभुसत्ता के कुछ अंश से पृथक होना पड़ेगा जो इतना आसान नहीं है। ऐसे हजारों कारण हैं जो राज्यों के परम्परागत विशेषाधिकार वैश्विक पैमाने पर वितरणात्मक न्याय के प्रयत्नों में हस्तक्षेप करेंगे। उदाहरण के लिए, राज्य की प्रभुसत्ता के कुछ ऐसे अंश जिन पर अकुंश लग सकता है वे हैं: मुद्रा, बचत दर, बजट प्रक्रिया, जनसंख्या नीति, शिक्षा एवं प्रशिक्षण, सामाजिक कार्यक्रम, प्रतिरक्षा नीति, पर्यावरण नीति, टैक्स की दर, अप्रवास नीति आदि। इस संदर्भ में यूरोपीय यूनियन का उदाहरण काफी सटीक है क्योंकि इससे स्पष्ट होता है कि यूरोपीय संघटन की प्रक्रिया के एक भाग के रूप में किस प्रकार इन देशों को विभिन्न क्षेत्रों में अपना नियंत्रण न्यौछावर करना पड़ा था ताकि क्षेत्रीय न्याय प्राप्त करने के लिए पुन:वितरण के कार्यक्रम लागू किये जा सके। एक

नोट

राज्य जो अपनी प्रभुसत्ता के अंश को बनाये रखने के लिए दबाव डालता है, वास्तव में यह घोषणा करता है कि वह इस सहयोग से बाहर हो रहा है तथा सामान्य हित की कीमत पर वह अपने राष्ट्रीय हितों को पूरा करना चाहता है। प्रभुसत्ता की घोषणा का अर्थ है कि सामान्य सामूहिक न्याय के नियम उस पर लागू नहीं होते। अत: वे राज्य जो वितरणात्मक न्याय के सिद्धांतों के सामूहिक सम्बन्धों में प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें अपनी प्रभुसत्ता को पाक्षिक रूप में न्यौछावर करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

संक्षेप में, वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने न्याय को राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से बाहर निकालकर इसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ला खड़ा किया है। तथापि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय एक ऐसा स्थान है जहाँ न्याय के आदर्श पूरी तरह नहीं लागू होते। आंतरिक स्तर पर प्रत्येक राष्ट्र के न्याय प्राप्त करने के कोई-न-कोई उद्देश्य होते हैं। मानवीय योग्यताओं के विकास, अधिकारों तथा भौतिक वस्तुओं का आवंटन तथा सभी व्यक्तियों के साथ निष्पक्ष व्यवहार जैसे मुद्दे न्याय तथा नागरिकता के महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। ऐसा प्रश्न करना अपेक्षाकृत सरल है कि राष्ट्र-राज्य अपने नागरिकों के लिए न्याय किस तरह प्रोत्साहित करते हैं परन्तु यह प्रश्न बहुत जटिल है कि वैश्विक न्याय किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और यह कैसा होगा। वैश्विक न्याय के लिए कई प्रकार के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधारों की आवश्यकता है जिसमें विकासशील देशों को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति निर्माण में भागेदारी में वृद्धि भी शामिल है। वस्तुओं के आदान-प्रदान के साथ-साथ, मानसिक विचारों के आदान-प्रदान की भी आवश्यकता है। वैश्विक न्याय के संदर्भ में, नागरिक अधिकारों की तरह, इसके मुद्दे भी वैश्विक हैं जैसे-पर्यावारण विनाश, मानवीय अधिकारों का दुरूपयोग, एड्स आदि। राष्ट्र-राज्य व्यक्तिगत स्तर पर इनके साथ प्रभावशाली ढंग से नहीं निपट सकते क्योंकि इनके कारण जटिल, विस्तृत तथा विश्वव्यापक हैं। ये राष्ट्र-राज्यों के सामूहिक प्रयत्न से ही हल हो सकते हैं। इसके लिए राष्ट्र-राज्यों को अपनी प्रभुसत्ता की बलि देनी पड़ सकती है ताकि अन्य वस्तुओं के आवंटन का आश्वासन बना रहे। वैश्विक न्याय सांझी जिम्मेवारी है।

न्याय का मार्क्सवादी सिद्धान्त (Marxist Theory of Justice)

समकालीन चिन्तन में न्याय पर मार्क्सवादी विचारों के दो स्वरूप देखने को मिलते हैं। पहली श्रेणी में वे लेखक आते हैं जो न्याय के किसी भी विचार का सैद्धांतिक स्तर पर विरोध करते हैं। उनके विचार में न्याय की आवश्यकता तब पड़ती है जब हमारे सामाजिक जीवन में कोई झगड़ा या मतभेद हो जिसे हम 'न्याय के माध्यम' से सुलझाना चाहते हैं। क्योंकि साम्यवाद का उद्देश्य समाज में से सभी झगड़ों और मतभेदों को समाप्त करना है, अत: एक साम्यवादी समाज में न्याय की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। **साम्यवाद न्याय से परे हैं।** (Communism is Beyond Justice)। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी में कुछ ऐसे मार्क्सवादी चिन्तक आते हैं जो उदारवाद द्वारा न्याय को दिये जाने वाले महत्त्व का आदर करते हैं परन्तु ये लेखक न्याय का विश्लेषण उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के संदर्भ में करते हैं। इनका विश्वास है कि न्याय केवल एक वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज में ही प्राप्त हो सकता है। निजी संपत्ति की प्रकृति शोषणकारी और अलगाववादी होने के कारण न्याय की माँग है कि **उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो और साम्यवादी समाज की स्थापना हो।** आइये इन दोनों स्वरूपों का थोड़ा विस्तार से अध्ययन करें।

साम्यवाद न्याय से परे हैं (Communism is Beyond Justice)

जहाँ रॉल्स द्वारा प्रतिपादित न्याय के उदारवादी सिद्धान्त के अनुसार न्याय सभी सामाजिक संस्थाओं का आधारभूत तत्त्व तथा सभी सामाजिक मान्यताओं का मानदंड है, वहाँ मार्क्सवाद इस बात को ही अस्वीकार कर देता है कि साम्यवाद न्याय की किन्हीं मान्यताओं पर आधारित है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनेक लेखक न्याय को महत्त्व नहीं देते। इस संदर्भ में वे मार्क्स का अनुसरण करते हैं। जिसमें 'समान अधिकार' (equal rights) अथवा 'न्यायसंग

नोट

वितरण' (just distribution) के रूप में न्याय की किसी भी व्याख्या की तीव्र आलोचना की क्योंकि इस तरह की शब्दावलियाँ पूँजीवादी शोषण को धुंधला बना देती हैं। उदाहरण के लिए, मार्क्स के अनुसार, क्योंकि समाज में कुछ लोगों की योग्यतायें अपेक्षाकृत अधिक होती हैं, अत: 'समान अधिकार' की धारणा 'असमान श्रम के लिए असमान अधिकार' में बदल जाती है। परिणामस्वरूप, समानता का अधिकार वास्तव में असमानता का अधिकार बन जाता है। इसी तरह 'न्यायपूर्ण वितरण' की धारणा वितरण पर अधिक ध्यान देती है न कि उत्पादन के मौलिक प्रश्न पर। यदि आय और वस्तुओं के उत्पादन के साधनों का मालिकों और संपत्तिहीन वर्ग के बीच पुनर्वितरण होता भी है तो भी समाज में संपत्तिशाली और संपत्तिहीन वर्ग तो रहेंगे ही। अत: वर्ग-विभाजन और शोषण भी चलता रहेगा। दूसरे शब्दों में, अन्याय भी चलता रहेगा। इसलिए वस्तुओं और आय के पुनर्वितरण से पहले आवश्यकता उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के पुनर्वितरण पर ध्यान देने की है क्योंकि यदि उत्पादन के साधनों का पुनर्वितरण संभव हो जाता है तो 'न्यायपूर्ण वितरण' का प्रश्न स्वयमेव समाप्त हो जायेगा। वस्तुओं के वितरण के स्तर पर अन्याय में किसी सुधार का अर्थ है कि पूँजीवादी समाज में वर्गों के असाध्य झगड़ों में किसी प्रकार का संतुलन लाया जा सकता है जो कि, मार्क्सवाद के अनुसार असंभव है। इसके अतिरिक्त, जहाँ न्याय समाज में झगड़ों का निवारण करता है, वहाँ यह समाज में झगड़े भी पैदा करता है और व्यक्ति की स्वाभाविक सामाजिकता को कम करता है। अत: वर्तमान समाजों में न्याय एक 'आवश्यक बुराई है,' साम्यवादी समाज में यह एक बाधा ही होगा। बेहतर तो यह होगा कि लोग अधिकारों के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा करने के बजाय आपस में स्वाभाविक प्रेमभाव के आधार पर रहें।

उपरोक्त आपत्तियाँ मार्क्सवाद के अन्तर्गत न्याय की किसी स्पष्ट धारणा का निर्माण करने में कठिनाई पैदा करती हैं। न्याय की मार्क्सवादी आलोचना की प्रमुख आपत्ति उदारवाद का 'न्यायिक समुदाय' (Judicial community) का विचार भी है। मार्क्सवादी लेखकों के अनुसार न्याय का सवाल तब पैदा होता है जब हम न्याय की परिस्थितियों (circumstances of justice) में होते हैं, अर्थात् वे परिस्थितियां जो ऐसे झगड़े और विरोध पैदा करती हैं। जिन्हें सुलझाने के लिए न्याय की आवश्यकता होती है। ये विवादपूर्ण परिस्थितियाँ अधिकतर दो कारणों से पनपती हैं: (*i*) वर्ग विभाजन के परिणामस्वरूप विरोधी उद्देश्य तथा (*ii*) सीमित आर्थिक साधन। यदि उद्देश्यों के विरोधाभास और आर्थिक साधनों की सीमितता को समाप्त कर दिया जाये तो समाज में 'न्यायिक समानता' जैसे सिद्धान्त की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। मार्क्सवाद का पहला उद्देश्य इन विरोधाभासी परिस्थितियों पर विजय पाना है। इसके लिए यह एक ऐसे वर्ग-विहीन समाज का निर्माण करना चाहता है जहाँ हितों में एकरूपता हो ताकि न्याय की आवश्यकता ही न रहे। दूसरे, यह अभाव को भी समाप्त करना चाहता है। इसके लिए यह उत्पादन के साधनों को सामूहिक स्वामित्व के अन्तर्गत लाकर एक ऐसे वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज का निर्माण करना चाहता है जहाँ हितों में एकरूपता हो ताकि न्याय की आवश्यकता ही न रहे। यह एक ऐसे साम्यवादी समाज का निर्माण करना चाहता है जिसमें 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करेगा और आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेगा।' क्योंकि यह एक ऐसा वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज होगा जहाँ न कोई झगड़े होंगे और न ही कोई विवाद, अत: उन्हें सुलझाने के लिए न्याय की आवश्यकता भी नहीं होगी। साम्यवादी समाज में न्याय एक फालतू की चीज बनकर रह जायेगा। अत: साम्यवाद न्याय से परे हैं।

न्याय की साम्यवादी धारणा (Communist Concept of Justice)

यदि न्याय समाज के लिए अनिवार्य है तो उसकी मार्क्सवादी धारणा क्या हो सकती है? क्योंकि मार्क्सवाद प्रारंभिक नकारात्मक-उदारवादी एवं समतावादी-कल्याणकारी दोनों धारणाओं की आलोचना करता है, अत: स्वभाविक है कि इसकी न्याय की धारणा उदारवादी धारणा से अधिक समानतापूर्ण होनी चाहिए। न्याय की मार्क्सवादी धारणा का उदारवाद के समतावादी सिद्धान्त से अन्तर केवल इस बात पर ही नहीं है कि स्रोतों का समानीकरण किस सीमा तक होना चाहिए बल्कि इस बात पर भी है कि निजी-संपत्ति का समानीकरण कितना होना चाहिए। इस संदर्भ में मार्क्सवाद की मौलिक मान्यता यह है कि उत्पादन के साधनों और स्त्रोतों के निजी स्वामित्व तथा नियंत्रण का किसी को कोई नैतिक अधिकार नहीं है। यह निजी स्वामित्व समाप्त होना चाहिए क्योंकि यह वेतन मज़दूरी (wage labour) के

नोट

सम्बन्ध को जन्म देता है जो अनैतिक, शोषणकारी और अलगाववादी होता है। केवल क्रांति के बाद एक समाजवादी समाज का निर्माण करके, उत्पादन के साधनों को सामुदायिक नियंत्रण के अन्तर्गत लाकर और संपत्ति का समानीकरण करके ही एक न्यायपूर्ण समाज की नींव रखी जा सकती है।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज में अन्याय की मूल जड़ शोषण है और आधुनिक औद्योगिक समाजों में यह मजदूर-वर्ग का पूँजीवादी-वर्ग द्वारा शोषण है। पूँजीवादी राज्य का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह श्रम को खरीदने और बेचने वाली वस्तु बनाकर इस शोषण को न्यायसंगत बनाता है। एक मार्क्सवादी लेखक कोहन के अनुसार, मार्क्सवादी तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है: (*i*) श्रमिक ही एक ऐसा व्यक्ति है जो ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसका कोई आर्थिक मूल्य होता है, (*ii*) इस मूल्य का एक अंश पूँजीपति ले जाता है; (*iii*) अत: श्रमिक को उस उत्पाद के मूल्य का अपेक्षाकृत कम हिस्सा मिलता है; (*iv*) क्योंकि उत्पाद के मूल्य का एक हिस्सा पूँजीपति ले जाता है। (जिस पर उसका अधिकार नहीं है), अत: श्रम का पूँजीपति द्वारा शोषण होता है। श्रमिकों को पूँजीपति के पास काम करने के लिए मज़बूर होना पड़ता है। श्रमिकों के पास उत्पादन के साधन नहीं होते इसलिए वे अपनी रोजी-रोटी संपत्तिशाली वर्ग के पास काम करके ही कमा सकते हैं। अत: मजदूरी सम्बन्ध मूलत: शोषणकारी होता है।

शोषण की इस धारणा को एक अन्य मार्क्सवादी लेखक रोमन ने संपत्तिहीन वर्ग द्वारा 'उत्पादन के साधनों और यंत्रों तक असमान पहुँच' (Unequal access to the means of production) के संदर्भ में परिभाषित किया है। इसके अनुसार वोट अधिकार से वंचित नारी-जाति, बेकार लोग, श्रमिक सभी अन्याय के शिकार होते हैं। उत्पादन के साधनों तक इस असमान पहुँच का लाभ पूँजीपति वर्ग उठाता है। इसके अतिरिक्त, पूँजीपति वर्ग द्वारा श्रमिक का शोषण तस्वीर का एक पहलू है; शोषण का इससे भी भयानक पहलू वह है जहाँ समाज के एक बहुत बड़े भाग को अपना श्रम बेचने से ही वंचित किया जाता है जैसे नारी-जाति, अपराधी, भिखारी, बेकार लोग आदि। यह तर्क भी एक मिथ्या है कि पूँजीवादी वर्ग ने अपनी संपत्ति मेहनत, योग्यता और समझदारी से बचत करके कमायी है। मार्क्स ने इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया था कि संपत्ति के इस संचय में चोरी, डाके, हत्या, दासता, बंधुआ-मज़दूरी और राजनीतिक आक्रमणों ने बहुत गहरी भूमिका निभाई है। संपत्ति का यह प्रारंभिक अन्यायपूर्ण संचय इस तर्क को झुठला देता है कि पूँजीपति अपने लाभ का उचित हकदार है क्योंकि संपत्ति निवेश करके वह खतरा उठाता है। इसके विपरीत असली खतरा तो श्रमिक वर्ग उठाता है जिसे बेकारी, कम वेतन, बीमारी, कारखानों में आकस्मिक दुर्घटनाओं आदि का सामना करना पड़ता है। संक्षेप में, जब तक निजी संपत्ति और लाभ का प्रावधान रहेगा, बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग को कोई न्याय नहीं मिल सकता।

न्याय तथा अलगाव (Justice and Alienation)

यदि मार्क्सवादी लेखक निजी संपत्ति को समाप्त करना चाहते हैं तो उन्हें शोषण के अतिरिक्त किसी अन्य आधार की भी आवश्यकता है। यहाँ मार्क्स ने एक नैतिक तर्क प्रस्तुत किया कि निजी-संपत्ति तथा इसके ऊपर आधारित उत्पादन का ढांचा व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा क्षमताओं के संपूर्ण विकास में बाधक है। निजी संपत्ति की विशेषता है कि यह केवल शोषणकारी ही नहीं है परन्तु जो इस शोषण का लाभ उठाते हैं वे भी अपनी स्वाभाविक मानवीय प्रकृति से अलग हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त निजी संपत्ति व्यक्ति को अपने श्रम, उत्पादन, अपने भाई-बंधुओं और प्रकृति से अलग कर देती है। इस तरह के अलगाववादी और पराये समाज में न्याय की बात करना ही अर्थहीन है। मार्क्स का विचार था कि समाज में स्रोतों का वितरण इस तरह से होना चाहिए कि यह मानवीय क्षमताओं और कुशलताओं में निरंतर वृद्धि को प्रोत्साहित करे और उस जीवन प्रक्रिया को हतोत्साहित करे जो इन क्षमताओं में बाधा डालती है। इस विशिष्ट कार्यकुशलता को मार्क्स ने 'हमारी स्वतंत्र रूप से रचनात्मक सहकारी उत्पादन करने की क्षमता' (Our capacity for freely creative cooperative production) का नाम दिया। उत्पादन की कोई भी प्रणाली जो हमारी इस क्षमता को क्षीण करती है, वास्तव में व्यक्ति को उसकी स्वाभाविक प्रकृति से अलग कर देती है।

नोट

समग्र रूप से, मार्क्सवाद की दोनों धारणाएँ न्याय तथा अन्याय के प्रश्न का मज़दूर-वर्ग के संदर्भ में विश्लेषण करती हैं। पूँजीवादी अन्याय के विरुद्ध संघर्ष का रूप केवल दो वर्गों-पूँजीपति और मजदूर वर्ग-का संघर्ष ही हो सकता है। केवल मजदूर-वर्ग ही पूँजीवादी अन्याय के संपूर्ण ढांचे को चुनौती देने की क्षमता और इच्छा रखता है। न्याय की मार्क्सवादी धारणा वास्तव में इस वर्ग-संघर्ष का औचित्य बन जाती है। तथापि, कुछ आलोचकों के अनुसार, क्रांतिकारी राजनीति में केवल मज़दूर वर्ग को ही केन्द्रीभूत महत्त्व देना असंगत लगता है। न्याय के लिए बहुत से महत्त्वपूर्ण समकालीन संघर्ष उन वर्गों और समुदायों द्वारा चलाये गये हैं जो वेतन मज़दूरी का शिकार नहीं रहे जैसे जातीय समुदाय, अल्पसंख्यक समुदाय, नारी मुक्ति आन्दोलन आदि। अब यह स्पष्ट हो गया है कि शोषित मजदूर-वर्ग तथा न्याय के लिए उत्सुक अन्य सामाजिक समुदायों को सदैव एक समान नहीं माना जा सकता।

न्याय की आवश्यकता पर बल देते हुए किमिलिका लिखता है कि न्याय का अर्थ केवल समाज की गलतियाँ सुधारना नहीं होता। इसमें कोई शक नहीं कि न्याय विवादों को हल करता है परंतु इससे भी महत्त्वपूर्ण है कि यह व्यक्ति को आदर देता है जो व्यक्ति का एक साध्य होने के नाते उसका है। अधिकारों के माध्यम से न्याय सामाजिक समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति की समान प्रतिष्ठा और स्थिति को मान्यता प्रदान करता है परन्तु यह लोगों को दूसरों की कीमत पर अधिकारों का प्रयोग करने के लिए बाध्य नहीं करता। अत: यह विचार कि हम अधिकार, न्याय, कर्त्तव्य जैसे धारणाओं का त्याग करके एक समान और न्यायपूर्ण समाज की रचना कर सकते हैं, बिल्कुल प्रभावित नहीं करता।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. 'वैश्वीकरण के लाभ और हानियों पर चिन्तन करते समय न्याय की आवश्यकता के बारे में सोचना अनिवार्य है'–कथन किसका है?
   (अ) रूसो (ब) अमर्त्य सेन
   (स) हॉब्स (द) जॉन राल्स
5. 'द लॉ ऑफ पियुपल्स' पुस्तक लिखी है–
   (अ) जॉन रॉल्स (ब) हॉब्स
   (स) अमर्त्य सेन (द) रूसो
6. मार्क्सवाद के अनुसार समाज में अन्याय की मूल जड़ क्या है?
   (अ) गरीबी (ब) अमीरी
   (स) शोषण (द) इनमें से कोई नहीं

10.3 सारांश (Summary)

- अरस्तु के अनुसार राजनीतिक अधिकार, विशेषाधिकार, धन, संपत्ति, भौतिक वस्तुएँ, प्रतिष्ठा आदि वितरणात्मक न्याय के आधार पर आवन्टित होनी चाहिए।
- न्याय के सिद्धान्त तथा प्राथमिकता निश्चित करने के बाद, रॉल्स के अनुसार, समझौते का अगला कदम एक ऐसे संविधान का निर्माण है जो न्याय के इन सिद्धान्तों को संतुष्ट कर सके तथा न्यायसंगत और प्रभावशाली विधि-निर्माण का आधार बन सके।
- नोज़िक का न्याय का सिद्धान्त सम्पत्ति अधिकार पर आधारित सिद्धान्त है। उसका दावा है कि व्यक्तियों का विभिन्न वस्तुओं पर सम्पूर्ण स्वामित्व का अधिकार होता है या वे अर्जित कर सकते हैं।

नोट

- योग्य व्यक्तियों को अपनी-अपनी योग्यता का असली लाभ तब मिलेगा जब इस योग्यता से गरीबों का भला होगा।
- न्याय की मार्क्सवादी धारणा का उदारवाद के समतावादी सिद्धान्त से अन्तर केवल इस बात पर ही नहीं है कि स्रोतों का समानीकरण किस सीमा तक होना चाहिए बल्कि इस बात पर भी है कि निजी-संपत्ति का समानीकरण कितना होना चाहिए।
- मार्क्सवाद के अनुसार समाज में अन्याय की मूल जड़ शोषण है और आधुनिक औद्योगिक समाजों में यह मज़दूर-वर्ग का पूँज़ीवादी-वर्ग द्वारा शोषण है।

10.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **वैश्वीकरण (Globalisation):** भूमंडलीकरण।
2. **आन्दोलन (Movement):** गति, चाल, संचार।

10.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. न्याय से क्या अभिप्राय है?
2. प्रक्रियात्मक न्याय को समझाइए।
3. रॉल्स के न्याय संबंधी सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिए।
4. वैश्विक न्याय पर एक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. बहुमुखी	2. जॉन रॉल्स	3. नोज़िक
4. (ब)	5. (अ)	6. (स)

10.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. द पॉलिटिकल थ्योरी—आर. के. परूथी।
2. पॉलिटिकल थ्योरी: आइडियाज एंड कांसेप्ट—एस. रामास्वामी।

नोट

इकाई–11: सामाजिक न्याय (Social Justice)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 सामाजिक न्याय (Social Justice)

11.1.1 सामाजिक न्याय के विषय में अम्बेडकर के विचार (Ambedkar's view on Social Justice)

11.2 सारांश (Summary)

11.3 शब्दकोश (Keywords)

11.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

11.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक न्याय का अर्थ समझने हेतु।
- सामाजिक न्याय पर अम्बेडकर के विचार जानने हेतु।

प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक न्याय का तात्पर्य सामाजिक समानता है। सामाजिक न्याय का सिद्धांत यह माँग करता है कि सामाजिक जीवन में सभी मनुष्यों की गरिमा को स्वीकार किया जाए। लिंग, वर्ण, जाति, धर्म व स्थान के आधार पर भेदभाव न किया जाए तथा प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास के सभी अवसर सुलभ कराए जाएँ। सामाजिक न्याय किसी भी आधार पर किए गए शोषण को स्वीकार नहीं करता। वस्तुत: सामाजिक न्याय एक विस्तृत अवधारणा है, जिसमें आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय भी सम्मिलित है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 38 में कहा गया है, (सामाजिक न्याय) "एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करें।"

11.1 सामाजिक न्याय (Social Justice)

नोट

सामाजिक न्याय से भावार्थ यह है कि किसी देश में रह रहे व्यक्तियों में जन्म, जाति, रंग, नस्ल आदि के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए। जिस समाज में जन्म, जाति अथवा रंग आदि के आधार पर कुछ लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, उस समाज में सामाजिक न्याय की प्राप्ति नहीं हो सकती। सामाजिक न्याय उस समाज में भी संभव नहीं हो सकता, जहाँ लोगों में अत्यधिक आर्थिक अंतर है अथवा जहाँ व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण होता हो।

1. क़ानून के समक्ष समानता: सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए यह बहुत आवश्यक है कि क़ानून की दृष्टि से सभी लोगों को समान समझा जाए। क़ानून के संसार में किसी व्यक्ति में जन्म, जाति, रंग, नस्ल आदि के आधार पर कोई विशेष रियायत अथवा भेदभाव न किया जाए।

नोट्स सभी वर्गों के लोगों के लिए एक ही प्रकार के क़ानून होने चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को क़ानून का समान सरंक्षण प्राप्त होना चाहिए। सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए ऐसे अधिकार का अस्तित्व आवश्यक है।

2. विशेषाधिकारों की समाप्ति: सामाजिक न्याय तभी ही लोगों को प्राप्त हो सकता है, यदि किसी भी वर्ग के लोगों को सरकार द्वारा विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, तो ऐसे देश में सामाजिक न्याय की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती। सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए सामाजिक समानता की स्थापना आवश्यक है। यदि किसी विशेष वर्ग को सरकार द्वारा कुछ रियायतें दी जाएगी तो ऐसे देश में सामाजिक समानता की कल्पना भी नहीं की जा सकेगी।

3. जाति-प्रथा का अंत: प्रकृति ने जाति के आधार पर मनुष्यों में कोई बाँट नहीं की। इस बात की अपेक्षा संसार के अनेक देशों में जाति के आधार पर मनुष्य अपने साथी मनुष्यों से घृणा करता है। हमारा अपना देश इस अमानवीय कुरीति का चिरकाल तक शिकार रहा है और वर्तमान समय में भी जाति के नाम पर हरिजन भाइयों से भेदभाव किया जाता है। सामाजिक न्याय तभी ही प्राप्त हो सकता है, यदि जाति-प्रथा को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाए और लोग जाति के नाम पर अपने साथियों के भेदभाव करना बंद कर दें।

4. पिछड़े वर्ग के लोगों को विशेष सुविधाएँ: सामाजिक समानता तभी स्थापित हो सकती है, यदि पिछड़े वर्गों के लोगों को विकास करने के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ दी जाएँ। ये विशेष सुविधाएँ या रियायतें स्थायी रूप में नहीं होनी चाहिए अपितु कुछ सीमित समय के लिए दी जानी चाहिए। इन विशेष सुविधाओं का उद्देश्य यह होता है कि पिछड़े वर्गों के लोग इन सुविधाओं के आधार पर दूसरे उत्पन्न वर्गों के समान विकास कर सकें।

5. लोकतांत्रिक प्रणाली: सामाजिक न्याय वास्तविक अर्थों में तभी प्राप्त हो सकता है यदि लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को ग्रहण किया जाए। लोकतांत्रिक प्रणाली में प्रत्येक प्रकार के अधिकार सभी लोगों को समान रूप में प्राप्त होते हैं और किसी विशेष वर्ग के लोगों को कोई विशेष सुविधाएँ अथवा रियायतें प्रदान नहीं की जातीं। लोकतांत्रिक प्रणाली में कुछ समय के पश्चात् आम चुनाव करवाए जाते हैं और ऐसे चुनावों में देश के समूचे नागरिक समान रूप में भाग लेते हैं। यदि इन सभी व्यवसायों को क्रियान्वित रूप दिया जाए तो निस्संदेह ही सामाजिक न्याय की प्राप्ति हो सकती है।

6. आर्थिक सुरक्षा: आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना किसी व्यक्ति के लिए संतुष्ट जीवन व्यतीत करना लगभग असंभव है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य देना सरकार का आवश्यक कर्तव्य होना चाहिए। जब तक सरकार किसी व्यक्ति को काम प्रदान नहीं करती, तब तक व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर होना चाहिए। आर्थिक सुरक्षा से भावार्थ यह है कि सरकार ऐसे व्यक्तियों को बेरोज़गारी भत्ता दे ताकि

नोट

बेरोज़गार व्यक्ति अपने जीवन की प्रारंभिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकें। इसके अतिरिक्त सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि बीमारों, बुजुर्गों और अंगहीनों की आर्थिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व सरकार के आवश्यक कर्तव्यों में शामिल हो।

7. श्रमिकों के हितों की रक्षा: सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिकों के हितों की रक्षा की जाए। इस उद्देश्य के लिए श्रमिकों के कार्य का अधिक-से-अधिक समय निश्चित किया जाना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के उचित वेतन तथा अन्य अनेक सुविधाओं की व्यवस्था करनी अनिवार्य है। जब तक श्रमिकों के हितों की सुरक्षा के लिए सरकार कोई विशेष प्रयत्न नहीं करती, तब तक सामाजिक न्याय की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती।

टास्क सामाजिक न्याय पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. सामाजिक न्याय उस समाज में संभव नहीं हो सकता, जहाँ लोगों में अत्यधिक ..... अंतर है।
2. प्रकृति ने ..... के आधार पर मनुष्यों में कोई बांट नहीं की है।
3. सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि ..... के हितों की रक्षा की जाए।

11.1.1 सामाजिक न्याय के विषय में अम्बेडकर के विचार (Ambedkar's view on Social Justice)

डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर (बाबा साहिब अम्बेडकर) (1891-1956) आधुनिक भारतीय राजनीतिक, चिंतक, बुद्धिजीवी, मानवतावादी, दलितों के मसीहा तथा सामाजिक न्याय के संघर्षशील योद्धा थे। वह भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता के रूप में भी जाने जाते हैं।

उन्होंने हिन्दुओं में अस्पृश्य मानी जाने वाली जातियों को संगठित करके उन्हें सामाजिक तथा राजनीतिक न्याय हेतु संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। स्वयं अस्पृश्य (महार) जाति में जन्म लेकर उन्होंने निरंतर संघर्ष तथा आत्मविश्वास के बल पर उच्च शिक्षा ग्रहण की। जातिवाद तथा छुआछूत के कारण बाल्यकाल से ही उन्हें अपमान तथा उत्पीड़न का सामना करना पड़ा, जिसका प्रभाव बाद में उनके विचारों पर पड़ना स्वाभाविक था। कोलम्बिया विश्वविद्यालय में उच्च-शिक्षा ग्रहण करते हुए उन्होंने समानता के व्यवहार का अनुभव किया, जो भारत में उनके लिए वर्जित था! अब्राहम लिंकन तथा वाशिंगटन के विचारों का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह कबीर की भक्ति फूले के समाज सुधार तथा साबू महाराज के ब्राह्मणवाद के विरुद्ध संघर्ष से भी प्रभावित थे। अम्बेडकर विचारधारा पर लोकतंत्र, समानता, स्वतंत्रता एक भ्रातृत्व के पाश्चात्य विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अपने अमेरिकी प्रवास के दौरान वह रंगभेद की नीति का विरोध करने वाले चौदहवें संशोधन से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। इससे उन्हें भारत में दलितों का उद्धार करते हेतु संघर्ष करने की प्रेरणा मिली। उनका मत था कि दलितों को स्वतंत्र जीवनयापन हेतु सक्षम बनाने में मन द्वारा निर्मित नियम नहीं, बल्कि संवैधानिक सुरक्षा के उपाय ही सहायक होंगे। उनके द्वारा लिखी गई अनेक कृतियों में 'जाति-प्रथा' का उन्मूलन (Annihilation of Caste), 'शूद्र कौन थे' (Who were the Shudras?) तथा 'अस्पृश्य जातियाँ' (The Untouchable) सामाजिक न्याय की दिशा में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है।

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था: वर्ण-व्यवस्था का खण्डन नोट

अम्बेडकर सामाजिक क्रांतिकारी थे। वह हिन्दुओं, विशेषत: ब्राह्मणों के हाथों अपमानित होने वाले दलित वर्ग के उद्धारक थे। उन्होंने दलित समुदाय को तिरस्कार तथा अधीनता के उस दलदल में से उबारा जिसमें धर्मान्ध तथा धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणों ने उन्हें फँसा दिया था। तिलक की तरह उनका मत था कि प्रत्येक को अपने अधिकार के लिए संघर्ष करना पड़ता है। अधिकार दान में नहीं दिए जाते। इसी प्रकार प्रत्येक को पूर्वस्थापित सामाजिक संरचना, रीति-रिवाजों विश्वासों व व्यवहार के विरुद्ध लड़ना होगा।

अपनी प्रसिद्ध कृति "शूद्र कौन थे?" में उन्होंने मनु द्वारा निर्दिष्ट वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने वेदों में वर्णित चतुर्वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया, जिससे ब्राह्मणों की तुलना पुरुष के मुख से, क्षत्रियों की भुजाओं से, वैश्यों की जंघाओं से तथा शुद्रों की पगों में की गई है। यह सिद्धांत असमानता का द्योतक है।

उनके अनुसार वर्ण-व्यवस्था पर आधारित हिन्दू समाज शोषण व असमानता को बढ़ावा देता है। अस्पृश्य वर्ग वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति है। इस व्यवस्था में ब्राह्मणों को उच्च स्थान प्राप्त है तथा अस्पृश्यों को शोषण व दमन का सामना करना पड़ता है। अत: अस्पृश्यता-निवारण व भारतीय समाज में सुधार का एक ही उपाय है कि वर्ण-व्यवस्था का अन्त कर दिया जाए। अम्बेडकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दू समाज में समानता सम्भव नहीं है। इसी कारण अन्तत: उन्होंने हिन्दू धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था।

क्या आप जानते हैं जाति-प्रथा का मूलाधार जन्म है। जाति प्रथा के कारण हिन्दू समाज असंख्य इकाइयों में बँट गया।

अम्बेडकर के अनुसार जाति-विद्वेष के कारण हिन्दू कभी एक होकर नहीं रह सके न ही उनमें सामाजिक चेतना का संचार हुआ। अम्बेडकर तथा गाँधी दोनों ही दलितों के उद्धार के पक्षधर थे, किन्तु वर्ण-व्यवस्था के संबंध में दोनों में मतभेद था। गाँधी पुनर्जन्म तथा कर्मफल में विश्वास रखते थे। किन्तु अम्बेडकर ने इस दर्शन को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'जाति-प्रथा का उन्मूलन' में हिन्दू समाज के दोषों पर प्रकाश डाला तथा जाति-व्यवस्था को बुरी व्यवस्था मानते हुए उसके उन्मूलन का सुझाव दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने शास्त्रों को नष्ट करने पर भी बल दिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जन्म किस सन् में हुआ था?
   (अ) 1895 (ब) 1891
   (स) 1893 (द) 1898
5. 'शूद्र कौन थे' पुस्तक के लेखक कौन थे?
   (अ) डॉ. अम्बेडकर (ब) अटल बिहारी बाजपेयी
   (स) सलमान खुर्शीद (द) इनमें से कोई नहीं
6. जातिप्रथा का मूलाधार क्या है?
   (अ) कर्म (ब) धर्म
   (स) जन्म (द) इनमें से कोई नहीं

नोट

11.2 सारांश (Summary)

- सामाजिक न्याय से भावार्थ यह है कि किसी देश में रह रहे व्यक्तियों में जन्म, जाति, रंग, नस्ल आदि के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए।
- सामाजिक समानता तभी स्थापित हो सकती है, यदि पिछड़े वर्गों के लोगों को विकास करने के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ दी जाएँ।
- आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना किसी व्यक्ति के लिए संतुष्ट जीवन व्यतीत करना लगभग असंभव है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य देना सरकार का आवश्यक कर्तव्य होना चाहिए।
- डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर (बाबा साहिब अम्बेडकर) (1891–1956) आधुनिक भारतीय राजनीतिक, चिंतक, बुद्धिजीवी, मानवतावादी, दलितों के मसीहा तथा सामाजिक न्याय के संघर्षशील योद्धा थे।
- अम्बेडकर सामाजिक क्रांतिकारी थे। वह हिन्दुओं, विशेषत: ब्राह्मणों के हाथों अपमानित होने वाले दलित वर्ग के उद्धारक थे। उन्होंने दलित समुदाय को तिरस्कार तथा अधीनता के उस दलदल में से उबारा जिसमें धर्मान्ध तथा धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणों ने उन्हें फँसा दिया था।

11.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **संस्कृति (Culture):** किसी देश की वेश-भूषा, भाषा, खान-पान, रहन-सहन आदि।
2. **रियायत (Concession):** छूट, (जैसे कर (Tax) में रियायत) मालिक द्वारा किसी को कुछ करने का अधिकार देना या बेचना।

11.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक न्याय की अवधारणा को समझाइए।
2. सामाजिक न्याय की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. सामाजिक न्याय पर डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. आर्थिक
2. जाति
3. श्रमिकों
4. (ब)
5. (अ)
6. (स)

11.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. द पॉलिटिकल थ्योरी–आर. के. परूथी।
2. कॉन्टेम्प्रेरी पॉलिटिकल थ्योरी: न्यू डाइमेंशन्स, बेसिक कान्सेप्ट्स एंड मेजर ट्रेन्ड्स–जे. सी. जौहरी।

नोट

इकाई–12: लोककल्याण एवं कल्याणकारी राज्य (Public Welfare and Welfare State)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का अभ्युदय (Evolution of Welfare State)

12.1.1 लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा (Definition of Welfare State)

12.1.2 लोककल्याणकारी राज्य के कार्य (Function of Welfare State)

12.1.3 लोकतंत्र और लोककल्याणकारी राज्य (Democracy and Welfare State)

12.1.4 आधुनिक राज्य कार्य या राज्य का उचित कार्यक्षेत्र (Function of Modern State or Proper Sphere of State Action)

12.2 सारांश (Summary)

12.3 शब्दकोश (Keywords)

12.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

12.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को समझने हेतु।
- लोकतंत्र और लोककल्याणकारी राज्य में अन्तर स्पष्ट करने हेतु।
- आधुनिक राज्य के उचित कार्यक्षेत्र को समझने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

साधारणतया लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से होता है जिसके अंतर्गत शासन की शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याण हेतु नहीं वरन् संपूर्ण जनता के कल्याण के लिए किया जाता है। इस रूप में लोककल्याणकारी राज्य का विचार नया नहीं है। भारत में प्राचीन काल से रामराज्य की जो धारणा प्रचलित है, वह एक ऐसे राज्य का प्रतीक है, अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप से सर्वांगीण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि भारतीय राजनीतिक विचारकों ने राजपद के दैवी उदय का प्रतिपादन किया है, लेकिन इसके साथ ही उन्होंने नरेशों के कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना भी की है और उनका मूल विचार है कि राजा के द्वारा सभी कार्य लोककल्याण की दृष्टि से ही किए जाने चाहिए।

12.1 लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का अभ्युदय (Evolution of Welfare State)

महाभारत, पाराशर की स्मृतियाँ तथा **मार्कण्डेय, मनु** और **याज्ञवल्क्य** आदि की विचारधारा में यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ, वेदव्यास ने **'महाभारत'** में कहा है कि **"जो नरेश अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता, वह नरक का भागी होता है।"** लगभग इसी प्रकार की धारणा यूनान के नगर राज्यों में प्रचलित थी। प्लेटो और **अरस्तु** द्वारा राज्य को एक नैतिक संगठन माना गया है, जिसका उद्देश्य किसी एक वर्ग के हित में नहीं वरन् सभी नागरिकों के हित में कार्य करना है। मध्य युग में यद्यपि इस विचार के दर्शन नहीं होते, लेकिन 18वीं और 19वीं सदी में **टॉमस पेन, थॉमस जेफरसन, काण्ट ग्रीन** और **बेंथम** की विचारधाराओं में पुनः इस आदर्श को देखा जा सकता है कि राज्य अपने सभी सदस्यों के कल्याण में कार्य करें।

इस प्रकार अपने मूल रूप में लोककल्याणकारी राज्य की धारणा सदैव ही विद्यमान रही है, लेकिन वर्तमान समय में जिस अर्थ विशेष में इस धारणा का प्रयोग किया जाता है, वह वर्तमान परिस्थितियों की ही उपज है। इसे आधुनिक औद्योगीकरण की देन कहा जा सकता है। लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का उदय प्रमुख रूप से निम्न प्रवृत्तियों का परिणाम है–

1. व्यक्तिवाद के प्रति प्रतिक्रिया–18वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 9वीं सदी के प्रारंभ में विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा व्यक्तिवादी **'यदभाव्यम् नीति'** (*Laissez faire*) को अपना लिया गया था और इस नीति के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया गया था। इस नीति को अपनाने के परिणामस्वरूप यूरोप के राज्य अधिकाधिक संपत्तिशाली बनते गए लेकिन इसके साथ ही संपत्ति का केवल कुछ ही हाथों में केंद्रीकरण भी होने लगा। एक ओर तो अत्यधिक संपत्तिशाली वर्ग उत्पन्न हो गया, दूसरी ओर एक ऐसा श्रमिक वर्ग था जिसके पास अपनी क्षमता से अधिक कार्य करने पर भी जीवन के साधन नहीं थे। ऐसी स्थिति में बहुसंख्यक जनता में विद्यमान के प्रति अंसतोष उत्पन्न हुआ और **रस्किन, कार्लायल, विलियम गाडविन** आदि विद्वानों द्वारा इस असंतोष की अभिव्यक्ति की गई। बुद्धिजीवियों के एक बड़े भाग द्वारा यह माँग की गई कि राज्य के द्वारा अपने बहुसंख्यक वर्ग की दुर्दशा एक शांत दर्शक के रूप में देखने के बजाय इस स्थिति में सुधार करने के लिए सक्रिय कदम उठाए जाने चाहिए।

2. मार्क्सवाद का उदय और पूँजीवादी राज्यों पर उसकी प्रतिक्रिया–व्यक्तिवादी व्यवस्था को नष्ट करने के उद्देश्य से ही 1848 में कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स ने **'समाजवादी घोषणापत्र'** (Communist Manifesto) प्रकाशित किया। साम्यवादी विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी 1917 में सोवियत रूस में सर्वहारा वर्ग द्वारा एक सफल क्रांति की गई और तमाम आंतरिक एवं बाहरी विरोधों के बावजूद सोवियत रूस में सुव्यवस्थित रूप में साम्यवादी शासन-व्यवस्था स्थापित हो गई। यह साम्यवादी व्यवस्था निश्चित रूप में पाश्चात्य देशों में प्रचलित

नोट

पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध और उनके लिए भय का एक कारण थी। ऐसी स्थिति में पूँजीवादी देशों में अपनी व्यवस्था पर पुनर्विचार करना प्रारंभ किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विद्यमान व्यवस्था को बनाए रखने के लिए इसमें कुछ मौलिक परिवर्तन किए जाने आवश्यक हैं। साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए उनके द्वारा अपनी शासन-व्यवस्था को सर्वजन हितकारी बनाने का प्रयत्न किया गया।

3. विकासवादी समाजवाद का प्रभाव–19वीं और 20वीं सदी में समाजवाद के एक अन्य रूप **'विकासवादी समाजवाद'** का प्रभाव भी बढ़ने लगा। इस विचारधारा का उद्देश्य क्रांति और हिंसात्मक मार्ग से दूर रहते हुए शांतिपूर्ण और संवैधानिक साधनों एवं शिक्षा के माध्यम से समाजवादी विचारों का प्रसार करके देश की अर्थव्यवस्था को समाजवादी ढंग से संचालित करना था। विकासवादी समाजवाद के द्वारा इस बात पर जोर दिया गया कि राज्य के द्वारा समाज के निम्नतर वर्गों की स्थिति में सुधार करने के लिए आवश्यक प्रयत्न किए जाने चाहिए। लोककल्याणकारी राज्य इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम था।

4. मताधिकार का विस्तार और लोकतंत्र का विकास–18वीं सदी के अंत तक ब्रिटेन आदि लोकतंत्रीय राज्यों में सीमित मताधिकार की ही व्यवस्था थी, अत: राज्य द्वारा निम्न वर्गों के हितों की अपेक्षा की जा सकती थी। लेकिन 1832 के सुधार कानून से ब्रिटेन में मताधिकार का विस्तार होने लगा और बीसवीं सदी में भारत आदि राज्यों में वयस्क मताधिकार को अपना लिया गया। इन राज्यों के लिए अपने बहुसंख्यक मतदाताओं (निम्न वर्गों) की स्थिति पर ध्यान जरूरी हो गया। निम्न वर्गों की स्थिति में सुधार के लिए राज्य कार्यक्षेत्र को व्यापक करना आवश्यक था, अत: लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाया गया।

इसके अतिरिक्त, यह भी सोचा जाने लगा कि प्रजातंत्र का अर्थ केवल मतदान का अधिकार नहीं है वरन् जनता को राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अनेक सुविधाएँ प्रदान कर उसके जीवन को सुखपूर्ण, सम्मानित तथा नैतिक रूप से श्रेष्ठतर बनाना है। प्रजातंत्र को वास्तविकता प्रदान करने के लिए लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाना आवश्यक था और ऐसा ही किया गया।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप आज विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा लोककल्याण की धारणा को अपना लिया गया है।

12.1.1 लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा (Definition of Welfare State)

अपने वर्तमान रूप में लोककल्याणकारी राज्य की प्रमुख रूप से इस प्रकार की परिभाषाएँ की गयी हैं–

1918 में प्रकाशित '*Encyclopaedia of Social Science*' में लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है।"

टी. डब्ल्यू. केण्ट के अनुसार, "लोकहितकारी वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।" इन समाज सेवाओं के अनेक रूप होते हैं। इनके अंतर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और वृद्धावस्था में पेंशन आदि की व्यवस्था होती है। इनका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सभी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करना होता है।

डॉ. अब्राहम के अनुसार, "कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"

जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक भाषण में लोककल्याणकारी राज्य को परिभाषित करते हुए कहा था, "सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच अंतर मिटाना और जीवन स्तर को ऊपर उठाना लोकहितकारी राज्य के आधारभूत तत्व हैं।"

नोट

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में लोककल्याण के आर्थिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, परंतु कल्याण की धारणा केवल भौतिक ही नहीं, वरन् मानवीय स्वतंत्रता और प्रकृति से भी संबंधित है। सन् 1954 में मैसूर विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए न्यायमूर्ति **छागला** ने लोककल्याणकारी राज्य की सही धारणा को व्यक्त करते हुए कहा था, "लोककल्याणकारी राज्य का कार्य एक ऐसे पुल का निर्माण करना है जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन की पतित अवस्था से निकलकर एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सके जो उत्थानकारी और उद्देश्यपूर्ण है। लोककल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य नागरिक द्वारा स्वतंत्रता में उपभोग को संभव बनाना है।"

इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार। राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार का अर्थ प्राय: व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बंधन लिया जाता है, लेकिन कल्याणकारी राज्य का अर्थ राज्य के कार्यक्षेत्र इस प्रकार विस्तार करना होता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कोई विशेष बंधन न लगे, राज्य के कार्यक्षेत्र के साथ-ही-साथ व्यक्ति का भी अपना स्वतंत्र कार्यक्षेत्र हो। वास्तव में लोककल्याणकारी राज्य की धारणा पश्चिमी प्रजातंत्र और साम्यवादी अधिनायकतंत्र दोनों से ही भिन्न है। पश्चिमी प्रजातंत्र राजनीतिक स्वतंत्रता को एक ऐसी स्थिति प्रदान करता है, जिसके अंतर्गत नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित साम्यवादी अधिनायकतंत्र में राजनीतिक स्वतंत्रता का अभाव होता है।

लेकिन लोककल्याणकारी राज्य की धारणा राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक सुरक्षा के बीच सामंजस्य का सफल प्रयत्न है। **होब्मेन** (Hobman) के शब्दों में, "यह (कल्याणकारी राज्य) दो अतिथियों में एक समझौता है जिसमें एक तरफ साम्यवाद है तो दूसरी तरफ अनियंत्रित व्यक्तिवाद।" लोककल्याणकारी राज्य लोकहित पर आधारित होता है और इस संबंध में लोकहित से हमारा तात्पर्य राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अवसर की असमानता को दूर कर उसकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी एक समुदाय या वर्ग विशेष के हितों की साधना न होकर जनता के सभी वर्गों के आवश्यक हितों की साधना होता है।

लोककल्याणकारी राज्य के लक्षण

लोककल्याणकारी राज्य की उपर्युक्त धारणा को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार के राज्य के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लक्षण बताए जाते हैं–

1. आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था–लोककल्याणकारी राज्य प्रमुख रूप से आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित है। हमारा अब तक का अनुभव स्पष्ट करता है कि शासन का रूप चाहे कुछ भी हो, व्यवहार में राजनीतिक शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में केंद्रित होती है, जो आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होते हैं। अत: राजनीतिक शक्ति को जनसाधारण में निहित करने और जनसाधारण के हित में इसका प्रयोग करने के लिए आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था नितांत आवश्यक है। लोककल्याणकारी राज्य के संदर्भ में आर्थिक सुरक्षा का तात्पर्य निम्नलिखित तीन बातों से लिया जा सकता है–

(क) सभी व्यक्तियों के रोज़गार–ऐसे सभी व्यक्तियों को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, राज्य के द्वारा उनकी योग्यतानुसार उन्हें किसी न किसी प्रकार का कार्य अवश्य ही दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का कार्य करने में असमर्थ हैं या राज्य जिन्हें कार्य प्रदान नहीं कर सका है; उनके जीवनयापन के लिए राज्य द्वारा **'बेरोज़गारी बीमे'** की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ख) न्यूनतम जीवन-स्तर की गारंटी–एक मनुष्य को अपने कार्य के बदले में इतना पारिश्रमिक अवश्य ही मिलना चाहिए कि उसके द्वारा न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति की जा सके। न्यूनतम जीवन-स्तर के संबंध में **अर्थशास्त्री क्राउथर** ने कहा है कि "नागरिकों के लिए अधिकार रूप में उन्हें स्वस्थ बनाए रखने के लिए पर्याप्त भोजन की व्यवस्था की जानी चाहिए। निवास, वस्त्र आदि के न्यूनतम जीवन-स्तर की ओर से उन्हें चिंतारहित होना चाहिए।

नोट

शिक्षा का उन्हें पूर्णतया समान अवसर प्राप्त होना चाहिए और बेरोजगारी बीमारी तथा वृद्धावस्था के दु:ख से उसकी रक्षा की जानी चाहिए।" लोककल्याणकारी राज्य में किसी एक के लिए अधिकता के पूर्व सबके लिए पर्याप्त की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ग) अधिकतम समानता की स्थापना–संपत्ति और आय की पूर्ण समानता न तो संभव है और न ही वांछनीय तथापि आर्थिक न्यूनतम के पश्चात् होने वाली व्यक्ति की आय का उसके समाज सेवा संबंधी कार्य से उचित अनुपात होनी चाहिए। जहाँ तक संभव हो व्यक्तियों की आय के न्यूनतम और अधिकतम स्तर में अत्यधिक अंतर नहीं होना चाहिए। इस सीमा तक आय की समानता तो स्थापित की ही जानी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

2. राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था–लोककल्याणकारी राज्य की दूसरी विशेषता राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था कही जा सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिए कि राजनीतिक शक्ति सभी व्यक्तियों में निहित हो और ये अपने विवेक के आधार पर इस राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कर सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं–

(क) लोकतंत्रीय शासन–राजतंत्र, अधिनायकतंत्र या कुलीनतंत्र के अंतर्गत व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर राजनीतिक कर्तव्यों का संपादन नहीं कर सकता। वस्तुत: इस शासन-व्यवस्थाओं में उसके कोई राजनीतिक अधिकार होते ही नहीं हैं। लोककल्याणकारी राज्य में व्यक्ति के राजनीतिक हितों की साधना को भी आर्थिक हितों की साधना के समान ही समझा जाता है, अत: एक लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था वाला राज्य ही लोककल्याणकारी राज्य हो सकता है।

(ख) नागरिक स्वतंत्रताएँ–संविधान द्वारा लोकतंत्रीय शासन की स्थापना कर देने से ही राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त नहीं हो जाती। व्यवहार में राजनीतिक सुरक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नागरिक स्वतंत्रता का वातावरण होना चाहिए अर्थात् नागरिकों को विचार-अभिव्यक्ति और राजनीतिक दलों के संगठन की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। इन स्वतंत्रताओं के अभाव में लोकहित की साधना नहीं हो सकती और लोकहित की साधना के बिना लोककल्याणकारी राज्य, आत्मा के बिना शरीर के समान होगा।

सोवियत रूस जैसे साम्यवादी राज्यों में नागरिकों के लिए नागरिक स्वतंत्रताओं और परिणामत: राजनीतिक सुरक्षा का अभाव होने के कारण उन्हें लोककल्याणकारी राज्य नहीं कहा जा सकता।

3. सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था–सामाजिक सुरक्षा का तात्पर्य सामाजिक समानता से है और इस सामाजिक समानता की स्थापना के लिए आवश्यक है कि धर्म, जाति, वंश, रंग और संपत्ति के आधार पर उत्पन्न भेदों का अंत करके व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में महत्त्व प्रदान किया जाए। **डॉ. बेनीप्रसाद** के शब्दों में, "सामाजिक समानता का सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक के सुख का महत्त्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधनमात्र नहीं समझा जा सकता है।" वस्तुत: लोककल्याणकारी राज्य में जीवन के सभी पक्षों में समानता के सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

4. राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि–लोककल्याणकारी राज्य का सिद्धांत व्यक्तिवादी विचार के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है और इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य को वे सभी जनहितकारी कार्य करने चाहिए जिनके करने से व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट या कम नहीं होती। इसके द्वारा न केवल आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था वरन् जैसा कि **हॉब्सन** ने कहा है, "डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा कंपनी के एजेंट, मकान बनाने वाले, रेलवे नियंत्रक तथा अन्य सैकड़ों रूपों में कार्य किया जाना चाहिए।"

5. अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना–इन सबके अतिरिक्त एक लोककल्याणकारी राज्य, अपने राज्य विशेष के हितों से ही संबंध न रखकर अंतर्राष्ट्रीय होता है। वैज्ञानिक प्रगति तथा राजनीतिक चेतना के विकास ने विश्व

नोट

के सभी देशों को एक-दूसरे के इतना निकट ला दिया है कि त्रस्त मानवता के बीच में अकेला राज्य अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत नहीं कर सकता है। एक लोककल्याणकारी राज्य तो **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** अर्थात् **सम्पूर्ण विश्व ही मेरा कुटुम्ब है'** के विचार पर आधारित होता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. महाभारत में कहा गया है 'जो ..... अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता, वह नरक का भागी होता है।'
2. 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस' नामक पुस्तक का प्रकाशन ..... में हुआ था।
3. एक मनुष्य को उसके कार्य के बदले में इतना ..... अवश्य ही मिलना चाहिए कि उसके द्वारा ..... आर्थिक स्तर की प्राप्ति की जा सके।

12.1.2 लोककल्याणकारी राज्य के कार्य (Function of Welfare State)

परंपरागत विचारधारा राज्य के कार्यों को दो वर्गों (अनिवार्य तथा ऐच्छिक) में विभाजित करने की रही है और यह माना जाता रहा है कि अनिवार्य कार्य तो राज्य के अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए किए जाने जरूरी हैं, किंतु ऐच्छिक कार्य राज्य की जनता के हित में होते हुए भी राज्य के द्वारा उनका किया जाना तत्कालीन समय की विशेष परिस्थितियों और शासन के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। लेकिन लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास के परिणामस्वरूप अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों की वह सीमा रेखा समाप्त हो गयी है और अब यह माना जाने लगा है कि परंपरागत रूप में ऐच्छिक कहे जाने वाले कार्य भी राज्य के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने की अनिवार्य समझे जाने वाले कार्य लोककल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं–

1. आंतरिक सुव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा–एक राज्य जब तक विदेशी आक्रमण से अपनी भूमि और सम्मान की रक्षा करने की क्षमता नहीं रखता और आंतरिक शांति और व्यवस्था स्थापित रखते हुए व्यक्तियों को जीवन की सुरक्षा का आश्वासन नहीं देता, उस समय तक वह राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। इस कार्य को संपन्न करने के लिए राज्य सेना और पुलिस रखता है, सरकारी कर्मचारी तथा न्याय की व्यवस्था करता है और इन कार्यों से संबंधित व्यय को पूरा करने के लिए नागरिकों पर कर लगाता है।

2. व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों और राज्य एवं व्यक्तियों के संबंधों की व्यवस्था–मानव के स्वार्थी होने और उनकी पृथक्-पृथक् विचारशीलता होने के कारण उनके विचारों और कार्यों में भेद होता है और किन्हीं प्रतिबंधों के अभाव में विचारों और कार्यों का यह भेद संघर्ष का रूप ग्रहण कर सकता है। अतः राज्य के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का नियंत्रण किया जाना चाहिए। इसके लिए राज्य कानूनों का निर्माण करता है एवं पुलिस और न्यायालयों की सहायता से उन्हें कार्यरूप में परिणत करता है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में व्यक्ति एवं राज्य के संबंधों का नियमित करना भी आवश्यक हो गया है और यह कार्य भी राज्य के द्वारा ही किया जाता है। राज्य का यह कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है और इस कार्य की भलीभाँति संपन्न करने पर ही व्यक्तियों की स्वतंत्रता एवं राज्य की सत्ता निर्भर करती है।

3. कृषि, उद्योग तथा व्यापार का नियमन और विकास–लोककल्याणकारी राज्य के दायित्व एक ऐसे राज्य के द्वारा ही पूरे किए जा सकते हैं जो आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त संपन्न हो, अतः इस प्रकार के राज्य द्वारा कृषि, उद्योग तथा व्यापार के नियमन एवं विकास का कार्य किया जाना चाहिए। इसमें मुद्रा निर्माण, प्रामाणिक माप और तौल की

नोट

व्यवस्था, व्यवसायों का नियमन, कृषकों को राजकोषीय सहायता, नहरों का निर्माण बीज वितरण के लिए गोदाम खोलना और कृषि-सुधार इत्यादि विषय सम्मिलित हैं। राज्य के द्वारा जंगल आदि प्राकृतिक साधनों और संपत्ति की रक्षा की जानी चाहिए और कृषि तथा उद्योगों के बीच संतुलन सथापित किया जाना चाहिए।

4. आर्थिक सुरक्षा संबंधी कार्य—लोककल्याणकारी राज्य का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य आर्थिक सुरक्षा संबंधी होता है। आर्थिक सुरक्षा के अंतर्गत अनेक बातें सम्मिलित हैं, जिसमें सभी व्यक्तियों को रोज़गार और अधिकतम समानता की स्थापना प्रमुख है। ऐसे सभी व्यक्तियों को जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, राज्य के द्वारा उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार किसी-न-किसी प्रकार का कार्य आवश्यक ही दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार कार्य करने में असमर्थ हैं या राज्य जिन्हें कार्य नहीं प्रदान कर सका है उनके लिए राज्य द्वारा **'जीवन निर्वाह भत्ते'** की व्यवस्था की जानी चाहिए।

लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा यद्यपि आय की पूर्ण समानता स्थापित नहीं की जा सकती, लेकिन जहाँ तक संभव हो, व्यक्तियों की आय के अन्यूनतम और अधिकतम स्तर में अधिक अंतर नहीं होना चाहिए। इस सीमा तक आय की समानता तो स्थापित की ही जानी चाहिए कि कार्य भी व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

5. जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना—लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर की गारंटी दी जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि नागरिकों को अपने-आपको स्वस्थ बनाए रखने के लिए पर्याप्त भोजन, वस्तु, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सामान्य सुविधाएँ अवश्य ही प्राप्त हों। इसके साथ ही राज्य के द्वारा नागरिकों के जीवन-स्तर को उत्तरोत्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

6. शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी कार्य—लोककल्याणकारी राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के लिए उन सभी सुविधाओं की व्यवस्था करना होता है, जो उनके व्यक्तित्व के विकास हेतु सहायक और आवश्यक हैं। इस दृष्टि से शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधा का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार का राज्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना करता है और एक निश्चित स्तर तक शिक्षा को अनिवार्य तथा नि:शुल्क किया जाता है। औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा की जाती है। इसी प्रकार चिकित्सागृहों तथा प्रसवगृहों आदि की स्थापना की जाती है जिनका उपयोग जनसाधारण नि:शुल्क कर सकते हैं।

7. सार्वजनिक सुविधा संबंधी कार्य—लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा परिवहन, संचार साधन, रेडियो, सिंचाई के साधन, बैंक, विद्युत, कृषि के वैज्ञानिक साधनों आदि की व्यवस्था से संबंधित सार्वजनिक सुविधा के कार्य किए जाते हैं। यद्यपि इन सुविधाओं के लिए राज्य द्वारा शुल्क प्राप्त किया जाता है। किंतु इन सुविधाओं का महत्त्व इस दृष्टि से है कि व्यक्ति अपने लिए इन साधनों की व्यवस्था नहीं कर सकता, साधनसंपन्न राज्य ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त, इन सुविधाओं के लिए राज्य के द्वारा उचित शुल्क ही प्राप्त किया जाता है और जो कुछ लाभ होता है, वह सार्वजनिक कोष में जाता है तथा उसका उपयोग भी स्वाभाविक रूप से अधिक सार्वजनिक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए ही किया जाता है।

8. समाज सुधार—लोककल्याणकारी राज्य का लक्ष्य व्यक्तियों का न केवल आर्थिक वरन् सामाजिक कल्याण भी होता है। इस दृष्टि से राज्य के द्वारा मद्यपान, बाल-विवाह, छुआछूत, जाति-व्यवस्था आदि परंपरागत सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के उपाय किए जाने चाहिए।

9. आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ—जनता को स्वस्थ मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए राज्य के द्वारा सार्वजनिक उद्यानों, क्रीड़ा-क्षेत्रों, सार्वजनिक तरण-तालों (Swimming Pools), सिनेमागृहों, रंगमंच, रेडियो आदि का प्रबंध करना चाहिए।

10. नागरिक स्वतंत्रताओं की व्यवस्था—राज्य के द्वारा अपने सभी नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगठन आदि की स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए, जिससे लोकतांत्रिक आदर्श की व्यावहारिक प्राप्ति संभव हो सके।

नोट

11. अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के कार्य–लोककल्याण का आदर्श किसी एक राज्य विशेष से नहीं वरन् समस्त मानवता से संबंध रखता है, अत: एक लोककल्याणकारी राज्य द्वारा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अंतर्गत युद्ध ही नहीं वरन् अधिकाधिक राज्यों के साथ सद्भावना और सहयोग का मार्ग अपनाया जाना चाहिए। अपने अस्तित्व और सीमाओं या सम्मान की रक्षा के लिए उनके द्वारा शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु राजनीतिक या आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु उसके द्वारा अन्य किसी राज्य के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। ऊपर लोककल्याणकारी राज्य के कुछ कर्तव्य गिनाए गए हैं, किंतु लोककल्याणकारी राज्य के समस्त कर्तव्यों की सूची तैयार कर सकना संभव नहीं है। व्यक्ति के जीवन में राज्य हस्तक्षेप कहाँ से प्रारंभ हो और कहाँ पर समाप्त हो जाए, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर स्थानीय तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं के संदर्भ में ही दिया जा सकता। आज की जटिल परिस्थितियों में कोई भी व्यक्ति केवल अपने लिए या अपने प्रयास से जीवित नहीं रह सकता है और समाज द्वारा जन-हितकारी कार्यों का सम्मान अच्छे जीवन की एक आवश्यकता बन गयी है। अत: राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को वे सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। जो उनके सामूहिक कल्याण की वृद्धि करने वाली हों।

यद्यपि लोककल्याणकारी राज्य वर्तमान समय की सर्वाधिक लोकप्रिय प्रवृत्ति है फिर भी लोककल्याणकारी राज्य के विरुद्ध कुछ तर्क दिए जाते हैं जो इस प्रकार हैं–

1. वैयक्तिक स्वतंत्रता का हनन–कुछ व्यक्तियों का कहना है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर जब राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ़ जाते हैं, तो स्वभावत: राज्य की शक्तियों में वृद्धि होती है और अति शक्तिशाली राज्य तो वैयक्तिक स्वतंत्रता को समाप्त कर देता है। अमरीकी राज्य सचिव **बायर्नेस** ने इसी आधार पर इसमें **'विकराल सरकार'** (Big Government) की झलक पाई थी।

2. ऐच्छिक समुदाय का आघात–जब लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ़ जाते हैं तो राज्य अनेक ऐसे कार्य करने लगता है जो वर्तमान समय में ऐच्छिक समुदायों के लिए घातक होते हैं और मानव जीवन के संबंध में उपयोगी भूमिका निभाने वाले ऐच्छिक समुदाय समाप्त हो जाते हैं।

3. नौकरशाही का भय–लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर राज्य नौकरशाही में भी बहुत अधिक वृद्धि होगी और नौकरशाही में यह अत्यधिक वृद्धि लालफीताशाही, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार आदि अन्य बुराइयों को जन्म देगी।

4. अत्यधिक खर्चीला–लोककल्याणकारी राज्य बहुत अधिक खर्चीला आदर्श है, क्योंकि राज्य को विभिन्न लोककल्याणकारी सेवाएँ सम्पादित करने में बहुत अधिक धनराशि की आवश्यकता होती है। सामान्य आर्थिक साधनों वाला राज्य इस प्रकार का व्यय भार वहन नहीं कर सकता। **सीनेटर टाफ्ट** ने इसी कारण कहा है कि **"लोककल्याण की नीति राज्य को दिवालियापन की ओर ले जाएगी।"**

लोककल्याणकारी राज्य के जो उपर्युक्त दोष बताए जाते हैं, उनके कारण लोककल्याणकारी राज्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में ये दोष लोककल्याणकारी राज्य के नहीं, वरन् मानवीय जीवन की दुर्बलताओं के हैं। **सर्वप्रथम** लोककल्याणकारी राज्य और सर्वाधिकारवादी राज्य में आधारभूत अंतर है और लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य राज्य द्वारा व्यक्ति के संपूर्ण जीवन पर अधिकार नहीं है। लोककल्याणकारी राज्य में न केवल व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र बच जाता है, वरन् यह व्यक्ति की स्वतंत्रता को वास्तविकता का रूप प्रदान करता है। लोककल्याणकारी राज्य के कारण ऐच्छिक समुदायों के कार्य क्षेत्र पर भी कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। इससे उनके कार्य और महत्त्व में वृद्धि होती है, कमी नहीं। जहाँ तक नौकरशाही की बुराइयों का संबंध है, वे तो दोषपूर्ण राज्य व्यवस्था और मानवीय चरित्र की दुर्बलता के परिणाम हैं और इनमें सुधार कर इन्हें दूर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यह देखने में आया है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति तत्काल तो राजकोष से भारी व्यय को जन्म देती है लेकिन लंबे समय में इसका नागरिकों की कार्यकुशलता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है और राष्ट्रीय आय तेजी के साथ बढ़ती है।

नोट

क्या आप जानते हैं व्यवहार में लोककल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति को विश्व में लगभग सभी राज्यों द्वारा किसी-न-किसी रूप में अपना लिया गया है और इसे अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है।

12.1.3 लोकतंत्र और लोककल्याणकारी राज्य (Democracy and Welfare State)

कुछ व्यक्तियों, विशेषत: व्यक्तिवादी विचारकों का मत है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति लोकतंत्र के लिए घातक है। उनका विचार यह है कि लोकतंत्र अधिकाधिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर बल देता है, लेकिन लोककल्याणकारी राज्य अपने कार्यक्षेत्र में बहुत अधिक वृद्धि कर व्यक्ति की स्वतंत्रता को आघात पहुँचाता है। लोककल्याणकारी राज्य व्यक्तियों के पहल, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास को आघात पहुँचाता है, वे प्रत्येक बात के संबंध में राज्य की ओर देखने लगते हैं और उनकी स्थिति दासों जैसी हो जाती है। उनका कथन है कि एक लोककल्याणकारी और सर्वाधिकारवादी या साम्यवादी राज्य में कोई विशेष अंतर नहीं होता। लोककल्याणकारी राज्य द्वारा भी अपने कार्यक्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार किया जाता है, जनहित के नाम पर जनता पर भारी कर लगाए जाते हैं, समाज के उच्च वर्गों से उनकी न्यायपूर्ण संपत्ति का एक बड़ा भाग छीन लिया जाता है और यदि कोई व्यक्ति राज्य की इन प्रवृत्तियों के विरोध का साहस करता है तो उसे **'जनहित का शत्रु'** करार देकर यातना दी जाती है। लोककल्याणकारी राज्य एक **'विकराल सरकार'** को जन्म देता है जो जनता की स्वतंत्रता और लोकतंत्र को समाप्त कर देती है।

लोकतंत्र और लोककल्याण की प्रवृत्ति के पारस्परिक संबंध के विषय में अपनाया गया उपर्युक्त दृष्टिकोण सही नहीं है। वास्तव में, राज्य द्वारा अपनाई गई लोककल्याण की प्रवृत्ति ने लोकतंत्र को सशक्तता ही प्रदान की है, उसे दुर्बल नहीं किया है। 1920-1930 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के काल में अमरीकी राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी. रूजवेल्ट ने **'नव निर्माण आर्थिक नीति'** (New Dea; Economic Policy) अपनाकर प्रजातंत्र के विरुद्ध खड़े इस आर्थिक संकट को दूर कर दिया। **विल्सन की प्रगतिशील नीति, रूजवेल्ट की नव-निर्माण और ट्रूमैन की उचित नीति** (Fair Deal) तत्कालीन आलोचनाओं का पात्र तो हुई थी, लेकिन आज सभी व्यक्ति इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस नीति ने अमरीकी प्रजातंत्र को डगमगाने से बचा लिया। इसी प्रकार ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप के अन्य राज्यों द्वारा 19वीं सदी में **'यद्भाव्यम् की नीति'** (Policy of Laissez Faire) अपनाई गई थी, लेकिन इस नीति के परिणामस्वरूप समाज के निम्न वर्गों (श्रमिक और कृषक वर्ग) की स्थिति दयनीय हो गयी। श्रमिक वर्ग में असंतोष उग्र से उग्रतर होने लगा और प्रथम विश्वयुद्ध के अंत तक यह आशंका होने लगी कि ये राज्य समाजवाद के प्रभाव में चले जाएँगे। लेकिन इन राज्यों की सरकारों ने फैक्ट्री कानून और सर्वसाधारण जनता के कल्याण की अन्य अनेक योजनाएँ अपनाकर श्रमिक वर्ग के असंतोष को कम करने में सफलता प्राप्त की। वर्तमान समय में अमरीका और पश्चिमी यूरोप के इन राज्यों के अंतर्गत सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ, कृषि उत्पादन वस्तुओं को कीमत की सहायता, नि:शुल्क शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था, आवास की व्यवस्था, श्रमकल्याण योजनाएँ, प्राकृतिक साधनों के विकास और बेकारी, बीमारी तथा बुढ़ापे से सुरक्षा आदि कार्य किए जा रहे हैं और इन कल्याणकारी योजनाओं के कारण ही साम्यवाद इन राज्यों में अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सका है। इस प्रकार लोककल्याण की प्रवृत्ति ने इन बदलती हुई परिस्थितियों में लोकतंत्र के रक्षक के रूप में कार्य किया है।

जहाँ तक भारत तथा अफ्रीका और एशिया के नव-लोकतंत्र का संबंध है, लोककल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति एकमात्र जीवनदायिनी शक्ति कही जा सकती है। इन राज्यों के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में लोकतंत्र को अपना लिया गया है, लेकिन आर्थिक क्षेत्र में स्थिति बहुत अधिक खराब है। एक ओर तो छोटा-सा संपत्तिशाली वर्ग है दूसरी ओर एक ऐसा विशाल निर्धन वर्ग जिसे भरपेट भोजन भी प्राप्त नहीं है। यह भीषण निर्धनता प्रजातंत्र के लिए एक बहुत बड़ा संकट बनी हुई है। ऐसी स्थिति में सभी व्यक्तियों को न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना तथा धनी और निर्धन की

नोट

खाई को पाटना बहुत अधिक आवश्यक है और यह कार्य लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाने से ही संभव है। भारत आदि राज्यों के द्वारा यही किया गया है। वास्तव में, लोकतंत्र और कल्याणकारी राज्य परस्पर विरोधी नहीं वरन् एक-दूसरे के पूरक हैं और आज की परिस्थितियों में लोकतंत्र की रक्षा के लिए लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाया जाना नितांत आवश्यक है।

टास्क लोकतंत्र और लोककल्याणी राज्य पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. परंपरागत विधारधारा राज्य के कार्यों को कितने भागों में बाँटती है?
   (अ) 3 (ब) 2 (स) 4 (द) 5
5. लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा नागरिकों को न्यूनतम ..... की गारंटी दी जानी चाहिए।
   (अ) मज़दूरी (ब) सम्पत्ति (स) आय (द) जीवन-स्तर
6. लोककल्याण का आदर्श किसी एक राज्य विशेष से नहीं वरन् समस्त ..... से सम्बन्ध रखता है।
   (अ) सरकार (ब) मनुष्य (स) मानवता (द) पूंजीवाद

12.1.4 आधुनिक राज्य कार्य या राज्य का उचित कार्यक्षेत्र (Function of Modern State or Proper Sphere of State Action)

राज्य के कार्य देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहे हैं। प्राचीन काल में राज्य के द्वारा केवल वे ही कार्य किए जाते थे, जिनका करना राज्य के अस्तित्व के लिए नितांत आवश्यक होता था, किंतु आज राज्य के द्वारा किए जाने वाले कार्य इतने अधिक बढ़ गए हैं कि उनकी एक सूची बना पाना संभव नहीं है।

राज्य के कार्यक्षेत्र के संबंध में उदारवादी सिद्धांत, समाजवादी सिद्धांत और लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का जो प्रतिपादन किया गया है, उनमें से वर्तमान समय में समाजवादी सिद्धांत या लोककल्याणकारी राज्य की धारणा ही मान्य है। इस बात को वर्तमान में सभी पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है कि आधुनिक राज्य का कार्यक्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। वर्तमान समय में राज्य के द्वारा जो कार्य किए जाते हैं, उनका वर्गीकरण दो शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है–**1. आवश्यक या अनिवार्य कार्य, 2. ऐच्छिक कार्य।**

आवश्यक कार्य–आवश्यक कार्यों में राज्य के वे कार्य सम्मिलित हैं, जिनको करना राज्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए नितांत आवश्यक है। प्रत्येक राज्य के द्वारा चाहे वह कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो, इन आवश्यक कार्यों को पूरा किया जाता है। ये आवश्यक कार्य निम्नलिखित हैं–

1. बाहरी आक्रमण से रक्षा–बाहरी आक्रमण से अपनी सीमाओं की रक्षा राज्य का ऐसा कार्य है, जिसे पूरा किए बिना राज्य अपने अस्तित्व की ही रक्षा नहीं कर सकता। राज्य के द्वारा यह कार्य एक व्यवस्थित और संगठित जल, थल और नभ सेना के द्वारा पूरा किया जाता है।

2. वैदेशिक संबंधों का संचालन–बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने हेतु राज्य एक सुसंगठित सेना रखता है, किंतु बाहरी आक्रमण की स्थिति उत्पन्न न हो और अन्य राज्यों के साथ परस्पर हितकारी संबंध बने रहें, इसके लिए

नोट

राज्य के द्वारा वैदेशिक संबंधों का संचालन किया जाता है। अन्य राज्यों के साथ संबंध स्थापित करने का यह कार्य राज्य द्वारा अत्यंत प्रारंभिक काल से किया जाता रहा है। इस कार्य के अंतर्गत राज्य अपने राजदूत दूसरे देशों में भेजता है और अन्य देशों के राजदूतों को अपने यहाँ रखने की व्यवस्था करता है।

3. आंतरिक क्षेत्र में शांति की व्यवस्था—राज्य का एक मुख्य कार्य नागरिकों के जान-माल की रक्षा, आंतरिक उपद्रवों से उनका बचाव तथा उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा करना है। शांति और व्यवस्था स्थापित करने में असमर्थ राज्य, राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। शांति और व्यवस्था स्थापित करने हेतु राज्य पुलिस दल की व्यवस्था करता है और विशेष परिस्थितियों में राज्य इस कार्य हेतु सेना का प्रयोग भी करता है।

4. न्याय प्रबंध—शांति और व्यवस्था स्थापित करने का कार्य सेना और पुलिस के द्वारा ही नहीं किया जा सकता वरन् इसके लिए उत्तम न्याय प्रबंध भी आवश्यक होता है। अत: न्याय प्रबंध भी राज्य का एक अनिवार्य कार्य है।

नोट्स एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का हल करने के लिए प्रत्येक राज्य में न्यायालयों की स्थापना की जाती है।

गैटिल राज्य के आवश्यक कार्यों में आर्थिक कार्य को भी सम्मिलित करता है जिसके अंतर्गत राज्य के द्वारा निर्धारित करना, आयात-निर्यात कर लगाना, मुद्रा संबंधी व्यवस्था करना, भूमि, जंगल और सार्वजनिक संपत्ति का प्रबंध करना, डाक, तार और रेल का प्रबंध आदि कार्य आते हैं।

ऐच्छिक कार्य—ऐच्छिक कार्य का आशय उन कार्यों से होता है जिनका करना राज्य के अस्तित्व के लिए तो आवश्यक नहीं होता, किंतु जो नागरिकों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक हित में होते हैं। ये कार्य स्वतंत्र रूप से व्यक्तियों द्वारा भी किए जा सकते हैं किंतु व्यक्तियों की तुलना में राज्य ये कार्य अधिक अच्छे प्रकार से कर सकता है। वर्तमान समय में ऐसा माना जाता है कि राज्य के द्वारा अधिक से अधिक ऐच्छिक कार्य किए जाने चाहिए। राज्य के ऐसे ऐच्छिक कार्य किए जाने चाहिए।

1. शिक्षा—शिक्षा श्रेष्ठ सामाजिक जीवन की प्रथम अवस्था है और शिक्षा के बिना कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। इसलिए वर्तमान समय के प्रत्येक राज्य में जनता को शिक्षित करने के कार्य पर अत्यधिक बल दिया जाता है। सामान्यता ऐसा माना जाता है कि राज्य के द्वारा नि:शुल्क और अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। वर्तमान युग में औद्योगिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए और नागरिकों के मानसिक विकास के लिए वाचनालय, पुस्तकालय और प्रयोगशालाओं की स्थापना की जानी चाहिए।

2. स्वास्थ्य रक्षा और सफाई—जीवन का आनंद अच्छे स्वास्थ्य पर ही निर्भर है और स्वस्थ व्यक्ति ही सामाजिक जीवन के कर्तव्यों को भलीभाँति पूर्ण कर सकता है। जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए राज्य अनेक प्रकार के कानून बनाता है जिनके द्वारा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक स्थितियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त, सफाई, रोशनी, स्वच्छ जल, अस्पताल, नर्सिंग होम आदि का प्रबंध भी राज्य के द्वारा किया जाता है, जिससे नागरिकों के शरीर की रक्षा और उनका शारीरिक विकास संभव हो सके।

3. यातायात के साधनों का प्रबंध—आधुनिक समय में यातायात के साधन देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के प्राण हैं। आज कोई भी राज्य सड़कें, रेलें, तार, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन, कारखाने आदि की सुविधा के बिना जीवित नहीं रह सकता है। जनता की सुविधा तथा देश के आर्थिक विकास के लिए राज्य द्वारा इन सुविधाओं का प्रबंध किया जाता है।

नोट

4. व्यापार व उद्योग-धंधों की सहायता–राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य व्यापार व उद्योग-धंधों की सहायता है। राज्य के द्वारा यह कार्य अनेक साधनों द्वारा किया जाता है जैसे आयात किए गए माल पर कर लगाना, उद्योगों की वित्तीय सहायता, औद्योगिक अन्वेषण केंन्द्रों की स्थापना, मेलों और प्रदर्शनकारियों का प्रबंध, वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करना आदि।

5. श्रमिकों का कल्याण–श्रमिकों का कल्याण भी राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है और वर्तमान समय में राज्य श्रमिकों की पूँजीपतियों व बड़े जमीदारों से रक्षा करने के लिए फैक्ट्री कानून व न्यूनतम मज़दूरी कानून आदि का निर्माण करता है।

6. बैंकिंग और मुद्रा का प्रबंध–विश्व के प्राय: सभी देशों में राज्य के द्वारा मुद्रा का प्रबंध किया जाता है और अन्य देशों के साथ अपनी मुद्रा की विनिमय दर का निश्चय किया जाता है।

7. कृषि की उन्नति और ग्राम संगठन–वर्तमान समय में सरकार कृषि की उन्नति तथा ग्रामीण संगठन के कार्य पर भी जोर देती है। कृषि की उन्नति के लिए बिजली के कुओं, कृषि अनुसंधान तथा इसी प्रकार की दूसरी सुविधाएँ दी जाती हैं और ग्रामीण संगठन के लिए ग्राम पंचायत आदि की स्थापना की जाती है।

8. असहाय, अपाहिज और वृद्ध व्यक्तियों की सहायता–वर्तमान समय का राज्य एक कल्याणकारी संस्था है और राज्य के द्वारा बूढ़े, निर्धन, अंधे, असहाय और अपाहिज लोगों की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के कार्य किए जाते हैं। कुछ राज्यों में बेकार लोगों को सहायता देने तथा वृद्धावस्था में लोगों को पेंशन देने का प्रबंध किया जाता है।

9. मनोरंजन की व्यवस्था–स्वस्थ मनोरंजन सफल व्यक्तित्व और जीवन की आधारशिला है। अत: राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को स्वस्थ मनोरंजन के साधन प्रदान करने का कार्य भी किया जाता है। राज्य के द्वारा बगीचे और पार्क, खेलकूद के मैदान, सार्वजनिक तरणतालों, सिनेमा, रेडियो, नाट्य-गृहों। आदि का प्रबंध करता है। अपने इसी कार्य के अंतर्गत राज्य के द्वारा चलचित्रों और नृत्यघरों पर नियंत्रण रखा जाता है, जिससे मनोरंजन अश्लील न हो जाए।

10. सामाजिक सुधार–वर्तमान समय में राज्य के द्वारा सामाजिक उन्नति और सुधार के लिए भी कार्य किया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में राज्य के द्वारा अस्पृश्यता, जाति-पांति के भेद, बाल-विवाह और बहुविवाह के विरुद्ध प्रयत्न किए गए हैं। प्रत्येक प्रगतिशील राज्य का कर्तव्य है कि वह सामाजिक बुराइयों को दूर करे।

वास्तव में राज्य के ऐच्छिक कार्य इतने अधिक हैं कि उनकी कोई एक सूची बनाना संभव नहीं है। राज्य का कार्य नागरिकों को वे सभी सुविधाएँ और अवस्थाएँ प्रदान करना है जिनके द्वारा उनकी भलाई और उन्नति हो सकती है। राज्य के ऐच्छिक कार्य भी आज आवश्यक कार्यों के समान ही महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। कल तक राज्य के जिन कार्यों को उसके ऐच्छिक कार्य समझा जाता था, वे आज आवश्यक प्रतीत होने लगे हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है।

राज्य के जो अनिवार्य और ऐच्छिक कार्य बताए गए हैं उन कार्यों को एक लोकतंत्रात्मक और लोककल्याणकारी राज्य ही ठीक प्रकार से कर सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य/असत्य बताइए (State whether the following Statements are True/ False)–

7. स्वस्थ मनोरंजन सफल व्यक्तित्व की आधारशिला है।
8. शिक्षा को श्रेष्ठ सामाजिक जीवन की प्रथम अवस्था नहीं कहा जा सकता।
9. जीवन का आनंद अच्छे स्वास्थ्य पर ही निर्भर है।

नोट

12.2 सारांश (Summary)

- "लोकहितकारी वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।"
- लोककल्याणकारी राज्य लोकहित पर आधारित होता है और इस संबंध में लोकहित से हमारा तात्पर्य राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अवसर की असमानता को दूर कर उसकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है।
- लोककल्याणकारी राज्य के दायित्व एक ऐसे राज्य के द्वारा ही पूरे किए जा सकते हैं जो आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त संपन्न हो, अत: इस प्रकार के राज्य द्वारा कृषि, उद्योग तथा व्यापार के नियमन एवं विकास का कार्य किया जाना चाहिए।
- लोककल्याण का आदर्श किसी एक राज्य विशेष से नहीं वरन् समस्त मानवता से संबंध रखता है, अत: एक लोककल्याणकारी राज्य द्वारा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अंतर्गत युद्ध ही नहीं वरन् अधिकाधिक राज्यों के साथ सद्भावना और सहयोग का मार्ग अपनाया जाना चाहिए।
- वर्तमान समय में अमरीका और पश्चिमी यूरोप के इन राज्यों के अंतर्गत सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ, कृषि उत्पादन वस्तुओं को कीमत की सहायता, नि:शुल्क शिक्षा और चिकित्सा की व्यवस्था, आवास की व्यवस्था, श्रमकल्याण योजनाएँ, प्राकृतिक साधनों के विकास और बेकारी, बीमारी तथा बुढ़ापे से सुरक्षा आदि कार्य किए जा रहे हैं और इन कल्याणकारी योजनाओं के कारण ही साम्यवाद इन राज्यों में अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सका है।
- शिक्षा श्रेष्ठ सामाजिक जीवन की प्रथम अवस्था है और शिक्षा के बिना कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता।
- जीवन का आनंद अच्छे स्वास्थ्य पर ही निर्भर है और स्वस्थ व्यक्ति ही सामाजिक जीवन के कर्तव्यों को भलीभाँति पूर्ण कर सकता है।
- स्वस्थ मनोरंजन सफल व्यक्तित्व और जीवन की आधारशिला है। अत: राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को स्वस्थ मनोरंजन के साधन प्रदान करने का कार्य भी किया जाता है।
- वर्तमान समय में राज्य के द्वारा सामाजिक उन्नति और सुधार के लिए भी कार्य किया जाता है। ,

12.3 शब्दकोश (Keywords)

1. **लोक कल्याण (Welfare):** लोगों की भलाई, लोगों का मंगल।
2. **गारंटी (Guarantee):** आश्वासन, जमानत, निश्चित रूप से कुछ होना या घटित होना।

12.4 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. लोककल्याण से आप क्या समझते हैं?
2. लोककल्याण्कारी राज्य के लक्षणों का वर्णन कीजिए।
3. लोककल्याणकारी राज्य के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
4. लोकतंत्र और लोककल्याणकारी राज्य में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. नरेश	2. 1918	3. पारिश्रमिक, न्यूनतम
4. (ब)	5. (द)	6. (स)
7. सत्य	8. असत्य	9. सत्य

12.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. पॉलिटिकल थ्योरी–एस. रामास्वामी।

2. राजनीतिक सिद्धान्त एवं राजनीतिक चिंतन–एन. डी. अरोरा, हर आनंद पब्लिकेशंस।

नोट

इकाई–13: बाज़ार एवं लोककल्याण
(The Market and Public Welfare)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 बाज़ार एवं लोककल्याण (The Market and Welfare)

13.2 समानता के विविध आयाम (Dimensions of Equality)

13.2.1 स्वतंत्रता और समानता (Liberty and Equality)

13.2.2 समानता और न्याय (Equality and Justice)

13.3 स्वतंत्रता (Liberty)

13.3.1 स्वतंत्रता और स्वच्छंदता (Liberty and Licence)

13.3.2 क़ानून और स्वतंत्रता (Law and Liberty)

13.3.3 स्वतंत्रता के विविध आयाम (Dimensions of Liberty)

13.4 सारांश (Summary)

13.5 शब्दकोश (Keywords)

13.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

13.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- बाज़ार एवं लोककल्याण की अवधारणा जानने हेतु।
- समानता के विविध आयामों को समझने हेतु।
- स्वतंत्रता के विविध आयामों को जानने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

यदि किसी समाज में बेहिसाब धन-दौलत और इनके स्वामित्व के साथ जुड़ी सत्ता का उपभोग करने वालों तथा बहिष्कृतों और वंचितों के बीच गहरा एवं स्थायी विभाजन मौजूद है, तो हम कहेंगे कि वहाँ सामाजिक न्याय का अभाव है। हम यहाँ सिर्फ समाज में विभिन्न व्यक्तियों के जीवनयापन के सिर्फ विभिन्न स्तरों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। न्याय के लिए लोगों के रहन-सहन के तौर-तरीकों में पूर्ण समानता और एकरूपता की आवश्यकता नहीं है। लेकिन उस समाज को अन्यायपूर्ण ही माना जायेगा, जहाँ धनी और गरीब के बीच खाई इतनी गहरी हो कि वे बिल्कुल भिन्न-भिन्न दुनिया में रहने वाले लगें और जहाँ अपेक्षाकृत वंचितों को अपनी स्थिति सुधारने का कोई मौका न मिले, चाहे वे कितना भी कठिन श्रम क्यों न करें। दूसरे शब्दों में, न्यायपूर्ण समाज को लोगों के लिए न्यूनतम बुनियादी स्थितियाँ जरूर मुहैया करानी चाहिए, ताकि वे स्वस्थ और सुरक्षित जीवन जीने में सक्षम हो सकें, समाज में अपनी प्रतिभा का विकास करें तथा इसके साथ समान अवसरों के जरिये अपने चुने हुए लक्ष्य की ओर बढ़ें।

13.1 बाजार एवं लोककल्याण (The Market and Welfare)

लोगों की जिंदगी के लिए जरूरी न्यूनतम बुनियादी स्थितियों का निर्धारण हम कैसे कर सकते हैं? विभिन्न सरकारों और विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने लोगों की बुनियादी आवश्यकताओं की गणना के लिए विभिन्न तरीके इजाद किये हैं। लेकिन सामान्यत: इस पर सहमति है कि स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक पोषक तत्त्वों की बुनियादी मात्रा, आवास, शुद्ध पेयजल की आपूर्ति, शिक्षा और न्यूनतम मज़दूरी इन बुनियादी स्थितियों के महत्त्वपूर्ण हिस्से होंगे। लोगों की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति लोकतांत्रिक सरकार की जिम्मेदारी समझी जाती है। हालाँकि, सभी नागरिकों के लिए इन बुनियादी शर्तों की पूर्ति खासकर भारत जैसे देश में जहाँ गरीबों की बड़ी तादाद है। सरकार पर भारी बोझ बन सकती है।

अगर हम सब इस बात पर सहमत भी हो जाएँ कि राज्य को समाज के सबसे वंचित सदस्यों की मदद करनी चाहिए, जिससे वे बाकियों के साथ एक हद तक समानता का आनंद ले सकें तब भी इस बात पर असहमति हो सकती है कि इस लक्ष्य को पाने का सर्वोत्तम तरीका क्या होगा। आजकल हमारे समाज में और दुनिया के अन्य हिस्सों में भी यह बहस चल रही है कि क्या मुक्त बाज़ार के जरिए खुली प्रतियोगिता को बढ़ावा देना समाज के सुविधाप्राप्त सदस्यों को नुकसान पहुँचाए बगैर सुविधाहीनों की मदद करने का सर्वोत्तम तरीका होगा या कि गरीबों को न्यूनतम बुनियादी सुविधाएँ मुहैया कराने की जिम्मेवारी सरकार को लेनी चाहिए। हमारे देश में इन भिन्न-भिन्न प्रस्तावों का विभिन्न राजनीतिक समूह समर्थन कर रहे हैं जो ग्रामीण या शहरी गरीब जैसे सीमांत समूहों की आबादी की सहायता के लिए विभिन्न योजनाओं के तुलनात्मक गुण-दोष पर बहस करते हैं। इस खंड में हम संक्षेप में इस विवाद की परख करेंगे।

मुक्त बाज़ार बनाम राज्य का हस्तक्षेप

मुक्त बाज़ार के समर्थकों का मानना है कि जहाँ तक संभव हो, व्यक्तियों को संपत्ति अर्जित करने के लिए तथा मूल्य, मज़दूरी और मुनाफे के मामले में दूसरों के साथ अनुबंध और समझौतों में शामिल होने के लिए स्वतंत्र रहना चाहिए। उन्हें लाभ की अधिकतम मात्रा हासिल करने हेतु एक-दूसरे के साथ प्रतिद्वंद्विता करने की छूट होनी चाहिए। यह मुक्त बाज़ार का सरल चित्रण है। मुक्त बाज़ार के समर्थक मानते हैं कि अगर बाज़ारों को राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त कर दिया जाये, तो बाज़ारी कारोबार का योग कुल मिलाकर समाज में लाभ और कर्तव्यों का न्यायपूर्ण वितरण सुनिश्चित कर देगा। इससे योग्यता और प्रतिभा से लैस लोगों को अधिक प्रतिफल मिलेगा। जब अक्षम लोगों को काम हासिल होगा। उनकी मान्यता है कि बाज़ारी वितरण का जो भी परिणाम हो, वह न्यायसंगत होगा।

नोट

हालाँकि, मुक्त बाज़ार के सभी समर्थक आज पूर्णतया अप्रतिबंधित बाज़ार का समर्थन नहीं करेंगे। कई लोग अब कुछ प्रतिबंध स्वीकार करने को तैयार होंगे। मसलन सभी लोगों के लिए न्यूनतम बुनियादी जीवन-मानक सुनिश्चित करने हेतु राज्य हस्तक्षेप करे, ताकि वे समान शर्तों पर प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ हो सकें। लेकिन वे तर्क कर सकते हैं कि यहाँ भी स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा तथा ऐसी अन्य सेवाओं के विकास के लिए बाज़ार को अनुमति देना ही लोगों के लिए इन बुनियादी सेवाओं की आपूर्ति का सबसे कारगर तरीका हो सकता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी सेवाएँ मुहैया कराने के लिए निजी एजेंसियों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, जबकि राज्य की नीतियाँ इन सेवाओं को खरीदने के लिए लोगों को सशक्त बनाने की कोशिश करें। राज्य के लिए यह भी जरूरी हो सकता है कि वह उन वृद्धों और रोगियों को विशेष सहायता प्रदान करें, जो प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकते। लेकिन इसके आगे राज्य की भूमिका नियम-कानून का ढाँचा बरकरार रखने तक ही सीमित रहनी चाहिए। जिससे व्यक्तियों के बीच जबरदस्ती और अन्य बाधाओं से मुक्त प्रतिद्वंद्विता सुनिश्चित हो। उनका मानना है कि मुक्त बाज़ार उचित और न्यायपूर्ण समाज का आधार होता है। कहा जाता है कि बाज़ार किसी व्यक्ति की जाति या धर्म की परवाह नहीं करता। वह यह भी नहीं देखता कि आप मर्द हैं या औरत। वह इन सबसे निरपेक्ष रहता है और उसका सरोकार आपकी प्रतिभा और कौशल से है। अगर आपके पास योग्यता है तो बाकी सब बातें बेमानी हैं।

बाज़ारी वितरण के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि यह हमें ज्यादा विकल्प प्रदान करता है। इसमें शक नहीं कि बाज़ार प्रणाली उपभोक्ता के तौर पर हमें ज्यादा विकल्प देती है। हम जैसा चाहें वैसा चावल पसंद कर सकते हैं और पसंदीदा स्कूल जा सकते हैं, बशर्ते उनकी कीमत चुकाने के लिए हमारे पास साधन हों। लेकिन, बुनियादी वस्तुओं और सेवाओं के मामले में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अच्छी गुणवत्ता की वस्तुएँ और सेवाएँ लोगों के खरीदने लायक कीमत पर उपलब्ध हों। यदि निजी एजेंसियाँ इसे अपने लिए लाभदायक नहीं पाती हैं, तो वे उस खास बाज़ार में प्रवेश नहीं करेंगी अथवा सस्ती और घटिया सेवाएँ मुहैया कराएँगी। यही वजह है कि सुदूर ग्रामीण इलाकों में बहुत कम निजी विद्यालय हैं और कुछ खुले भी हैं, तो वे निम्नस्तरीय हैं। स्वास्थ्य सेवा और आवास के मामले में भी सच यही है। इन परिस्थितियों में सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है।

मुक्त बाज़ार और निजी उद्यम के पक्ष में अक्सर सुनने में आने वाला दूसरा तर्क यह है कि वे जो सेवाएँ मुहैया कराते हैं, उनकी गुणवत्ता सरकारी संस्थानों द्वारा प्रदत्त सेवाओं से प्रायः बेहतर होती है। लेकिन इन सेवाओं की कीमत उन्हें गरीब लोगों की पहुँच से बाहर कर दे सकती है। निजी व्यवसाय वहीं जाना चाहता है, जहाँ उसे सबसे ज्यादा मुनाफा मिले और इसीलिए मुक्त बाज़ार ताकतवर, धनी और प्रभावशाली लोगों के हित में काम करने को प्रवृत्त होता है। इसका परिणाम अपेक्षाकृत कमज़ोर और सुविधाहीन लोगों के लिए अवसरों का विस्तार करने के बजाय अवसरों से वंचित करना हो सकता है।

तर्क तो बहस के दोनों पक्षों के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं, लेकिन मुक्त बाज़ार आमतौर पर पहले से ही सुविधा संपन्न लोगों के हक में काम करने का रुझान दिखलाते हैं। इसी वजह से अनेक लोग तर्क करते हैं कि सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए राज्य को यह सुनिश्चित करने की पहल करनी चाहिए कि समाज के तमाम सदस्यों को बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध हों।

लोकतांत्रिक समाज में वितरण और न्याय के मुद्दों पर असहमतियाँ अपरिहार्य हैं और फायदेमंद भी क्योंकि वे हमें विभिन्न दृष्टिकोणों की जाँच-परख करने और विवेकसम्मत ढंग से अपने विचारों का बचाव करने को बाध्य करती है। वाद-विवाद के जरिए इन असहमतियों के बीच राह निकालने का ही दूसरा नाम राजनीति है। हमारे अपने देश में अनेक किस्म की सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ मौजूद हैं और उन्हें कम करने के लिए बहुत कुछ करना बाकी है। न्याय के विभिन्न सिद्धांतों के अध्ययन से हमें इसमें शामिल मुद्दों पर बहस करने तथा न्याय के अनुसरण के सर्वोत्तम रास्ते के बारे में एक सहमति पर पहुँचने में मदद मिलती है।

नोट

13.2 समानता के विविध आयाम (Dimensions of Equality)

स्वतंत्रता समानता आधुनिक युग के प्रमुख युग के प्रमुख राजनीतिक आदर्श हैं। फ्रांसीसी क्रांति (1789) के तीन आदर्श थे–**'स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व'** (Liberty, Equality, Fraternity) जिन्होंने आधुनिक चिंतन की दिशा में प्रेरणा-शक्ति का काम किया। स्वतंत्रता के उन्नायकों ने सामंतवादी शक्तियों को चिंतन की दिशा में प्रेरणा-शक्ति का काम किया। स्वतंत्रता के उन्नायकों ने सामंतवादी शक्तियों को परास्त करके एक नए युग का सूत्रपात किया। परंतु जब आरंभिक उदारवादियों ने स्वतंत्रता के विचार क्षेत्र को मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था (Free Market Economy) के मूल सिद्धांत के रूप में सीमित कर दिया और समाज में नए असंतुलन पैदा हो गए, तब समानता के आदर्श ने इस असंतुलन को दूर करने का बीड़ी उठाया। ऐसी आशा की जाती थी कि समाज में समानता स्थापित हो जाने के बाद बंधुत्व की भावना अपने-आप विकसित हो जाएगी।

समता (या समानता) और विषमता (Equality and Inequality) की समस्या आदिकाल से ही राजनीतिक चिंतन की मुख्य समस्या रही है। उदाहरण के लिए, **अरस्तु ने कहा था कि विषमता अनेक राज्यों में विद्रोह** (Rebellion) **का कारण सिद्ध होती है।** परंतु समता और विषमता के मानदंड प्रत्येक युग में बदलते रहते हैं। आधुनिक युग में समानता के सिद्धांत की सबसे तर्कसंगत परिभाषा देने का प्रयत्न किया गया है। कुछ भी हो, **समानता का विचार एक जटिल विचार है** और **कभी-कभी इसका विरोध करने वाले इसके ऐसे-ऐसे अर्थ लगाते हैं जो इसके समर्थकों के मन में नहीं होते।** अत: शुरू-शुरू में इसके बारे में फैली हुई भ्रांतियों को दूर करना जरूरी है।

समानता अधिकार का विवरण देती है, तथ्य का नहीं (Equality as a Statement of Right, Not of Fact)

सबसे पहले यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि समानता एक ऐसा तत्व है जिसकी माँग की जाती है–जैसे किसी अधिकार की माँग की जाती है। यह ऐसा गुण नहीं जिसका हम विवरण दे रहे हों। दूसरे शब्दों में, **हम यह कहते हैं कि मनुष्यों के साथ समानता का बर्ताव होना चाहिए; यह नहीं कहते कि मनुष्य वास्तव में समान हैं।** हाँ, कभी-कभी हम लाक्षणिक अर्थ में मनुष्यों की समानता की बात आवश्य करते हैं। उदाहरण के लिए, हम यह कहते हैं कि "सब मनुष्य जन्म से समान हैं" या "ईश्वर ने सब मनुष्यों को समान बनाया है"; या यह कहते हैं कि "मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और इस दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं।" इन सब बातों का अभिप्राय यह होता है कि सब मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। हम यह दावा नहीं करते कि सब मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक क्षमताएँ, सुंदरता या प्रतिभा इत्यादि समान या बराबर हैं।

कभी-कभी मनुष्यों की समानता पर बल देने के लिए हम उनकी कुछ प्रकट समानताओं और असमानताओं का उल्लेख भी करते हैं। उदाहरण के लिए, हम यह तर्क देते हैं कि मनुष्यों की त्वचा का रंग भले ही अलग-अलग हो, उनके खून का रंग तो एक ही है। प्रकृति ने भिन्न-भिन्न जातियों को भिन्न-भिन्न तत्त्वों से नहीं बनाया। कोई जड़ी-बूटी या औषधि सब मनुष्यों पर एक-जैसा प्रभाव डालती है; वह गोरे-काले में कोई भेद नहीं करती। अश्वेत मनुष्य का रक्त समूह (Blood Group) श्वेत मनुष्य से मिल सकता है और वह रक्तदान करके श्वेत मनुष्य को नया जीवन दे सकता है या नेत्रदान करके उसकी खोई हुई दृष्टि को लौटा सकता है। फिर हम यह भी कहते हैं कि मनुष्यों के रूप-रंग भले ही अलग-अलग हों, परंतु उनकी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक आवश्यकताएँ तो एक-जैसी हैं, इसलिए मनुष्य-मनुष्य में कोई भेदभाव करना उचित नहीं है। इस तरह हम कभी-कभी किसी प्रकट समानता के आधार पर मनुष्यों की बुनियादी समानता स्थापित करने की कोशिश करते हैं। कुछ भी हो, समानता विश्वास करने की चीज़ है, ढूँढ़ने और पाने की चीज़ नहीं है।

नोट

कभी-कभी समानता के विरोध में यह तर्क दिया जाता है कि समानता प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। जब प्रकृति ने सब वस्तुओं को असमान बनाया है—धरती और आकाश में कोई मेल नहीं; सूर्य, चंद्रमा और सितारे, पर्वत शिखर और घाटियाँ, नदियाँ और समुद्र, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, स्त्री-पुरुष, गोरे-काले, बडे-छोटे इत्यादि सब असमान हैं, तब हम प्रकृति की इस व्यवस्था के विरुद्ध समानता का नियम लागू करने की कोशिश क्यों करें? **ऐसे तर्क वास्तव में वही लोग देते हैं जिन्हें समाज में प्रचलित विषमताओं से लाभ प्राप्त हो रहा है और जो इसको अपनी योग्यता का पुरस्कार मानते हुए दूसरों को उससे वंचित रखना चाहते हैं।** सच्ची बात यह है कि हम प्रकृति को ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं करते बल्कि मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप उसे निरंतर सँवारने में लगे रहते हैं। जिस नदी में बाढ़ आकर खेतों और घरों को डुबो सकती है, हम उसमें बांध बनाकर न केवल बाढ़ से संभावित विनाश को रोकते हैं, बल्कि पानी की शक्ति से बिजली पैदा करते हैं और फालतू पानी से खेतों में सिंचाई करते हैं। इस तरह प्रकृति की आड़ लेकर सामाजिक जीवन में समानता का विरोध करना युक्तिसंगत नहीं है।

समानता एक आधुनिक विचार है (Equality as a Modern Idea)

प्रस्तुत अर्थ में समानता का विचार एक आधुनिक विचार है। अमरीकी क्रांति (1776) और फ्रांसीसी क्रांति (1789) वे पहले तक समाज में धन-संपदा, पद-प्रतिष्ठा और शक्ति की विषमताओं को स्वाभाविक और अटल व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया जाता था और प्रचलित विचारधारा के अंतर्गत उन्हें उचित और तर्कसंगत ठहराने का प्रयत्न किया जाता था। **आधुनिक युग के आरंभ से इन विषमताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाकर यह पता लगाने की कोशिश की जाने लगी कि कौन-कौन-सी विषमताएँ सामाजिक व्यवस्था की उपज हैं; इनमें से कौन-कौन-सी विषमताएँ अनुचित हैं और ऐसी किन-किन विषमताओं को सामाजिक कार्रवाई के द्वारा दूर किया जा सकता है?** मतलब यह कि मनुष्यों की समानता एक मान्य सिद्धांत है और सामाजिक जीवन में केवल उन्हीं विषमताओं को स्वीकार किया जा सकता है जिनका कोई तर्कसंगत आधार हो।

समानता का विचार सामाजिक परिवर्तन की माँग करता है (Idea of Equality Postulates Social Change)

समानता के समर्थक सामाजिक जीवन की उन विषमताओं को दूर करने की माँग करते हैं जो अनुचित प्रतीत होती हैं। विषमताओं को दूर करने का अर्थ है, सामाजिक परिवर्तन की माँग।

जे.जे. रूसो (1712-78) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'ए डिस्कोर्स ऑन द ओरिजिन ऑफ़ इनिक्वैलिटी' (विषमता की उत्पत्ति पर एक वार्ता) (1755) के अंतर्गत मनुष्यों में दो प्रकार की विषमताओं में अंतर किया है: **प्राकृतिक विषमता** (Natural Inequality) और **परंपरागत विषमता** (Conventional Inequality)। **प्राकृतिक विषमता** वस्तुस्थिति का विवरण देती है, जैसे कि मनुष्य-मनुष्य में आयु, स्वास्थ्य, सौंदर्य, बाहु-बल और बुद्धि-बल इत्यादि में पाई जाने वाली भिन्नताएँ। ये भिन्नताएँ प्राकृतिक व्यवस्था की देन हैं और ये प्राय: अटल या अपरिवर्तनीय (Unalterable) हैं; इन्हें मनुष्य ने न तो स्वयं बनाया है, न वह इनमें कोई फेर-बदल कर सकता है। दूसरी ओर, **परंपरागत विषमता** धन-संपदा, पद-प्रतिष्ठा और शक्ति की भिन्नताओं (Disparities in Wealth, Prestige and Power) को सूचित करती है। इसके अंतर्गत कुछ गिने-चुने लोगों को ऐसे विशेषाधिकार (Privileges) प्राप्त होते हैं जिनसे जनसाधारण को वंचित रखा जाता है। ये भिन्नताएँ सामाजिक व्यवस्था की देन हैं और ये परिवर्तनीय (Alterable) हैं, इन्हें मनुष्य ने स्वयं बनाया है और वह इनमें फेर-बदल कर सकता है। उदाहरण के लिए, प्रकृति ने कुछ मनुष्य गोरे और कुछ काले बनाए हैं—यह प्राकृतिक विषमता का उदाहरण है। परंतु यदि गोरे लोग शानदार मकानों में रहते हैं और काले लोग झोंपड़ियों में रहते हैं, तो यह व्यवस्था प्रकृति ने नहीं बनाई; मनुष्यों ने बनाई है। यह परंपरागत विषमता है। जब हम समानता के सिद्धांत के आधार पर यह कहते हैं कि गोरे और काले

नोट

लोगों को शिक्षा, पद-प्रतिष्ठा, धन-संपत्ति और सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने के एक-जैसे अवसर और अधिकार मिलने चाहिए तब हम निश्चय ही सामाजिक परिवर्तन की माँग कर रहे होते हैं। **हम यह माँग नहीं करते कि सारे काले लोगों को गोरा बना दिया जाए।**

रूसो ने प्राकृतिक विषमता और परंपरागत विषमता में अंतर करते हुए जो तर्क दिया है, उसे आज के युग में और भी आगे बढ़ा सकते हैं। रूसो के विचार से, प्राकृतिक विषमता अधिकांशत: अटल (Unalterable) होती है, परंतु परंपरागत विषमता में बहुत हद तक परिवर्तन लाया जा सकता है। आधुनिक युग के संदर्भ में देखें तो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी (Science and Technology) के विकास के साथ कई तरह की प्राकृतिक विषमता भी सर्वथा अटल नहीं रह गई है। हम जानते हैं कि उपयुक्त पोषण (Nutrition) के द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य और दैहिक शक्ति को उन्नत किया जा सकता है; उपयुक्त शिक्षा और प्रशिक्षण के द्वारा उसकी मानसिक शक्ति को बढ़ाया जा सकता है; यहाँ तक कि उपयुक्त प्रसाधनों और शल्य-चिकित्सा के द्वारा मनुष्य में सौंदर्य का विकास भी किया जा सकता है। समय पर देखरेख कर ली जाए तो बहुत सारे रोगों की रोकथाम की जा सकती है और मनुष्य को शारीरिक और मानसिक दोषों से मुक्त रखा जा सकता है। परंतु इस तरह के सुधार की संभावना भी इस बात पर निर्भर है कि संबद्ध व्यक्ति की सामाजिक-आर्थिक स्थिति कैसी है; जिस समाज में वह रहता है वह वैज्ञानिक और तकनीकी दृष्टि से कितना उन्नत है या वहाँ सामाजिक सेवाओं (Social Services) की कितनी विस्तृत और कितनी कुशल व्यवस्था की गई है? इस तरह प्राकृतिक विषमता और परंपरागत विषमता के बीच की सीमा-रेखा मिट नहीं जाती, बल्कि परंपरागत विषमता का क्षेत्र बढ़ता चला जाता है और उसके साथ-साथ इन विषमताओं को मिटाने के लिए समाज का दायित्व भी बढ़ता चला जाता है। जॉन रीस के शब्दों में, "जब सब लोग या कुछ लोग यह देखते हैं कि इनमें से कुछ विषमताएँ अन्यायपूर्ण हैं और उनमें परिवर्तन लाया जा सकता है, तभी समानता का आदर्श राजनीतिक जीवन की प्रेरणा-शक्ति बन जाता है।" (इक्वैलिटी: समानता) (1971) मनुष्य साधारणत: जिन विषमताओं की शिकायत करते हैं वे प्राकृतिक विषमताएँ नहीं होतीं, बल्कि ऐसी विषमताएँ होती हैं जो सामाजिक व्यवस्था में घर कर चुकी हों–ऐसी विषमताएँ जो मनुष्य की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक स्थिति में प्रकट होती हैं और जो संपदा के वितरण और आत्म-विकास के अवसरों को प्रभावित करती हैं–ऐसी विषमताएँ नहीं जिनके कारण कुछ मनुष्य दूसरों की तुलना में अधिक प्रतिभाशाली, सुंदर या बलशाली होते हैं।

क्या आप जानते हैं

सामाजिक सेवाएँ ऐसी सेवाएँ होती हैं; जो नागरिकों के जीवन-स्तर (Quality of Life) को उन्नत करने के लिए राज्य की ओर से जुटाई जाती हैं। इनमें उन सेवाओं का विशेष स्थान है जिनका प्रबंध निर्धन और निर्बल वर्गों के हित में किया जाता है, जैसे कि असहाय बच्चों, बूढ़ों और स्त्रियों की स्वास्थ्य रक्षा, शिक्षा, परिवहन, मनोरंजन इत्यादि से जुड़ी हुई सेवाएँ।

समानता का अर्थ अक्षरश: समानता नहीं है (Equality Does Not Imply Literal Equality)

किसी भी तरह की विषमता को वहीं तक दूर करने की माँग की जाती है जहाँ तक वह अनुचित या अन्यायपूर्ण प्रतीत होती है। **समानता का अर्थ यह नहीं कि आँख मींचकर सबको समान बना दिया जाए।** उदाहरण के लिए, हम स्त्री-पुरुषों में 'समान कार्य के लिए समान वेतन' (Equal Pay for Equal Work) की माँग करते हैं क्योंकि हम यह सोचते हैं कि पुरुषों के समान कार्य करने वाली स्त्रियों को पुरुषों से कम वेतन देना अन्याय है; हम यह नहीं कहते कि किसी भी तरह का काम करने वाले सभी स्त्री-पुरुषों का वेतन बराबर कर देना चाहिए। इसी प्रकार **योग्यता, अनुभव और कर्मठता के आधार पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न पदों पर नियुक्त करना समानता के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है।**

नोट

यदि हम समाज में अक्षरशः समानता लाने का प्रयत्न करेंगे तो इससे अनेक विकृतियाँ पैदा हो जाएँगी। यदि हम परीक्षा में सब छात्रों को समान अंक देने की नीति अपनाएँगे तो कोई छात्रवृत्ति (Scholarship) प्रदान करने, उच्च शिक्षा या सम्मानपूर्ण व्यवसायों में प्रवेश देने के लिए उपयुक्त पात्रों का चयन कैसे करेंगे? **यदि विशेष योग्यता के लिए विशेष पुरस्कार नहीं होगा तो अधिक परिश्रम या सूझबूझ से काम करने के लिए कोई प्रोत्साहन** (Incentive) **नहीं रह जाएगा।** ऐसी हालत में हमारा समाज उन महान् कलाकृतियों और वैज्ञानिक आविष्कारों से वंचित रह जाएगा। जिनके लिए निरंतर साधना और लगन की ज़रूरत होती है।

इसके अलावा, **अक्षरशः समानता लाने से समाज** कैसे भी **उत्कृष्ट गुणों** (Excellence) से **वंचित हो जाएगा।** ऐसी हालत में हम वाद्यवृंद (Orchestra) के कलाकारों में से कुशल कलाकारों को घटिया साज़ देंगे और अनाड़ी लोगों को बढ़िया साज़ देंगे, ताकि वे एक-जैसी आवाज़ निकाल सकें! हम मेधावी छात्रों को घटिया पुस्तकें देंगे, और मंदबुद्धि छात्रों को बढ़िया पुस्तकें देंगे, ताकि उनका परीक्षा-परिणाम एक जैसा आए। हम सुंदर लड़कियों को शृंगार नहीं करने देंगे और घटिया कपड़े पहनाएंगे जबकि बदसूरत लड़कियों को सजा-सँवारकर बढ़िया कपड़े पहनाएंगे ताकि सुंदर और असुंदर लड़कियाँ एक-जैसी लगें। क्या हम समानता की ऐसी हास्यास्पद परिभाषा स्वीकार कर सकते हैं?

भेदभाव का तर्कसंगत आधार (Logical Grounds of Discrimination)

जैसे स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना कुछ प्रतिबंधों को स्वभावतः स्वीकार करती है, वैसे ही, **समानता की सकारात्मक संकल्पना भी कुछ भेदभाव अवश्य स्वीकार करती है, शर्त यह है कि यह भेदभाव समानता की पुष्टि करे, उसका हनन न करे।** इस भेदभाव के दो युक्तियुक्त आधार हो सकते हैं: (क) भेदभाव का कोई तर्कसंगत कारण अवश्य होना चाहिए; और (ख) मुक्त प्रतिस्पर्धा की स्थिति में कमज़ोर पक्ष को कुछ छूट दी जानी चाहिए ताकि ताकतवर पक्ष के मुकाबले उसे नुकसान न उठाना पड़े।

इसमें पहले नियम से यह संकेत मिलता है कि किसी को कोई भी अधिकार प्रदान करने या न करने का तर्कसंगत आधार अवश्य होना चाहिए; किसी के साथ मनमाने तौर पर दूसरों से भिन्न बर्ताव नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, मताधिकार (Right-to-Vote) उन सबको मिलना चाहिए जो उसका प्रयोग करने में समर्थ हों, जैसे कि प्रत्येक वयस्क को। केवल संपन्न वर्गों को यह अधिकार प्रदान करना अनुचित होगा। क्योंकि **मतदान की क्षमता संपत्ति के स्वामित्व पर आश्रित नहीं है।** कुछ ही दशक पहले तक कुछ देशों में स्त्रियों को मताधिकार से वंचित रखने के लिए यह दलील दी जाती थी कि वे पुरुष की तुलना में निर्बल होती हैं। यह भेदभाव तर्कसंगत नहीं था क्योंकि मताधिकार के प्रयोग में दैहिक बल का कोई महत्त्व नहीं। दूसरी ओर **विक्षिप्त मनुष्य को मताधिकार से वंचित रखना तर्कसंगत होगा,** क्योंकि उससे मतदान के समुचित प्रयोग की आशा नहीं की जा सकती। इसी तरह, जब यह कहा जाता है कि रोज़गार और मकान का वितरण करते समय गोरे-काले का भेद नहीं करना चाहिए तो इसका मतलब यह होता है कि कोई काम सँभालने या माकान का प्रयोग करने की क्षमता त्वचा के रंग पर आश्रित नहीं है। इसके अलावा, **काले आदमी को भी रोज़गार और मकान की उतनी ज़रूरत होती है, जितनी गोरे आदमी को।** अतः प्रस्तुत संदर्भ में त्वचा के रंग को भेदभाव का तर्कसंगत आधार नहीं माना जा सकता।

तर्कसंगत आधार की कसौटी उन सभी मामलों में लागू करनी चाहिए। जहाँ किसी एक वर्ग की कोई विशेषाधिकार प्रदान किया जाता है और शेष वर्गों को उससे वंचित रखा जाता है। अन्यथा यह भेदभाव ऐसी स्थिति को जन्म देगा जिसमें एक वर्ग को दूसरों का शोषण (Exploitation) करने की छूट मिल जाएगी। **हेरल्ड जे. लास्की** ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'द स्टेट इन थ्योरी एंड प्रैक्टिस' (राज्य का स्वरूप-सिद्धांत और व्यवहार) (1935) के अंतर्गत

नोट

लिखा है कि जहाँ किसी एक वर्ग को ऐसे आधार पर समान अधिकारों से वंचित रखा जाता है कि उसके पास संपत्ति नहीं है या वह किसी जाति, धर्म या दल विशेष से संबद्ध नहीं है, वहाँ विशिष्ट वर्गों के हित में तत्कालीन शक्ति-संतुलन को कायम रखने की इच्छा अवश्य छिपी रहती है। परंतु तर्कबुद्धि की कसौटी पर ऐसी दलीलें खरी नहीं उतरतीं। **अरस्तु ने दास-प्रथा की पैरवी की, लॉक ने रोमन कैथोलिकों को और हिटलर ने यहूदियों को नागरिकता से वंचित रखने का समर्थन किया–परंतु ऐसे तर्क देने वाले लोग केवल अपने निहित स्वार्थों** (Vested Interests) **को विवेकसम्मत सिद्धांतों का जामा पहनाने की कोशिश कर रहे थे। ये तर्क जिन-जिन भावात्मक पूर्वग्रहों पर आधारित हैं, उन्हें स्वीकार न करने वाला विचारक जब इनकी जाँच-परख करता है, तब इनमें से कोई भी सही सिद्ध नहीं होता।**

भेदभाव का दूसरा युक्तियुक्त आधार यह होगा कि अधिकारों का वितरण करते समय कमज़ोर पक्ष को यथोचित छूट दी जाए। देखा जाए जो सामाजिक संगठन का यह एक सर्वमान्य सिद्धांत है हालांकि समय-समय पर निहित स्वार्थ बड़ी सफ़ाई से इसकी उपेक्षा कर जाते हैं। परिवार के स्तर पर दुर्बल या अस्वस्थ सदस्य की विशेष देखरेख की जाती है। **राज्य में भी कर** (Taxes) **तो इस आधार पर वसूल किए जाते हैं कि कौन कितना कर दे सकता है, परंतु पुलिस, अग्नि-शमन या ऐसी कोई भी सहायता इस आधार पर भेजी जाती है कि किसे किसकी कितनी आवश्यकता है?** सामाजिक सेवाएँ–जैसे कि परिवहन, डाक-तार, बिजली, पानी ईंधन, सड़कें, नालियाँ, बाग-बगीचे, खेल के मैदान, स्कूल, अस्पताल, पुस्तकालय इत्यादि इस आधार पर बनवाए जाते हैं कि जरूरतमंद वर्गों को उनसे ज्यादा-से-ज्यादा फायदा पहुँचे।

नोट्स

दुर्घटना, युद्ध उपद्रव, अग्निकांड, सूखा, बाढ़, भूकंप, महामारी या अन्य विपत्तियों से ग्रस्त लोगों को सरकार की ओर से तत्काल सहायता इसलिए पहुँचाई जाती है क्योंकि उन्हें इसकी सख्त जरूरत होती हैं।

इधर सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में भी निर्बल पक्ष को संरक्षण (Protection) प्रदान करना उतना ही युक्तिसंगत होगा। उदाहरण के लिए, कमज़ोर और अल्पसंख्यक वर्गों को निर्णयन-संस्थाओं (Decision-Making Bodies), सार्वजनिक सेवाओं (Public Services) इत्यादि में यथोचित प्रतिनिधित्व देने की विशेष व्यवस्था समानता के सिद्धांत के अनुरूप होगी। वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में जो वर्ग अपनी शिक्षा प्रशिक्षण इत्यादि देर से शुरू कर पाते हैं, उन्हें नौकरी देते समय आयु-सीमा में छूट देना समानता का उल्लंघन नहीं होगा। भारत में अनुसूचित जातियों (Scheduled Castes) और अनुसूचित जनजातियों (Scheduled Tribes) के सदस्यों के लिए बहुत सारी विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं–जैसे कि संसद, विधान सभाओं और पंचायतों में, सार्वजनिक सेवाओं और शिक्षा संस्थाओं में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं; उन्हें शिक्षा-शुल्क (Tuition Fee) की छूट दी जाती है और विशेष छात्रवृत्तियाँ (Scholarship) प्रदान की जाती है; प्रतियोगिता-परीक्षाओं (Competitive Examinations) की तैयारी के लिए उन्हें नि:शुल्क प्रशिक्षण दिया जाता है; नौकरी देते समय उन्हें आयु-सीमा में छूट दी जाती है और उनसे आवेदन शुल्क नहीं लिया जाता या नाम मात्र का शुल्क लिया जाता है इत्यादि। इनके अलावा साधारणत: 'अन्य पिछड़े वर्गों' (Other Backward Classes: OBCs) के लिए भी विशेष आरक्षण (Reservation) की विस्तृत व्यवस्था की गई है। यह सारी व्यवस्था इसलिए की गई है क्योंकि अपने सदियों के पिछड़ेपन के कारण ये सारे समूह अन्य नागरिकों के साथ समानता के स्तर पर मुकाबला नहीं कर सकते। अत: उनके लिए विशेष व्यवस्था तब तक कायम रखनी होगी जब तक यह निश्चित न हो जाए कि उनका समुचित सामाजिक-आर्थिक विकास हो चुका है और अब वे समानता के स्तर पर दूसरों का मुकाबला कर सकते हैं।

नोट

'विपरीत भेदभाव' से संबंधित विवाद (Debate on Reverse Discrimination)

पिछले दिनों संयुक्त राज्य अमरीका में समानता के सिद्धांत से जुड़े हुए विवाद के अंतर्गत 'विपरीत भेदभाव' का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इसका मुख्य मुद्दा यह था कि जब किन्हीं वंचित समूहों (Deprived Sections) को लाभ पहुँचाने के लिए 'सकारात्मक कार्रवाई' (Affirmative Action) की जाती है, अर्थात् जब नौकरियों या उच्च शिक्षा के अवसरों के आबंटन में उनके साथ वरीयता का बर्ताव (Preferential Treatment) किया जाता है तो इसमें अन्य समूहों के प्रति 'भेदभाव' निहित होता है। अत: यह तर्क दिया जाता है कि यदि समानता का अर्थ 'भेदभाव का निराकरण' (Removal of Discrimination) है तो समानता के नाम पर पुराने भेदभाव को विपरीत दिशा में मोड़ देने का कोई औचित्य नहीं है। क्या अश्वेत जातियों और स्त्रियों को नौकरियों और उच्च शिक्षा के दुर्लभ पाठ्यक्रमों में प्रवेश के समय–विशेषत: चिकित्सा और कानून के क्षेत्रों में–इसलिए वरीयता दी जाए क्योंकि अतीत में उन्हें ऐसे अवसर नहीं मिल पाए? मतलब यह कि अतीत में जाति (Race) और लिंग (Sex) के आधार पर जिन समूहों के साथ भेदभाव बरता गया है, क्या उनकी क्षतिपूर्ति (Compensation) के लिए अब उसी तर्क शून्य आधार पर अन्य समूहों के साथ भेदभाव बरतना उचित होगा? वास्तव में 'विपरीत भेदभाव' का मुद्दा उन लोगों की ओर से शिकायत के रूप में उठाया जाता है जिन्हें आज की परिस्थितियों में 'अवसर की समानता' (Equality of Opportunity) से वंचित किया जा रहा है।

सकारात्मक कार्रवाई (Affirmative Action)

वह कार्रवाई जिसमें लोगों को नियुक्ति, पदोन्नति या शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश इत्यादि प्रदान करते समय किसी पिछड़े हुए समूह को (जैसे कि स्त्रियों, अश्वेत लोगों या किसी अन्य वंचित समूह को) विशेष रियायत (Concession) दी जाती है ताकि अतीत में उसके साथ जो अन्याय हुआ है, उसकी क्षति पूरी की जा सके।

वंचित समूहों के लिए 'सकारात्मक कार्रवाई' के पक्ष में अनेक दलीलें दी जाती हैं:

(क) इसके कुछ समर्थक इसे 'क्षतिपूरक न्याय' (Compensatory Justice) की दृष्टि से उचित ठहराते हैं। इस तर्क के अनुसार अतीत में अश्वेत जातियों और स्त्रियों के साथ जो अन्यायपूर्ण भेदभाव बरता गया है, उसकी भरपाई के लिए अब उन्हें उन्नति के अवसरों में वरीयता दी जानी चाहिए;

(ख) कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि इन समूहों के प्रति वरीयता का बर्ताव यथार्थ समानता के लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होगा। उदाहरण के लिए, अश्वेत डॉक्टरों और विधिवेत्ताओं की संख्या बढ़ जाने से श्वेत जातियों के साथ उनकी समानता का ठोस प्रमाण मिल सकेगा; और अंत में,

(ग) कुछ लोग यह दावा करते हैं कि उन्नति के अवसर दुर्लभ होने के कारण उनका आबंटन केवल योग्यता (Merit) के अनुसार नहीं होना चाहिए, बल्कि इसमें योग्यता के साथ-साथ आवश्यकता (Need) को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। वंचित समूहों की आवश्यकता इतनी प्रबल है कि उन्हें न्यूनतम आवश्यक योग्यता प्राप्त होने पर नौकरियों और शैक्षिक अवसरों में वरीयता मिलनी चाहिए ताकि उन्हें अन्य शक्तिशाली समूहों के साथ प्रतिस्पर्धा न करनी पड़े।

'सकारात्मक कार्रवाई' के विरोधी भी अपने दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए अनेक तर्क देते हैं:

(क) नव-रूढ़िवाद (Neo-Conservatism) के समर्थक यह मानते हैं कि समाज में समानता के सिद्धांत को केवल 'अवसर की समानता' के स्तर पर लागू किया जा सकता है। 'सकारात्मक कार्रवाई' के द्वारा समाज में अक्षरश: समानता (Literal Equality) स्थापित करने का प्रयत्न विनाशकारी होगा क्योंकि वह योग्यता, उत्कृष्टता (Excellence), मान्य सत्ता (Authority) और गरिमा (Dignity) की नींव को खोखला कर देगा जो कि सामाजिक स्थिरता (Social Stability) और प्रगति (Progress) के आधार-तत्व हैं।

नोट

नव-रूढ़िवाद (Neo-Conservatism)

वह सिद्धांत जो समकालीन अनुभव के आधार पर रूढ़िवाद की इस मान्यता को दोहराता है कि नए और बिना आज़माए हुए तरीकों की जगह पुराने और आज़माए हुए तरीके अपनाना ही उपयुक्त होगा। अमरीकी नवरूढ़िवादी यह तर्क देते हैं कि नौकरियों और उच्च शिक्षा के अवसरों में स्त्रियों और अश्वेत जातियों को वरीयता देने पर समाज में कटुता बढ़ती है, कार्यकुशलता कम हुई है, फिर भी अमरीकी समाज में निर्धनता और भेदभाव को मिटाने के सारे प्रयास विफल हो गए हैं। अत: पहले से आज़माए हुए रास्ते पर चलना ही श्रेयस्कर है।

प्रक्रियात्मक और तात्त्विक-न्याय (Procedural and Substantive Justice)

प्रक्रियात्मक न्याय यह माँग करता है कि न्याय की प्रक्रिया (Procedure) उचित होनी चाहिए, फिर उसका जो भी परिणाम हो, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। दूसरी ओर तात्त्विक न्याय यह माँग करता है कि न्याय से उचित उद्देश्य की सिद्धि होनी चाहिए; इसके लिए उसकी प्रक्रिया में आवश्यक समायोजन (Adjustment) किया जाता है।

(ख) कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि 'सकारात्मक कार्रवाई' प्रक्रियात्मक न्याय (Procedural Justice) का सरासर उल्लंघन है क्योंकि यह व्यक्तियों की तुलनार के तर्कसंगत आधार की अवहेलना करती है और कुछ हद तक वह तात्त्विक न्याय (Substantive Justice) के विरुद्ध भी है क्योंकि अश्वेत जातियों और स्त्रियों की पुरानी पीढ़ियों के साथ जो अन्याय हुआ है, उसके प्रतिकार के लिए श्वेत जातियों और पुरुषों की वर्तमान पीढ़ी को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता; फिर उन्हें इसका दंड क्यों दिया जाए?

(ग) तीसरे, 'सकारात्मक कार्रवाई' के संदर्भ में अश्वेत जातियों और स्त्रियों को पृथक्-पृथक् व्यक्तियों (Individuals) के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि ऐसे समूहों (Collectivities) के रूप में देखा जाता है जिनके साथ अतीत में अन्याय होता रहा है। उन्हें केवल जाति और लिंग के आधार पर वरीयता दी जाती है—व्यक्तिगत गुणों के आधार पर नहीं। उदाहरण के लिए, इससे अपेक्षाकृत ध नवान् और अनुकूल परिस्थितियों वाले (Rich and Advantaged) अश्वेत लोगों को निर्धन और प्रतिकूल परिस्थितियों वाले (Poor and Disadvantaged) श्वेत लोगों की तुलना में वरीयता मिल जाती है। दूसरे शब्दों में, इस वरीयता का लाभ सचमुच उपयुक्त पात्रों (Deserving Cases) को नहीं मिल पाता, बल्कि वंचित समूहों के भीतर अधिक सजग और मुखर वर्ग (More Alert and Vocal Sections) सारा लाभ उठा ले जाते हैं; और अंत में,

(घ) व्यक्तिगत गरिमा और आत्मसम्मान की भावनाएँ समानता के दर्शन का मूल मंत्र हैं। यदि किसी व्यक्ति को यह मालूम होगा कि उसे कोई दुर्लभ अवसर ऐसी वरीयता के आधार पर मिला है जो वंचित समूहों के लिए निर्धारित थी—अपनी योग्यता के आधार पर नहीं, तो इससे उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचेगी और उसके मन में हीन भावना (Inferiority Feeling) घर कर जाएगी।

भारत में 'विपरीत भेदभाव' का मुद्दा उतने ऊँचे स्वर से नहीं उठाया जाता, बल्कि समकालीन समाज में वंचित समूहों के प्रति विशेष सहानुभूति पाई जाती है। परन्तु यहाँ पर भी मुख्य समस्या 'उपयुक्त पात्रों' की पहचान की है। जिस देश में गरीबी इतनी दूर-दूर तक फैली हो और उन्नति के अवसर इतने दुर्लभ हों, वहाँ यह डर तो रहेगा कि वहीं तथाकथित पिछड़ी जातियों के 'अधिक सजग और मुखर लोग' आम जनता को चकमा देकर सारे लाभ न उठा ले जाएँ। इस स्थिति के प्रतिकार के लिए भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने 'अन्य पिछड़ी जातियों' की 'मलाईदार पर्त'

नोट

(Creamy Layer) को–अर्थात् अपेक्षाकृत ऊँचे स्तरों या अधिक संपन्न स्तरों को–आरक्षण (Reservation) के दायरे से बाहर रखने की व्यवस्था की है ताकि इसका लाभ सचमुच उपयुक्त स्तरों तक पहुँच सके। फिर, नई पीढ़ी को निराशा और प्रोत्साहनहीनता से बचाने के लिए यह विचार भी ज़ोर पकड़ने लगा है कि पिछड़े वर्गों के शैक्षिक विकास के लिए तो सार्वजनिक निधि (Public Fund) से भरपूर सहायता और सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ, परंतु जब वे उपयुक्त योग्यता प्राप्त कर लें, तब उन्हें सामान्य श्रेणियों के साथ योग्यता के आधार पर मुकाबला करने दिया जाए। वस्तुत: 'विपरीत भेदभाव' का प्रश्न एक जटिल समस्या है जिसके समाधान के लिए बहुत सावधानी के साथ आगे बढ़ना होगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. न्यायपूर्ण समाज को लोगों को न्यूनतम ····· स्थितियाँ जरूर मुहैया करानी चाहिए।
2. ····· प्रणाली उपभोक्ता के तौर पर ज्यादा ····· देती है।
3. पिछड़े वर्गों के शैक्षिक विकास के लिए ····· से सहायता उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

समानता के सिद्धांत को सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है। यही कारण है कि हम समानता के कानूनी, राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक आयामों की चर्चा करते हैं। वास्तव में ये सभी आयाम एक-दूसरे के साथ निकट से जूड़े हैं। देखा जाए तो समानता के सिद्धांत को विभिन्न कोणों में देखने पर भी मुख्यत: उसके यही आयाम हमारे सामने आते हैं।

कानूनी समानता (Legal Equality)

आधुनिक युग के आरंभ में समानता की माँग पहले-पहल कानूनी समानता के रूप में उठाई गई थी। इसका अर्थ यह था कि समाज में सभी व्यक्तियों को जन्म, दैहिक या मानसिक क्षमताओं तथा अन्य भिन्नताओं के बावजूद समान कानूनी हैसियत (Equal Legal Status) प्रदान की जाए। **जे.जे. रूसो** ने अपनी विख्यात कृति 'द सोशल कांट्रैक्ट' (सामाजिक अनुबंध) (1762) के अंतर्गत लिखा था कि सभी नागरिकों को कानूनी समानता प्रदान करना नागरिक समाज (Civil Society) की प्रमुख विशेषता है। उसके अनुसार, प्रकृति ने मनुष्यों में बाहु-बल या बुद्धि-बल की जो विषमता (Inequality) पैदा कर दी है, सामाजिक अनुबंध उसमें कोई छेड़छाड नहीं करता, परंतु कानूनी अधिकार (Legal Right) की दृष्टि से वह उन्हें समान या समकक्ष बना देता है। **अर्नेस्ट बार्कर** ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ सोशल एंड पोलिटिकल थ्योरी' (सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत-तत्व) (1951) के अंतर्गत लिखा है: "राज्य का मूल सिद्धांत यह है कि वह हमें कानूनी व्यक्तित्व के एक-जैसे मुखौटे पहना देता है। हममें चाहे जो भी भिन्नताएँ रही हों, कानून के समक्ष हम सबका महत्त्व एक-जितना होता है। अत: समानता के सिद्धांत का अर्थ यह है कि मुझे अधिकारों के रूप में जो भी परिस्थितियाँ प्रदान की जाती हैं, वे उतनी ही मात्रा में दूसरों को भी प्रदान की जाएंगी और जो अधिकार दूसरों को दिए जाते हैं, वे मुझे भी दिए जाएँगे।"

आज के युग में कानूनी समानता के सिद्धांत को स्वाभाविक रूप से मान्यता दी जाती है, परंतु इसे यह मान्यता प्राप्त होने में कई युग लगे हैं। **प्राचीन समाजों में कानूनी समानता का विचार सर्वथा अज्ञात था।** उदाहरण के लिए, **मनुस्मृति के अंतर्गत एक ही अपराध के मामले में विभिन्न वर्णों** (Castes) **के लिए भिन्न-भिन्न दंड की व्यवस्था की गई है,** अर्थात् अपराधी की जाति जितनी नीची होगी, उसका दंड उतना कठोर होता चला जाएगा। इसी प्रकार **अरस्तू ने भी यह सुझाव दिया है कि एक ही अपराध के लिए स्वतंत्रजन** (Freeman) **की तुलना**

नोट

में दास (Slave) **को अधिक कठोर दंड देना चाहिए,** क्योंकि "दास कम संवेदनशील (Less Sensitive) होता है।" यूरोप के इतिहास में अठारहवीं शताब्दी तक कानूनी विषमता का बोलबाला रहा है। **फ्रांसीसी क्रांति** (1789) **से पहले वहाँ कुलीन व्यक्ति तो न्यायालय में अपनी ओर से साक्ष्य** (Evidence) **प्रस्तुत कर सकता था, परंतु जनसाधारण को अपने पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं था।** इंग्लैंड में दास की कोई कानूनी हैसियत (Legal Capacity) नहीं थी, अर्थात् कानून की दृष्टि में उसका कोई व्यक्तित्व ही नहीं था। वहाँ **1918 तक यह नियम था कि जिस व्यक्ति को 'निर्धन सहायता'** (Poor Relief) **प्राप्त होगी, उसकी कानूनी हैसियत बहुत मामूली होगी क्योंकि उसे दूसरों की तरह मतदान करने का अधिकार** (Right-to-Vote) **नहीं होगा।** 1870 तक वहाँ विवाहिता स्त्रियों को संपत्ति के स्वामित्व का कानूनी हक नहीं था, और 1918 तक सभी स्त्रियों को मतदान के अधिकार से वंचित रखा गया। एक लंबी लड़ाई के बाद ही इन सब विषमताओं को दूर किया जा सका है।

कानूनी समानता की एक अभिव्यक्ति **'कानून के समक्ष समानता'** (Equality before the Law) है। **जे.आर. ल्यूकस** ने 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिक्स' (राजनीति के सिद्धांत) (1976) के अंतर्गत 'कानून के समक्ष समानता' की बहुत सटीक परिभाषा दी है: "कानून के समक्ष समानता यह विश्वास नहीं दिलाती कि कानून सबके साथ समान बर्ताव करेगा, बल्कि यह निश्चित करती है कि कानून का द्वार सबके लिए खुला रहेगा और किसी भी मामले में केवल उन्हीं बातों पर विचार किया जाएगा जिन्हें कानून के अंतर्गत प्रासंगिक (Relevant) माना जाता है। कोई इतना छोटा नहीं है कि वह न्यायालयों की शरण में न जा सके; कोई इतना शक्तिशाली नहीं है कि वह न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी न हो। कोई भी व्यक्ति न्यायालयों की सहायता मांग सकता है और हर कोई उनकी आज्ञा का पालन करने को बाध्य है। न्यायालय सभी विवादों का निर्णय दोनों पक्षों की सुनवाई के बाद ही, उचित और निष्पक्ष भाव से, बिना किसी भय या पक्षपात के, देंगे।" अत: कानूनी समानता का अर्थ यह है कि सभी नागरिक समान रूप से कानून के अधीन होंगे (Equal Subjection to the Law) और सभी नागरिकों को कानूनों का समान संरक्षण (Equal Protection of the Laws) प्राप्त होगा।

कानूनी समानता निस्संदेह कानूनी न्याय (Legal Justice) की आधार-शिला है। परंतु जिस समाज में संपदा और निर्धनता के बीच की खाई इतनी चौड़ी हो, उसमें कानूनी समानता सच्चा न्याय दिलाने के लिए पर्याप्त नहीं है। कानूनी समानता से सभी नागरिकों को एक-जितना फायदा तभी हो सकता है जब वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए या अपनी क्षति की पूर्ति के लिए न्यायालयों का सहारा लेने में एक-जितने समर्थ हों। जब तक कानूनी खर्चे बहुत ऊँचे रहेंगे, कानूनी प्रक्रिया बहुत उलझी हुई रहेगी और देश में भारी आर्थिक विषमताएँ रहेंगी, तब तक सबको कानून के संरक्षण का समान लाभ मिलने की संभावनाएँ धूमिल रहेंगी। भारत में हम ऐसी स्थिति से भली भाँति परिचित हैं। **यह एक विडंबना ही है कि यहाँ निरपराध गरीब आदमी न्यायालय में मुश्किल से ही अपनी सफाई पेश कर पाता है, परंतु तस्कर, काला-बाजारिए, जमाखोर, मुनाफाखोर, मिलावटसाज और अन्य समाज-विरोधी तत्व न्यायालय में अपनी सफाई के लिए सबसे चतुर और प्रतिभाशाली वकील खड़े कर देते हैं।**

गरीबों को कानूनी समानता का लाभ पहुँचने के लिए **मुफ्त कानूनी सहायता** (Free Legal Aid) सुलभ कराने की दिशा में कदम उठाए गए हैं। परंतु फिर भी यह आशा करना कठिन है कि न्यायालय में गरीब और अमीर के मामलों को एक-जितनी निपुणता से प्रस्तुत किया जा सकता है। ल्यूकस ने चेतावनी दी है: "यदि न्यायालय में एक पक्ष का मामला ढीले-ढाले ढंग से पेश किया जाता है और दूसरे का मामला पैसे के बल पर सबसे बढ़िया वकील की सेवाएँ प्राप्त करके बहुत ही प्रभावशाली ढंग से पेश किया जाता है, तो इससे न्याय के उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती।" ऐसी हालत में न्यायाधीश पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है। जैसा कि ल्यूकस ने आगे लिखा है: "हम न्यायाधीशों पर इस बात का अत्यधिक भरोसा करते हैं कि भिन्न-भिन्न पक्षों के वकीलों की योग्यताओं में चाहे जितना भी अंतर हो, फिर भी वे प्रस्तुत मामले असली गुण-दोष का पता लगा लेंगे। परंतु हम कानूनी सहायता के माध्यम से यह अवश्य निश्चित करते हैं कि न्यायालयों तक समान पहुँच कम-से-कम खोखली समानता तो न रह जाए और कुछ न बोल पाने या गरीबी की वजह से कोई सुनवाई से ही वंचित न रह जाए।"

नोट

यह मामला यहीं खत्म नहीं हो जाता। स्वयं **न्यायाधीशों के अपने कोई-न-कोई सामाजिक विचार होते हैं।** अधिकांश प्रतिभाशाली और सफल वकील तथा न्यायाधीश समाज के उच्च वर्गों से आते हैं और यह संभव है कि उनमें से अधिकांश मन-ही-मन धनवान् वर्गों के हितों में आस्था रखते हों। ऐसी हालत में वे कानून और न्याय की व्याख्या इस ढंग से कर सकते हैं जिससे गरीब का सच्चा न्याय न मिल पाए। हर्ष का विषय है कि भारत की न्यायपालिका में अब सामाजिक न्याय (Social Justice) को उचित महत्त्व दिया जा रहा है जिससे कानूनी समानता को तात्त्विक समानता (Substantive Equality) का रूप देने की दिशा में प्रगति के संकेत मिलने लगे हैं।

सामाजिक न्याय (Social Justice)

सामाजिक नीतियों के निर्माण या विवादों के समाधान से जुड़ा वह दृष्टिकोण जिसमें विभिन्न पक्षों के परस्पर-विरोधी दावों (Conflicting Claims) का निर्णय करते समय निर्बल और निर्धन पक्ष को विशेष सहायता (Relief) और संरक्षण (Protection) प्रदान करने में तत्परता दिखाई जाती है।

राजनीतिक समानता (Political Equality)

राजनीतिक समानता का अर्थ है, **नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों** (Political Rights) **की समानता।** इसका अभिप्राय है—निर्णयन संस्थाओं (Decision-Making Bodies) में समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व का अधिकार, अर्थात् 'एक व्यक्ति, एक वोट' (One Man, One Vote) के नियम का पालन/इसमें यह विचार भी निहित है कि किसी व्यक्ति को जन्म, लिंग या धर्म के आधार पर राजनीतिक पद प्राप्त करने से नहीं रोका जाएगा। मतलब यह कि समाज में कोई ऐसा विशेषाधिकारयुक्त वर्ग (Privileged Class) नहीं होगा जिसे शासन का अनन्य अधिकार हो; शासक भी समाज में किसी समूह या व्यक्ति-विशेष की इच्छा या हितों को विशेष महत्त्व नहीं देंगे। **राजनीतिक समानता का सिद्धांत इस विश्वास पर टिका है कि मनुष्य स्वयं एक विवेकशील प्राणी है और वह राजनीतिक सूझ-बूझ रखता है, चाहे भिन्न-भिन्न मनुष्यों के बाहुबल, बुद्धिबल, शिक्षा या संपदा में कितना ही अंतर क्यों न हो।** इसके साथ यह मान्यता भी जुड़ी है कि जब सब मनुष्यों को समान, राजनीतिक अधिकार प्राप्त होंगे तब वे सर्व-हित (Common Good) को सर्वोत्तम अभिव्यक्ति प्रदान कर सकेंगे और नीति-निर्माताओं को सर्व-हित के अनुरूप सार्वजनिक नीति बनाने के लिए प्रेरित तथा विवश कर सकेंगे।

राजनीतिक समानता की माँग कानूनी समानता की माँग के साथ ही शुरू हुई। शुरू-शुरू में इन दोनों में कोई फर्क नहीं था। जैसा कि **डी.डी. रफील** ने 'प्रॉब्लम्स ऑफ़ पोलिटिकल फिलॉसफ़ी' (राजनीति-दर्शन की समस्याएँ) (1976) के अंतर्गत लिखा है: "फ्रांसीसी क्रांतिकारी समानता की माँग करते समय उस तर्कशून्य विशेषाधिकार की समाप्ति की माँग कर रहे थे जिसके अंतर्गत राजनीतिक अधिकार धनवान् और कुलीन वर्ग तक सीमित थे।" उदारवादी सिद्धांत की विकसित अवस्था में राजनीतिक समानता को जनसाधारण के लोकतंत्रीय अधिकारों के रूप में पहचाना जाने लगा, जैसे कि सार्वजनीन मताधिकार (Universal Franchise), बिना भय या पक्षपात के कोई भी राजनीतिक मत रखने और उसे व्यक्त करने की समान स्वतंत्रता और राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करने के लिए संघ बनाने का समान अधिकार।

राजनीतिक समानता का आरंभ एक प्रगतिशील विचार के रूप में हुआ। इसका परिणाम पश्चिमी जगत् में लोकतंत्र (Democracy) की स्थापना के रूप में सामने आया। परंतु आगे चलकर यह अनुभव किया गया कि यह विचार सर्वसाधारण की आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं था क्योंकि जैसे-जैसे पूँजीवाद (Capitalism) का विकास हुआ, वैसे-वैसे समाज में सामाजिक-आर्थिक विषमताएँ बढ़ती गईं। इन्हें दूर करने के लिए ही सामाजिक-आर्थिक समानता की माँग प्रस्तुत की गई। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक **अलेक्सी द ताकवील** (1805-59) ने 'डेमोक्रेसी इन अमेरिका' (अमरीकी लोकतंत्र) (1835) के अंतर्गत लिखा कि राजनीतिक समानता और आर्थिक विषमता में जो विसंगति पाई जाती है, उसे लोकतंत्रीय समाज अनिश्चित काल तक स्वीकार नहीं करेंगे। अत: उसने यह मत प्रकट किया कि लोकतंत्रीय विश्व-क्रांति का पहला दौर राजनीतिक परिवर्तन का दौर था, परंतु वह अनिवार्यत: उसके दूसरे दौर को जन्म देगा जो मुख्यत: सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का दौर होगा। उसने यह भविष्यवाणी की कि राजनीतिक संघर्ष के दौर के बाद जल्दी ही धनवान और

नोट

निर्धन वर्गों के बीच संघर्ष का दौर आएगा। उसने लिखा कि कामगार वर्ग राजनीतिक प्रश्नों से हटकर सामाजिक प्रश्नों की ओर ध्यान देने लगा है और ये लोग ऐसे मत और विचार बना रहे हैं जो समाज से आर्थिक विषमता को मिटाकर छोडेंगे। इस तरह ताकवील ने अपने चिंतन में समाजवादी सिद्धांत के विकास का पूर्वसंकेत दे दिया जिसका मुख्य सरोकार सामाजिक-आर्थिक समानता की समस्या से था।

सामाजिक-आर्थिक समानता (Socio-Economic Equality)

सामाजिक-आर्थिक समानता के विचार में समानता के सामाजिक और आर्थिक पक्ष एक-दूसरे के साथ गुँथे हुए हैं क्योंकि इन दोनों में निकट संबंध पाया जाता है। देखा जाए तो कानूनी समानता और राजनीतिक समानता अपने मूल रूप में **औपचारिक समानता** (Formal Equality) की सूचक रही हैं जिसे 'भेदभाव के अभाव' (Absence of Discrimination) के रूप में व्यक्त कर सकते हैं, परंतु सामाजिक और आर्थिक समानता **तात्त्विक समानता** (Substantive Equality) की माँग करती है जो सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा-शक्ति है। **कानूनी-राजनीतिक समानता का विचार आरंभिक उदारवाद का नारा था; सामाजिक-आर्थिक समानता का विचार समाजवाद के लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया।** सामाजिक-आर्थिक समानता की संकल्पना समानता के आरंभिक विचार का तर्कसंगत परिणाम थी। अत: यह एक प्रगतिशील विचार था जिसे आगे चलकर सकारात्मक उदारवादी सिद्धांत (Positive Liberal Theory) ने अपना लिया।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि **कानूनी-राजनीतिक समानता की माँग नए मध्यवर्ग–अर्थात् उद्योग-व्यापार के संचालक-वर्ग के अधिकारों पर बल देने के लिए प्रस्तुत की गई थी; सामाजिक-आर्थिक समानता की माँग कामगार वर्ग के अधिकारों पर बल देने के लिए उठाई गई।** कानूनी-राजनीतिक समानता ने पूँजीवाद की स्थापना में योग दिया: सामाजिक-आर्थिक समानता का ध्येय पूँजीवाद की त्रुटियों को दूर करने के लिए समाजवाद को बढ़ावा देना था। सामाजिक-आर्थिक समानता के समर्थकों ने यह तर्क दिया कि कानूनी-राजनीतिक समानता से केवल संपत्तिशाली वर्ग को लाभ हुआ है; सर्वसाधारण को अन्याय से मुक्ति दिलाने के लिए सामाजिक-आर्थिक समानता की स्थापना जरूरी है।

चित्र 13.1

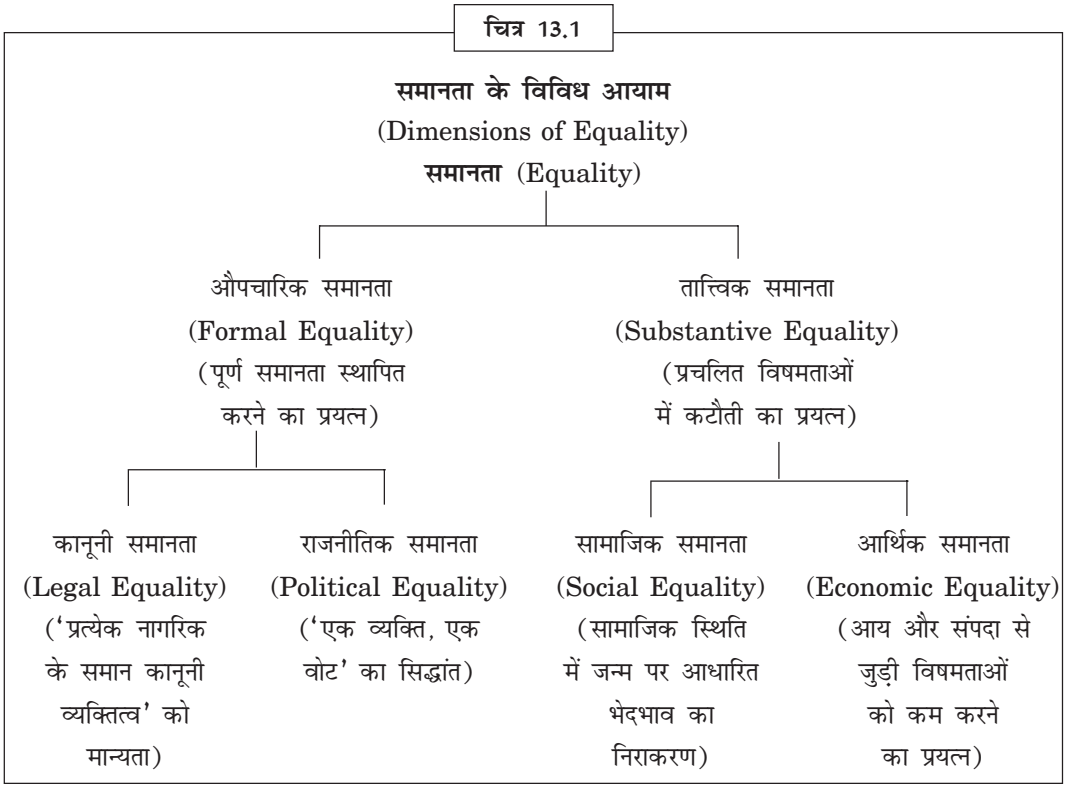

नोट

'कानूनी-राजनीतिक समानता' और 'सामाजिक-आर्थिक समानता' शब्दावली में 'समानता' का अर्थ भी एक-जैसा नहीं है। कानूनी समानता प्रत्येक व्यक्ति के 'समान कानूनी व्यक्तित्व' (Equal Legal Personality) को मान्यता देती है; राजनीतिक समानता भी 'एक व्यक्ति, एक वोट' (One Man, One Vote) के सिद्धांत के अनुसार सब व्यक्तियों की पूर्ण समानता स्वीकार करती है। परंतु सामाजिक-आर्थिक समानता 'सबके लिए समान हिस्से' (Equal Shares For All) की माँग नहीं करती। **सामाजिक-आर्थिक समानता केवल उन विषमताओं में कटौती** (Reduction of Inequalities) **की माँग करती है जो सामाजिक अन्याय** (Social Injustice) **को जन्म देती हैं।** उदाहरण के लिए, कानूनी-राजनीतिक समानता का यह अर्थ लगाया जाता है कि शिक्षा, रोज़गार, यात्रा, मनोरंजन इत्यादि के दरवाज़े बिना किसी भेदभाव के (Without Discrimination) सब लोगों के लिए खुले होंगे। परंतु इससे यह निश्चित नहीं होता कि इनका लाभ उठाने के अवसर समाज के सभी वर्गों के लिए सुलभ होंगे। **सामाजिक-आर्थिक समानता यह माँग करती है कि जीवन को सुखमय, सम्मानपूर्ण और उन्नत बनाने के साधन निर्धन और वंचित वर्गों को भी सुलभ कराए जाएँ;** उनकी विवशता उनके शोषण (Exploitation) का कारण न बन जाए।

सामाजिक-आर्थिक समानता के विचार ने ही आधुनिक राज्य को कल्याणकारी राज्य (Welfare State) **का रूप दे दिया है।** कल्याणकारी राज्य धनवान् वर्गों पर भारी कर लगाकर उनसे ऐसी सामाजिक सेवाओं (Social Services) की व्यवस्था करता है जिनका लाभ मुख्यत: निर्धन वर्गों को प्राप्त हो सके। राज्य की ओर से जनसाधारण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, विश्राम-स्थलों तथा सस्ते परिवहन, अनाज, ईंधन, इत्यादि की व्यवस्था सामाजिक-आर्थिक समानता की दिशा में कुछ प्रयत्न हैं। उद्योगों में काम की परिस्थितियों का विनिमयन, न्यूनतम मज़दूरी, कामगार मुआवज़ा (Workmen's Compensation), वृद्धावस्था पेंशनें इत्यादि सामाजिक-आर्थिक समानता को बढ़ावा देती हैं। संक्षेप में, **सामाजिक-आर्थिक समानता बाज़ार अर्थव्यवस्था से पैदा होने वाले असंतुलन को सुधारने का साधन है।**

13.2.1 स्वतंत्रता और समानता (Liberty and Equality)

जब हम स्वतंत्रता और समानता के परस्पर संबंध की चर्चा करते हैं तब यह देखना ज़रूरी है कि **हम स्वतंत्रता की कौन-सी व्याख्या को समानता की कौन-सी व्याख्या के साथ मिला रहे हैं?**

स्वतंत्रता और समानता एक-दूसरे के पूरक तत्त्वों के रूप में
(Liberty and Equality as Complementary Principles)

स्वतंत्रता का सिद्धांत 'मनुष्य की स्वतंत्रता' (Freedom of Man) में विश्वास करता है। दूसरे शब्दों में, **स्वतंत्रता तभी सार्थक है जब उसकी व्याख्या सब मनुष्यों की 'समान स्वतंत्रता'** (Equal Freedom) **के रूप में की जाए।** यदि एक मनुष्य की स्वतंत्रता (Freedom) दूसरे की परतंत्रता (Unfreedom) बन जाए तो ऐसी स्थिति स्वतंत्रता की भावना के विरुद्ध होगी। यदि बलशाली की स्वतंत्रता निर्बल की स्वतंत्रता को नष्ट कर दे; यदि चतुर-चालाक व्यक्ति की स्वतंत्रता सीधे-सरल व्यक्ति की स्वतंत्रता को अपने जाल में फँसा दे; यदि धनवान की स्वतंत्रता निर्धन की विवशता बन जाए तो स्वतंत्रता का सिद्धांत ही निरर्थक हो जाएगा। **यह विचार स्वतंत्रता पर तर्कसंगत प्रतिबंध** (Reasonable Restraints) **लगाने की माँग करता है** ताकि एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति की वैसी ही स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक न हो। मतलब यह कि मैं अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग किसी और की स्वतंत्रता को नष्ट करने के लिए नहीं करूँगा। देखना यह है कि सभ्य समाज में हमारे पारस्परिक संबंधों को विनियमित करने के लिए इस नियम को कहाँ तक लागू किया जा सकता है?

स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता के प्रति सम्मान की माँग करती है। **—जवाहरलाल नेहरू**

नोट

आदिवासियों के सामाजिक संगठन के अंतर्गत किसी व्यक्ति को यह अनुमति नहीं होती कि वह अपने बाहुबल या छलबल से अपने समुदाय के अन्य सदस्यों की क्षति पहुँचा सके। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है, वैसे-वैसे शक्तिशाली वर्ग को अपनी शक्ति बढ़ाने के नए-नए क्षेत्र दिखाई देने लगते हैं और शोषण के नए-नए और गूढ़ साधन उसके हाथ आ जाते हैं। इस तरह सभ्य समाज में एक वर्ग न केवल अपने बाहुबल से या बुद्धिबल से, बल्कि संपदा के बल पर भी दूसरे वर्ग का शोषण कर सकता है। फिर इने-गिने लोगों का बाहुबल या बुद्धिबल तो अनिवार्यत: सीमित होता है; उसे संचित करके बढ़ाया नहीं जा सकता। परंतु संपदा के बल की कोई सीमा नहीं होती क्योंकि उचित विनियमन (Regulation) के अभाव में एक छोटा-सा वर्ग सारे-के-सारे समाज की संपदा को एक ही जगह बटोरकर संचित कर सकता है। दूसरे, अपनी संपदा के बल पर वह वर्ग शेष समाज की सर्वोत्तम प्रतिभा और परिश्रम को खरीदकर अपने काम में लगा देता है और इस तरह अपनी शक्ति का अपरिमित विस्तार कर लेता है। फलत: एक ओर इने-गिने लोगों के लिए आलीशान महल बन जाते हैं और दूसरी ओर सर्वसाधारण को झुग्गी-झोंपड़ियों में सड़ना पड़ता है। सामाजिक-आर्थिक विषमता की खाई चौड़ी होती चली जाती है। उसी को पाटने के लिए समानता के पक्ष में आवाज़ उठाई जाती है।

अत: **सकारात्मक समानता की सबसे प्रमुख माँग यह है कि एक वर्ग को अपनी संपदा के बल पर दूसरों का शोषण करने से रोका जाए।** जो व्यवस्था घोर आर्थिक विषमताओं को इस बहाने कायम रखती है कि धनवान् वर्ग ने 'न्यायसंगत' तरीकों से असाधारण संपदा, पद-प्रतिष्ठा या शक्ति अर्जित की है, वह और चाहे कुछ भी हो, समानता की पोषक नहीं हो सकती। समानता की पहली शर्त यह है कि जो व्यवस्था एक वर्ग को दूसरे के हाथ की कठपुतली बना देती है, उसमें आमूल परिवर्तन होना चाहिए।

आर.एच.टॉनी (1880-1962), **एच. जे. लॉस्की** (1893-1950) और **सी.बी. मैक्फर्सन** (1911-87) समानता के सिद्धांत को स्वतंत्रता का पूरक मानते हैं।

समानता का विचार स्वतंत्रता के मार्ग की बाधा के रूप में
(Idea of Equality as Impediment to Liberty)

कई विचारकों ने उन परिस्थितियों की ओर संकेत किया है जहाँ समानता की व्यवस्था स्वतंत्रता के रास्ते की रुकावट बन जाती है। फ्रांसीसी विचारक **अलेक्सी द ताकवील** (1805-59) ने लिखा है कि आधुनिक युग की सबसे प्रमुख समस्या स्वतंत्रता और समानता में सामंजस्य स्थापित करने की है। **लोकतंत्र का विस्तार समानता को जितना बढ़ावा देता है, स्वतंत्रता के लिए उतना ही बड़ा खतरा पैदा कर देता है।** लोकतंत्र 'बहुमत का शासन' (Majority Rule) स्थापित करता है जो 'बहुमत की तानाशाही' (Tyranny of Majority) का रूप धारण कर लेता है। स्वतंत्रता व्यक्ति की वैयक्तिकता (Individuality) के सम्मान की माँग करती है, परंतु लोकतंत्र लोकमत (Public Opinion) की प्रामाणिकता स्वीकार करते हुए सबको एक ही सांचे में ढालने (Uniformity) की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति को लोकमत के आगे सिर झुकाने को विवश करती है और इस तरह शक्ति के जमाव (Concentration of Power) को बढ़ावा देती है। परिणाम यह होता है कि **लीक से हटकर चलने वालों की हँसी उड़ाई जाती है और प्रचलित मत से भिन्न मत रखने वालों को गलत समझा जाता है।** लोकतंत्र के लोकमत की शक्ति केवल राजनीतिक बल-प्रयोग की शक्ति नहीं रह जाती; वह अलोकप्रिय विचारों (Unpopular Views) का दमन करने वाली सामाजिक और नैतिक शक्ति का रूप धारण कर लेती है। लोकमत प्रकट रूप से कोई अत्याचार करता दिखाई नहीं देता, परंतु भीतर ही भीतर वह नए विचारों की चिंगारी को बुझा देता है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार, जहाँ स्वतंत्रता का सिद्धांत अभिरुचियों और मतों में विविधता (Variety) की माँग करता है, वहाँ लोकतंत्र में प्रचलित समानता का सिद्धांत मतों और दृष्टिकोणों की अनुरूपता (Conformity) को बढ़ावा

नोट

देता है। ताकवील के अनुसार, समानता की समस्या को तो लोकतंत्र ने करीब-करीब सुलझा दिया है, परंतु इस समस्या को सुलझाकर उसने स्वतंत्रता की समस्या को और भी उलझा दिया है। वस्तुत: **ताकवील ने** समानता के सिद्धांत का खंडन नहीं किया। उसने केवल **यह चेतावनी दी है कि विचारों की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में समानता की माँग को अनुरूपता** (Conformity) **की माँग का रूप नहीं दे देना चाहिए और इस माँग को इस हद तक बढ़ावा नहीं देना चाहिए कि वह स्वतंत्रता के दमन का साधन बन जाए।** इसी तर्क-प्रणाली से प्रेरित होकर अंग्रेज़ दार्शनिक **जॉन स्टुआर्ट मिल** (1806-73) ने यह तर्क दिया था कि **यदि एक व्यक्ति की राय** (Opinion) **बाकी समाज की राय से भिन्न हो तो समाज को यह अधिकार नहीं है कि वह उस अकेले व्यक्ति को चुप करा दे।**

परंतु कुछ विचारक **सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्रता के नाम पर समानता का विरोध** करते हैं। उदाहरण के लिए, समकालीन अंग्रेज़ दार्शनिक **आइज़िया बर्लिन** (1909-97) ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'टू कांसैप्ट्स ऑफ़ लिबर्टी' (स्वतंत्रता की दो संकल्पनाएँ) (1958) के अंतर्गत शुरू-शुरू में स्वतंत्रता और समानता को एक-दूसरे से स्वाधीन मूल्य (Independent Values) मानते हुए यह तर्क दिया कि भिन्न-भिन्न मूल्यों का विश्लेषण करते हुए उन्हें किसी एक में नहीं बदला जा सकता। परंतु आगे चलकर उसने **स्वतंत्रता को केंद्रीय मूल्य** (Central Value) **के रूप में स्थापित करते हुए समानता के दावे को बहुत पीछे धकेल दिया। बर्लिन के अनुसार, स्वतंत्रता का अर्थ केवल यह है कि किसी व्यक्ति को अपने ध्येय की पूर्ति के दौरान दूसरों की ओर से किसी बाधा का सामना न करना पड़े।** स्वतंत्रता के नकारात्मक (Negative) और सकारात्मक (Positive) रूपों में अंतर करते हुए बर्लिन ने तर्क दिया कि **राज्य केवल नकारात्मक स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है; सकारात्मक स्वतंत्रता व्यक्ति का निजी मामला है जिससे राज्य को कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए।** बर्लिन ने तर्क दिया कि यदि कोई व्यक्ति गरुड़ पक्षी की तरह पंख फैलाकर आकाश में उड़ नहीं सकता या ह्वेल मछली की तरह समुद्र में तैर नहीं सकता तो यह उसकी अपनी कमी है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति उत्तम भोजन, विश्व भ्रमण या न्यायालय की शरण में जाने का खर्च नहीं उठा सकता, परंतु इन सुविधाओं पर कोई कानूनी प्रतिबंध नहीं लगा है तो वह राज्य से यह शिकायत नहीं कर सकता कि उसे स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। इस तरह **बर्लिन ने वर्तमान सामाजिक-आर्थिक विषमताओं** (Socio-Economic Inequalities) **के निराकरण को राज्य के विचारक्षेत्र से बाहर रखते हुए समानता के दावे को अस्वीकार कर दिया।** बर्लिन का तर्क कितना असंगत है—इस ओर संकेत करते हुए बी.सी. पारेख ने 'कंटेंपरेरी पोलिटिकल थिंकर्स' (समकालीन राजनीति-विचारक) (1982) के अंतर्गत लिखा है: "यदि कोई व्यक्ति यह सोचता हो कि उसके जीवन में साधनों का अभाव सामाजिक प्रबंध का परिणाम है, अत: यह उसकी स्वतंत्रता में अन्य लोगों के हस्तक्षेप के तुल्य है, तो इस पर बर्लिन क्या कहेगा?" देखा जाए तो **बर्लिन ने सामाजिक-आर्थिक विषमताओं को प्राकृतिक और नैतिक विषमताओं** (Natural and Moral Inequalities) **के समकक्ष रखकर समानता के सिद्धांत का भ्रामक चित्र प्रस्तुत किया है और स्वतंत्रता के सिद्धांत को समानता के सिद्धांत से काटकर उसने स्वयं स्वतंत्रता के सिद्धांत को भारी क्षति पहुँचाई है।**

फिर, समकालीन आस्ट्रियाई विचारक **एफ.ए. हेयक** (1899.1992) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कांस्टीट्यूशन ऑफ़ लिबर्टी' (स्वतंत्रता का संविधान) (1960) के अंतर्गत **स्वतंत्रता और समानता को परस्पर विरोधी सिद्धांत मानते हुए** यह तर्क दिया है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न योग्यताएँ और निपुणताएँ पाई जाती हैं। 'कानून के समक्ष समानता' (Equality before the Law) का नियम लागू करने पर आय और संपदा की विषमता (Inequality of Income and Wealth) इस स्थिति का स्वाभाविक परिणाम होगी। इस विषमता को रोकने का एक उपाय यह होगा कि सत्तावादी शासन (Authoritarian Rule) स्थापित करके व्यक्तिगत प्रतिभाओं और

नोट

आकांक्षाओं का दमन कर दिया जाए। इस तरह **बलपूर्वक समानता स्थापित करने का प्रस्ताव स्वतंत्र समाज में स्वीकार नहीं किया जा सकता।** वस्तुत: हेयक ने समानता की तुलना में स्वतंत्रता को इतनी प्रधानता दी है कि **वह सब व्यक्तियों के लिए समान स्वतंत्रता** (Equal Freedom) **के दावे को भी स्वीकार नहीं करता।** उसके विचार से 'वैयक्तिक स्वतंत्रता' सामाजिक प्रगति (Social Progress) की जरूरी शर्त है। हो सकता है, इने-गिने लोग ही कोई बड़ा काम करना चाहते हों जो समाज की उन्नति में सहायक होगा। उन्हें ऐसी स्वतंत्रता से इस आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता कि इसका लाभ बहुत कम लोग उठा पाएँगे। **हेयक के अनुसार, किसी को भी स्वतंत्रता न देने से अच्छा यह है कि कुछ लोगों को ही स्वतंत्रता दे दी जाए; और सब लोगों को थोड़ी-थोड़ी स्वतंत्रता देने से अच्छा यह है कि कुछ लोगों को पूरी स्वतंत्रता दे दी जाए, चाहे बाकी लोगों के हिस्से में कुछ भी न आए।** स्वतंत्रता की मीठी रोटी (Cake of Freedom) को बांटते समय सब को बराबर हिस्सा देना जरूरी नहीं, बल्कि हरेक का हिस्सा तय करते समय यह देखना चाहिए कि वह सामाजिक प्रगति में कितना योगदान कर सकता है।

हेयक बाज़ार-प्रणाली के अंतर्गत व्यक्ति की स्वतंत्रता की समस्या हल करना चाहता है, और यह सुझाव देता है कि राज्य को बाज़ार-तंत्र के बाहर कुछ सार्वजनिक सेवाओं की व्यवस्था करनी चाहिए। परंतु **बाज़ार-तंत्र में कोई छेड़छाड़ किए बिना राज्य सामाजिक सेवाएँ कहाँ से जुटा सकता है**—इस बारे में हेयक ने कोई स्पष्ट योजना प्रस्तुत नहीं की है। अत: वैयक्तिक स्वतंत्रता (Individual Freedom) का इतना प्रबल समर्थक होते हुए भी हेयक इसके लिए कोई ठोस आधार-भूमि तैयार नहीं कर पाया है। **हेयक ने स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय को एक-दूसरे से काटकर स्वतंत्रता की जड़ों को कमज़ोर कर दिया है।**

टास्क स्वतंत्रता और समानता के संबंधों की चर्चा कीजिए।

13.2.2 समानता और न्याय (Equality and Justice)

जब हम समानता और न्याय के परस्पर संबंध की चर्चा करते हैं तब यह देखना ज़रूरी है कि **हम समानता की कौन-सी व्याख्या को न्याय की कौन-सी व्याख्या के साथ मिला रहे हैं? अरस्तू ने कहा था**—न्याय का अर्थ यह है कि समान लोगों के साथ समान बर्ताव किया जाए और असमान लोगों के साथ असमान बर्ताव किया जाए (Treating equals equally and unequals unequally)। अत: न्याय करने से पहले यह पता लगाना जरूरी है कि कौन-से लोग समान हैं और कौन-से असमान हैं? **अरस्तु ने चेतावनी दी थी कि जो लोग एक तरह से समान हैं, कभी-कभी वे यह समझने लगते हैं कि उन्हें हर तरह से समान होना चाहिए।** उदाहरण के लिए, जो लोग नागरिकों (Citizens) के रूप में दूसरों के समान या समकक्ष हैं, वे यह सोचने लगते हैं कि इन्हें उन्हीं के समान शक्ति, धन-संपदा और मान-मर्यादा भी प्राप्त होनी चाहिए। पर चूँकि उन्हें ये सब विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते, इसलिए **उनके मन में अन्याय** (Injustice) **की अनुभूति पैदा होती है।** इससे समाज में वैमनस्य की भावना पनपने लगती है जो आगे चलकर विद्रोह (Rebellion) का रूप धारण कर लेती है। समाज में शांति कायम रखने के लिए ऐसी भावना पैदा नहीं होने देनी चाहिए। अत: राज्य में समानता के विचार को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

आज के युग में जो लोग शक्ति, धन-संपदा और मान-मर्यादा की प्रचलित विषमताओं (Inequalities) को कायम रखना चाहते हैं, वे भी न्याय के नाम पर अरस्तु के तर्क को दोहराते हैं। वे बार-बार चेतावनी देते हैं कि लोगों को न्याय पर वर्तमान व्यवस्था में आमूल-परिवर्तन की माँग नहीं करनी चाहिए। उदाहरण के लिए, समकालीन आस्ट्रियाई

नोट

विचारक **एफ. ए. हेयक** (1899-1992) ने अपनी नवीनतम कृति 'लॉ लेजिस्लेशन एंड लिबर्टी: द मिराज ऑफ सोशल जस्टिस' (कानून विधि-निर्माण और स्वतंत्रता: सामाजिक न्याय की मृगतृष्णा) (खंड दो) (1976) के अंतर्गत **यह तर्क दिया है कि 'सामाजिक न्याय' का विचार ही निरर्थक है।** न्याय वस्तुत: मनुष्य के आचरण (Human Conduct) की विशेषता है; कोई समाज न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता। यदि समानता के हित में स्वतंत्रता में कटौती की जाती है तो जीवन-सामग्री (Life's Goods) के अन्यायपूर्ण वितरण के प्रश्न पर तनाव, कलह और विवाद अवश्य पैदा होंगे। **न्याय की तलाश केवल प्रक्रिया** (Procedure) **का विषय है जिसका ध्येय स्वतंत्रता को बढ़ावा देना है।** इसके अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने ज्ञान और अपने-अपने हित की समझ के अनुसार अपने-अपने स्वार्थ साधन का अधिकतम अवसर मिलना चाहिए।

स्वेच्छातंत्रवाद (Libertarianism)

राजनीति का एक समकालीन सिद्धांत जो व्यक्ति की स्वतंत्रता (Liberty) को सार्वजनिक नीति का प्रामाणिक आधार मानता है। यह सिद्धांत कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का खंडन करते हुए मुक्त बाज़ार अर्थव्यवस्था (Free Market Economy) को स्वतंत्रता का मूल मंत्र मानता है और व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार में राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप (Minimum Intervention) का समर्थन करता है।

हेयक-जैसे विचारक स्वतंत्रता के नाम पर **स्वेच्छातंत्रवाद** (Libertarianism) का समर्थन करते हैं। स्वेच्छातंत्रवाद **ऐसी व्यवस्था की माँग करता है जिसमें समाज के समर्थ और साधनसंपन्न सदस्यों को अपनी उन्नति के मार्ग में किसी रुकावट का सामना न करना पड़े।** उन्हें दूसरों की निर्धनता और दुर्भाग्य से कोई सरोकार रखने की जरूरत नहीं होनी चाहिए, यहाँ तक कि **समाज के निर्बल और निर्धन वर्गों के कल्याण के लिए समर्थ और संपन्न वर्गों पर कोई बोझ नहीं डालना चाहिए। स्वेच्छातंत्रवाद प्रक्रियात्मक न्याय** (Procedural Justice) **का समर्थन करता है।** इसमें केवल औपचारिक समानता (Formal Equality) की माँग की जाती है ताकि जो लोग समर्थ और साधनसंपन्न हैं, उन्हें अपने लाभ के लिए दूसरों के साथ अनुबंध (Contract) या लेन-देन करने में किसी बाधा का सामना न करना पड़े। **प्रक्रियात्मक न्याय सारे सामाजिक संबंधों को बाज़ार-संबंधों** (Market Relations) **में बदल देने की हिमायत करता है।** वह समानता का यह अर्थ लगाता है कि सारे कायदे-कानून समाज के सब सदस्यों पर समान रूप से लागू होने चाहिए। इसके अनुसार **राज्य का कार्य केवल यह देखना है कि कोई व्यक्ति या वर्ग छल से या बल से दूसरे व्यक्ति या वर्ग के हितों का हनन न कर पाए।** इसके अंतर्गत मनुष्यों के परस्पर व्यवहार की तुलना दौड़-प्रतियोगिता से की जाती है। दौड़ में कौन आगे रहेगा, कौन पीछे रह जाएगा—इस बारे में कोई चिंता करने की जरूरत नहीं है। दौड़-प्रतियोगिता के निरीक्षक का काम केवल यह देखना है कि कोई प्रतियोगी दूसरे को धोखा न दे; कोई दौड़ के नियमों का उल्लंघन न करे; या कोई उत्तेजक दवा लेकर जबर्दस्ती दूसरों से आगे निकलने की कोशिश न करे।

समतावाद (Egalitarianism)

राजनीति का एक समकालीन सिद्धांत जो समानता (Equality) को सार्वजनिक नीति का प्रामाणिक आधार मानता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यों को समान अवसर, अधिकार या लाभ प्रदान करते समय इस कार्रवाई को उचित ठहराने के लिए कोई तार्किक आधार (Rational Ground) ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है; केवल (Inequality) या भेदभाव (Discrimination) को उचित ठहराने के लिए उपयुक्त तार्किक आधार ढूँढ़ना जरूरी होगा।

जो लोग समाज में शक्ति, धन-संपदा और मान-मर्यादा की प्रचलित विषमताओं को कायम नहीं रखना चाहते, उनके दृष्टिकोण को **समतावाद** (Egalitarianism) की संज्ञा दी जाती है। **समतावाद के समर्थक यह मानते हैं कि**

नोट

समता या समानता सदैव न्यायसंगत होती है; केवल विषमता को न्यायसंगत ठहराने की जरूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए, **जॉन राल्स** (1921–2002) **के न्याय-सिद्धांत के अंतर्गत स्वतंत्रता और समानता को न्याय के बुनियादी सिद्धांत मानते हुए विषमता को न्यायसंगत आधार ढूंढ़ने की माँग की गई है।** अत: **स्वेच्छातंत्रवाद के विपरीत समतावाद ऐसी व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें समर्थ और संपन्न वर्गों के साथ-साथ निर्बल, निर्धन और वंचित वर्गों को भी अपने विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ और पर्याप्त अवसर प्राप्त हों।** उसका तर्क है कि जिस समाज में भाग्यहीन और वंचित वर्ग दु:खमय, अस्वस्थ और अमानवीय जीवन जीने को विवश हों, उसमें भाग्यशाली लोगों को व्यक्तिगत उन्नति और सुख समृद्धि प्राप्त करने के असीम अवसर नहीं दिए जा सकते, भले ही वे उन भाग्यहीन लोगों की दुर्दशा के लिए प्रत्यक्ष रूप से स्वयं उत्तरदायी न हों। **समतावाद समाज के सब सदस्यों को एक ही शृंखला की कड़ियाँ मानता है जिसमें मजबूत कड़ियाँ कमज़ोर कड़ियों की हालत से अछूती और अप्रभावित नहीं रह सकतीं।** समतावाद के समर्थक उन विचारकों की कड़ी आलोचना करते हैं जो 'स्वतंत्रता' और 'प्रक्रियात्मक न्याय' के नाम पर समाज के कमजोर और जरूरतमंद लोगों की जरूरतों पर कोई ध्यान नहीं देते।

प्रक्रियात्मक न्याय के विपरीत, **समतावाद तात्त्विक न्याय** (Substantive Justice) **या सामाजिक न्याय का समर्थन करता है।** इसके अनुसार, आर्थिक जीवन में खुली प्रतिस्पर्धा (Open Competition) ऐसी परिस्थितियों को जन्म देती है जिनमें निर्धन वर्ग उन शर्तों पर काम करने को विवश हो जाता है जिन्हें धनवान वर्ग ने निर्धारित किया हो। सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में भी निर्धन वर्ग इतनी शक्ति प्राप्त नहीं कर पाता, जिसके बल पर वह अपने शोषण (Exploition) को रोक सके और अन्य वर्गों के साथ मिल-जुलकर राष्ट्र की सांस्कृतिक धरोहर (Cultural Heritage) का प्रयोग कर सके। अत: **न्याय का ध्येय कानूनी, राजनीतिक तथा सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में अनुचित विषमताओं को दूर करना है।** इसका अर्थ यह है कि जो लोग इन विषमताओं या विवशताओं के कारण स्वतंत्रता या आत्म-विकास के अवसरों से वंचित हो रहे हों, उनके हितों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जाए।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि समाज में न्याय के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा और सम्मान की भावना पाई जाती है। परंतु समानता का सिद्धांत उतना निर्विवाद नहीं है। अत: **एल.टी. हॉबहाउस** ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द एलीमेंट्स ऑफ़ सोशल जस्टिस' (सामाजिक न्याय के मूलतत्व) (1922) के अंतर्गत लिखा है: "न्याय का नाम आते ही हर कोई नतमस्तक हो जाता है। परंतु समानता की बात उठाने पर बहुत सारे लोग डर जाते हैं और नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं।" इस कथन से यह संकेत भी मिलता है कि चाहे कोई 'यथास्थिति' (Status Quo) का समर्थक हो या 'परिवर्तन' (Change) का–वह अपने लक्ष्य को न्याय के अनुरूप सिद्ध करने को तैयार रहता है। परंतु समानता के विचार में ऐसे परिवर्तन की मांग छिपी रहती है जो कई लोगों की आशाओं के विपरीत प्रतीत होती है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. कानूनी समानता किसकी आधारशिला है?
   (अ) आर्थिक न्याय (ब) कानूनी न्याय
   (स) सामाजिक न्याय (द) इनमें से कोई नहीं
5. न्याय का अर्थ बताते हुए यह किसने कहा था कि समान लोगों के साथ समान बर्ताव किया जाए और असमान लोगों के साथ असमान बर्ताव किया जाए?
   (अ) सुकरात (ब) जॉन रॉल्स
   (स) अरस्तु (द) हॉब्स

6. 'स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता के प्रति सम्मान की माँग करती है'–कथन किसका है? **नोट**

(अ) महात्मा गांधी (ब) जवाहरलाल नेहरू

(स) इन्दिरा गांधी (द) ज्योति बसु

13.3 स्वतंत्रता (Liberty)

जब हम राजनीति के एक सिद्धांत (Political Principle) के रूप में स्वतंत्रता (Liberty or Freedom) की समस्या पर विचार करते हैं तो मुख्यत: इसके दो अर्थ हमारे ध्यान में आते हैं:

1. पहले अर्थ में **स्वतंत्रता मानवीय अस्तित्व का एक गुण** (A Property of the Human Being) है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ प्रकृति के अन्य तत्व–वस्तुएं या जीव-जन्तु प्रकृति के निर्विकार नियमों (Immutable Laws) से नियमित होते हैं, वहाँ केवल मुनष्य ऐसा तत्व है तो प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना सकता है। अत: वह अपने जीवन को मनचाहा रूप दे सकता है। देखा जाए तो मनुष्य की संपूर्ण सभ्यता और संस्कृति (Civilization and Culture) उसके इसी गुण की देन हैं। इस अर्थ में स्वतंत्रता मानव मात्र का सामान्य गुण है, परंतु व्यवहार के धरातल पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों (Individuals) की स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती है;

2. दूसरे अर्थ में, **स्वतंत्रता मनुष्य की एक दशा** (A Condition of the Human Being) है जिसमें मनुष्य स्वयं-निर्धारित लक्ष्यों (Self-Appointed Goals) की पूर्ति में समर्थ होता है और उस पर बाहर से ऐसे कोई बंधन नहीं लगे होते जो उसे अपने जीवन का मनचाहा रूप देने से रोकते हों। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि स्वतंत्रता की 'दशा' का विचार तभी हमारे सामने आता है जब हम मनुष्य में स्वतंत्रता के 'गुण' या क्षमता (Capacity) को स्वीकार करके चलते हैं। राजनीति-सिद्धांत का मुख्य सरोकार 'स्वतंत्रता की दशा' से है। जहाँ स्वतंत्रता के गुण' का संकेत देने के लिए अंग्रेज़ी में केवल 'फ्रीडम' (Freedom) और 'लिबर्टी' (Liberty) दोनों शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

साधारणत: स्वतंत्रता की माँग इस आधार पर की जाती है कि 'मनुष्य विवेकशील प्राणी है।' ('Man is rational creature')। इस विचार की व्याख्या करते हुए **जे.आर. ल्यूकस ने** 'द प्रिंसिपल्स ऑफ़ पॉलिटिक्स' (राजनीति के सिद्धांत) (1976) के अंतर्गत लिखा है: **''स्वतंत्रता का तात्विक अर्थ यह है कि विवेकशील कर्ता** (Rational Agent) **को जो कुछ सर्वोत्तम** प्रतीत हो, वही कुछ करने में वह समर्थ हो और उसके कार्य-कलाप बाहर के किसी प्रतिबंध से न बँधे हों।'' यदि विवेकशील प्राणी को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होगी तो वह अपनी क्षमताओं को सदुपयोग नहीं कर पाएगा। स्वतंत्र न होने का अर्थ है-कुंठित, अशक्त और निष्फल होना। स्वतंत्र होने का अर्थ है–भविष्य को मनचाहा रूप देना, अपने आदर्शों को यथार्थ में उतारने की सामर्थ्य और अपने व्यक्तिगत की क्षमताओं को मूर्त्त रूप दे पाना। औपचारिक दृष्टि से, स्वतंत्रता की संकल्पना 'प्रतिबंध के अभाव' (Absence of Restraint) का संकेत देती है। ध्यान देन की बात यह है कि ऐसी स्वतंत्रता की माँग विवेकशील कर्ता के लिए की जाती है। **जो सिद्धांत सभी मनुष्यों को समान रूप से विवेकशील प्राणी मानते हैं, वे सबको एक-सी स्वतंत्रता देने की माँग करते हैं।** परंतु जो सिद्धांत यह मानकर चलते हैं कि तर्कबुद्धि या विवेक (Reason) की क्षमता इने-गिने लोगों में ही पाई जाती है, वे स्वतंत्रता की माँग करके भी जनसाधारण के लिए पराधीनता की परिस्थितियाँ पैदा कर देते हैं। सच्ची स्वतंत्रता वही है जो सब मनुष्यों को समान रूप से प्राप्त हो।

अर्नेस्ट बार्कर ने 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ सोशल एंड पॉलिटिकल थ्योरी' (सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत-तत्व) (1951) के अंतर्गत स्वतंत्रता के नैतिक आधार पर विशेष बल दिया है। उसने अपनी चर्चा का आरंभ जर्मन दार्शनिक

नोट

इमैनुएल कांट (1724–1804) की इस स्वयंसिद्धि से किया है कि 'विवेकशील प्रकृति अपने-आप में साध्य है' ('Rational nature exists as an end-in-itself')। चूँकि मनुष्य इसी विवेकशील प्रकृति की श्रेणी में आता है, इसलिए मानव मात्र को सदैव एक साध्य मानकर चलना चाहिए, केवल साधन मानकर कभी नहीं चलना चाहिए। इस तरह राज्य के प्रत्येक सदस्य को स्वतंत्र कर्त्ता (Free Agent) के रूप में मान्यता देनी चाहिए; उनमें किसी को दास (Slave) बनाकर रखना अनुचित होगा। अरस्तु ने दास-प्रथा का समर्थन इस आधार पर किया था कि कुछ मनुष्य 'विवेकशील प्रकृति' की श्रेणी में नहीं आते; वे केवल जीते-जागते उपकरण (Living Tools) होते हैं, इसलिए वे स्वतंत्रता के अधिकार नहीं। यूरोपीय चिंतन में शताब्दियों तक यह मान्यता प्रचलित रही। परन्तु आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य-मनुष्य में ऐसा कोई तात्त्विक या गुणात्मक अंतर नहीं होता कि एक को 'विवेकशील', और दूसरे को 'विवेकशून्य' माना जाए। उनकी विभिन्न क्षमताओं में इतना अंतर नहीं पाया जाता जिसके आधार पर उन्हें 'स्वामी' और 'दास' ('Master' and 'Slave') जैसी पृथक्-पृथक् श्रेणियों में रखा जा सके।

स्वतंत्रता या स्वाधीनता (Independence) का विपरीत रूप है–दासता (Slavery) या पराधीनता (Bondage)। दास जो कुछ स्वयं चाहता है, वैसा नहीं कर सकता, बल्कि जो कुछ उसका स्वामी चाहता है, उसे वही करना पड़ता है। स्वतंत्र मनुष्य वह है जो किसी का दास न हो, अर्थात् जो अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी करने में समर्थ हो। वैसे स्वतंत्रता का यह अर्थ कई सीमाओं से बँधा है, क्योंकि औपचारिक प्रतिबंध न होते हुए भी यथार्थ परिस्थितियाँ मनुष्य को बहुत कुछ करने से रोकती हैं। उदाहरण के लिए, मनुष्य पीड़ाग्रस्त होने पर मनचाहा कार्य नहीं कर सकता। **मनुष्य केवल विवेकशील नहीं, संवेदनशील** (Sensitive) **प्राणी भी है।** वह भूख-प्यास या दु:ख-दर्द के कारण विवश हो सकता है। अत: **स्वतंत्रता का सबसे विस्तृत अर्थ यह होगा कि मनुष्य अपने भीतर या बाहर से किसी भी तरह की विवशता से ग्रस्त न हो ताकि वह जो कुछ सर्वोत्तम समझता है, उसे करने में कोई भी बाधा अनुभव न करे।** इसका मतलब होगा–भूख-प्यास, रोग-पीड़ा, भय-अभाव–सबसे मुक्ति। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी आदर्श स्थिति प्राप्त करना बहुत कठिन है। परंतु हम किसी राज्य को इस कसौटी पर परख सकते हैं कि वह अपने नागरिकों को ऐसी स्वतंत्रता प्रदान करने में कितना सक्षम या तत्पर है?

स्वतंत्रता की चर्चा करते समय हम यह मानकर चलते हैं कि **स्वतंत्रता की कामना विवेकशील मनुष्य का स्वभाव है। परंतु किसी विशेष परिस्थिति में मनुष्य का विवेक कुंठित हो सकता है और वह स्वतंत्रता से विमुख हो सकता है।** उदाहरण के लिए, कोई दास अपनी दासता में ही संतुष्ट (Contented) हो सकता है। कुछ लोक अंधविश्वास, रीति-रिवाज या सामाजिक चलन के गुलाम बनकर स्वतंत्र निर्णय का रास्ता भूल जाते हैं। कुछ लोग उपभोक्ता संस्कृति (Consumer Culture) के रस में डूबकर प्रकृति के रमणीय आंचल से दूर चले जाते हैं और उच्च कोटि के साहित्य, संगीत और कला के आस्वाद को भूल जाते हैं जो मनुष्य को तुच्छ कोटि की इच्छाओं से ऊपर उठने में सहायता देता है। स्वतंत्रता का सिद्धांत यह माँग करता है कि **जो मनुष्य पराधीन होते हुए भी पराधीनता से मुक्ति की माँग नहीं करता, उसे स्वाधीनता का रास्ता दिखाकर उसके सोए हुए विवेक को जगाना चाहिए।**

उपभोक्ता संस्कृति (Consumer Culture)

किसी समाज में ऐसे मूल्यों और मान्यताओं की प्रधानता जिनमें वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग (Consumption) को जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य और सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Prestige) का प्रतीक माना जाता है। इसमें उदात्त जीवन मूल्यों–जैसे कि आत्मसंयम, जनसेवा या कलात्मक अभिरुचियों को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता।

13.3.1 स्वतंत्रता और स्वच्छंदता (Liberty and Licence)

नोट

समाज में स्वतंत्रता के सार्थक प्रयोग के लिए यह जरूरी है कि एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे की स्वतंत्रता में बाधक न बने। यदि सब मनुष्य पूर्ण विवेक से संपन्न (Perfectly Rational) होते तो यह मान सकते हैं कि वे केवल वही मार्ग अपनाते जो सबके लिए सर्वोत्तम होता। अत: वे अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग करते समय दूसरों की स्वतंत्रता में तनिक भी बाधा न डालते। परंतु ऐसी स्थिति तो केवल कल्पना की ही वस्तु है। यथार्थ के धरातल पर मनुष्य अपने-अपने विवेक से काम लेकर भी भिन्न-भिन्न ढंग से सोचते हैं। फिर, जो लोग विवेक को एकदम परे रख देते हैं, उनकी तो बात ही दूसरी है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य विवेक की क्षमता से तो संपन्न है, परंतु जब तक वह अपूर्ण है, तब तक एक मनुष्य की निरंकुश स्वतंत्रता (Unrestrained Freedom) दूसरों की स्वतंत्रता में बाधक सिद्ध हो सकती है। इस तरह की स्वतंत्रता स्वच्छंदता का रूप धारण कर लेती है। ऐसी हालत में **एक मनुष्य की स्वतंत्रता दूसरे मनुष्य की विवशता बन सकती है। बड़ी मछली छोटी मछली को अपना आहार बनाने की स्वतंत्रता चाहे तो छोटी मछली को प्राणों से हाथ धोने पड़ेंगें।**

चूँकि स्वतंत्रता का प्रयोग समाज में ही किया जाता है, इसलिए वह तभी ग्राह्य होगी जब वह सबको समान रूप से उपलब्ध हो। यदि तानाशाह की 'स्वतंत्रता' प्रजा पर अत्याचार करने में निहित हो तो वह स्वतंत्रता के सिद्धांत के विरुद्ध होगी। यदि चोर की 'स्वतंत्रता' दूसरे का माल चुरा लेने की माँग करे तो इसे स्वतंत्रता कहना एक मज़ाक होगा। यदि चोर की 'स्वतंत्रता' दूसरे का माल चुरा लेने की माँग करे तो इसे स्वतंत्रता कहना एक मज़ाक़ होगा। यदि सड़क पर गाड़ी चलाने वाले की 'स्वतंत्रता' मनमानी दिशा में, मनमानी रफ़्तार से गाड़ी चलाने या मोड़ देने में निहित हो तो अन्य यात्रियों की स्वतंत्रता ही नहीं छिन जाएगी, उनके जान-माल को भी खतरा पैदा हो जाएगा। **एल.टी. हॉबहाउस** (द एलीमेंट्स ऑफ़ सोशल जस्टिस) (सामाजिक न्याय के मूलतत्व) (1922) के शब्दों में, "एक व्यक्ति की निरंकुश स्वतंत्रता का अर्थ यह होगा कि बाकी सब घोर पराधीनता की बेड़ियों से जकड़े जाएंगे। अत: दूसरी ओर से देखा जाए तो सबको स्वतंत्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब सब पर कुछ-न-कुछ प्रतिबंध लगा दिए जाएँ।" यही कारण है कि स्वतंत्रता नियम और व्यवस्था की माँग करती है और उसके साथ पहली शर्त यह जुड़ी रहती है कि दूसरों को भी वैसी ही और उतनी स्वतंत्रता का अधिकार है; भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की स्वतंत्रता एक-दूसरे के लिए बाधक नहीं बननी चाहिए। इस तरह स्वतंत्रता पर समानता का अंकुश रहता है। परन्तु केवल समानता का नियम अपना लेना पर्याप्त नहीं होगा। एक-दूसरे को ठोकर मारकर गिरा देने का 'समान अधिकार' (Equal Right) स्वतंत्रता की परिभाषा में नहीं आएगा; स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रयोग कल्याण के पथ पर चलने के संदर्भ में करना चाहिए, विनाश के पथ पर चलने के संदर्भ में नहीं।

स्वतंत्रता और सत्ता (Liberty and Authority)

व्यक्ति (Individual) और राज्य (State) के परस्पर संबंध पर विचार करते समय स्वतंत्रता और सत्ता के बीच का द्वंद्व (Conflict) उभरकर सामने आ जाता है। दूसरे शब्दों में, जब व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य की सत्ता में टकराव पैदा होता है, तब इन दोनों में संतुलन स्थापित करना जरूरी हो जाता है। शुरू-शुरू में हमें व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए राज्य की सत्ता आवश्यक प्रतीत होती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का सिद्धांत सब व्यक्तियों की समान स्वतंत्रता (Equal Freedom) की माँग करता है। इसके लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग करते समय दूसरों की वैसी और उतनी ही स्वतंत्रता में बाधक न बने। अत: उसे नियमित करने के लिए राज्य की सत्ता का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। परंतु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य को असीम सत्ता नहीं दी जा सकती। स्वयं राज्य की सत्ता ही कहीं व्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट न कर दे—यह निश्चित करने के लिए राज्य की सत्ता का अंकुश रखना जरूरी हो जाता है।

नोट

स्वतंत्रता और सत्ता के इस टकराव के प्रश्न पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखा है। **टॉमस हॉब्स** (1588-1679) जैसे विचारक यह मानते हैं कि राज्य की सत्ता के सारे लाभ तभी उठाए जा सकते हैं जब व्यक्ति की स्वतंत्रता को अत्यंत सीमित कर दिया जाए। हॉब्स का मुख्य सरोकार कानून और व्यवस्थापक राज्य (Law and Order State) से है; उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता को गौण माना है। यही कारण है कि हॉब्स को पूर्णसत्तावाद (Absolutism) का प्रवर्त्तक माना जाता है, इसके विपरीत, **जॉन लॉक** (1632-1704) और **जे.एस. मिल** (1806-73) जैसे दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता को सार्थक बनाने के लिए राज्य की सत्ता को यथासंभव सीमित करना जरूरी है।

इसमें संदेह नहीं कि कानून की दृष्टि से राज्य को असीम शक्तियाँ प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश संसद को कानून की दृष्टि से सर्वशक्तिमान् माना जाता है। परन्तु जगत में कोई भी राज्य असीम शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकता। कोई भी संवेदनशील विधानमंडल–जो अपनी सत्ता को कायम रखना चाहता है–कानूनी संभावनाओं की ओर उतना ध्यान नहीं देगा जितना राजनीतिक संभावनाओं की ओर देगा। वह यह नहीं देखेगा कि वह कानूनी तौर पर क्या-क्या कर सकता है, बल्कि यह देखेगा कि वह व्यवहार के स्तर पर क्या कर सकता है? कानून के निर्माण और प्रवर्तन (Enforcement) के लिए राज्य को बल-प्रयोग (Coercion) की पूर्ण शक्ति प्राप्त है। बल-प्रयोग एक भौतिक अस्त्र (Physical Weapon) है, परन्तु राज्य के नागरिकों से आज्ञापालन कराने में नैतिक अस्त्र (Moral Weapon) अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है।

इस तरह जब व्यक्ति राज्य के कानून या आदेश को उचित (Right) और कल्याणकारी (Good) मानते हुए अपनी इच्छा से उसका पालन करता है, तब उसकी स्वतंत्रता अवरुद्ध नहीं होती। अत: राज्य की सत्ता के सार्थक प्रयोग के लिए राज्य के कानून और आदेश जनसाधारण की नैतिक मान्यताओं और मूल्य-प्रणाली पर आधारित होने चाहिए, ताकि राज्य अपने नागरिकों का दिल जीतकर उनसे आज्ञापालन कराए, उन्हें विवश करके नहीं। यहाँ कोरे बल-प्रयोग के मुकाबले वैधता (Legitimacy) अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है। किसी नियम, निर्णय या आदेश की वैधता से यह संकेत मिलता है कि लोग उसे अपने लिए और सारे समाज के लिए उपयुक्त एवं कल्याणकारी समझते हैं, इसलिए वे उसे मन से स्वीकार करते हुए उसका पालन करने को तत्पर होते हैं। जब तक राज्य की वर्तमान संस्थाओं के औचित्य पर–जैसे कि सैन्य-शक्ति, पुलिस और न्यायालयों की न्यायपरायणता पर कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जाता, तब तक बल-प्रयोग की कोई जरूरत नहीं पड़ती।

> अदम्य सत्ता अव्यवस्था (Disorder) को जन्म देती है। स्वतंत्रता व्यवस्था (Order) की जननी है।
>
> **–एलेक्ज़ेंडर बर्कमैन (1920)**

नागरिकों का नैतिक समर्थन (Moral Support) प्राप्त करने के लिए राज्य को नागरिकों की लोकतंत्रीय स्वतंत्रताओं (Democratic Freedoms) की यथेष्ट रक्षा करनी चाहिए। इनमें विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (Freedom of Thought and Expression), सभा करने और संघ बनाने की स्वतंत्रता (Freedom of Association) और मुक्त विचरण की स्वतंत्रता (Freedom of Movement) का विशेष महत्त्व है। इन स्वतंत्रताओं से वंचित होने पर राज्य की सत्ता के प्रति नागरिकों की आस्था डगमगाने लगती है।

प्रस्तुत चित्र में स्वतंत्रता के साथ सत्ता और स्वच्छंदता के संबंध को दिखाया गया है। सत्ता का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आवश्यक प्रतिबंध लगाए ताकि अन्य व्यक्तियों को उसके समान स्वतंत्रता प्रदान की जा सके। परन्तु स्वतंत्रता में अनावश्यक ढील देने पर वह स्वच्छंदता का रूप धारण कर लेती है। ऐसी हालत में एक व्यक्ति की तथाकथित 'स्वतंत्रता' दूसरे की विवशता या 'परतंत्रता' बन जाती है, जिससे स्वतंत्रता का विचार ही निरर्थक हो जाता है।

नोट

चित्र 13.2

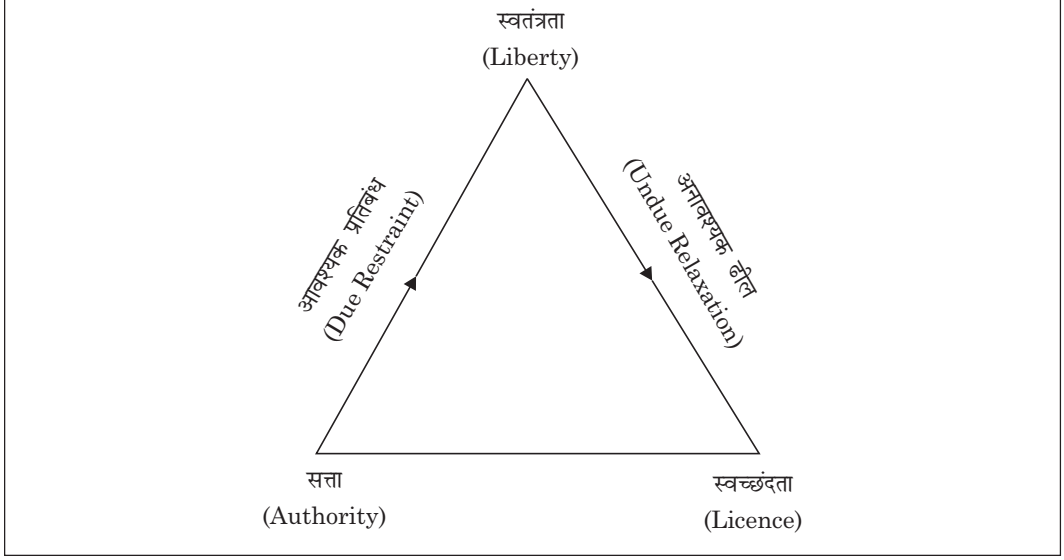

स्वतंत्रता सत्ता और स्वच्छंदता: परस्पर संबंध (Relation between Liberty Authority and Licence)

13.3.2 कानून और स्वतंत्रता (Law and Liberty)

स्वतंत्रता का औपचारिक अर्थ 'प्रतिबंध का अभाव' (Absence of Restraint) है। परन्तु कानून हमारी गतिविधियों पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाता है। क्या इस तरह कानून हमारी स्वतंत्रता को सीमित कर देता है या यह उसे अधिक सार्थक बनाने का साधन है? यह एक जटिल विषय है। लोकतंत्रीय और कल्याणकारी राज्य के अंतर्गत कानून का ध्येय स्वतंत्रता की रक्षा करना और उसे बढ़ावा देना है। कानून अपना यह कार्य किस-किस तरह संपन्न करता है?

हम देख चुके हैं कि स्वतंत्रता सामाजिक जीवन की सीमाओं से बँधी रहती है। किसी व्यक्ति को वहीं तक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है जहाँ तक वह दूसरों की स्वतंत्रता में बाधक न हो। **जहाँ एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए खतरा पैदा कर सकती हो, वहाँ उस पर प्रतिबंध लगाना जरूरी हो जाता है। ऐसा कोई प्रतिबंध कानून के द्वारा ही लगाया जा सकता है। डी.डी. रफील** ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'प्रॉब्लम्स ऑफ़ पोलिटिकल फिलॉसफी' (राजनीति-दर्शन की समस्याएँ) (1976) के अंतर्गत लिखा है कि प्रकटत: कानून हमारी स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाता है। इसके अधीन हमें ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जिन्हें हम अन्यथा नहीं करना चाहेंगे और ऐसे कार्यों से दूर रहना पड़ता है जिन्हें हम अन्यथा करना चाहेंगे। परन्तु कानून हमारी स्वतंत्रता पर जो प्रतिबंध लगाता है, उसके दो उद्देश्य हो सकते हैं। एक उद्देश्य दूसरों की स्वतंत्रता की रक्षा करना या कभी-कभी हमारी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना हो सकता है क्योंकि कानून जिस तरह के व्यवहार पर रोक लगाता है वह इस स्वतंत्रता में बाधक हो सकता है। उदाहरण के लिए, कानून हमें मिलावट करने से रोकता है या चौराहे पर लाल बत्ती जल जाने पर कानून हमें आगे बढ़ने से रोकता है ताकि हम दूसरों की स्वतंत्रता में रुकावट न डाल सकें और स्वयं भी सुरक्षित रहें। इसी तरह कानून हमें नशा करने से रोकता है क्योंकि यह आदत आगे चलकर हमारी अपनी स्वतंत्रता के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकती है।

नोट

कानून के प्रतिबंधों का दूसरा उद्देश्य सामाजिक मूल्यों या आदर्शों की रक्षा करना हो सकता है, जैसे कि कानून समानता (Equality) या न्याय (Justice) की रक्षा के लिए हमारी स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा सकता है। उदाहरण के लिए, कानून हमें पंक्ति तोड़ने से रोकता है ताकि दूसरों के समान अधिकार की रक्षा की जा सके। कानून हमें कर देने (Payment of Taxes) के लिए विवश करता है ताकि सार्वजनिक सेवाएँ (Public Services) जुटाई जा सकें और सामाजिक न्याय (Social Justice) की सिद्धि की जा सके।

कानून हमारी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कहाँ तक रोक लगा सकता है या कानून के कौन-कौन से प्रतिबंध स्वतंत्रता के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं माने जा सकते–यह एक जटिल विषय है। रफील ने ऐसे चार क्षेत्रों का संकेत दिया है जिनमें कानून के प्रतिबंध तर्कसंगत माने जाते हैं–

अपराध के क्षेत्र में (In the Sphere of Crime): व्यक्ति के जो कार्य समाज की स्वतंत्रता के लिए गंभीर खतरा समझे जाते हैं, उन्हें कानून के अंतर्गत अपराध घोषित करके दंड की व्यवस्था की जाती है। अपराध से संबंधित कानून को फौजदारी कानून (Criminal Law) कहा जाता है। उदाहरण के लिए, हत्या या चोरी करना अपराध है और फौजदारी कानून इन पर रोक लगाते हुए उपयुक्त दंड की व्यवस्था करता है। इसी प्रकार यातायात के नियमों का उल्लंघन भी अपराध है क्योंकि इससे सार्वजनिक व्यवस्था (Public Order) के लिए गंभीर खतरा पैदा हो सकता है।

इसके अलावा व्यक्ति के जो कार्य उसके लिए हानिकारक हो सकते हैं, उन्हें भी अपराध मानते हुए उन पर कानूनी तौर पर रोक लगाई जाती है। उदाहरण के लिए, मादक द्रव्यों का व्यसन (Drug Addiction) व्यक्ति के जीवन को नरक बना सकता है, इसलिए वह कानून के द्वारा निषिद्ध है। आत्महत्या को भी अपराध माना जाता है, अत: आत्महत्या का प्रयास करने वाले को दंड दिया जाता है।

दीवानी विवादों के क्षेत्र में (In the Sphere of Civil Disputes): व्यक्तियों और निगमित समूहों (Corporate Bodies) के बीच जो विवाद पैदा होते हैं, उनके समाधान के लिए दीवानी कानून (Civil Law) के अंतर्गत उपयुक्त व्यवस्था की जाती है। व्यक्ति के जिन कार्यों से पूरे समाज को खतरा हो, उन्हें तो अपराध माना जाता है, परन्तु उसके जिन कार्यों से व्यक्ति-विशेष या निगमित समूह को हानि पहुँचे, उन्हें दीवानी कानून के अंतर्गत निपटाया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति अपनी लापरवाही से दूसरे की संपत्ति को नुकसान पहुँचाता है तो उसे हर्जाना देना पड़ता है, दंड नहीं भोगना पड़ता। यदि कोई मालिक अपने कर्मचारी को गलत तरीके से नौकरी से निकाल देता है, कोई पति अपनी पत्नी को बेसहारा छोड़ देता है या कोई व्यक्ति किसी पक्ष के साथ किए अनुबंध (Contract) को तोड़ देता है, तो ऐसे मामलों का निर्णय दीवानी कानून के अंतर्गत किया जाता है। परन्तु कभी-कभी दीवानी कानून का कोई मामला इतना गंभीर रूप धारण कर लेता है कि वह फौजदारी कानून का विषय बन जाता है। उदाहरण के लिए, अनुबंध तोड़ने (Breach of Contract) का कोई मामला धोखाधड़ी (Fraud) का मामला बन जाने पर फौजदारी कानून के दायरे में आ जाता है; परस्पर लेन-देन या समझौते का मामला दुर्विनियोग (Misappropriation) या अपराधपूर्ण विश्वासघात (Criminal Breach of Trust) का मामला बन जाने पर फौजदारी कानून का विषय हो जाता है। यदि किसी बैंक या अन्य संगठन का खजानची (Cashier) अपने संरक्षण में रखी गई धनराशि को गलत जगह लगा देता है या कोई सुनार गहने बनाने के लिए किसी ग्राहक से सोना लेकर मुकर जाता है तो इसकी रिपोर्ट पुलिस में दर्ज कराई जा सकती है और ऐसा मामला फौजदारी कानून के अंतर्गत निपटाया जाएगा। इसी प्रकार गाड़ी चलाने में लापरवाही के कारण यदि कोई मनुष्य घायल हो जाए या किसी की मृत्यु हो जाए तो यह मामला फौजदारी कानून के दायरे में आएगा।

आर्थिक नियंत्रण के क्षेत्र में (In the Sphere of Economic Control): आधुनिक राज्य समाज की बहुत सारी आर्थिक गतिविधियों को नियमित करता है और इसलिए व्यक्तियों या समूहों की अनेक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाए जाते हैं। उदाहरण के लिए राज्य का कानून सब तरह के कामगारों के लिए न्यूनतम मजदूरी (Minimum

नोट

Wages) की दरें नियत करता है और निर्दिष्ट क्षेत्रों में मूल्य सूचकांक के अनुसार महँगाई भत्ते में संशोधन की व्यवस्था करता है। श्रम कानूनों (Labour Laws) के अंतर्गत कारखानों में काम की परिस्थितियों और शर्तों को नियमित किया जाता है और मालिक इन कानूनों से बँधे होते हैं। दूसरी ओर, कानून के द्वारा कुछ सेवाओं को आवश्यक सेवाएँ (Essential Services) घोषित करके उनमें काम करने वाले कर्मचारियों को हड़ताल के अधिकार (Right to Strike) से वंचित कर दिया जाता है। बाजार में बिकने वाली वस्तुओं की गुणवत्ता (Quality) के मानक निर्धारित कर दिए जाते हैं और मिलावट करने वालों, घटिया माल बेचने वालों या नाप-तौल में गड़बड़ करने वालों को दंड दिया जाता है। इसी प्रकार, हमारे देश में गैर-सरकारी बैंकों को भी सरकारी निर्देशों के अनुसार काम करना पड़ता है।

समाज-कल्याण व्यवस्था के क्षेत्र में (In the Sphere of Provision of Social Welfare): कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की धारणा के विकास के साथ ऐसे कानूनों का दायरा बहुत बढ़ गया है जिनके अंतर्गत संपन्न वर्गों पर कर लगाकर उनसे निर्धन वर्गों के लिए या संपूर्ण समाज के लिए उपयोगी सेवाओं की व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिए, इन करों से प्राप्त धन से स्कूल, अस्पताल इत्यादि बनाए जाते हैं ताकि निर्धन वर्गों को निःशुल्क या बहुत मामूली शुल्क पर शिक्षा और चिकित्सा उपलब्ध कराई जा सके। इसी प्रकार परिवहन कंपनियों को लाभप्रद मार्गों पर वाहन चलाने की अनुमति देते समय ऐसे इलाकों मे बस सेवा प्रदान करने के लिए विवश किया जाता है जहाँ उन्हें लाभ नहीं होता, बल्कि हानि हो सकती है, परन्तु इन इलाकों में रहने वाले लोगों को इससे बहुत लाभ होता है। इसी प्रकार उद्यमियों को लाभप्रद क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने की अनुमति देते समय कुछ पिछड़े हुए इलाकों में उद्योग लगाने के लिए बाध्य किया जाता है जिससे उनके लाभ में कटौती हो जाती है, परन्तु इन प्रतिबंधों का ध्येय उन इलाकों में बेरोजगारी और पिछड़ापन दूर करना होता है। इन उद्योगों से यह आशा की जाती है कि वे अधिक लाभप्रद क्षेत्रों से जो लाभ अर्जित करेंगे, उसका थोड़ा-सा हिस्सा विकास-कार्यों में लगा देंगे और इस तरह सरकार के सामाजिक दायित्व की पूर्ति में योग देंगे। ऐसे उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि कानून सामाजिक न्याय की सिद्धि के लिए व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर तरह-तरह की रोक लगाता है।

13.3.3 स्वतंत्रता के विविध आयाम (Dimensions of Liberty)

नागरिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता (Civil, Political and Economic Liberty)

लोकतंत्र के अंतर्गत स्वतंत्रता का सिद्धांत तीन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में कार्य करता है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता के तीन पक्ष स्वीकार किए जाते हैं: नागरिक स्वतंत्रता, राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्वतंत्रता। वैसे कुछ लोग इन क्षेत्रों में भी स्वतंत्रता को केवल 'प्रतिबंध के अभाव' के रूप में व्यक्त करके उसका सीमित अर्थ लगाते हैं, परन्तु इस तरह का नकारात्मक दृष्टिकोण (Negative Approach) स्वतंत्रता के सही स्वरूप की व्याख्या नहीं कर पाता।

अर्नेस्ट बार्कर (1874-1960) की महत्त्वपूर्ण कृति 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ सोशल एंड पोलिटिकल थ्योरी' (सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत-तत्व) (1951) के अनुसार, **नागरिक स्वतंत्रता में तीन बातें आती हैं** हालांकि इन्हें अलग-अलग ढंग से व्यक्त किया जाता है: **दैहिक स्वतंत्रता** (Physical Freedom), अर्थात् राज्य की किसी कार्रवाई के कारण व्यक्ति के जीवन और स्वास्थ्य को कोई क्षति नहीं पहुँचनी चाहिए या इनके लिए कोई खतरा पैदा नहीं होना चाहिए ताकि मनुष्य मुक्त विचरण कर सके; **बौद्धिक स्वतंत्रता** (Intellectual Freedom), अर्थात् मनुष्य अपने मत या विचार को व्यक्त करने में स्वतंत्र हो; और **व्यावहारिक स्वतंत्रता** (Practical Freedom), अर्थात् मनुष्य अन्य लोगों के साथ अनुबंध या संबंध स्थापित करते समय अपनी स्वतंत्र इच्छा से काम ले सके। इनमें पहली बात तो निर्विवाद है क्योंकि दैहिक स्वतंत्रता पर कोई अंकुश केवल सार्वजनिक सुरक्षा, कानून और व्यवस्था के हित में ही लगाया जाता है और ये सब स्वतंत्रता की आवश्यक शर्तें हैं। दैहिक यंत्रणा या प्रतिबंध किसी अपराध के दंड के रूप में ही उचित माने जाएँगे, अन्यथा नहीं।

नोट

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न थोड़ा जटिल है। **जॉन स्टुआर्ट मिल** (1806-73) के अनुसार, यह स्वतंत्रता व्यक्ति और समाज दोनों के हित में होगी। समाज की प्रगति ज्ञान के विकास पर निर्भर है। ज्ञान का विकास वहीं हो पाता है जहाँ चर्चा की स्वतंत्रता का वातावरण मौजूद हो। सामाजिक नीति (Social Policy) में सूझबूझ तभी आ सकती है जब वर्तमान समस्याओं की आलोचना करने या अलोकप्रिय मत प्रस्तुत करने पर कोई पाबंदी न हो। किसी मत की अभिव्यक्ति को रोकने से न केवल उस व्यक्ति पर अत्याचार होगा जिसे चुप करा दिया गया है, बल्कि इसका मतलब होगा पूरी मानव जाति को उसके लाभ से वंचित करना–वर्तमान पीढ़ी को भी, आगामी पीढ़ियों को भी। यदि वह मत सही था तो हमने समाज को अपनी गलती सुधारने के अवसर से वंचित किया होगा। यदि वह मत गलत था तो भी हमने समाज को उतने ही बड़े लाभ से वंचित किया होगा क्योंकि झूठ के साथ टकराकर सच का रूप और भी निखर आता है। **वाल्टर बेजहॉट** (1826-77) ने भी यह दिखलाया है कि चर्चा की स्वतंत्रता और विरोधी मत के प्रति सहिष्णुता सारी सामाजिक प्रगति की कुंजी है।

इसमें संदेह नहीं कि विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है। परन्तु क्या इस स्वतंत्रता के नकारात्मक पक्ष से ही संतोष किया जा सकता है? क्या व्यापक अशिक्षा और अज्ञान के बीच सर्वसाधारण के लिए इस स्वतंत्रता का कोई अर्थ रह जाता है? यदि मनुष्य को सही राय बनाने के अवसर से ही वंचित रखा जाए तो अपनी राय को व्यक्त करने की स्वतंत्रता उसके किस काम आएगी। देखा जाए तो विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सार्थक करने के लिए दो शर्तें पूरी करना आवश्यक है–(क) जन-साधारण के लिए यथेष्ट शिक्षा की व्यवस्था हो ताकि उनमें विचार-शक्ति का विकास हो; और (ख) जनसंपर्क के साधन (Media of Mass Communication) मुट्ठीभर लोगों की मुट्ठी में बंद न हों, बल्कि उन्हें स्वायत्तता (Autonomy) प्राप्त होनी चाहिए ताकि वे स्वयं अपनी विश्वसनीयता (Reliability) स्थापित कर सकें। फिर, जनसंपर्क के साधनों की बहुलता भी जरूरी है ताकि नागरिकों को सूचना के अनेक स्रोतों में से सही समाचारों और विचारों का चयन तथा पुष्टि करने का अवसर मिल सके। इन दोनों बातों की तरफ ध्यान देने पर विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मात्र नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Freedom) नहीं रह जाएगी, बल्कि सकारात्मक स्वतंत्रता (Positive Freedom) का रूप धारण कर लेगी।

जहाँ तक अनुबंध की स्वतंत्रता (Freedom of Contract) का सवाल है, वह भी कम पेचीदा नहीं। जहाँ समाज की वर्तमान विषमताएँ एक मनुष्य को दूसरे की दया पर छोड़ देती हों, वहाँ अनुबंध की स्वतंत्रता का क्या अर्थ रह जाता है? अत: आधुनिक चेतना (Modern Consciousness) इस स्वतंत्रता को भी नकारात्मक से सकारात्मक रूप देने की माँग करती है। **वाल्टर फ्रीडमैन** ने 'लीगल थ्योरी' (विधि-सिद्धांत) (1967) के अंतर्गत सही लिखा है कि पुराने ज़माने में तो अनुबंध की स्वतंत्रता वैयक्तिक स्वतंत्रता का आवश्यक अंग मानी जाती थी, परन्तु औद्योगिक विकास ने यह सिद्ध कर दिया था कि विशाल जनसमुदाय को औपचारिक स्वतंत्रता देकर किस हद तक वास्तविक स्वतंत्रता से वंचित रखा जाता है। अत: राज्य संरक्षणमूलक कानून (Protective Laws) बनाकर वैयक्तिक अनुबंध को कानूनी दायित्वों से बांध देता है। इनता ही नहीं, न्यायिक निर्णयों के अंतर्गत माल-निर्माताओं (Manufacturers) को उपभोक्ता (Consumer) के प्रति उत्तरदायी ठहराया जाता है और मालिक (Employer) को कर्मचारी (Employee) के प्रति।

आज के युग में राजनीतिक स्वतंत्रता की सबसे सार्थक अभिव्यक्ति लोकतंत्रीय व्यवस्था में देखने को मिलती है। **विलियम ब्लैवस्टन** (1723-80) के अनुसार, राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ शासन पर अंकुश रखने की शक्ति है। परन्तु यह बात वहीं लागू होती है जहाँ शासन किसी बाहरी शक्ति के हाथ में हो। पर जहाँ सिद्धांतत: जनता अपनी सरकार स्वयं चुनती हो, वहाँ इसका अर्थ बदल जाएगा। अत: **बार्कर** के अनुसार, **राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ**

नोट

सरकार पर अंकुश रखने की शक्ति नहीं बल्कि सरकार बनाने और उस पर नियंत्रण रखने की क्षमता है। सरकार बनाने का अर्थ है—सार्वजनिक मताधिकार (Universal Franchise) के आधार पर चुनाव में स्वतंत्रतापूर्वक हिस्सा लेना; सरकार पर नियंत्रण रखने का अर्थ है, मुक्त और निरंतर विचार-विमर्श, जिसमें सब लोग अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार स्वतंत्र रूप से हिस्सा ले सकें।

यह दृष्टिकोण निस्संदेह राजनीतिक स्वतंत्रता को नकारात्मक स्वतंत्रता से सकारात्मक स्वतंत्रता के रूप में ढाल देता है। परन्तु सिद्धांत के स्तर पर यह जितना सरल प्रतीत होता है—व्यवहार के स्तर पर उतना सरल नहीं। केवल सार्वजनिक वयस्क मताधिकार (Universal Adult Suffrage) का कानून बना देने से सबको राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं मिल पाती। इसके लिए फिर दो शर्तें पूरी करना जरूरी है: (क) यथेष्ट शिक्षा और राष्ट्र का चरित्र-निर्माण, ताकि लोग सामाजिक नीतियों को समझ सकें और राष्ट्र-हित को सर्वोपरि रखकर अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करें; अपने मताधिकार का प्रयोग केवल स्वार्थमूलक, तात्कालिक और गुटपरक हितों की प्रेरणा से न करें; और (ख) धन की शक्ति—विशेषत: काले धन (Black Money) की शक्ति सारी चुनाव-प्रक्रिया पर इतनी हावी न हो जाए कि वह चुनाव का निर्णायक तत्व बन जाए। यदि जनता के प्रतिनिधि निहित स्वार्थों की वित्तीय सहायता के बल पर चुने जाएँगे तो सरकार में निश्चय ही भ्रष्टाचार का बोलबाला रहेगा और जन-हित आडंबर मात्र रह जाएगा।

काला धन (Black Money)

वह धन जो साधारणत: गैर-कानूनी तरीकों से अर्जित किया जाता है या जिस धन पर लगने वाले कर (Tax) से बचने के लिए उसे सरकार से छिपाकर रखा जाता है।

आर्थिक स्वतंत्रता की समस्या भी कम जटिल नहीं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि **आर्थिक क्षेत्र में नकारात्मक स्वतंत्रता और सकारात्मक स्वतंत्रता एक-दूसरे का विपरीत पक्ष प्रस्तुत करती हैं। नकारात्मक संदर्भ में प्राय: आर्थिक स्वतंत्रता का यह अर्थ लगाया जाता है कि मनुष्य की आर्थिक गतिविधियाँ किसी प्रतिबंध से न बँधी हों।** इस तरह मालिक और मज़दूर दोनों को अनुबंध की पूर्ण स्वतंत्रता हो। दूसरे शब्दों में, यह संकल्पना वर्तमान आर्थिक विषमताओं पर कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगाती, बल्कि मनुष्य की प्रतिभा और परिश्रम को बाजार में बिकने वाली वस्तु बनाकर माँग और पूर्ति (Demand and Supply) के क्रूर नियम का विषम बना देती है। **इसके विपरीत, आर्थिक स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना सर्वसाधारण की आर्थिक असमर्थता के निराकरण की माँग करती है।** अत: वह समाज के आर्थिक ढांचे में ऐसे परिवर्तन की माँग करती है जिससे धनवान (Haves) और निर्धन (Have-nots) वर्गों में ऐसा अंतर न रहे कि एक वर्ग को दूसरे के शोषण की छूट मिल जाए। संक्षेप में, आर्थिक स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना यह माँग करती है कि आर्थिक शक्ति का प्रयोग सबकी स्वतंत्रता को बढ़ावा देने के लिए होना चाहिए, सर्वसाधारण की स्वतंत्रता का दमन करने के लिए नहीं।

नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता (Negative and Positive Liberty)

जब हम स्वतंत्रता की परिभाषा केवल 'प्रतिबंध के अभाव' (Absence of Restraint) के रूप में देते हैं तब हमारा ध्यान उसके नकारात्मक पक्ष पर केन्द्रित रहता है। दूसरे शब्दों में, हमारा अभिप्राय यह होता है कि यदि कोई व्यक्ति कुछ करना चाहता हो और कर भी सकता हो, तो उसे वैसा करने से रोका न जाए। इस तरह की स्वतंत्रता को औपचारिक स्वतंत्रता (Formal Liberty) या नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative Liberty) कहते हैं। यह केवल अनुमति की सूचक है और इससे ऐसा कतई कोई संकेत नहीं मिलता कि व्यक्ति जो कुछ करना चाहता है,

नोट

उसमें उसे कोई सहायता भी दी जाएगी। व्यक्ति को नकारात्मक स्वतंत्रता प्रदान करते समय राज्य केवल अपने ऊपर संयम रखता है, सामाजिक व्यवस्था से कोई छेड़छाड़ नहीं करता। वह यह नहीं देखता कि इस स्वतंत्रता का लाभ कौन-कौन-से और कितने लोग उठा पाएँगे?

जाहिर है, इस तरह की स्वतंत्रता सर्वसाधारण के लिए पर्याप्त नहीं है। जब समाज भारी आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त हो, तब नकारात्मक स्वतंत्रता इन विषमताओं के प्रति तटस्थता (Indifference) का दृष्टिकोण अपनाती है। जो स्वतंत्रता बलवान् और निर्बल, धनवान् और निर्धन–सबको खुला छोड़ देती है, उसकी आड़ में बलवान निर्बल को और धनवान पर प्रतिबंध लगाना होगा; निर्बल को सुरक्षा प्रदान करनी होगी, निर्धन की आर्थिक स्थिति सुधारनी होगी। यहीं सकारात्मक स्वतंत्रता की माँग शुरू होती है। सकारात्मक या तात्त्विक स्वतंत्रता (Positive or Substantive Liberty) का अर्थ यह है कि कमजोर वर्गों की सामाजिक और आर्थिक असमर्थताओं को दूर करने के ठोस प्रयत्न किए जाएँ ताकि सबको अपने सुख के साधन जुटाने का उपयुक्त अवसर मिल सके। इसके लिए सामाजिक-आर्थिक जीवन के विस्तृत विनियमन (Regulation) की आवश्यकता हो सकती है। ये सारे विनियम और प्रतिबंध समाज के शक्तिशाली या प्रभुत्वशाली वर्गों (Dominant Classes) की स्वतंत्रता में कटौती कर सकते हैं, परन्तु ये स्वतंत्रता के सिद्धांत को सार्थक रूप देने के लिए अनिवार्य होंगे।

साधारणत: राजनीतिक, नागरिक या कानूनी स्वतंत्रता अपने-अपने सीमित अर्थ में नकारात्मक स्वतंत्रता होती है। उदाहरण के लिए, वाणी की स्वतंत्रता (Freedom of Speech), उपासना की स्वतंत्रता (Freedom of Worship) इत्यादि केवल यह सूचित करती हैं कि व्यक्ति के किन-किन कार्यों पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबंध नहीं होगा। परन्तु सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता सकारात्मक स्वतंत्रता की माँग करती है। उदाहरण के लिए, भूख-प्यास या लाचारी से स्वतंत्रता (Freedom from Hunger or Compulsion) सकारात्मक स्वतंत्रता की द्योतक है क्योंकि इसकी स्थापना के लिए राज्य को ठोस प्रयत्न करने होंगे। स्वतंत्रता का सकारात्मक पक्ष ही उसे सामाजिक संकल्पना में परिणत कर देता है क्योंकि स्वतंत्रता का यह सिद्धांत उन प्रतिबंधों और विवशताओं को हटाने की माँग करता है जो सामाजिक व्यवस्था से पैदा हुई हों और जिन्हें हटाना व्यावहारिक भी हो। बहुत-से मामलों से हम क्षमता के अभाव में विवशता अनुभव करते हैं, फिर भी उसकी शिकायत नहीं करते। हम पंख लगाकर आजाद पंछी की तरह आकाश में उड़ नहीं सकते, फिर भी यह शिकायत नहीं करते कि हम स्वतंत्र नहीं। वस्तुत: प्रकृति ने हमें जिन भी क्षमताओं से वंचित रखा है और जिन विवशताओं पर विजय प्राप्त करना संभव नहीं, उनकी शिकायत कोई नहीं करता। दूसरे शब्दों में, शिकायत वहाँ की जाती है जहाँ हमारी विवशताएँ सामाजिक व्यवस्था का परिणाम हों, अर्थात् जहाँ सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करके उन विवशताओं को दूर किया जा सके।

देखा जाए तो शक्ति की विषमता (Inequality of Power) स्वतंत्रता के सिद्धांत को अपने तर्कसंगत परिणाम तक पहुँचने से रोकती है। यदि सब लोगों को औपचारिक दृष्टि से समान स्वतंत्रता प्राप्त हो तो भी शक्ति की विषमता उसे निरर्थक बना देती है। एल.टी. हॉबहाउस ने अपनी महान् कृति 'एलीमेंट्स ऑफ़ सोशल जस्टिस' (सामाजिक न्याय के मूलतत्व) (1922) के अंतर्गत बिल्कुल सही लिखा है–"जब कमज़ोर पक्ष को यह अधिकार दिया जाता है कि यदि उसके पास भी वैसे ही साधन मौजूद हों तो वह उनका प्रयोग कर सकता है, तो ऐसी स्वतंत्रता से उसका कुछ नहीं बनेगा, क्योंकि इस तरह उसे यथार्थ और तात्कालिक संरक्षण तो प्राप्त होगा नहीं। यह बात जाहिर है कि कमज़ोर पक्ष को प्रतिशोध के अधिकार की जरूरत नहीं होती बल्कि उसे जो अधिकार प्राप्त हैं, उनका प्रयोग करने के लिए सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए।"

संक्षेप में, नकारात्मक स्वतंत्रता उन लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण होगी जो स्वयं अपने जीवन को मनचाहा रूप देने में समर्थ हों। परन्तु जो लोग सामाजिक-आर्थिक विवशताओं से घिरे हों और अपने जीवन को सँवारने में सर्वथा असमर्थ हों, उनके लिए सकारात्मक स्वतंत्रता की व्यवस्था आवश्यक होगी।

नोट

चित्र 13.3

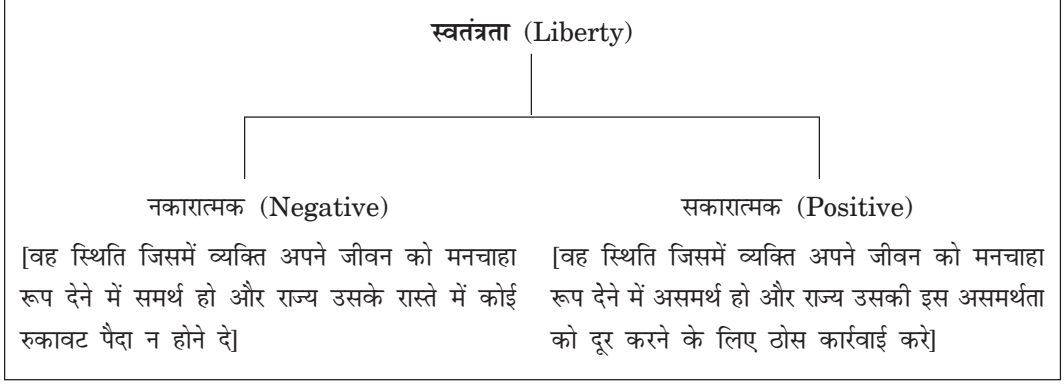

समकालीन उदारवादी चिंतन के अंतर्गत **आइज़िया बर्लिन** (1909–97), **एफ.ए. हेयक** (1899–1992) और **मिल्टन फ्रीडमैन** (1912–) ने सकारात्मक स्वतंत्रता के मुकाबले नकारात्मक स्वतंत्रता को प्रमुखता देकर स्वतंत्रता के सार–तत्व को असीम क्षति पहुँचाई है।

स्वतंत्रता की मार्क्सवादी संकल्पना

(Marxist Concept of Freedom)

स्वतंत्रता की मार्क्सवादी धारणा इसकी उदारवादी–व्यक्तिवादी धारणा से सर्वथा भिन्न है। इसकी मुख्य–मुख्य मान्यताएँ ये हैं–

स्वतंत्रता का अर्थ अकेलापन नहीं है (Freedom Does not Imply Loneliness): मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार, स्वतंत्रता ऐसी स्थिति नहीं है कि जिसमें व्यक्ति को 'अकेला छोड़ दिया जाना चाहिए।' इसके विपरीत, स्वतंत्रता या परतंत्रता की स्थितियाँ सामाजिक–आर्थिक संदर्भ से जुड़ी रहती हैं। समाज से कटा हुआ, अकेला और अलग–थलग पड़ा हुआ व्यक्ति स्वतंत्रता का आनंद नहीं ले सकता।

मार्क्सवादी उपयोगितावाद (Utilitarianism) की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते कि भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के स्वार्थ को जोड़कर सर्व–हित (Common Interest) की सिद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत, सर्व–हित की सिद्धि के लिए यह जरूरी है कि विभिन्न व्यक्ति समाज के रूप में एकजुट होकर पूरे समाज के हित में अपने–अपने हित को देखें। केवल तर्कसंगत उत्पादन प्रणाली (Rational System of Production) के अंतर्गत ही व्यक्ति सच्चे अर्थ में स्वतंत्र हो सकते हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में उत्पादन के प्रमुख साधनों पर पूरे समाज का स्वामित्व होगा; कोई किसी का शोषण (Exploitation) नहीं करेगा; और उत्पादन की शक्तियाँ (Forces of Production) इतनी विकसित हो जाएँगी कि हर कोई अपनी इच्छा और आवश्यकता पूरी कर सकेगा। दूसरे शब्दों में, केवल समाजवाद (Socialism) ही स्वतंत्रता को बढ़ावा दे सकता है। पूंजीवाद (Capitalism) या मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था (Free Market Economy) के अंतर्गत स्वतंत्रता संभव नहीं है।

विवशता से स्वतंत्रता की ओर (Leap from Necessity to Freedom): फ्रैड्रिक एंगेल्स (1820–95) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'एंटी–ड्यूरिंग' (ड्यूरिंग के विरुद्ध) (1878) के अंतर्गत विवशता (Necessity) और स्वतंत्रता (Freedom) में अंतर स्पष्ट किया है। विवशता वह स्थिति है जिसमें मनुष्य या भौतिक वस्तुएँ प्रकृति के अटल नियमों से बँधी रहती हैं और मनुष्य की अपनी इच्छा से कुछ भी संचालित नहीं होता। उदाहरण के लिए, गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of Gravitational Force) प्रकृति का अटल नियम है; मनुष्य अपनी इच्छा से न तो इसे बदल

नोट

सकता है, न इसमें हस्तक्षेप कर सकता है। मनुष्य केवल ऐसे नियमों का पता लगा सकता है और उनके वैज्ञानिक ज्ञान (Scientific Knowledge) के आधार पर अपने हित में इन नियमों का उपयोग कर सकता है। यदि मनुष्य को प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं होगा तो वे उसे अपनी अदम्य शक्ति से किसी भी तरफ धकेल देंगे। यह विवशता की स्थिति होगी। स्वतंत्रता का अर्थ इन नियमों के प्रवर्तन (Operation) से मुक्त हो जाने का स्वप्न नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि मनुष्य प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके अपने निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनका व्यवस्थित प्रयोग करे। ऐसी हालत में मनुष्य प्रकृति का दास नहीं रह जाता बल्कि वह अपने जीवन का ध्येय स्वयं निर्धारित करता है और प्रकृति के नियमों को उस ध्येय की पूर्ति का साधन बना लेता है।

संसार की सभी वस्तुओं और जीव-जन्तुओं में केवल मनुष्य ही ऐसा तत्व है जिसने सारे ऐतिहासिक विकास के दौरान धीरे-धीरे प्राकृतिक नियमों का ज्ञान प्राप्त करके अपने-आपको प्रकृति की दासता से मुक्त कर लिया है और स्वतंत्रता की स्थिति को संभव बना दिया है। परन्तु यह स्वतंत्रता अभी अधूरी है, क्योंकि बाह्य प्रकृति का नियंत्रण करते समय मनुष्य अपनी आतंरिक प्रकृति को नियंत्रित करना भूल गया है। मानव-समाज सभ्यता के आरंभ से ही उत्पादन की शक्तियों (Forces of Production) से दबा रहा है, अर्थात् एक छोटा-सा वर्ग उत्पादन के साधनों पर अपना स्वामित्व स्थापित करके जनसाधारण का शोषण करता रहा है। पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत उत्पादन की मात्रा तो बहुत बढ़ गई है, परन्तु जनसाधारण और भी पीड़ित तथा असहाय हो गए हैं। यह भी विवशता की स्थिति है।

वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism)

मार्क्सवाद के समर्थक अपनी मान्यताओं को 'वैज्ञानिक समाजवाद' की संज्ञा देते हैं। उनका यह दावा इस तर्क पर आधारित है कि वे पूंजीपतियों को समझा-बुझाकर समाजवाद स्थापित करने का स्वप्न नहीं देखते बल्कि ऐतिहासिक नियमों के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह मानते हैं कि कामगार वर्गों की संगठित शक्ति के हाथों पूंजीवाद का पतन और उसकी जगह समाजवाद की स्थापना अवश्यंभावी है।

अत: वर्तमान दौर में मनुष्य को उत्पादन की शक्तियों का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करके उनके नियंत्रण का उपाय करना चाहिए। आज के मानव के लिए इतिहास का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, इतिहास को बदलने की क्षमता भी जरूरी है। केवल वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) की सहायता से ही मनुष्य विवशता-लोक (Kingdom of Necessity) से निकलकर स्वतंत्रता-लोक (Kingdom of Freedom) में प्रवेश कर सकता है। मार्क्स और एंगेल्स के 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' (साम्यवादी घोषणापत्र) (1848) के अंतर्गत साम्यवादी समाज (Communist Society) का जो चित्र खींचा गया है, उनमें भी स्वतंत्रता को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसके अनुसार, समाजवादी क्रांति (Socialist Revolution) के बाद समाजिक विकास के क्रम में "जब वर्ग-भेद मिट जाएँगे और समस्त उत्पादन संपूर्ण राष्ट्र के विशाल साहचर्य के हाथों में केंद्रित हो जाएगा, तब सार्वजनिक शक्ति का राजनीतिक चरित्र ही समाप्त हो जाएगा। वर्गों और वर्ग-विरोधों से भरे हुए पुराने बुर्जुवा समाज की जगह एक ऐसा साहचर्य अस्तित्व में आ जाएगा जिसमें प्रत्येक मनुष्य का स्वतंत्र विकास सब मनुष्यों के स्वतंत्र विकास की आवश्यक शर्त बन जाएगा।"

स्वतंत्रता का मानववादी आधार (Humanist Basis of Freedom)

मार्क्स ने अपनी 'इकॉनॉमिक एंड फ़िलॉसफ़िक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1844' (1844 की आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियाँ) के अंतर्गत पूंजीवाद की आलोचना इस आधार पर की थी वह मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता। वह मनुष्य की रचनात्मक शक्तियों और कोमल भावनाओं को नष्ट करके उसे अपनी रचना से, प्रकृति से, समाज से, यहाँ तक कि अपने-आप से बेगाना बना देता है। ऐसी हालत में उसकी स्वतंत्रता की क्षमता ही नष्ट हो जाती है। उसकी स्वतंत्रता को वापस लाने का सही तरीका यह होगा कि उन परिस्थितियों को बदल दिया जाए जिनमें मनुष्य **'अलगाव'** या **'परायापन'** (Alienation) अनुभव करता है। मार्क्स ने **'पराएपन' के चार स्तरों को पहचान की है :**

नोट

(क) पहले-पहले, इसमें मनुष्य अपने उत्पादन तथा उत्पादन प्रक्रिया से कट जाता है क्योंकि पूंजीवादी समाज में कामगार से यह नहीं पूछा जाता कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए और कैसे किया जाए? उसका काम उसे रचनात्मक कार्य को संतोष नहीं दे पाता। उदाहरण के लिए यदि सामंतवादी समाज में कोई कामगार एक पूरी कमीज़ बनाता था तो उसे यह संतोष होता था कि उसने एक उपयोगी या कलात्मक वस्तु बनाई है, शायद व्यक्ति-विशेष के लिए बनाई है जिसे वह उस कमीज को पहने हुए देख सकता था। अत: अपनी रचना के साथ वह एक तरह का अपनापन महसूस करता था। परंतु पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत बड़े-बड़े कारख़ानों में कोई कामगार सिर्फ बटन लगाता है। पूरी कमीज़ के साथ कोई अपनापन अनुभव नहीं करता। उसे कौन पहनेगा और उस पर वह कैसी लगेगी—यह भी कोई नही जानता;

(ख) दूसरे, मनुष्य प्रकृति से पराया हो जाता है। मशीनों पर काम करते-करते प्रकृति से उसका संबंध टूट जाता है और वह प्रकृति से रमणीय दृश्यों तथा वातावरण का रस नहीं ले पाता। जैसे खेत में काम करने वाला किसान काले-काले बादलों को देखकर झूमता है या फसल कटने पर सारे किसान मिल-जुलकर नाचते-गाते हैं या त्यौहार मनाते हैं, वैसी रसानूभूति कारख़ाने के मज़दूरों के लिए दूर्लभ हो जाती है। इस तरह मनुष्य प्रकृति से पराया हो जाता है और मशीन का पुर्ज़ा बनकर रह जाता है। उसे बँधा-बँधाया काम करना पड़ता है जिसमें एकरसता आ जाती है;

(ग) तीसरे, अर्थिक प्रणाली में प्रतिस्पर्धा इतनी प्रधान होती है कि मनुष्य अपने सहचरों से भी कोई हार्दिक संबंध नहीं रख पाता। इस प्रतिस्पर्धा के एक का लाभ दूसरे की हानि बन जाता है जिससे हितों की तीव्र संघर्ष पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब एक मज़दूर बीमार पड़ता है तो उसकी जगह दूसरे बेकार बैठे-मज़दूर को काम मिल जाता है;

(घ) अंतत: मनुष्य अपने-आप से भी पराया हो जाता है क्योंकि विवशता का साम्राज्य उसके जीवन को पाशविक अस्तित्व का विषय बना देता है जिससे साहित्य, कला और संस्कृति के प्रति उसकी कोई अभिरुचि नहीं रह जाती। दूसरे शब्दों में, पूंजीवादी प्रणाली मानवीय प्रतिभा और गुणों को उन परिस्थितियों का दास बना देती है जो पूंजी और संपत्ति के निजी स्वामित्व से पैदा होती हैं। कामगार की इस दुदर्शा का मतलब यह नहीं कि पूंजीपति की मानवीयता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। दरअसल, पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत स्वयं पूंजीपति भी मुद्रा की तानाशाही का गुलाम बन जाता है। अधिक-से-अधिक लाभ की लालसा उसे चैन नहीं लेने देती और वह इसके पीछे सारे मानवीय गुणों से शून्य होता चला जाता है। अत: संपन्नता के बीच भी वह सच्ची स्वतंत्रता सें वंचित रहता है।

इस अलगाव से मुक्ति के लिए मार्क्स ने साम्यवाद (Communism) का रास्ता दिखाया है। जिसमें उत्पादन के प्रमुख साधनों (Major Means of Production) पर सामाजिक स्वामित्व (Social Ownership) स्थापित हो जाएगा और सब मनुष्य आत्म-प्रेरणा से उत्पादन की प्रक्रिया में अपना सर्वोत्तम योगदान करने को तत्पर होंगे। जब वे मिल-जुलकर रहेंगे, कंधे से कंधा मिलाकर काम करेंगे और मिल-बाँटकर खाएँगे तो उनमें पराएपन का अहसास अपने-आप खत्म हो जाएगा।

मार्क्स के अलगाव-सिद्धांत के आलोचक यह तर्क देते हैं कि यह तरुण मार्क्स (Young Marx) के मान का विचार था; इसे एक कवि-शुलभ या साहित्यिक शैली में व्यक्त किया गया था जिसमें वैज्ञानिक यथातथ्यता (Scientific Precision) का नितांत अभाव था। यही कारण था कि **प्रौढ़ मार्क्स** (Mature Marx) की कृतियों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। परंतु इस सिद्धांत के समर्थक यह दावा करते हैं कि मार्क्स की आरंभिक कृतियों में जिस विचार को 'अलगाव' की संज्ञा दी गई है, वही प्रौढ़ मार्क्स की कृतियों में निजी संपत्ति (Private Property), वर्ग प्रभुत्व (Class Domination), श्रम-विभाजन (Division of Labour) और शोषण (Exploitation) जैसी वैज्ञानिक शब्दावली के रूप में व्यक्त हुआ है।

नोट

विचारधारा (Ideology)

मार्क्सवाद के अनुसार, सभ्यता के आरंभ से ही समाज धनवान और निर्धन (Haves and Have-nots)— इन दो परस्पर-विरोधी वर्गों में बँट जाता है। धनवान वर्ग सामाजिक उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है; वही राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करके प्रभुत्वशाली वर्ग (Dominant Class) बन जाता है। निर्धन वर्ग अपने श्रम के सहारे निर्वाह करने के लिए विवश होता है; उसके पास कोई शक्ति नहीं होती; वह पराधीन वर्ग (Dependent Class) की स्थिति में रहता है। प्रभुत्वशाली वर्ग उन मूल्यों और मान्यताओं को सर्व-हित के अनुरूप सिद्ध करने की कोशिश करता है जिनसे उनके अपने हित सधते हैं। इन मूल्यों और मान्यताओं के समुच्चय को 'विचारधारा' कहा जाता है जो प्रभुत्वशाली वर्ग के शासन को वैधता (Ligitimacy) प्रदान करती है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में मनुष्यों को भौतिक आवश्यकताएँ (Material Needs) आगे बढ़ जाती हैं, परंतु उनकी सामाजिक चेतना पिछड़ जाती है। चूँकि प्रचलित 'विचारधारा' जनसाधारण के मन में भ्रांति पैदा करके उन्हें अपने शोषण (Exploitation) के मूल कारण को पहचानने से रोकती है, इसलिए मार्क्स ने इसे 'मिथ्या चेतना' (False Consciousness) की संज्ञा दी है।

हंगरी के मार्क्सवादी विचारक जार्ज ल्यूकाच (1885-1971) ने अलगाव के सिद्धांत को विचारधारा (Ideology) की मार्क्सवादी धारणा के साथ जोड़कर विकसित किया है। मार्क्स ने विचारधारा की व्याख्या 'मिथ्या चेतना' (False Consciousness) के रुप में दी थी। ल्यूकाच ने अपनी चर्चित कृति 'हिस्टरी एंड क्लास कांशसनैस' (इतिहास और वर्ग चेतना) (1923) के अंतर्गत लिखा है कि मार्क्स का इतिहास-सिद्धांत (Theory of History) सही तो है, परंतु वह अधूरा है। इसके साथ यह संदर्भ जोड़ना जरूरी है कि ऐतिहासिक विकास के विभिन्न बिंदुओं पर विभिन्न वर्ग संसार को भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं। पूँजीवादी समाज में सभी वर्ग अपनी-अपनी तरह की 'मिथ्या चेतना' से ग्रस्त हैं। वास्तविक समस्या यह है कि जो चेतना मूलत: व्यक्ति की वर्ग-स्थिति (Class Situation) से निर्धारित होती है, उसे इस संदर्भ से हटाकर सामाजिक संबंधों के यथार्थ जगत् का साक्षात्कार कैसे किया जाए? ल्यूकाच ने आशा व्यक्त की कि सर्वहारा (Proletariat) वर्तमान सामाजिक-आर्थिक जीवन में अपने बढ़ते हुए 'अजनबीपन' के कारण एक विलक्षण ऐतिहासिक स्थिति में पहुँच गया है जहाँ से वह यथार्थ विश्वजनीन चेतना (Universal Consciousness) प्राप्त कर सकता है। देखा जाए तो ल्यूकाच का अलगाव-सिद्धांत मार्क्स की अपेक्षा हेगेल (1770-1831) के अलगाव-सिद्धांत के निकट आता है। इसका सारांश यह है कि पूँजीवाद के अंतर्गत कामगर-वर्ग अपनी वर्ग-स्थिति से अलगाव के कारण वस्तुपरक ज्ञान (Objective Knowledge) प्राप्त करने की क्षमता विकसित कर सकता है।

समकालीन अलगाव-सिद्धान्त
(Contemporary Theory of Alienation)

एरिक फ़्रॉम के विचार (Views of Erich Fromm)

आधुनिक अमरीकी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक विचारक **एरिक फ़्रॉम** (1900-80) ने अपनी चर्चित कृति 'एस्केप फ़्रॉम फ़्रीडम' (स्वतंत्रता से पलायन) (1941) में समकालीन समाज के अंतर्गत मनुष्य के अकेलेपन (Aloofness) की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया है। फ़्रॉम के अनुसार, पूँजीवादी व्यवस्था मनुष्य की सृजनात्मक गतिविधि (Creative Activity) में बाधा डालती है; उसे दूसरों के साथ स्वस्थ सामाजिक संबंध स्थापित करने से रोकती है; और उसे अपने-आपसे विमुख करके उसकी आत्म-छवि को धूमिल कर देती है। यही परिस्थितियाँ मनुष्य के 'अलगाव' को जन्म देती हैं। आधुनिक मनुष्य केवल सामाजिक-सांस्कृतिक बंधन से अपने-आपको मुक्त अनुभव नहीं करता, बल्कि वह इस बंधन से छूटकर एकदम अकेला हो जाता है।

नोट

मनुष्य के लिए तो भौतिक अकेलापन (Physical Aloofness) ही असह्य है, परंतु समकालीन विश्व में व्यक्ति अपने समाज में प्रचलित विचारों, मूल्यों, प्रतिमानों तथा सामाजिक संसर्ग से कटकर जो विलक्षण अकेलापन अनुभव करता है, वह उसका नैतिक अकेलापन (Moral Aloofness) है, जो और भी भयंकर सिद्ध होता है। जब यह अकेलापन हद से बढ़ जाता है, तब व्यक्ति मनोविदलता (Schizophrenia) जैसे विनाशकारी मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है। इससे बचने का तरीका यह होगा कि व्यक्ति सहज स्नेह (Spontaneous Love) तथा रचनात्मक कार्य (Productive Work) के माध्यम से अपने-आपको विश्व के साथ फिर जोड़ ले। वस्तुत: फ़्रॉम का संपूर्ण चिंतन समकालीन विश्व में व्यक्ति और समाज के टूटे हुए संबंध का फिर से जोड़ने का प्रयास है। परंतु इसकी मुख्य त्रुटि यह है कि वह व्यक्ति को ही संबोधित करता है; अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का कोई राजनीतिक या सामाजिक कार्यक्रम उसके पास नहीं है।

मनोविदलता (Schizophrenia) = वह गंभीर मानसिक रोग जिसमें व्यक्ति अपने विचारों और अनुभूतियों का अपने चारों ओर की घटनाओं से नहीं जोड़ पाता।

मार्क्यूज़े के विचार (Views of Marcuse)

नवमार्क्सवादी विचारक **हर्बर्ट मार्क्यूज़े** (1898-1997) ने समकालीन परिस्थितियों में मनुष्य के अलगाव का अत्यंत प्रभावशाली विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अपनी प्रसिद्ध कृति 'वन-डायमेंशनल मैन : स्टडीज़ इन द आइडियोलॉजी ऑफ़ एडवांस्ड इंडस्ट्रियल सोसाइटी' (एक-आयामी मानव: उन्नत औद्योगिक समाज की विचारधारा का विश्लेषण) (1964) के अंतर्गत मार्क्यूज़े ने यह तर्क दिया है कि पूंजीवाद ने जन-संपर्क के साधनों (Media of Mass Communication) को बड़ी चालाकी से इस्तेमाल करते हुए पीड़ित वर्ग के असंतोष को संवेदनशून्य बना दिया है, क्योंकि वह तुच्छ भौतिक इच्छाओं (Trivial Material Wants) को उत्तेजित करता है जिन्हें संतुष्ट करना बहुत सरल है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य का बहु-आयामी व्यक्तित्व (Multi-Dimensional Personality) लुप्त हो गया है और उसके व्यक्तित्व का एक ही आयाम रह गया है: उसकी तुच्छ, भौतिक इच्छाओं की संतुष्टि। इस तरह एक उपभोक्ता संस्कृति (Consumer Culture) मनुष्य के व्यक्तित्व पर हावी हो गई है जिसने उसकी सृजनात्मक स्वतंत्रता (Creative Freedom) के विचार को बहुत पीछे धकेलकर उसे 'एक-आयामी' मनुष्य बना दिया है।

मार्क्यूज़े के अनुसार, आधुनिक प्रौद्योगिक समाज (Technological Society) ने एक 'मिथ्या चेतना' को बढ़ावा देकर मानव मात्र को अपने शिकंजे में कस रखा है। यह मिथ्या चेतना भय और उपभोक्तावाद पर आधारित है। पूँजीवादी समाज में पूँजीपति (Capitalist) और कामगार (Worker) दोनों साम्यवादी आक्रमण के भय से त्रस्त हैं। इसके अलावा, प्रौद्योगिक क्रांति (Technological Revolution) ने जीवन की सुख-सुविधाएँ बहुत बढ़ा दी हैं। आज का समाज ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा सुखमय जीवन की आशा बँधाता है। ऐसी हालत में कुछ महत्त्वपूर्ण स्तरों पर अलगाव या पराएपन की अनुभूति बहुत हद तक लुप्त हो चुकी है। विस्तृत मशीनीकरण के कारण कामगार का काम काफी हल्का हो गया है। अब उसे अपने काम से जी-तोड़ परिश्रम नहीं करना पड़ता, और इतनी कम मज़दूरी भी नहीं मिलती कि उसका जीना दूभर हो जाए। अत: ऐसा लगता है कि वह एक हद तक 'अलगाव' की स्थिति से मुक्त हो गया है। परंतु साथ ही बँधा-बँधाया मशीनी काम करते-करते उसका मन स्वतंत्र और सृजनात्मक कार्य के महत्त्व को अनुभव करने योग्य नहीं रह गया है।

आज का कामगार यह स्पष्ट अनुभव नहीं कर पाता कि अपनी रचना से उनका नाता टूट चुका है। उसके चारों ओर बनावटी सुखों का जो जाल फैला है, उसमें उलझकर वह सृजनशीलता के सच्चे आनंद की कामना भी नहीं कर पाता। इस तरह वह अपने अलगाव की स्थिति से बेख़बर हो गया है। वह एक मिथ्या चेतना की छाया में श्रम करता है।

नोट

यह मिथ्या चेतना धर्म (Religion) की नहीं, किसी अतींद्रिय सुख (Supersensuous Pleasure) की नहीं, बल्कि वर्तमान भोगवादी सुख (Hedonistic Pleasure) की मिथ्या चेतना है जो उसके अलगाव पर पर्दा डाल देती है। **मनुष्य सोने के पिंजरे में बंद पंछी की तरह उसके आकर्षण में डूब चुका है कि वह मुक्त आकाश में उड़ान भरने के आनंद को भूल गया है।** इस तरह पूँजीवादी समाज की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि इसमें मनुष्य न केवल अपनी स्वतंत्रता खो चुका है, बल्कि वह यह भी नहीं जानता कि वह उसे खो चुका है। इस खोई हुई स्वतंत्रता को ढूँढ़ लाने के लिए सबसे पहले उसे अपने 'अलगाव' के प्रति सचेत करना होगा ताकि उसे यह अनुभव हो जाए कि उसकी कोई मूल्यवान् वस्तु गुम हो गई और वह उसकी तलाश शुरू कर दे। जब तक वह स्वयं स्वतंत्रता की कामना नहीं करेगा, तब तक उसे स्वतंत्रता प्राप्त होने की कोई संभावना नहीं है।

> जब कोई दास अपने पाँव की बेड़ियों पर गर्व करता है, उन्हें मूल्यवान आभूषणों की तरह गले से लगाता है, तब उसकी मुक्ति का कोई भी रास्ता नहीं रह जाता। **–महात्मा गांधी**

हेबरमास के विचार (Views of Habermas)

नवमार्क्सवाद (Neo-Marxism) के प्रतिभाशाली प्रवक्ता युर्गेन हेबरमास (1929) ने अपनी बहुचर्चित कृति 'लैजिटिमेशन क्राइसिस' (वैधता का संकट) (1975) और अन्य कृतियों के अंतर्गत स्वतंत्रता की समस्या को **पूँजीवाद की वैधता के संकट** (Legitimation Crisis) के रूप में देखा है। हेबरमास के अनुसार, समकालीन विश्व में विज्ञान (Science), प्रौद्योगिक (Technology) और संगठन (Organization) की विलक्षण प्रगति का परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की तर्कबुद्धि (Reason) मनुष्य की विमुक्ति (Emancipation) के दायित्व से विमुख हो गई है, और तर्कसंगति (Rationality) की भूमिका तकनीकी कार्यकुशलता (Technical Efficiency) बढ़ाने तक सीमित रह गई है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की तर्क-बुद्धि उसे जीवन का साध्य (End) नहीं सुझाती, बल्कि केवल साधनों (Means) को संगठित करना सिखती है। अत: वह मनुष्य को स्वतंत्रता (Liberty) की राह नहीं दिखाती, बल्कि उस पर अपना प्रभुत्व (Domination) स्थापित करके उसे पराधीन (Dependent) बना देती है।

उधर उदार लोकतंत्र (Liberal Democracy) की संस्थाओं ने मनुष्यों के परस्पर संबंधों का बाज़ार समाज (Market Society) के ढर्रे पर खरीदार और विक्रेता के संबंधों में बदल दिया है। लोकतंत्र का आधार है–राजनीतिक चर्चा (Political Discussion), परंतु समकालीन परिस्थितियों में वह कभी यथार्थ चर्चा का रूप धारण नहीं कर पाई, क्योंकि इस चर्चा में भाग लेने वाले लोग शक्तिशाली और संगठित हितों के साथ जुड़े रहे हैं। अत: राजनीतिक निर्णय (Political Decisions) निहित स्वार्थों (Vested Interests) के परस्पर समायोजन का परिणाम होते हैं, जन-मानस की मुक्त अभिव्यक्ति का परिणाम नहीं होते। जन-संपर्क के साधन (Media of Mass Communication) सूचना (Information) के प्रसार और विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को बढ़ावा नहीं देते, बल्कि कोरे मनोरंजन के साथ-साथ व्यापारिक हितों को बढ़ावा देने की भूमिका निभाते हैं।

हेबरमास ने लिखा है कि परंपरागत समाज सृष्टि की पौराणिक, धार्मिक या दार्शनिक व्याख्याओं से जुड़ी हुई संस्थाओं की वैधता (Legitimacy) को स्वीकार करते थे। परंतु पूँजीवाद ने वैज्ञानिक जानकारी और स्वचालित मशीनों को प्रामाणिकता का आधार बना दिया है; अत: इसने वैधता-स्थापन (Legitimation) के परंपरागत आधार को नष्ट कर दिया है। उसकी जगह इसने परस्पर लाभ (Mutual Benefit) या समान विनिमय (Equal Exchange) को सामाजिक संगठन का मूल सिद्धांत मान लिया है और बाज़ार समाज (Market Society) के नियमों को सर्वोच्च मान्यता प्रदान कर दी है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने समाजिक संगठन का तकनीकी प्रतिरूप प्रस्तुत करके जनसाधारण को राजनीतिक चेतना से वंचित कर दिया है, अर्थात् उन्हें सामाजिक लक्ष्यों के प्रति सचेत नहीं रहने दिया है। उन्होंने इस विचार को बढ़ावा दिया है कि सारी मानवीय समस्याएँ तकनीकी या संगठनात्मक किस्म की समस्याएँ हैं

नोट

और वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके उनका समाधान किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि मनुष्य स्वयं सोचने-समझने और निर्णय करने वाला प्राणी नहीं रहा बल्कि बनी-बनाई जानकारी का प्रयोग करने वाली मशीन बनकर रह गया है। ऐसी हालत में मनुष्य की स्वतंत्रता को फिर से स्थापित करने के लिए तर्कबुद्धि (Reason) को नई दिशा में मोड़ना होगा ताकि वह मानव-जीवन के लक्ष्यों का चिंतन कर सके।

निष्कर्ष (Conclusion)

इसमें संदेह नहीं कि अलगाव का सिद्धांत आधुनिक समाज के अंतर्गत रंग-बिरंगी भीड़ में खोए हुए मनुष्य की व्यथा का सजीव चित्रण करता है, परंतु यह उसकी मुक्ति (Emancipation) की कोई निश्चित राह नहीं दिखाता। देखा जाए तो अलगाव का सिद्धांत किसी स्वप्नलोक (Utopia) के साथ यथार्थ की तुलना करते हुए उसकी त्रुटियों को दर्शाता है। दूसरे शब्दों में, यह वर्तमान समाज को किसी ऐसे काल्पनिक समाज के संदर्भ में रखकर देखता है जहाँ मनुष्य की सारी बुनियादी जरूरतें पूरी हो सकेंगी, जहाँ के सामाजिक संगठन को सब मनुष्य हृदय से स्वीकार करेंगे और जहाँ केवल ऐसे बंधन रह जाएँगे जिन्हें मनुष्य खुशी-खुशी अपना लेंगे। ऐसी व्यवस्था को हम एक लक्ष्य के रूप में तो स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु उसे वर्तमान व्यवस्था के मूल्यांकन का मानदंड नहीं बना सकते।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य/असत्य बताइए (State whether the following Statements are True/ False)–

7. स्वतंत्रता मनुष्य की एक दशा है जिसमें मनुष्य स्वयं निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में समर्थ होता है।
8. नागरिकों का नैतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए राज्य को नागरिकों की लोकतंत्रीय स्वतंत्रताओं की रक्षा नहीं करनी चाहिए।
9. मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार, स्वतंत्रता ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति को अकेला छोड़ दिया जाना चाहिए।

13.4 सारांश (Summary)

- आजकल हमारे समाज में और दुनिया के अन्य हिस्सों में भी यह बहस चल रही है कि क्या मुक्त बाज़ार के जरिए खुली प्रतियोगिता को बढ़ावा देना समाज के सुविधाप्राप्त सदस्यों को नुकसान पहुँचाए बगैर सुविधाहीनों की मदद करने का सर्वोत्तम तरीका होगा या कि गरीबों को न्यूनतम बुनियादी सुविधाएँ मुहैया कराने की जिम्मेवारी सरकार को लेनी चाहिए।
- प्रकृति ने भिन्न-भिन्न जातियों को भिन्न-भिन्न तत्त्वों से नहीं बनाया। कोई जड़ी-बूटी या औषधि सब मनुष्यों पर एक-जैसा प्रभाव डालती है; वह गोरे-काले में कोई भेद नहीं करती। अश्वेत मनुष्य का रक्त समूह (Blood Group) श्वेत मनुष्य से मिल सकता है और वह रक्तदान करके श्वेत मनुष्य को नया जीवन दे सकता है या नेत्रदान करके उसकी खोई हुई दृष्टि को लौटा सकता है।
- स्वतंत्रता या स्वाधीनता (Independence) का विपरीत रूप है–दासता (Slavery) या पराधीनता (Bondage)। दास जो कुछ स्वयं चाहता है, वैसा नहीं कर सकता, बल्कि जो कुछ उसका स्वामी चाहता है, उसे वही करना पड़ता है।
- आधुनिक राज्य समाज की बहुत सारी आर्थिक गतिविधियों को नियमित करता है और इसलिए व्यक्तियों या समूहों की अनेक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाए जाते हैं।

नोट

13.5 शब्दकोश (Keywords)

1. **विषमता (Inequality):** जो समान या बराबर न हो।
2. **नीति (Policy):** ले जाने या ले चलने की क्रिया भाव।

13.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. बाज़ार और लोककल्याण को परिभाषित कीजिए।
2. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि समानता अधिकार का विवरण देती है, तथ्य का नहीं। स्पष्ट कीजिए।
3. समानता और न्याय के संबंधों की चर्चा कीजिए।
4. स्वतंत्रता से क्या अभिप्राय है?
5. स्वतंत्रता और सत्ता में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
6. स्वतंत्रता के मानववादी आधार का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. बुनियादी	2. बाज़ार, विकल्प	3. सार्वजनिक निधि
4. (ब)	5. (स)	6. (ब)
7. सत्य	8. असत्य	9. सत्य

13.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. इन्ट्रोडक्शन टु माडर्न पॉलिटिकल थ्योरी–एन. पी. बैरी।
2. द पॉलिटिकल थ्योरी–आर. के. परूथी।

नोट

इकाई–14: सार्वजनिक हित एवं लोकतंत्र
(The Public Interest and Democracy)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 सार्वजनिक हित (The Public Interest)

14.2 लोकतन्त्र (Democracy)

14.2.1 लोकतन्त्र के सिद्धान्त (Theories of Democracy)

14.2.2 लोकतन्त्र का बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralist Theory of Democracy)

14.2.3 लोकतन्त्र का मार्क्सवादी सिद्धान्त अथवा जनवादी लोकतन्त्र की धारणा (Marxist Theory of Democracy or Concepts of People's Democracy)

14.3 सारांश (Summary)

14.4 शब्दकोश (Keywords)

14.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

14.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सार्वजनिक हित का अर्थ समझने हेतु।
- लोकतन्त्र का अर्थ समझने हेतु।
- लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त को जानने हेतु।
- लोकतन्त्र के मार्क्सवादी सिद्धान्त को जानने हेतु।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

आज का युग लोकतन्त्र का युग है। सारटोरी ने इसे प्रजातान्त्रिक भ्रम (democratic confusion) का युग भी कहा है क्योंकि लोकतन्त्र राजनीतिक सिद्धान्तों की सबसे भ्रमात्मक धारणा है। लोकतन्त्र केवल सरकार चुनने अथवा शासन प्रणाली का एक तरीका ही नहीं है बल्कि इसे 'एक तरह का समाज तथा जीने का तरीका', 'एक आदर्श अथवा एक उद्देश्य' के रूप में भी परिभाषित किया गया है। प्रत्येक राज्य चाहे वह उदरावादी है अथवा समाजवादी या मार्क्सवादी, अपने को प्रजातान्त्रिक और दूसरों को तानाशाही कहने में नहीं चूकता। परिणामस्वरूप लोकतन्त्र की धारणा परस्पर विरोधी परिभाषाओं की शिकार रही है। कई तरह के तानाशाही शासनों को भी लोकतन्त्र के नाम पर न्यायोचित ठहराया गया है। विभिन्न लेखकों का विचार है कि लोकतन्त्र ने अपना अर्थ कई बार बदला है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विचारधाराओं ने भी इसे अपना रंग देने का प्रयत्न किया है।

एक समय था जब लोकतन्त्र एक बुरा शब्द था। इसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। लोकतन्त्र के शाब्दिक अर्थ–अर्थात् 'लोगों द्वारा शासन या लोगों की बहुमत की इच्छा के आधार पर शासन' –के रूप में इसे कोई अच्छी धारणा नहीं माना गया; इसे कुलीनतन्त्र अथवा सभ्य जीवन के लिए एक खतरा माना गया। एक सम्मानित शासन के रूप में लोकतन्त्र केवल प्रथम महायुद्ध के बाद ही स्थापित हुआ। उस समय से लोकतन्त्र के 'लाभ अथवा हानि' या 'सर्वोत्तम सरकार' जैसे विषयों पर तर्क-वितर्क लगभग समाप्त हो गए, यहां तक कि आज प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक सरकार अपने को लोकतांत्रिक होने या बनने का दावा करते हैं। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन एशिया और अफ्रीका के लोगों के आत्मनिर्णय के प्रजातान्त्रिक अधिकार की अभिव्यक्ति थे। इसी तरह 'मजदूर-वर्ग का लोकतन्त्र' अथवा 'जन-लोकतन्त्र' के नाम पर पश्चिमी उदारवादी लोकतन्त्र के विरुद्ध साम्यवादी क्रान्तियां भी हुईं। इन सभी प्रकार की घटनाओं ने लोकतन्त्र के रूप में कई परिवर्तन कर दिये और इसे एक अस्पष्ट एवं धुंधली धारणा बना दिया। 1949 में यूनेस्को ने लोकतन्त्र से संबन्धित आदर्शों और विरोधाभासों को लेकर विभिन्न देशों को एक प्रश्नावली भेजी जिसके परिणामस्वरूप दो बातें बड़ी स्पष्ट रूप से सामने आईं:

1. लोकतन्त्र के विरुद्ध कोई तर्क नहीं था। इतिहास में पहली बार राजनीतिक और सामाजिक प्रबंधों के लिए लोकतन्त्र को एक सर्वोत्तम व्यवस्था स्वीकार किया गया; तथा

2. लोकतन्त्र के आदर्श को अस्पष्ट माना गया। जो लेखक लोकतन्त्र की धारणा के बारे में स्पष्ट थे उन्होंने भी यह माना कि विभिन्न देशों की सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियां भिन्न होने के कारण लोकतन्त्र के विचार तथा आदर्श को ठोस रूप देने में थोड़ी अस्पष्टता रह सकती है।

समकालीन लोकतन्त्र केवल पश्चिमी उदरावादी देशों का एकाधिकार नहीं है। इसे केवल पश्चिमी उदारवादी लोकतन्त्र के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। पूर्व सोवियत यूनियन एवं पूर्वी-यूरोपीय साम्यवादी राज्यों तथा एशिया और अफ्रीका के विकासशील राज्यों में भी लोकतन्त्र की अपनी-अपनी व्यवस्थायें रही हैं। इन राज्यों ने लोकतन्त्र की अपनी कुछ अलग विशेषतायें विकसित कीं।

14.1 सार्वजनिक हित (Public Welfare)

सार्वजनिक हित सामूहिक रूप से जनता के हित को कह सकते हैं। इसकी अवधारणा लोकनीति, प्रजातन्त्र, सरकार के स्वरूप, राजनीति, नीतिगत बहस, जनकल्याण, सरकारी नियोजन, न्याय के लिये आवश्यक है। सभी लोग जनहित की बात करते हैं, लेकिन सामान्यत: इस पर सर्वसम्मति नहीं हो पाती कि किसे जनहित कहा जाए।

सैद्धान्तिक रूप से सार्वजनिक हित उसे कह सकते हैं जिसमें या तो प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित हो या फिर जिसमें लोगों के एक वर्ग को लाभ हो और दूसरों को कोई नुकसान न हो। हालाँकि, यथार्थ में, सार्वजनिक हित के मामलों

नोट

का उपर्युक्त के अलावा भी कई परिणाम होते हैं और जहाँ एक वर्ग को लाभ होता है वहाँ दूसरे को नुकसान भी होता है। सार्वजनिक हित या जनता के हित को अक्सर निजी या व्यक्तिगत हित से अलग करके देखते हैं, क्योंकि जो समाज के लिए अच्छा हो वह एक व्यक्ति विशेष के लिए अच्छा नहीं भी हो सकता है या फिर इसके विपरीत भी। हालाँकि, समाज व्यक्तियों का है और सार्वजनिक हित की गणना अपने सदस्यों के हितों के परिप्रेक्ष्य में की जानी चाहिये। यह व्यापक बहस का मुद्दा है कि सार्वजनिक हित मानवाधिकारों को पोषित या नष्ट करता है, किस सीमा तक, सामाजिक हित अपने व्यक्तिगत सदस्यों के हितों के समान है और किस सीमा तक जनता के हित के खिलाफ व्यक्तिगत अभिलाषाओं की पूर्ति की जा सकती है। राजनीतिक दर्शन में जनता का हित एक महत्त्वपूर्ण, किन्तु, कुपरिभाषित अवधारणा है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ मामलों में संभव है, सिर्फ जनता के हित को बढ़ाने से कुछ निजी हितों को चोट पहुँचेगी। उदाहरण के लिये, लोकतंत्र में बहुमत का अल्पसंख्यकों पर अत्याचार का जोखिम। दूसरी ओर, अल्पसंख्यकता कई तरह की हो सकती है। इस प्रकार, अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षण भी सार्वजनिक हित का हिस्सा बन जाता है।

जनहित (Public Interest)—सामान्य हित का विचार जन हितार्थ किए गए कार्यों से जुड़ा है। प्रतिरक्षा, क़ानून-व्यवस्था, परिवहन-संचार आदि की सुविधाओं की समाज के सभी व्यक्तियों को आवश्यकता होती है। पर क्या इन सामान्य कार्यों की पूर्ति से कोई सामान्य हित होगा? हाँ, ऐसी ही है, लेकिन आमतौर पर सामान्य हित में सेवा भावना का स्थान दायित्व बोध से अधिक ऊँचा माना जाता है। इसी कारण प्रतिरक्षा व्यवस्था करना सरकार का दायित्व निर्वहन है। जबकि चिकित्सा व्यवस्था सेवा कहलाएगा। सामान्य हित के विचार में सेवा की व्यवस्था और उसके विस्तार पर जोर दिया जाता है। उसके बाद ही शांति और व्यवस्था की प्रतिरक्षा की बात आती है। सामान्य हित का सार जनकल्याण से है।

जनकल्याण (Public Welfare)—यद्यपि सामान्य हित के विचार में जन कल्याणवाद का अंश है, पर सभी कल्याण कार्यों से सामान्य हित की प्राप्ति जरूरी नहीं है। विदेशी आक्रमण के प्रति रक्षा व्यवस्था सुदृढ़ करने की दृष्टि से प्रक्षेपास्त्र परीक्षण क्षेत्र का निर्माण सामान्य हित संवर्धन करता है पर इसके लिए सैकड़ों परिवारों का उजाड़ा जाना जन कल्याण कार्य नहीं कहला पाएगा। अन्य दावों पर किसी एक की 'विजय' से कभी सामान्य हित साधन नहीं होता। यह तो सभी दावों के बीच समंजन और समरसता में ही मिलता है। इस रूप में सामान्य हित हुआ-सभी दावों का सामान्य न्यूनतम। यदि यह सामान्य हित सभी दावों (यह दावे एक-दूसरे के विरोधी भी हो सकते हैं) की समरसता में ही मिलता है तो इसमें निश्चित रूप से उन सब दावों की अच्छाइयाँ सम्मिलित होंगी। इस विषय में विद्वानों में मतभेद हो सकता है "पूर्ण रोजगार" की अवस्था में किस सीमा तक किसी की बेरोजगारी सहन की जा सकती है। पर एक बात तो सर्व स्पष्ट है—बेरोजगारी का अनुपात 'न्यूनतम' रखने पर तो सभी सहमत होते हैं। विभिन्न दावों के बीच सामान्य ही हो नहीं सकती। इसीलिए सभी दावों में जो सामान्यता वही सामान्य हित है—जो हर एक के लिए हितप्रद है वही सबके हित में है। एक लक्ष्य के रूप में सामान्य हित एक सामान्य तत्त्व, संतुलन का एक तरीका, एक तरह का समझौता और एक बिंदु है जिसमें सभी अपना हित सम्मिलित पाते हैं।

एक लक्ष्य के रूप में 'सामान्य हित' के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—

(*i*) सामान्य हित किसी एक का हित नहीं होता। यह तो सभी का हित है।

(*ii*) सभी के हित के रूप में सामान्य हित का अर्थ होगा सभी का सांझे रूप में हित।

(*iii*) सामान्य हित में सेवा भावना का पुट व्यवस्था या दायित्व वहन से अधिक होता है। इसीलिए यहाँ लेने की अपेक्षा 'कुछ देने' पर बल रहता है।

(*iv*) सभी के हित के रूप में सामान्य हित सभी दावों के संतुलन का बिंदु बन जाता है। इसमें सभी दावों की सामान्य बातों का समन्वय तथा समंजन होता है।

नोट

एक कार्यप्रणाली मानदण्ड के रूप में सामान्य हित (Common Good as Norm of Procedure)— सामान्य हित को एक कार्यपद्धति के रूप में भी जाना जाता है। यह न्यायोचित ढंग से कार्य करने का माध्यम कहा जा सकता है, न कि न्यूनतम प्राप्त लक्ष्य। यह दलील कूछ इस प्रकार है–सामान्य हित इस बात में निहित नहीं है कि हम क्या करते हैं। यह तो इस बात पर निर्भर है कि हम (वह कार्य) कैसे संपन्न करते हैं। बेन तथा पीटर्स के शब्दो में, "सामान्य हित कोई ऐसा उद्देश्य नहीं है जिसमें सभी विशेष हितों को किसी-न-किसी तरह मिला दिया गया हो कि सभी को कुछ-न-कुछ अपना-सा लगे। सामान्य हित बहुमत का हित भी नहीं है क्योंकि जरूरतमंद अल्पसंख्य के सहायतार्थ बहुमत पर कर लगाया जा सकता है और इसी तरह यदि बहुमत किसी अल्पमत वर्ग पर अपने संख्याबल के आधार पर अत्याचार करता है, तो उसकी भर्त्सना होनी ही चाहिए। इसलिए सामान्य हित की प्राप्ति का प्रयास न्यायिक दृष्टि से उचित व्यवहार का प्रयास ही होगा.....।" अत: कार्य पद्धति के रूप में सामान्य हित का अर्थ होगा–कार्य करने का एक उचित व न्यायपूर्ण मानदण्ड।

अत: निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि सामान्य हित को एक ऐसा लक्ष्य मानना चाहिए जिसकी प्राप्ति से सभी के हित का साधन हो सके तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति ऐसे न्यायपूर्ण ढंग से करनी चाहिए कि किसी के साथ (या खिलाफ भी) पक्षपात न हो।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थान भरें (Fill in the blanks)–

1. सार्वजनिक हित ..... रूप से जनता के हित को कहते हैं।
2. प्रतिरक्षा, क़ानून-व्यवस्था, परिवहन आदि की सुविधाओं की समाज के सभी ..... को आवश्यकता होती है।
3. सामान्य हित को ऐसा लक्ष्य मानना चाहिए जिसकी प्राप्ति से सभी के ..... का साधन हो।

14.2 लोकतन्त्र (Democracy)

जिन परिस्थितियों में पिछले 200 सालों में लोकतन्त्र का विकास हुआ है, उनके आधार पर इसकी किसी सर्वमान्य परिभाषा पर पहुंचना असम्भव है। एक लेखक के अनुसार लोकतन्त्र विभिन्न लोगों के दिमागों में विभिन्न विचार हैं। इस सन्दर्भ में सी.डी. बर्न्स लिखते हैं कि ऐसे शब्द बहुत विरले होंगे जिन्हें लोकतन्त्र से अधिक विविध और ढुलमुल तरीके से परिभाषित किया गया हो। वास्तव में लोकतन्त्र की प्रश्नावली ने भी लोकतन्त्र की अस्पष्टता की तरफ इशारा किया था। इस सन्दर्भ में हम लास्की के विचारों से सहमत हो सकते हैं जिसके अनुसार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोकतन्त्र का एक सन्दर्भ है और प्रत्येक क्षेत्र में यह कई ऐसी विशेष समस्यायें उठाता है जिन्हें सर्वव्यापक स्तर पर सन्तोषजनक ढंग से हल नहीं किया जा सकता। लोकतन्त्र के बारे में कोई सर्वव्यापक परिभाषा देना इसलिये भी कठिन है क्योंकि इसे केवल एक शासन का स्वरूप ही नहीं बल्कि जीने का एक ढंग भी माना जाता है। इस अर्थ में लोकतन्त्र को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है जिसमें प्रजातांत्रिक व्यक्ति, प्रजातांत्रिक आर्थिक व्यवस्था, प्रजातांत्रिक नैतिकता आदि को भी समाविष्ट किया जाता है। सरकार की प्रक्रिया के रूप में लोकतन्त्र की कई परिभाषायें दी गई हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

लिंकन: लोकतन्त्र लोगों का, लोगों के लिये और लोगों द्वारा शासन है।

सीले: लोकतन्त्र सरकार का वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी होती है।

सारटोरी: प्रजातांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था वह होती है जो सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी और अनुक्रियाशील बनाती है। इसकी सार्थकता इसके नेतृत्व की कार्यकुशलता और चतुराई पर निर्भर होती है।

नोट

लिप्सेट: लोकतन्त्र को एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो सरकार के प्रतिनिधियों को नियमित रूप से बदलने का संवैधानिक तरीका प्रदान करती है। यह एक ऐसी सामाजिक पद्धति भी है जो जनसंख्या के अधिकतम भाग को सरकारी पद के दावेदारों को चुनने की अनुमति देकर मुख्य निर्णयों को प्रभावित करने का अवसर प्रदान करती है।

मैकफरसन: लोकतन्त्र सरकार को चुनने और शासन संभालने या अन्य तरीकों से क़ानून बनाने तथा राजनीतिक निर्णय लेने का यन्त्र मात्र है।

शुम्पीटर: प्रजातांत्रिक तरीका राजनीतिक निर्णयों तक पहुंचने का वह संस्थात्मक प्रबंध है जो लोगों को अपने प्रतिनिधि खुद चुनकर अपने सामान्य हित प्राप्त करने का अवसर देता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर, लोकतन्त्र की कुछ सामान्य विशेषताओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है:

1. लोकतन्त्र का अर्थ है आम लोगों द्वारा नियमित अवधि के बाद सार्वजनिक सरकारी पदों पर नेताओं का चुनाव और सार्वजनिक नीतियों के निर्माण में भागीदारी। चुनावों, सार्वजनिक राजनीतिक विवादों और राजनीतिक प्रक्रिया के अन्य पक्षों में हिस्सा लेना व्यक्ति का अधिकार ही नहीं बल्कि कर्तव्य भी है।

2. सरकार के सार्वजनिक पदों को प्राप्त करने के लिये व्यक्तियों और संस्थाओं में अर्थपूर्ण और व्यापक प्रतियोगिता, तथा

3. राजनीतिक प्रतियोगिता तथा भागीदारी को व्यापक स्तर पर संरक्षित करने के लिये नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रतायें, जैसे सांविधानिक राज्य, मौलिक अधिकार, स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव, सत्ता का विकेन्द्रीकरण का प्रावधान।

संक्षेप में लोकतन्त्र का अर्थ है: सहभागिता, प्रतिस्पर्धा तथा नागरिक-राजनीतिक स्वतंत्रतायें। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लोकतन्त्र को समानता, स्वतंत्रता, नैतिक आत्म-विकास, सामाजिक उपयोगिता, कार्यकुशलता तथा जनसहमति जैसी मौलिक मान्यताओं के आधार पर न्यायसंगत ठहराया गया।

14.2.1 लोकतन्त्र के सिद्धान्त (Theories of Democracy)

जैसे कि ऊपर चर्चा की गई है, लोकतन्त्र का अर्थ है, जनता का शासन। लोकतन्त्र को 'जनता का शासन' के रूप में परिभाषित करने से प्रश्न अधिक उठते हैं और इसका अर्थ कम स्पष्ट होता है। 'जनता' का अर्थ क्या है? और 'शासन' से क्या अभिप्राय है—इन प्रश्नों पर अत्यधिक मतभेद है। यदि *'Demos'* का अर्थ जनता है, तो सवाल यह है कि जनता कौन होती है और इसकी भागीदारी का क्षेत्र तथा सीमायें क्या हैं? भागीदारी के लिये अनुकूल परिस्थितियां क्या होती हैं? इसी तरह यदि ***'Crats'*** का अर्थ शासन है, तो यह सवाल उठता है कि इस शासन की सीमा क्या है? क्या इसका अर्थ है कि कानून और व्यवस्था अर्थव्यवस्था तथा सार्वजनिक नीतियों पर जनता का शासन? जो लोग इसमें भाग नहीं लेना चाहते उनके लिये विकल्प क्या है? संक्षेप में, यदि लोकतन्त्र को लेकर सवाल अनेक हैं तो इनके उत्तर भी विभिन्न लेखकों ने व्यापक विभिन्नता के आधार पर दिये हैं। यदि कुछ लेखकों का मत है कि राज्य के नीतिनिर्माण में सम्पूर्ण जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी होनी चाहिए, तो अन्य लेखकों का मत है कि यह भागीदारी प्रतिनिधियों के माध्यम से भी सम्पन्न हो सकती है। कुछ लेखकों का विचार है कि शासक जनता द्वारा चुने जाने चाहिए तथा जनता के प्रति उत्तरदायी होने चाहिए। कुछ अन्य का विचार है कि शासक जनता के प्रतिनिधियों के प्रति जिम्मेवार होने चाहिए। कुछ अन्य लेखकों के अनुसार, यदि जनता के हित में काम करते हैं तो यही पर्याप्त है।

नोट

लोकतन्त्र के विभिन्न सिद्धान्त उपरोक्त प्रश्नों और विकल्पों का क्रमबद्ध तरीके से उत्तर देते हैं। अध्ययन के दृष्टिकोण से हम लोकतन्त्र के निम्नलिखित सिद्धान्तों को पहचान सकते हैं:

1. परंपरागत-उदारवादी सिद्धान्त
2. विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त
3. बहुलवादी सिद्धान्त
4. सहभागिता-सिद्धान्त
5. मार्क्सवादी सिद्धान्त अथवा जन-लोकतन्त्र की धारणा।

इनमें से जहां परम्परागत-उदारवादी, विशिष्ट-वर्गीय तथा बहुलवादी सिद्धान्तों को प्रतिनिधि लोकतन्त्र (Representative Democracy) के साथ जोड़ा जाता है; वहां सहभागिता और जन-लोकतन्त्र के सिद्धान्त प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy) के कुछ तत्वों का मिश्रण करने का प्रयत्न करते हैं ताकि नीति-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावशाली बनाया जा सके। आइये हम विभिन्न सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करें।

प्रतिनिधि लोकतन्त्र के सिद्धान्त (Theories of Representative Democracy)

आधुनिक लोकतन्त्र 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' है। यद्यपि ग्रीक राज्यों में लोकतन्त्र का उदय और विकास राज्य के कार्यों में नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी के साथ जोड़ा जाता है तथापि आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के उदय ने प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को असंगत बना दिया। औद्योगिक क्रांति, नये शहरों और महानगरों का विकास, जनसंख्या का विभिन्न महाद्वीपों में स्थानान्तरण तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था जैसे परिवर्तनों ने लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी के सन्दर्भ में कई समस्यायें खड़ी कर दीं, जैसे भागीदारी का क्षेत्र तथा सीमायें, भागीदारी और कुशल प्रशासन की समस्या आदि। जनसंख्या की वृद्धि तथा क्षेत्रफल के दृष्टिकोण से बड़े राज्यों ने प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को न केवल असंभव बल्कि अनावश्यक और अवांछनीय भी बना दिया। अत: आधुनिक राज्यों में लोकतन्त्र का आदर्श स्वरूप 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' (Representative Democracy) में पाया गया जिसमें लोग अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग एक निश्चित अवधि के बाद चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से करते हैं। लोकतन्त्र का यह स्वरूप क्रमबद्ध तरीके से जे.एस. मिल की पुस्तक *'Considerations on Representative Government'* में मिलता है। उसके अनुसार प्रतिनिधि लोकतन्त्र की व्यवस्था भाषण, विचाराभिव्यक्ति, प्रेस और समुदाय बनाने की स्वतंत्रता के साथ-साथ सरकार पर निगरानी रखने तथा इसे नियंत्रित करने का शक्तिशाली माध्यम है। चुनावी प्रतियोगिता के माध्यम से राजनीतिक नेताओं से समाज के अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के लिये काम करवाया जा सकता है। अरस्तु के विचारों का समर्थन करते हुए मिल लिखते हैं कि यदि सरकार जनता के सीधे नियंत्रण में रहेगी तो समाज के सर्वश्रेष्ठ और समझदार व्यक्तियों (जो संख्या में थोड़े होते हैं) का अज्ञानी, अनुभवहीन और अकुशल लोगों (जो हमेशा बहुमत में होते हैं) के आधीन हो जाने का खतरा बना रहता है। इसके अतिरिक्त 'सरकार को नियंत्रित करने' तथा सरकार के काम करने' के अन्तर होता है। नियंत्रण एवं कार्यकुशलता की मांग करते हैं। आम लोग इनमें जितना अधिक दखल देंगे उतना ही सरकार की कार्यकुशलता को कम करेंगे जिसके परिणामस्वरूप लोगों को मिलने वाले लाभों में कमी आ जायेगी। अत: लोकतन्त्र के लाभ, गुण तथा कार्यकुशलता केवल प्रतिनिधि लोकतन्त्र के माध्यम से ही प्राप्त हो सकते हैं जो नियंत्रण तथा कार्यों (Control and Functions) को अलग कर देता है। प्रतिनिधि लोकतन्त्र उत्तरदायित्व, कार्यकुशलता तथा व्यवसायिकता का मिश्रण है। यह नौकरशाही सरकार के विभिन्न लाभों को उसकी हानियों के बिना प्राप्त करवा सकता है। प्रतिनिधि सरकारों के विभिन्न स्वरूप लोकतन्त्र तथा कार्यकुशलता दोनों को समान महत्त्व देते हैं। इनके विभिन्न स्वरूप अग्रलिखित हैं–

नोट

1. लोकतंत्र का परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त (Classical-liberal Theory of Democracy)

उदारवाद ने प्रजातान्त्रिक विचारों का समर्थन आरम्भ से ही किया। वास्तव में इंग्लैंड और यूरोप में लोकतन्त्र का रास्ता केवल उदारवाद के बाद ही खुला और लोकतन्त्र को एक प्रतिष्ठित शासन के रूप में देखा जाने लगा। वास्तव में प्रजातान्त्रिक विचार उस समाज की एक तार्किक आवश्यकता थी जिसने अपने-आपको राजाओं तथा धार्मिक सत्ताओं की तानाशाही से मुक्त कर लिया था। स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार, धर्मनिरपेक्षता, न्याय जैसी अवधारणायें इस नयी उदारवादी विचारधारा के आधार बने और लोकतन्त्र वह माध्यम जिससे इन्हें प्राप्त किया जा सकता था। जिस उदारवादी लोकतन्त्र को हम जानते हैं वह पहले उदारवादी बना और बाद में प्रजातान्त्रिक। मैकफरसन के अनुसार, इससे पहले कि लोकतन्त्र आधुनिक पश्चिमी राज्यों में आया, यहां एक ऐसे समाज और राजनीति की रचना हुई जो चयन, प्रतियोगिता तथा बाजार-अर्थव्यवस्था पर आधारित थे। यह उदारवादी राज्य था जिसका प्रजातान्त्रिक हुआ और इस प्रक्रिया में लोकतंन्त्र का भी उदारीकारण हुआ। परम्परागत-उदारवादी लोकतन्त्र के प्रारम्भिक विचार हमें टॉमस मूर, विन्सटैन्ले तथा इंगलिश प्यूरीटन्स और लैवल्रस में मिलते हैं। तथापि यह सामाजिक समझौते का सिद्धान्त था जिसने लोकतन्त्र को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, क्योंकि कोई भी समझौता तभी किया जा सकता है जब समझौता करने वाले बराबर हों। उदाहरण के लिए, टॉमस हॉब्स अपने सामाजिक समझौते में प्रत्येक व्यक्ति को समझौते में बराबर भागीदार मानते हैं। इसी तरह जॉन लॉक ने भी लोक-सहमति पर आधारित सरकार और लोक हित के सिद्धान्तों को निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट किया:

1. राजनीतिक शक्ति का अन्तिम स्रोत जनता है।

2. किसी भी न्यायोचित सरकार की शक्ति सीमित होती है; सरकार को लोगों के अधिकारों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए अन्यथा सरकार और जनता के बीच समझौते का विघटन हो सकता है।

3. व्यक्ति कुछ प्राकृतिक अधिकारों का मालिक है; अन्ततोगत्वा सरकार लोगों की आवश्यकता पूर्ति के लिए होती है न कि विलोमत:।

लॉक के इन विचारों को अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में एडम स्मिथ ने लागू किया। उसने अर्थव्यवस्था और व्यापार में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया तथा यह तर्क प्रस्तुत किया कि इन्हें लोगों के स्वविवेक पर छोड़ दिया जाना चाहिए। समाज में उत्पादन तथा क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता, मुक्त प्रतिस्पर्धा, मुक्त आर्थिक विनिमय आदि समाज में उद्यमी लोगों को आगे आने का अवसर देंगे और उन्हें अपनी समृद्धि बढ़ाने में सहायता करेंगे। सरकार की तानाशाही पर सीमा लगाने हेतु फ्रांस के दार्शनिक मान्टेस्क्यू ने इस सन्दर्भ में 'शक्तियों के पृथक्करण' (Separation of power) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसने अमरीका के संविधान निर्माण को काफी प्रभावित किया। अमरीका में जैफरसन, मैडीसन, हैमिल्टन आदि ने लॉक, एडम स्मिथ और मान्टेस्क्यू के विचारों को संस्थापक स्वरूप देने की कोशिश की।

जरमी बैन्थम और जे.एस. मिल के विचार (Views of Jermy Bentham and J.S. Mill)

बैन्थम पहले आधुनिक विचारक थे जिसने लोकतन्त्र के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया। जेम्स मिल और जे. एस. मिल के साथ मिलकर इसने उपयोगितावाद के आधार पर लोकतन्त्र का समर्थन किया। इसका विचार था कि व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों तथा शासकों दोनों से सुरक्षा की आवश्यकता है। व्यक्ति को शासकों से यह आश्वासन चाहिये कि सरकार की नीतियां जन-विरोधी नहीं होंगी। बैन्थम के सामने समस्या यह थी कि सरकार अपने क़ानून और नीतियों के निर्माण में समुदाय के हितों और आकांक्षाओं का ख्याल कैसे रखे। दूसरे शब्दों में, समस्या एक ऐसी सरकार को चुनने और उसे सत्ता सौंपने की हैं जो ऐसे क़ानून बनाए तथा लागू करे जिनकी समाज को आवश्यकता है। बैन्थम के अनुसार, इसका हल प्रतिनिधि तथा सांविधानिक सरकार, नियमित तथा गोपनीय चुनाव, राजनीतिक दलों

नोट

तथा नेताओं में प्रतियोगिता एवं बहुमत शासन में है। बैन्थम ने प्रजातान्त्रिक चुनावों को अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख में वृद्धि का यन्त्र माना। उसका विचार था कि शासकों को भ्रष्ट होने से बचाने का एकमात्र उपाय है कि उन्हें बहुमत द्वारा समय-समय पर हटाने का अधिकार जनता को दे दिया जाए। तथापि प्रजातान्त्रिक वोट के अधिकार पर बैन्थम के विचार समरूप नहीं थे। 1802 तक उसने सीमित का समर्थन किया; 1809 में उसने वोट के अधिकार को सम्पत्तिशाली लोगों तक सीमित रखने की सिफारिश की; 1817 में उसने पुरुषों के लिये वयस्क मताधिकार का समर्थन किया। विभिन्न सीमाओं के बावजूद व्यापक स्तर पर सार्वजनिक मताधिकार और संवैधानिक सरकार पर आधारित उदारवादी लोकतन्त्र को व्यक्ति के अधिकार और स्वेच्छाचारी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का सर्वोत्तम संरक्षक माना गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में लोकतन्त्र के सिद्धान्त को जे.एस. मिल की रचनाओं के माध्यम से प्रभावशाली समर्थन मिला। अपनी रचनाओं में मिल ने एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की मांग की जो व्यक्ति के व्यक्तित्व, प्रतिनिधि सरकार, कार्यकुशल प्रशासन और अहस्तक्षेपी अर्थव्यवस्था को सुरक्षित कर चुके। बैन्थम के विचारों से सहमति प्रकट करते हुए कि लोकतन्त्र व्यक्ति को शासकों के दमन से बचाने का प्रभावशाली यन्त्र है, मिल ने लोकतन्त्र के एक और पक्ष की तरफ ध्यान दिलाया–मानव जाति के विकास और सुधार में लोकतन्त्र की नैतिक क्षमता। मिल ने इस बात पर अधिक बल दिया कि व्यक्ति के नैतिक विकास में लोकतन्त्र कैसे सहायता कर सकता है। मैकफरसन ने मिल के लोकतन्त्र के सिद्धान्त को विकासीय लोकतन्त्र (Developmental Democracy) का नाम दिया है। मिल के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति में अपनी अन्तर्निहित शक्तियों और क्षमताओं को विकसित करने की क्षमता होती है और एक वास्तविक समाज वह होता है जो इन्हें विकसित होने का अवसर प्रदान करता है। उदारवादी लोकतन्त्र या 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' इस दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है कि यह व्यक्तित्व के विकास का प्रभावशाली यन्त्र है। लोगों को वोट का अधिकार देकर लोकतन्त्र जनता को अपनी ओर आकर्षित करता है और सरकारों को गद्दी से हटाने का डरावा देकर उसे जनता के प्रति उत्तरदायी होने के लिए मज़बूर करता है। इसके अलावा, राजनीतिक जीवन में भागीदारी, जैसे वोट देना, स्थानीय प्रशासन में हिस्सा लेना, ज्यूरी सेवा आदि, नागरिकों को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक करती है।

क्या आप जानते हैं रूसो की तरह मिल का भी विचार था कि लोकतन्त्र व्यक्ति के नैतिक विकास तथा उसकी क्षमताओं में वृद्धि करने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

चुनावों में भागीदारी तथा राजनीतिक समस्याओं में रुचि व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायक है–इस तथ्य को स्वीकार करने के बावजूद, मिल ने सार्वजनिक वयस्क मताधिकार या एक-व्यक्ति-एक-वोट के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया। उसे इस बात का डर था कि सम्पत्तिहीन मज़दूर-वर्ग का बहुमत होने के कारण, एक-व्यक्ति-एक-वोट पर आधारित प्रजातान्त्रिक शासन हो सकता है कल को ऐसे कानूनों का निर्माण कर दे जो केवल एक वर्ग के हित में हों और दूसरे वर्ग (सम्पत्तिशाली) के विरुद्ध हों। अत: मिल ने अल्पसंख्यकों के लिये बहु-वोट प्रणाली (Plural Voting System) का प्रस्ताव रखा ताकि समाज में कोई भी वर्ग (चाहे वह सम्पत्तिशाली हो अथवा सम्पत्तिहीन) एक-दूसरे पर हावी न हो सके और न ही वर्गीय-क़ानूनों का निर्माण कर सके। इस प्रणाली के अनुसार जहां प्रत्येक व्यक्ति का एक वोट होगा वहां कुछ व्यक्तियों को एक से अधिक वोट दिये जायेंगे। अपनी एक अन्य पुस्तक *'Representative Government' (1861)* में बहु-वोट प्रणाली के साथ-साथ उसने कुछ श्रेणी के लोगों को वोट अधिकार से वंचित भी कर दिया जैसे वे लोग जो सरकार से गरीबी-सहायता लेते हैं, दिवालिये, अशिक्षित, अथवा वे लोग जो टैक्स नहीं देते। मिल का विचार था कि इसमें कोई शक नहीं कि राज्य के कार्यों में हिस्सेदारी ही लोगों के नैतिक गुणों में वृद्धि कर सकती है, तथापि सभी लोगों की समान भागीदारी शासन की गुणवत्ता और

नोट

कार्यकुशलता में कमी ला सकती है। अत: जिन लोगों ने शिक्षा अथवा सम्पत्ति के माध्यम से अच्छे नैतिक और प्रशासनिक गुणों को प्राप्त कर लिया है उन्हें अशिक्षित और अकुशल लोगों का मोहताज नहीं बनने दिया जाना चाहिए। जैसा मिल ने लिखा, 'यह केवल हानिकारक ही नहीं बल्कि दु:खदायी भी होगा यदि किसी देश का संविधान ज्ञानी को भी उतनी ही राजनीतिक शक्ति देने की घोषणा करे जितनी कि अज्ञानी को'। अत: यदि हम शुद्ध गणितीय दृष्टिकोण से देखें तो मिल को पूर्ण समतावादी नहीं कह सकते। फिर भी उसका नैतिक पक्ष अधिक प्रजातान्त्रिक है क्योंकि वह एक ऐसे समाज के निर्माण का इच्छुक था जो व्यक्ति को नैतिक दृष्टिकोण से ऊंचा उठा सके। व्यापक स्तर पर उसका निष्कर्ष था कि केवल एक ऐसा प्रतिनिधि लोकतन्त्र, जिसका कार्यक्षेत्र और शक्तियां लोगों की स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचारी अर्थव्यवस्था द्वारा सीमित है, ही एक स्वतन्त्र समाज और समृद्धता की सर्वोत्तम गारन्टी है।

परंपरागत-उदारवादी लोकतन्त्र के उपरोक्त विचारों को ग्रीन, हॉबहाऊस, लिन्डसे, बार्कर, लास्की, मैकाईवर, जॉन ड्यूई, वुडरो विल्सन आदि का भी समर्थन मिला। बीसवीं शताब्दीं में राजनीतिक दलों का निर्माण होने से इस सिद्धान्त को सुदृढ़ करने में सहायता मिली। मिल के इस विचार को कि सार्वजनिक वयस्क मताधिकार गरीब और अशिक्षित मजदूर-वर्ग को शासन में ले आयेगा, आधारहीन पाया गया। मताधिकार का सम्पूर्ण वयस्क जनता तक विस्तार कर दिया गया। वास्तव में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उदारवादी लेखकों का विचार था कि राजनीतिक दलों के विकास ने वर्ग-हित पर आधारित किसी भी तरह के खतरे को पूरी तरह दूर कर दिया है। उदाहरण के लिये, मैकाईवर का विचार था कि राजनीतिक दलों ने समाज के विभिन्न मतों को अपेक्षाकृत थोड़े और सरल विकल्पों तक सीमित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसी तरह ड्यूई ने भी यह विचार व्यक्त किया कि लोकतन्त्र समाज में बिखरी हुई गतिशील और विभिन्न मतों का अनुसरण करने वाली जनता को संगठित करने का सर्वोत्तम तरीका है।

1. परम्परागत-उदारवादी लोकतन्त्र की विशेषतायें (Characteristics of Classical-liberal Democracy)

लोकतन्त्र के परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषतायें रेखांकित की जा सकती हैं:

1. लोकतन्त्र का परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त शासन के सन्दर्भ में जनता को सर्वोच्च मानता है।

2. लोकतन्त्र की यह धारणा व्यक्ति की इच्छा को महत्त्व देती है। यह व्यक्ति को विवेकशील, नैतिक, राजनीतिक दृष्टिकोण से सक्रिय और स्वार्थी मानते हैं। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप द्वारा व्यक्ति को अपना सुख स्वयं ढूंढ़ने के अधिकार पर बल देती है।

3. यह पुराने राजतन्त्रों और कुलीनतन्त्रीय शासनों के पूर्णतया विरुद्ध है। यह व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा हेतु लोगों द्वारा सरकार में भागीदारी तथा कड़े नियन्त्रण पर बल देती है। राज्य के कार्यों में भागीदारी केवल व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिये ही नहीं बल्कि एक पूर्णतया सूचित, वचनबद्ध और नैतिक दृष्टिकोण से विपरीत सामाजिक समुदाय के अस्तित्व के लिये भी आवश्यक है। व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिये राजनीतिक भागीदारी अनिवार्य है।

4. लोकतंत्र का सार भागीदारी में है। इससे व्यक्ति के सोच-विचार में वृद्धि होती है, उसके ज्ञान का विस्तार होता है, उसका दृष्टिकोण संकुचित न रहकर राष्ट्रीय हो जाता है। राजनीतिक भागीदारी बौद्धिक, भावनात्मक और नैतिक शिक्षा का भी काम करती है।

5. संस्थात्मक स्तर पर यह सिद्धान्त प्रतिनिधि सरकार, चुना हुआ नेतृत्व, नियमित चुनाव, गोपनीय मत, संवैधानिक राज्य, स्वतन्त्र न्यायपालिका, बहुमत शासन, व्यक्तिगत अधिकार तथा नागरिक स्वतन्त्रतायें, विचाराभिव्यक्ति आदि में विश्वास रखता है।

6. यह चुने हुए प्रतिनिधियों और नौकरशाही में अन्तर करता है। लोक-नियन्त्रण और कार्यकुशल सरकार इन दोनों का लाभ तभी उठाया जा सकता है यदि राजनीतिक तथा प्रशासनिक कार्यकारिणी में अन्तर करके चला जाये।

नोट

7. आर्थिक स्तर पर यह सिद्धान्त आर्थिक असमानता और राजनीतिक समानता पर आधारित था। यह प्रतिस्पर्धात्मक, स्वेच्छाचारी बाज़ार-अर्थव्यवस्था, निजी सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व में विश्वास रखता था। मैकफरसन के अनुसार, लोकतन्त्र के इस सिद्धान्त का उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अधिकतम वृद्धि करना, उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा करना तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को निर्बाध चलने देना था। उदारवादी लोकतन्त्र ने राज्य को न तो कमज़ोर किया और न ही इसका विनाश किया बल्कि इसने राज्य तथा पूंजीवादी समाज दोनों को मज़बूत किया। हल करने में असमर्थ रहा। परिणामस्वरूप पहले दूसरे विश्वयुद्धों के दौरान इसकी तीव्र आलोचना हुई। यह आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई:

1. परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि व्यक्ति विवेकशील, राजनीतिक दृष्टिकोण से सक्रिय और राजनीतिक प्रक्रिया में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने वाला प्राणी है। लार्ड ब्राईस, ग्राहम वालास तथा अन्य व्यवहारवादी लेखकों ने यह तर्क दिया कि व्यक्ति न तो विवेकशील है और न ही राजनीतिक दृष्टिकोण से सक्रिय। न ही वह राजनीति में रुचि रखता है। इसके अतिरिक्त परम्परागत सिद्धान्त समाज में संगठित समूहों तथा नेताओं द्वारा लोगों को भावुक दृष्टिकोण से वरगलाने की शक्ति की अवज्ञा करता है। जैसा कि डेविस ने लिखा, प्रजातान्त्रिक मूल्यों के नाम पर अविवेकी जन-भावुकता, स्वार्थ, समूहों के अहम, श्रेणीबद्ध सामाजिक और आर्थिक संगठनों की वास्तविकता से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता है।

2. परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त का मानना है कि प्रत्येक राजनीतिक समस्या पर आम लोगों के विशिष्ट और विवेकपूर्ण मत होते हैं और जनप्रतिनिधि चुनकर वे अपनी मान्यताओं को कारगर रूप देते हैं ताकि उनके मतों का कार्यान्वयन हो सके। परन्तु यह सिद्धान्त 'जनता' तथा 'शासन' दोनों की सही परिभाषा अथवा स्पष्टीकरण नहीं दे पाता जो कि जनता द्वारा शासन (rule by the people) का केन्द्रीभूत तत्व है। आलोचकों के अनुसार, जनमत द्वारा शासन एक प्रजातान्त्रिक मिथक के अलावा कुछ नहीं है। वास्तव में जनमत शासन का निर्माण नहीं करता बल्कि शासन जनमत को अपने ढंग से मोड़ लेता है।

3. परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि व्यक्तिक आत्म-विकास के रूप में सामान्य हित का उद्देश्य लोकतन्त्र का आधार है जिसे आसानी से परिभाषित किया जा सकता है। और प्रत्येक व्यक्ति जिसे अपने विवेक से समझ भी सकता है। तथापि शुम्पीटर का कहना है कि समाज में ऐसा कोई भी सार्वजनिक हित नहीं जिस पर सभी लोग सहमत हों। सामान्य हित अलग-अलग होता है।

4. यह आवश्यक नहीं कि सार्वजनिक नीतियां जनसाधारण की सलाह और सहमति पर आधारित सामान्य हित की अभिव्यक्ति करती है। नीति-निर्माण प्रक्रिया को इस तरह के सार्वजनिक हित सन्दर्भ में परिभाषित करना खतरनाक भी है क्योंकि यह दृष्टिकोण जनोत्तेजी नेतृत्व, जन-मानसिकता, दबाव गुटों का दबाव तथा आर्थिक शक्ति के धारकों की भूमिका की अवज्ञा करता है। वाकर के अनुसार, परम्परागत उदारवादी सिद्धान्त अवास्तविक है क्योंकि यह व्यक्ति और समाज की प्रकृति का काल्पनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

5. राजनीतिक दलों के बाद लोकतन्त्र वास्तव में समाज में विशिष्ट समूहों के बीच, न कि जनता के बीच, एक प्रतियोगिता मात्र बनकर रह गया है। ये विशिष्ट वर्ग ही लोकतन्त्र को चलाते हैं और मुद्दों का निर्माण करते हैं। राजनीतिक स्तर पर हम जिस जन-इच्छा की बात करते हैं वह लोगों की वास्तविक इच्छा नहीं बल्कि विशिष्ट वर्गों द्वारा निर्मित इच्छा होती है, वैसे किसी व्यापारिक विज्ञापन के लिये अनुकूल इच्छा का निर्माण करना। जनसाधारण न कोई मुद्दा उठाते हैं और न ही उनके बारे में कोई निर्णय देते हैं। ये सारे काम राजनीतिक विशिष्ट वर्गों द्वारा सम्पन्न होते हैं। लोगों की इच्छा न तो सर्वोपरि होती है और न ही प्रतिनिधियों का चयन जनता की पहल पर आधारित होता है। ये सभी कार्य भी राजनीतिक दल ही करते हैं। जनता का काम केवल वोट देकर एक या दूसरे प्रतिनिधि को विजयी बनाना या हराना होता है।

नोट

6. परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त राजनीतिक में निर्णय-निर्माण की जटिल प्रक्रिया को बहुत ही सरल रूप से देखता है। क़ानूनों का निर्माण, कार्यान्वयन तथा व्याख्या करने का कार्य इतना जटिल और तकनीकी होता है कि यह आम व्यक्ति, जो अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों में खोया रहता है, की समझ से बाहर होता है।

7. परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त राजनीतिक समानता और आर्थिक असमानता पर आधारित है। जहाँ बैन्थम और मिल जैसे प्रारिम्भक उदारवादी लेखकों ने सम्पत्तिहीन मजदूर-वर्ग की आकांक्षाओं को सीमित-राजनीतिक भागीदारी द्वारा पूरा करने की कोशिश की, वहाँ बीसवीं शताब्दी के लेखकों ने उदारवादी लोकतन्त्र के इस वर्ग तथा इसकी शोषणकारी प्रवृत्ति पर पूरा पर्दा डाल दिया। बार्कर, मैकाईवर, ड्यूई आदि लेखकों ने यह विचार व्यक्त किया कि नियन्त्रित और कल्याणकारी राज्य से लैस लोकतन्त्र एक नये समाज के निर्माण का सर्वोत्तम तरीका है। हालांकि ये लेखक भी आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण से अनभिज्ञ नहीं थे, तथापि इन्होंने लोकतन्त्र तथा उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्धों में कोई खास विरोधाभास नहीं देखा। इनका विचार था कि राज्य की सहायता से वस्तुओं और सेवाओं के पुनर्वितरण द्वारा लोकतन्त्र विभिन्न वर्गों और समूहों के हितों में सामन्जस्य स्थापित कर सकता है। परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी में लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य दोनों आपस में जुड़ गए। परन्तु इसके बावजूद भी मैकफरसन का विचार है कि यह पुनर्वितरण उदारवादी प्रजातान्त्रिक देशों में अभी भी पूरी तरह संभव नहीं हो पाया है।

निष्कर्ष (Conclusion)

व्यावहारिक और मार्क्सवादी लेखकों के आलोचनात्मक प्रहारों के बावजूद इसमें कोई शक नहीं कि पराम्परागत उदारवादी सिद्धान्त ने लोकतन्त्र के दृष्टिकोण को काफी व्यापक बनाया। इसने लोकतन्त्र को प्रजातान्त्रिक मानवतावाद के साथ जोड़ा। इसने लोकतन्त्र को अपने आपमें एक नैतिक मूल्य और जीने का एक तरीका माना। परंपरागत सिद्धान्त का केन्द्रीकरण तत्व इसका नैतिक उद्देश्य है। यह इस उद्देश्य को परिभाषित करके इसे प्राप्त करने के लिये आवश्यक संस्थाओं और रणनीति का निर्माण करता है। यह व्यक्तिगत भागीदारी, राजनीतिक मुद्दों पर स्वतन्त्र चर्चा विचार-विमर्श एवं सहमति के माध्यम से स्वशासन पर बल देता है। तथापि बीसवीं शताब्दी में प्रौद्योगिकी के प्रसार तथा कल्याणकारी राज्य के बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र ने इस सिद्धान्त को थोड़ा असंगत बना दिया। परिणामस्वरूप इसका स्थान लोकतन्त्र के अन्य सिद्धान्तों-विशिष्ट वर्गीय और बहुलवादी—ने ले लिया। परन्तु हाल ही में उभरे 'सहभागी लोकतन्त्र' ने इसे पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है।

2. लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त (Elite Theory of Democracy)

लोकतन्त्र के परंपरागत-उदारवादी सिद्धान्त ने सरकार के कार्यों में राजनीतिक समानता और व्यक्तिगत भागीदारी को जो केन्द्रीय महत्त्व दिया, बीसवीं शताब्दी में विभिन्न लेखकों ने इसकी तीव्र आलोचना की। ये विचारक लोकतन्त्र को वास्तविक अनुभव के अनुरूप ढालना चाहते थे। इनके लिये समस्यायें ये थीं: आम व्यक्ति के लिए दिन-प्रतिदिन की राजनीति में हिस्सा लेना कितना व्यावहारिक है? क्या साधारण व्यक्ति सार्वजनिक जीवन के तनावों को सहन कर सकता है? यदि आम जनता की विभिन्न इच्छाओं को बिना किसी अनुशासन के राजनीति में हस्तक्षेप करने दिया जायेगा तो क्या इससे स्वतन्त्रता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा? दूसरे शब्दों में, क्या आत्म-शासन (self rule) सम्भव है? इन प्रश्नों के उत्तरों ने उदारवाद के अन्तर्गत लोकतन्त्र के नये मॉडलों को जन्म दिया जो परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त से काफी भिन्न थे। ये मॉडल लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय और बहुलवादी सिद्धान्तों के नाम से जाने जाते हैं।

अनुभववादी लेखकों को परंपरागत-उदारवादी सिद्धान्त में परिवर्तन करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दो विश्वयुद्धों के अन्तराल में कई ऐसी परिस्थितियां उभरीं जो इस परिवर्तन के लिये उत्तरदायी थीं। इनमें मुख्य थीं—बड़े पैमाने पर युद्ध, आर्थिक वृद्धि के लिये अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता, आर्थिक मन्दी, इटली और जर्मनी

नोट

में फासीवादी शासन का उदय जिसने नेतृत्व पर अत्यधिक बल दिया, राजनीतिक निर्णयों को प्रजातान्त्रिक उत्तरदायित्व से दूर करना, तथा इस विचार का उदय कि केवल विशेषज्ञ ही प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया को सुरक्षित रख सकते हैं। इन सभी ऐतिहासिक घटनाओं के परिणामस्वरूप एक बात स्पष्ट होने लगी कि औद्योगिक समाजों का प्रबन्ध अत्यधिक विशेषज्ञता, श्रेणीबद्धता तथा नौकरशाही नियन्त्रण की मांग करता है तथा नीति-निर्माण की प्रक्रिया में जनसाधारण की भागीदारी अव्यावहारिक और असम्भव है।

समग्र रूप में, आधुनिक उदारवादी समाजों में सरकार पर प्रजातान्त्रिक समानता द्वारा नियन्त्रण के विरुद्ध विचार अधिक शक्तिशाली होने लगे। जनसाधारण से अधिक अपेक्षा न करते हुये आधुनिक लेखकों ने लोकतन्त्र को केवल व्यवस्था का अनुरक्षण (maintenance of system) के रूप में परिभाषित किया। उनका तर्क था कि जनसाधारण को राजनीतिक स्तर पर ऐसे मूल्यों का आदर करना चाहिए जैसे व्यवस्थित एवं संवैधानिक सरकार, राजनीतिक स्थायित्व, तथा ऐसी निर्वाचन प्रणाली जो विशिष्ट-वर्गों को जनता के प्रभावशाली भाग के प्रति उत्तरदायी बना सके।

लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का निम्नलिखित आधारों पर अध्ययन किया जा सकता है:

1. विशिष्ट वर्ग की धारणा का अर्थ
2. लोकतन्त्र का विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त
3. विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त की विशेषताएँ
4. आलोचना तथा मूल्यांकन

विशिष्ट वर्ग की धारणा का अर्थ (Meaning of Elite)

विशिष्ट-वर्ग अथवा अभिजन-वर्ग का आम अर्थ होता है कोई ऐसा अल्पसंख्यक समुदाय जिसे कुछ विशेषताओं के आधार पर जनसाधारण से अलग किया जा सके-ऐसी विशेषतायें जो सामाजिक जीवन में इन्हें आम लोगों के मुकाबले अधिक लाभकारी परिस्थितियों प्रदान कर सकें। एक लेखक के अनुसार, विशिष्ट वर्ग वे अल्पंसख्यक समुदाय होते हैं जिन्हें समाज में सत्ता, उपलब्धियों और पुरस्कारों के वितरण के सन्दर्भ में आम लोगों से अलग किया जा सकता है। तथापि लोकतन्त्र के अध्ययन के सन्दर्भ में हमारा अभिप्राय राजनीतिक शक्ति से सम्बंधित उन विशिष्ट वर्गों से है। जिन्हें शासक विशिष्ट-वर्ग (Governing Elite), शक्ति विशिष्ट-वर्ग (Power Elite), राजनीतिक विशिष्ट-वर्ग (Political Elite) आदि का नाम दिया जाता है। हैरोल्ड लासवैल के अनुसार, राजनीतिक विशिष्ट-वर्ग का अर्थ है राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति के धारक। शक्ति के धारकों से हमारा अभिप्राय है नेतृत्व तथा वह सामाजिक संगठन जहां से ये नेता आते हैं और जिनके प्रति ये एक निश्चित अवधि तक उत्तरदायी होते हैं। इसी तरह प्रेस्थस का कहना है कि राजनीतिक विशिष्ट वर्ग का अर्थ है 'वे विशिष्ट अल्पसंख्यक नेतागण के समुदाय के कार्यों में आम लोगों की तुलना में अत्यधिक शक्ति का लाभ उठाते हैं'। संक्षेप में, विशिष्ट-वर्ग लोगों का वह समूह है जो किसी विशेष योग्यता के आधार पर राजनीतिक शक्ति का धारक होता है और समाज को नेतृत्व प्रदान करता है। विशिष्ट-वर्ग इसलिये राजनीतिक शक्ति का धारक होता है क्योंकि वह विशिष्ट है।

विशिष्ट-वर्ग की परंपरा काफी पुरानी है। प्लेटो को एक विशिष्ट वर्गीय विचारक माना जाता है। परन्तु आधुनिक विशिष्ट-वर्ग की धारणा का श्रेय पैरेटो, मिशल और मोस्का को जाता है। अमरीका में जेम्स बरहम, सी. मिल्स आदि इसके समर्थक थे। विशिष्ट-वर्गीय धारणा इस विचार पर आधारित है कि समाज में दो तरह के लोग होते हैं: आम लोग और खास लोग। पैरेटो ने अपनी पुस्तक *'Mind and Society'* में लिखा कि प्रत्येक समाज अल्पंसख्यक समूह द्वारा शासित होता है जो सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक शक्ति धारण करने की आवश्यक योग्यतायें रखता है। जो लोग ऊंचे पदों पर आसीन होते हैं, वे सदा सर्वोत्तम होते हैं। वे विशिष्टजन होते हैं–वे लोग जो प्रत्येक व्यवसाय अथवा सामाजिक स्तर के उच्चतम पदों तक पहुंच जाते हैं। पैरेटो का यह भी मानना था कि ये विशिष्टजन एक ही

नोट

सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से आते हैं, अर्थात् वे लोग जो धनी एवं बुद्धिमान होते हैं। इसके अलावा पैरेटो ने विशिष्टजनों के परिचालन (Criculation of Elite) का सिद्धान्त भी दिया जिसे मोस्का ने विकसित किया। मोस्का के अनुसार प्रत्येक समाज में दो तरह के लोग उभर कर आ जाते हैं—शासन करने वाले और शासित होने वाले। पहली श्रेणी के लोग संख्या में कम होते हैं परन्तु वे सारे राजनीतिक कार्य करते है, शक्ति का एकाधिकार रखते हैं और शक्ति से प्राप्त होने वाले लाभों का आनन्द उठाते हैं। दूसरी श्रेणी के लोग संख्या में अधिक होते हैं। परन्तु वे पहली श्रेणी के लोगों द्वारा निर्देशित और नियन्त्रित होते हैं। मोस्का के अनुसार, एक संगठित अल्पंसख्यक का असंगठित बहुमत पर प्रभुत्व अपरिहार्य है। इसी तरह मिशल, जिसका नाम कुलीनतन्त्र के लौह सिद्धान्त (Iron Law of Oligarchy) के साथ जोड़ा जाता है, ने घोषित किया कि जनसंख्या के बहुसंख्यक भाग द्वारा अल्पसंख्यक के प्रभुत्व के सामने घुटने टेकना पूर्वनिश्चित है। किसी भी तरह के सामाजिक जीवन में नेतृत्व एक आवश्यक तत्त्व है। अधिकांश लोग स्वभाव से उदासीन, आलसी, दास-प्रवृत्ति वाले तथा स्वशासन के अयोग्य होते हैं। संक्षेप में, विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त के अनुसार,

1. समाज का प्रधान और निम्न वर्ग में विभाजन एक सर्वव्यापक तथ्य है। लोग अपनी योग्ताओं और क्षमताओं के दृष्टिकोण से असमान होते हैं।

2. विशिष्ट वर्ग अपनी शक्ति एवं प्रभाव अपने सर्वोच्च गुणों जैसे बुद्धि, योग्यता, प्रशासनिक क्षमता, सैनिक अथवा नैतिक शक्ति के कारण जमाता है।

3. विभिन्न विशिष्ट वर्ग सार्वजनिक समूह होते हैं और इन समूहों में परिवर्तन होता रहता है। नये विशिष्ट-वर्ग बनते रहते हैं और पुराने समाप्त होते रहते हैं। कई बार क्रान्ति द्वारा सम्पूर्ण विशिष्ट वर्गों में ही परिवर्तन हो जाता है।

4. समाज में अधिकांश लोग राजनीतिक मामलों के प्रति आलसी, निष्क्रिय अथवा उदासीन होते हैं। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में नेतृत्व की आवश्यकता होती है। विशिष्ट वर्ग यह नेतृत्व प्रदान करते हैं।

5. समकालीन समाज में ये विशिष्टवर्ग तीन तरह के लोगों से निर्मित होते हैं—बौद्धिक, प्रबन्धक तथा प्रशासनिक। सी. राईट मिल्स ने इसके लिये 'शक्ति विशिष्ट वर्ग' (Power Elite) का प्रयोग किया है और वह जिन तीन प्रमुख विशिष्ट वर्गों की चर्चा करता है, वे हैं: आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक।

3. लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त (Elite Theory of Democracy)

द्वितीय विश्वयुद्ध के आसपास कुछ ऐसे राजनीतिक विचारक उभरे जिन्होंने लोकतन्त्र के सिद्धान्त का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त के साथ समन्वय करने की कोशिश की। आधुनिक राजनीतिक जीवन में विशिष्ट वर्गों के अस्तित्व को अपरिहार्य मानते हुए इन लेखकों ने विशिष्ट-वर्गों का स्वागत किया और एक ऐसे प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त का विकास किया जिसमें विशिष्ट-वर्ग न केवल एक प्रधान भूमिका निभायें बल्कि इसे तानाशाही के खतरों भी बचा सकें। इन्होंने एक ऐसे लोकतन्त्र की कल्पना की जिसमें विभिन्न राजनीतिक दल विशिष्ट वर्गों के रूप में आम लोगों के वोट के लिये प्रतिस्पर्धा करते हैं, ऐसे विशिष्ट-वर्ग जो अपेक्षाकृत सार्वजनिक, बहुसंख्यक और पारदर्शी हो और अपनी योग्यताएँ के आधार पर चुने जायें तथा जनता इन विभिन्न विशिष्ट वर्गों की प्रतिस्पर्धा में से अपनी पसंद के विशिष्ट वर्ग चुनकर इनके माध्यम से सरकार के कार्यों में हिस्सा ले सकें।

लोकतन्त्र का वर्गीय सिद्धान्त पैरेटो, मोस्का और मिशल के विचारों से अत्यधिक प्रभावित था। इंग्लैण्ड और अमरीका में इस सिद्धान्त को क्रमबद्ध तरीके से शुम्पीटर ने अपनी पुस्तक *'Captalism, Socialism and Democracy'* में स्पष्ट किया। उसके बाद यह सिद्धान्त कई राजनीतिक वैज्ञानिकों द्वारा विकसित किया गया। इनमें बर्नार्ड बरलसन, सारटोरी, रॉबर्ट डाहल, रेमन्ड ऐरों, कार्ल मनिहाईम, ऑलमन्ड और सिडनी आदि प्रमुख हैं।

नोट

लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त आज के औद्योगिक समाजों में 'जनता द्वारा शासन' (rule by the people) की धारणा का वास्तविकता के स्तर पर परीक्षण करता है। विशिष्ट वर्ग के लेखकों का तर्क मानते हुए यह निष्कर्ष पर पहुंचता है कि जनता द्वारा शासन का कोई अर्थ नहीं है। राज्य जैसे अत्यधिक वृहत संगठन को केवल श्रेणीबद्धता के आधार पर ही संगठित किया जा सकता है। समाज में कुछ लोग दूसरों से अधिक शक्तिशाली होते हैं। किसी भी संस्था को दो समूहों में बांटा जा सकता है–विशिष्ट लोग जो निर्णय लेते हैं और आम लोगों जो उन निर्णयों का अनुसरण करते हैं। इसके कारण स्वाभाविक हैं। समाज के प्रत्येक व्यक्ति से शासन सम्बन्धी प्रत्येक जानकारी रखने की उम्मीद नहीं की जा सकती। आम लोगों का सम्बन्ध केवल अपनी रोजी-रोटी कमाने और अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति से होता है। उनसे राजनीति में सक्रिय हिस्सा लेने की उम्मीद नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त आज के समाजों की जटिलताओं भी इस बात की मांग करती है कि हम उन विशेषताओं को पैदा करें जो इस प्रशासन को चलाने में संक्षेप में, लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त की यह मौलिक धारणा है कि समाज में अधिकांश लोग सरकार के क़ानूनों और नियमों की जटिलताओं को समझने तथा प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया में निरन्तर उत्साह के साथ हिस्सा लेने में असमर्थ होते हैं।

लोकतन्त्र का विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त सरकार के कार्यों में जनता की भागीदारी को सन्देह की नज़र से देखता है और इसे सीमित करना चाहता है। यह सन्देह उन तानाशाही और फासीवादी के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी जिसमें कुछ नेताओं ने सत्ता में आने के लिये जनता के जोश को उभारकर उसका समर्थन प्राप्त किया और शासन में आने के बाद लोकतन्त्र का ही सर्वनाश कर दिया। जहां परम्परागत-उदारतावादी सिद्धान्त के लिये लोकतन्त्र के दुश्मन राजा, कुलीनवर्ग और जमींदारीवर्ग अथवा धनिकवर्ग के शासन थे, वहां विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त के लिये लोकतन्त्र का शत्रु जनता की अत्यधिक और सक्रिय भागीदारी है। राजनीति में जनता का आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप और जन-आन्दोलनों के रूप में उनका संगठन तानाशाही प्रवृत्तियों को जन्म दे सकता है। प्रजातान्त्रिक और उदारवादी मूल्य केवल जनता को राजनीति से दूर रखकर ही सुरक्षित किये जा सकते हैं। जनता की भूमिका केवल जन-प्रतिनिधिओं को चुनने तक ही सीमित होनी चाहिए ताकि ये चुने गए लोग सरकार बना सकें।

लोकतन्त्र केवल सरकार को चुनने और उसे शासन का अधिकार देने का एक तरीका मात्र है, यह न तो कोई समाज का स्वरूप और न ही कोई नैतिक उद्देश्य है। आम व्यक्ति का काम राजनीतिक मुद्दों पर निर्णय लेकर प्रतिनिधियों का चुनाव करना नहीं है, बल्कि उन लोगों का चुनाव करना है जो यह निर्णय ले सकें और उन्हें कार्यान्वित कर सकें। इसके लिये ज़रूरी यह है कि लोग दो या उससे अधिक राजनीतिक दलों में से किसी एक को चुन लें और अगले चुनाव तक उन्हें काम का अवसर दें। लोगों का काम केवल इन प्रतिनिधियों को चुनना और हटाना है।

सारटोरी के अनुसार, लोकतन्त्र काफी कठिन शासन है–इतना कठिन कि केवल विशेषज्ञ और जिम्मेवार विशिष्ट वर्ग ही इसे भीड़तन्त्र या जनोत्तेजन से बचा सकते हैं। सारटोरी स्वशासन के विचार को एक भ्रामक मिथक मानता है। उसका विचार है कि विशिष्टजन एक आवश्यक बुराई हैं।

अत: लोकतन्त्र के विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त को इस तरह परिभाषित किया जा सकता है–एक ऐसा शासन जहां बहुमत अल्पमत को शासन करने का समर्थन प्रदान करता है। यह एक ऐसी पद्धति है जिसके माध्यम से प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष द्वारा कुछ लोग राजनीतिक समाज को नेतृत्व प्रदान करने के लिये चुने जाते हैं। किसी भी व्यापक तथा जटिल समाज में लोकतन्त्र केवल प्रतिनिधात्मक हो सकता है तथा प्रतिनिधि हमेशा अल्पसंख्यक होते हैं और जनता की अपेक्षा अधिक राजनीतिक शक्ति के धारक होते हैं। लोकतन्त्र का अर्थ है विशिष्ट वर्गों द्वारा शासन–वे विशिष्ट-वर्ग जो जनता द्वारा चुने गए हों।

विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त कहां तक प्रजातान्त्रिक है? इस प्रश्न का उत्तर चार आधारों पर दिया जा सकता है। **पहला,** यह सिद्धान्त विशिष्ट वर्गों की बहुलता में विश्वास करता है। चुनावों में लोगों के सामने विभिन्न विशिष्ट वर्गों में

नोट

से ही चुनने का अवसर होना चाहिए। हालाँकि शासन तो अल्पसंख्यक विशिष्ट वर्ग ही करता है परन्तु निश्चित अवधि के बाद इस विशिष्ट वर्ग को बदला जा सकता है और बदलने के लिये अन्य विशिष्ट-वर्गों का होना आवश्यक है। **दूसरा,** चाहे शासन विशिष्ट वर्ग के हाथ में होता है परन्तु इस विशिष्ट वर्ग का चुनाव जनता के हाथ में होता है। जनता का यह निर्णय लेने का अधिकार और जनता तथा विशिष्ट वर्ग में परिवर्तनशीलता पर आधारित सम्बन्ध विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त को प्रजातान्त्रिक बनाते है। **तीसरा,** विशिष्ट वर्ग शासन में आते-जाते रहते हैं। वे शासन में आने के लिये मुक्त प्रतिस्पर्धा करते है जिससे अन्तिम शक्ति जनता के पास आ जाती है। विभिन्न विशिष्ट-वर्गों में प्रतिस्पर्धा ही लोकतन्त्र का आधार है क्योंकि शासक विशिष्ट वर्ग के बारे में अन्तिम फैसला करना जनता के हाथ में होता है। **चौथा,** जनता की अन्तिम शक्ति एक विशिष्ट वर्ग को हटाने और दूसरे को बिठाने में होती है। यह विशेषता इसे प्रजातान्त्रिक बनाती है क्योंकि इससे अन्तिम सत्ता जनता के पास आ जाती है। अत: इस सिद्धान्त का मौलिक आधार चुनाव प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया ही जनता को विशिष्ट जनों पर अन्तिम नियन्त्रण रखने की क्षमता देती है। विशिष्टजनों को जनता के प्रति उत्तरदायी होना होता है और यदि उनमें कोई कमी है तो उन्हें हटाया जा सकता है। लोकतन्त्र के विशिष्ट सिद्धान्त के दो पहलू हैं—प्रजातान्त्रिक पक्ष और विशिष्ट वर्गीय पक्ष। जहां विशिष्ट वर्गीय पक्ष विशेषज्ञता और नेतृत्व पर बल देता हैं वहां प्रजातान्त्रिक पक्ष विशिष्ट वर्गों की बहुलता तथा उनके सार्वजनिक होने में है। आम जनता विशिष्ट वर्ग का सदस्य बन सकती है। जनता में से नये विशिष्ट वर्ग पैदा होने के पूरे अवसर होते हैं। बोटोमोर के अनुसार विशिष्ट-वर्गीय लोकतन्त्र की निम्नलिखित शर्तें होनी चाहिए:

1. विशिष्ट वर्ग खुले होने चाहिए।
2. ये गुणों के आधार पर चुने जाने चाहिए,
3. विशिष्ट वर्गों में निरन्तर परिवर्तन होता रहना चाहिए,
4. जन-साधारण की शासन में भागीदारी विभिन्न वर्गों में से शासक विशिष्ट वर्ग को चुनने तक सीमित होनी चाहिए,
5. विशिष्टजन तथा जनसाधारण में दूरी न्यूनतम होनी चाहिए।

विशिष्ट-वर्गीय लोकतन्त्र की विशेषतायें (Characteristics of Elitist Democracy)

1. विशिष्ट वर्गीय लोकतन्त्र मूल रूप से इस परिकल्पना पर आधारित है कि आम व्यक्ति शासन करने के योग्य नहीं होता। राजनीतिक दृष्टिकोण से सक्रिय व्यक्ति एक मिथक है। यह सिद्धान्त साधारण व्यक्ति की निष्क्रियता को केवल एक तथ्य ही नहीं बल्कि राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व के लिये आवश्यक भी मानता है। लोकतन्त्र को सक्रिय जन सहमति के बजाय विशिष्ट जनों की बुद्धिचातुर्य, श्रद्धा और विशिष्टता पर निर्भर रहना चाहिए।

2. विशिष्ट वर्गीय का सिद्धान्त लोकतन्त्र को मुख्यत: एक कार्यप्रणाली के रूप देखता है: फैसले लेने का तरीका तथा सरकार को चुनने और शासन करने का अधिकार देने वाली प्रणाली। यह इसे किसी सामाजिक उद्देश्यों या व्यक्ति के विकास के साथ नहीं जोड़ता। यह पद्धति राजनीतिक दलों के रूप में दो यो दो अधिक विशिष्ट वर्गों के बीच प्रतिस्पर्धा के आधार पर कुछ प्रतिनिधि चुनने की है जो अगले चुनाव तक शासन करेंगे। लोगों की भूमिका राजनीतिक मुद्दों के बारे में फैसला करना न होकर उन प्रतिनिधियों का चुनाव करना होता है जो नीति-निर्माण तथा प्रशासन की कार्यकुशलता सुरक्षित कर सकें। यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि चुनावों में समर्थन करने के डर से नेतागण सार्वजनिक नीतियों का निर्माण लोकहित में करेंगे।

3. विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है कि विभिन्न विशिष्ट वर्गों में प्रजातान्त्रिक मूल्यों पर आम सहमति होनी चाहिए। अर्थात्, विभिन्न राजनीतिक दलों, नेताओं, व्यवसाय संघों के नेताओं तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक विशिष्ट वर्गों में प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया, नागरिक स्वतन्त्रतायें, संविधान, सरकार आदि पर सर्वसहमति होनी चाहिए ताकि इसे भीड़तन्त्र तथा जनोत्तेजना से बचाया जा सके। यह सहमति राजनीतिक नेताओं में ज्यादा ज़रूरी है, जनसाधारण में न भी हो तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

नोट

4. विभिन्न विशिष्ट वर्गीय लेखकों का मानना है कि अत्यधिक राजनीतिक भागीदारी लोकतन्त्र के लिये खतरा है। इनका विचार है। कि लोकतन्त्र की सफलता का राज़ आम लोगों का आलस्य और निष्क्रियता होते हैं। यदि अकुशल और अयोग्य लोग राजनीतिक में हिस्सा लेंगे तो विभिन्न विशिष्ट वर्गों में वह शान्तिपूर्ण प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जायेगी जिस पर लोकतन्त्र की सारी व्यवस्था टिकी हुई है।

5. विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का उद्देश्य लोकतन्त्र को वास्तविक बनाना और इसे व्यवहारिकता के नजदीक लाना था। इसका मानना था कि परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त उस कार्यप्रणाली अथवा संस्थाओं के बारे में अधिक बात नहीं करता जिनसे यह व्यवस्था चलती है। परन्तु वास्तविकता तक पहुंचने की प्रक्रिया में इसने लोकतन्त्र के सिद्धान्त में ही परिवर्तन कर दिया और इसे अपेक्षाकृत एक सिद्धान्त बना दिया जो किसी सामाजिक उद्देश्य अथवा उद्देश्यों ये विहीन है।

6. विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त ने लोकतन्त्र के प्रति दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन कर दिया। अर्थात् इसे सरकार के नीति-निर्णय में जनसाधारण की भागीदारी से हटा का प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की सुरक्षा तक सीमित कर दिया। इस सिद्धान्त का उद्देश्य व्यक्तिगत भागीदारी में वृद्धि करना न होकर, कुशल और प्रभाकारी शासन है। इसकी सबसे बड़ी चिन्ता प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का स्थायित्व है। डेविड हैल्ड के अनुसार, विशिष्ट सिद्धान्त ने राजनीतिक भागीदारी को स्थायित्व और कार्यकुशलता से प्रतिस्थापित कर दिया है।

आलोचना तथा मूल्यांकन (Criticism and Evaluation)

लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त की कई लेखकों द्वारा आलोचना की गई है। इनमें प्रमुख हैं: मैकफरसन, बैरी होल्डन, बोटोमोर, क्रिश्चिन बे, जे.एल वाकर, रोबर्ट डाहल आदि। इन आलोचनाओं को निम्नलिखित आधार पर रेखांकित किया जा सकता है:

1. विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त अत्यधिक मनमानी का सिद्धान्त है और यह लोकतन्त्र की मौलिक विशेषताओं की अवज्ञा करता है। बैरी होल्डन के अनुसार, यदि हम लोकतन्त्र को जनता द्वारा निर्णय लिये जाने के रूप में परिभाषित करते हैं तो विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त प्रजातान्त्रिक नहीं है। यदि जनता की भूमिका केवल विशिष्ट वर्गों को नियुक्त करने और उन्हें हटाने तक ही सीमित है और उसे नीति-निर्माण में कोई भूमिका नहीं दी जाती तो यह प्रजातान्त्रिक नहीं है। इसका अर्थ है कि देश को चलाने में लोगों की कोई आवाज नहीं होती।

2. परम्परागत उदारवादी सिद्धान्त का सार उसका नैतिक उद्देश्य था। विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त ने लोकतन्त्र को नैतिक मूल्यों से सर्वथा वंचित कर दिया। लोकतन्त्र को व्यक्ति के विकास के साथ जोड़ना गलत नहीं है। विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त लोकतन्त्र का अर्थ बदलकर मानवीय विकास में सरकार की भूमिका की दिशा को ही बदल देता है। मानवीय जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलू तो शुद्ध राजनीतिक क्रियाओं से परे होते है तथा आर्थिक गतिविधियां, शिक्षा, कला, संस्कृतिक आदि। विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त लोकतन्त्र की परिभाषा में से इन सबको निकाल कर इसके अर्थ को काफी संकुचित कर देता है।

3. विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त के लिये, जनसाधारण की सक्रिय भागीदारी कोई महत्त्व नहीं रखती। सभी तरह के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त इस बात से इनकार करते हैं कि 'जनता द्वारा शासन' नाम की कोई चीज़ होती है। परंपरागत-उदारवादी सिद्धान्त में लोक सरकार का अर्थ था सार्वजनिक नीतियों में वयस्क नागरिकों का सक्रिय योगदान। विशिष्ट वर्ग के लिये भागीदारी का अर्थ है निश्चित अवधि के बाद चुनाव प्रक्रिया में हिस्सा लेना। बोटोमोर के अनुसार, यह एक ग़ैर-प्रजातान्त्रिक तत्व है जो और भी मुखर हो जाता है जब प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के अनुसार चुना हुआ विशिष्ट वर्ग अपने में से एक और उच्च विशिष्ट वर्ग को चुनता है जिसे शासन करने का अधिकार सौंपा जाता है।

नोट

4. सरकार के उत्तरदायित्व का अर्थ है विशिष्ट वर्गों की उन लागों के प्रति जवाबदेही जो इनकी नीतियों के उद्देश्य होते हैं। अन्यथा जनसाधारण की सरकार के कार्यों के हिस्सेदारी न्यूनतम होती है। जनता इन विशिष्ट वर्गों के प्रशासन, नीतियों और वचनों को चुपचाप झेलती है। दूसरे शब्दों में, जनता को उस व्यवस्था की जांच करनी होती है जिसकी सहमति उन्होंने दी नहीं होती। तथापि यदि किसी भी प्रजातान्त्रिक सरकार की प्रभावशाली कार्यप्रणाली के लिये सामाजिक एकता और सामुदायिक भावना की आवश्यकता है तो केवल पांच साल में एक बार चुनाव में हिस्सा लेकर नहीं आ सकती। इसके लिये भागीदारी के अन्य तरीके खोजने की आवश्यकता है।

5. विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण तत्व ऐसा निष्क्रिय व्यक्ति है जो चुपचाप राजनीति के नाटक को देखता रहता है, शासकों के क़ानून का पालन करता है; और जिसे अपने निजी जीवन, नौकरी, गृहस्थ सुख आदि से फुर्सरत ही नहीं है। केवल जब सरकार के कुछ करने या न करने से जनसाधारण के दैनिक जीवन को कुछ खतरा महसूस होता है तभी वे सरकार की नीतियों को अपनी मर्जी के अनुसार मोड़ने के लिये सक्रिय होते हैं।

6. विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त की प्राथमिकता प्रजातान्त्रिक सरकार के स्थायित्व की सुरक्षा, प्रजातान्त्रिक प्रणाली का संरक्षण और एक ऐसे तन्त्र का विकास करने से रही है जो सार्वजनिक नीतियों के कार्यान्वयन के लिये कार्यकुशल प्रशासन की रचना कर सके। अत: किसी भी प्रकार के सामाजिक आन्दोलन लोकतन्त्र के लिये खतरा अथवा राजनीतिक उग्रवाद माने गये। इसके विपरीत कई लेखक इन आन्दोलनों को प्रजातान्त्रिक कार्यप्रणाली तथा कानून-व्यवस्था की स्थापना के लिये खतरा मानता है।

7. विशिष्ट वर्गीय धारणा ने परम्परागत उदारवादी सिद्धान्त की प्रजातान्त्रिक मानवतावाद (Democratic Humanism) की धारणा को 'प्रजातान्त्रिक पद्धति' (Democratic Mechanism) में बदल कर इसे इसके प्रगतिवादी और आदर्शवादी तत्वों से विमुख कर दिया जिसके कारण यह भविष्य के लिये दिशा निर्देश के सिद्धान्त के रूप में अधूरा पड़ गया। समकालीन लोकतन्त्र के संस्थागत दृष्टिकोण (institutional approach) में परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त के उग्रवादी तत्व के तीखेपन की कमी है। विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त राजनीतिक वास्तविकता की सीमाओं से अत्यधिक बंधा हुआ है। यह वर्तमान समाज में वस्तुओं और पदों के वितरण को यथास्थिति के स्तर पर स्वीकार ही नहीं करता बल्कि इन्हें वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रताओं के साथ सुसंगत और उसकी एक आवश्यक शर्त मानता है। अर्थात् यह वर्तमान व्यवस्था को यथास्थिति के आधार पर स्वीकार करता है। जो लोग लोकतन्त्र को एक आदर्श और भविष्य के लिये एक दिशा-निर्देश के रूप में देखना चाहते हैं उनके लिये यह सिद्धान्त बेकार है।

टास्क विशिष्ट वर्गीय लोकतन्त्र पर अपने मत प्रस्तुत कीजिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)–

4. लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धांत आज के औद्योगिक समाजों में किस धारणा का वास्तविक परीक्षण करता है?

   (अ) जनता द्वारा शासन (ब) जनता द्वारा हड़ताल

   (स) जनता द्वारा अनशन (द) इनमें से कोई नहीं

5. निम्न में से किस दार्शनिक ने 'शक्तियों के पृथक्करण' का सिद्धान्त दिया था?

   (अ) अरस्तु (ब) मान्टेस्क्यू

   (स) सुकरात (द) इनमें से कोई नहीं

नोट

6. 'लोकतन्त्र लोगों का, लोगों के लिये और लोगों द्वारा शासन है' कथन किसका है?

(अ) सीले (ब) अब्राहम लिंकन

(स) सारटोरी (द) शुम्पीटर

14.2.2 लोकतन्त्र का बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralist Theory of Democracy)

लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त के अतिरिक्त अमरीकी राजनीतिक वैज्ञानिकों ने लोकतन्त्र के एक और पक्ष की तरफ ध्यान दिलाया जिसे लोकतन्त्र का बहुलवादी सिद्धान्त कहा गया। हालांकि लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय और बहुलवादी सिद्धान्तों में अन्तर किया जाता है परन्तु इनमें काफी समानतायें भी हैं और कुछ लेखकों ने इन्हें मिला भी दिया है। दोनों सिद्धान्त समाज में जनसाधारण के साथ-साथ समूह की शक्ति (power of groups) की तरफ ध्यान आकर्षित करते हैं जिसके परिणामस्वरूप ये परम्परागत-उदारवादी सिद्धान्त से भिन्न हो जाते हैं। तथापि जहां विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त में महत्त्व समाज के उन विशिष्ट वर्गों को दिया जाता है जो शासन करते हैं या करने का प्रयत्न कर रहे होते हैं वहां बहुलवादी सिद्धान्त में उन समूहों की तरफ ध्यान दिलाने की कोशिश की गई है जो इन विशिष्ट वर्गों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इसी तरफ जहां विशिष्ट वर्ग का केन्द्रीय तत्व चुनाव प्रक्रिया है जिससे शासकों का चुनाव होता है और लोकतन्त्र भी सुरक्षित रहता है, वहां बहुलवादी सिद्धान्त में चुनाव के अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक समुदायों के परस्पर शक्ति संबन्धों पर अधिक बल दिया जाता है। काफी हद तक बहुलवादी सिद्धान्त विशिष्ट वर्ग के गैर-प्रजातान्त्रिक तत्वों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी। यह विशिष्ट वर्ग द्वारा राजनीति के विश्लेषण के विरुद्ध उभरा। जहां विशिष्ट वर्ग का तर्क था कि विभिन्न राजनीतिक मुद्दों पर जनता किसी भी प्रकार का निर्णय लेने के अयोग्य होती है वहां बहुलवादी लेखकों के चुनाव प्रक्रिया के अधूरेपन में विश्वास व्यक्त करते हुए लोगों की इच्छा जानने, उनके हितों को स्पष्ट करने और सरकार के कानूनों और नीतियों को प्रभावित करने के लिये चुनावों के अतिरिक्त अन्य तरीकों की खोज की। लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है:

1. बहुलवाद का अर्थ
2. लोकतन्त्र का बहुलवादी सिद्धान्त
3. बहुलवादी सिद्धान्त की विशेषतायें
4. आलोचना तथा मूल्यांकन।

बहुलवाद का अर्थ (Meaning of Pluralism)

यद्यपि बहुलवाद की धारणा काफी पुरानी है तथापि उदारवादी परम्परा का भाग यह बीसवीं शताब्दी में बना। बहुलवाद का सार इस मूल विचार में है कि शक्ति समाज विभिन्न हित समूहों में बंटी होती है और बंटी होनी चाहिए। अधिकांश लेखक बहुलवाद को अमरीका में प्रचालित राजनीति के समूह सिद्धान्त (Group Theory of Politics) के साथ जोड़ते हैं जिसे बैन्टले और ट्रमैन ने प्रतिपादित किया। बहुलवाद समूह सिद्धान्त के साथ दो कारणों से जुड़ गया: **पहला,** इसकी यह मान्यता थी कि समाज वास्तव में विभिन्न समूहों का योग होता है। ये समूह लोगों के हितों के अनुसार बनते हैं और विशिष्ट-वर्गों तथा आम जनता के बीच कड़ी का काम करते हैं। उदाहरण के लिये विभिन्न आर्थिक, व्यावहारिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक समूह राज्य के क़ानूनों को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। **दूसरा,** ये समूह समकालीन राजनीति में दबाव समूहों (Pressure Groups) का काम करते है जो जनसाधारण की विशिष्ट मांगों को क्रमबद्ध तरीके से सरकार के सामने रखकर दो चुनावों के दौरान लोगों का प्रतिनिधित्व करने की कोशिश करते हैं। समग्र रूप से समूह लोगों को राजनीति में हिस्सा लेने तथा अपनी मागों और हितों को पूरा करवाने का अवसर प्रदान करते हैं।

नोट

बहुलवाद की आधुनिक धारणा का मूल विचार यह है कि औद्योगिक और तकनीकी समाजों में शक्ति अत्यधिक बिखरी हुई होती है। यह इतनी अव्यवस्थित, अस्थायी और परिवर्तनशील होती है कि एक समय पर केवल कुछ ही लोग इसका प्रयोग कर पाते हैं। यह शक्ति अधिकतर परस्पर प्रतिस्पर्धा में रत अल्पसंख्यक सार्वजनिक और निजी समूहों द्वारा साझे स्तर पर प्रयोग की जाती है। प्रत्यक्ष रूप से ऐसा लगता है कि जो लोग उच्च पदों पर आसीन हैं वे अधिक शक्तिशाली हैं। परन्तु वास्तव में वे समाज के विभिन्न विरोधी वर्ग-समूहों के हितों में समझौता करवाने वाले मध्यस्थ होते हैं जिसके समर्थन से वे उच्च पदों पर पहुंचे होते हैं। जैसा दुर्खीम लिखते हैं, 'सार्वजनिक राजनीतिक गतिविधियां इतनी जटिल होती हैं कि वे एक व्यक्ति या राज्य की सर्वोच्च इच्छा से अभिव्यक्त नहीं हो सकती। एक राष्ट्र तभी सुरक्षित रह सकता है यदि व्यक्ति और राज्य के बीच कुछ परस्पर सम्बन्धित समूह हों—ऐसे समूह जो व्यक्ति के इतने नजदीक हों कि उसे अपनी गतिविधियों की तरफ आकर्षित कर सके और सामाजिक जीवन के सामान्य संघर्ष में खींचकर ला सकें।' अपने नेताओं के माध्यम से ये समूह शासकों और जनता के बीच मध्यस्थता करवा के विभिन्न हितों को सरकार तक पहुंचाने की कोशिश करते हैं। इस तरह जनसाधारण को सरकार तक अपनी आवाज़ पहुंचाने का अवसर मिल जाता है।

बहुलवादी लेखकों का विचार है कि यद्यपि राजनीतिक और औद्योगिक संगठन के परिणामस्वरूप शक्ति कुछ लोगों तक सिमट कर रह गई है तथापि विभिन्न छोटे-बड़े हित समूहों में प्रतिस्पर्धा जनसाधारण के पक्ष में जाती है। उद्योगपतियों, श्रमिकों तथा सरकारी कर्मचारियों के विभिन्न समूहों में परस्पर प्रतिस्पर्धा प्रत्येक वर्गीय हित को शक्ति का दुरुपयोग करने से रोकने का प्रयत्न करती है। समाज में धन, शिक्षा, शक्ति आदि के दृष्टिकोण से कई तरह की असमानताओं के बावजूद विभिन्न समूहों की उपस्थिति निजी हितों का प्रतिनिधित्व करके लोकतन्त्र को कारगर बनाने का प्रयत्न करती है।

नोट्स बहुलवाद का विश्वास है कि सरकार चलाना केवल नेताओं और प्रशासकों की जिम्मेवारी नहीं होती बल्कि उन सभी व्यक्तियों और समूहों की भी है जो सरकार को परोक्ष रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं।

बहुलवादी लेखक यह मानते हैं कि आधुनिक समाजों में किसी न किसी तरह का विशिष्ट-वर्गीय शासन सरकार का एक अनिवार्य तत्व है। तथापि, यदि किसी भी क्षेत्र में निर्णय-निर्माण पर किसी एक विशिष्ट-वर्ग का एकाधिकार न होकर विभिन्न समूहों में प्रतिस्पर्धा होती है तो बहुलवाद बना रहता है। यदि तीन या चार विशिष्ट-वर्गों में समझौता अथवा लेन-देन की प्रक्रिया चलती रहती है तो उन्हें बहुलवादी कहा जा सकता है। इस संन्दर्भ में बहुलवादी और विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त काफी नजदीक आ जाते हैं।

लोकतन्त्र का बहुलवादी सिद्धान्त (Pluralist Theory of Democracy)

लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त को अमरीका के कई लेखकों ने स्पष्ट किया है जिनमें लिप्सेट, रॉबर्ट डाहल, प्रेस्थस, हन्टर, एग्गर आदि के नाम प्रमुख है। इनके अनुसार किसी भी समाज में राजनीतिक शक्ति विभिन्न हित समूहों, समुदायों, वर्गों तथा संगठनों में बंटी हुई होती है जिसका नेतृत्व विशिष्ट-वर्ग करता है। ये विभिन्न समुदाय स्वयं या राजनीतिक दलों के माध्यम से अपनी मांगे राजनीतिक व्यवस्था तक पहुचाते हैं। बहुलवादी लोकतन्त्र का अर्थ है एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था जिसमें राजनीतिक नीतियों का निर्माण विभिन्न समूहों में विचार-विनिमय और आपसी सलाह के आधार पर होता है ताकि कोई भी समूह विशेष या विशिष्ट-वर्ग सरकार में इतना शक्तिशाली न हो जाये कि वह केवल अपनी ही मांगों को पूरा करने या करवाने में सफल हो जाये। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीतिक शक्ति समाज के विभिन्न समूहों में बंटी होनी चाहिए और नीति-निर्माण में सभी संगठनों और समूहों की भागीदारी होनी चाहिए। सरकार की संस्थाओं पर किसी भी एक सामाजिक वर्ग का अकेला नियन्त्रण नहीं होना चाहिए।

नोट

प्रेस्थस के अनुसार, बहुलवादी लोकतन्त्र एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था है जिसमें राज्य की शक्ति समाज के अनेक निहित स्वार्थ वाले समूहों, हितों, संगठनों तथा इन समुदायों के प्रतिनिधियों में परस्पर मिल-बांट कर प्रयोग की जाती है। बहुलवाद एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें राजनीतिक शक्ति सरकार के विभिन्न संघटकों में बंटी रहती है और यह सरकार तथा असंख्य निजी समूहों एवं व्यक्तियों में सांझे तौर पर प्रयुक्त की जाती है। डुवर्जर के अनुसार, बहुलवादी लोकतन्त्र वह व्यवस्था है जिसमें निर्णय केन्द्रों की बहुलता होती हैं (There is plurality of decision centres)।

लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति की राजनीति में भागीदारी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि सामाजिक हितसमूह व्यक्ति की भागीदारी की सारी कमियों को पूरा कर देते है और लोकतन्त्र को भी कायम रखने में सफल हो जाते हैं। यदि अपने हितों के बारे में अनभिज्ञ भी हों तो भी हितसमूह उनके हितों की रक्षा करते है। इसी तरह यदि व्यक्ति के पास अपनी मांगों को सरकार तक पहुंचाने के साधन नहीं हैं तो सम्बन्धित समुदाय अपने स्रोतों को इकट्ठा करके लोगों के अलग-अलग हितों को संचित करके नीति निर्णयकों तक पहुंचा सकते हैं।

लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त की एक अन्य मान्यता है कि राजनीतिक निर्णयों में किसी एक समुदाय अथवा समुदायों के मिले-जुले किसी एक समूह का एकाधिकार नहीं होता। रॉबर्ट डाहल के अनुसार, लोकतन्त्र को शासन की एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें अल्पसंख्यक बहुलवादी समूह शासन करते हैं। इस तरह के शासन को सम्भव बनाने के लिये ये लेखक एक ऐसी खुली राजनीतिक व्यवस्था की मांग करते हैं जिसमें प्रत्येक नागरिक के पास अपने हितों को संगठित करने और उन्हें राजनीतिक स्तर तक पहुंचाने के कानूनी अधिकार और आर्थिक स्रोत होने चाहिए। ये अवसर इसलिये जरूरी हैं क्योंकि ये किसी भी क़ानून के पक्ष अथवा विपक्ष में विचार व्यक्त करने के साधन प्रदान करते हैं।

लोकतन्त्र का बहुलवादी सिद्धान्त यह भी मान कर चलता है कि राजनीति का उद्देश्य समाज के विभिन्न समूहों के परस्पर हितों में सामंजस्य स्थापित करना होता है। क्योंकि अधिकतर लोगों में शासन करने की क्षमता नहीं होती, अत: यदि उन्हें इन समूहों के माध्यम से अपनी हितपूर्ति का अवसर दिया जाता है तो लोकतन्त्र बेहतर कार्य कर सकता है। लोगों को चाहिए कि वे विभिन्न समूहों में सक्रियता से हिस्सा लें और अपने हितों का स्पष्ट रूप से निरूपण करें।

बहुलवादी सिद्धान्त का प्रजातान्त्रिक पक्ष तभी सुरक्षित रखा जा सकता है यदि समाज में विभिन्न समूहों का अस्तित्व कायम रहे और समूहों के नेताओं की प्रजातान्त्रिक नियमों के प्रति वचनबद्धता रहे। इनमें प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त (democratic creed) के प्रति आम सहमति का होना जरूरी है, अर्थात् इन सभी समूहों का चुनाव प्रक्रिया, संगठनों की सदस्यता तथा अन्य प्रजातान्त्रिक गतिविधियों में विश्वास होना जरूरी हैं।

किसी भी राजनीतिक समुदाय में शक्ति, प्रभाव और प्रतिस्पर्धा के विभिन्न केन्द्र होते हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न विशिष्ट वर्गीय नेताओं तथा समूहों में स्वस्थ प्रतियोगिता लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त का आधार है। जैसे कि ऊपर चर्चा की गई है, लोकतन्त्र के विशिष्ट-वर्गीय और बहुलवादी सिद्धान्तों में अन्तर कई बार धूमिल हो जाता है। बहुलवादी सिद्धान्त जितना वर्ग के नज़दीक आ जाता है। वास्तव में रॉबर्ट डाहल ने अपने बहुलवादी-विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त में दोनों का विलय कर दिया है।

डाहल की 'पोलीआरकी' (Dehl's *polyarchy*)

डाहल ने अपनी पुस्तकों *A Preface to Democratic Theory* तथा *polyarchy* में लोकतन्त्र के ऐसे सिद्धान्त की व्याख्या की है जिसमें उसने सरकार के विशिष्ट-वर्गीय चरित्र तथा चुनावी प्रतिस्पर्धा को शक्ति के विकेन्द्रीकरण की बहुलवादी धारणा के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है।

डाहल विशिष्ट-वर्गों की बहुलता और समूहों की बहुलता को एक ही नज़र से देखते हैं। उनके अनुसार, जनसाधारण चुनावों की प्रक्रिया और समूह प्रक्रिया दोनों में भाग लेते हैं। इस तरह के लोकतन्त्र, जिसे डाहल पोलीआरकी का

नोट

नाम देते हैं, में निर्णय लेने के कई केन्द्र होते हैं जैसे व्यापारी समूह, उद्योगपति समूह, व्यवसाय-संघ, किसानों के समूह, उपभोक्ता, राजनीतिक नेता, वोटर आदि। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के समुदाय और संगठन भी सरकार की नीतियों को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। इनमें से कोई भी समूह अपनी मांगों को पूरी तरह मनवाने में सफल नहीं होता। कुछ समुदाय दूसरों से अधिक शक्तिशाली अथवा प्रभावशाली हो सकते हैं। कुछ समूह अनिच्छित नीतियों का विरोध करने में सफल हो जाते हैं। डाहल लोकतन्त्र की इस पोलीआरकी की धारणा को एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था बताते हैं जिसमें जनसंख्या के सभी सक्रिय और वैध समुदाय निर्णय प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण चरणों में अपनी बात कहने का सामर्थ्य रखते हैं। पोलीआरकी-लोकतन्त्र में शासन अल्पसंख्यक समूहों द्वारा होता है।

डाहल के अनुसार, समकालीन प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं में विशिष्ट-वर्गों की स्थापना स्वाभाविक है। परन्तु वे 'शक्ति विशिष्ट-वर्ग' (Power Elite) अथवा 'शासक-वर्ग' (Ruling Elite) दोनों धारणाओं को अस्वीकार कर देते हैं। अपनी पुस्तक 'Who Governs' (जो न्यूहैवन नगर के व्यावहारिक अध्ययन पर आधारित है) में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यद्यपि वह नगर सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्रों में विशिष्ट-वर्गों के कुछ समूहों द्वारा शासित हो रहा था, तथापि उनमें से किसी को भी शासक वर्ग नहीं कहा जा सकता था। अमरीका के सन्दर्भ में वे लिखते हैं कि यह दावे से कहा जा सकता है कि यहां प्रजातान्त्रिक प्रतिस्पर्धा पर आधारित बहुलवादी विशिष्ट-वर्ग समाज के विभिन्न क्षेत्रों से आते हैं। सरकार द्वारा बनाये गये कानून पूंजी, श्रम तथा अन्य समूहों की संगठित शक्तियों के बीच समझौते का परिणाम होते हैं। हालांकि लोकतन्त्र तथा तानाशाही दोनों में शासन अल्पसंख्यकों के हाथ में होता है, फिर भी पोलीआरकी में इन अल्पसंख्यकों की संख्या, आकार और विभिन्नता काफी व्यापक होती है तथा इनकी मांगें और हित सरकार एवं कानून-निर्माण को प्रभावित करती है।

बहुलवादी लोकतन्त्र की विशेषतायें (Characteristics of Pluralist Democracy)

उपरोक्त चर्चा के आधार पर बहुलवादी लोकतन्त्र की निम्नलिखित विशेषतायें रेखांकित की जा सकती हैं:

1. बहुलवादी लोकतन्त्र एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जो प्रतिस्पर्धात्मक अल्पसंख्यकों द्वारा चलाई जाती है क्योंकि इनके हाथों में ही जनसाधारण की राजनीतिक स्वतन्त्रतायें सुरक्षित रह सकती हैं।

2. निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में किसी एक व्यक्ति या समूह का एकाधिकार नहीं होना चाहिए। शक्ति विकेन्द्रित, साझी, प्रतिस्पर्धात्मक और विभाजित होनी चाहिए।

3. शक्ति के केन्द्रीकरण पर रोक लगाने के लिये सरकार के विभिन्न विभागों, जैसे विधानमण्डल, कार्यकारिणी, न्यायपालिका और नौकरशाही में नियन्त्रण और सन्तुलन (Checks and Balances) होने चाहिए।

4. राज्य का कर्तव्य समाज के विभिन्न समूहों में समझौता करवाना एवं समन्वय स्थापित करना होता है।

5. समाज में शक्ति, प्रभाव और प्रतिस्पर्धा के विभिन्न केन्द्र होने चाहिए तथा इन केन्द्रों के पास इतने स्रोत और सुविधायें होनी चाहिए कि वे नीति-निर्माण को प्रभावित कर सके।

6. इन विभिन्न समूहों के बीच प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया, नीति विकल्पों की सीमाओं तथा राजनीति के कार्यक्षेत्र के बारे में आम सहमति होनी चाहिए।

आलोचना और मूल्यांकन (Criticism and Evaluation)

लोकतन्त्र का बहुलवादी सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि समूह प्रक्रिया सामान्य इच्छा तथा सामान्य हित का प्रतिनिधित्व करती है। तथापि बैरी होल्डन का विचार है कि यह एक गलत धारणा है क्योंकि यह जरूरी नहीं कि समूह की इच्छा और व्यक्तिगत इच्छा एक ही हों। इसके दो कारण हैं। सर्वप्रथम तो यह सोचना ही गलत है कि हितों में टकराव का परिणाम निश्चित रूप से व्यक्तिगत हितों समन्वय स्थापित कर देगा। उदाहरण के लिये एक अनधिकृत झुग्गी-झोंपड़ी समूह को हटाने के लिये निवासियों, स्थानीय प्रशासन, पर्यावरण अधिकारियों इंजीनियरों तथा भूसम्पत्ति के मालिकों के विभिन्न हितों के बीच संघर्ष का परिणाम यह हो सकता है कि नतीजा कुछ भी न निकले और वह

नोट

झुग्गी-झोंपड़ी वहीं की वहीं खड़ी रहे जो कि किसी भी समूह के हित में नहीं है। दूसरे, यह भी सोचना गलत है कि एक व्यक्ति विशेष वही चाहता है जो एक समूह के हित में है। ऐसा भी हो सकता है कि व्यक्तिगत हित और समूह हित में परस्पर विरोध हो। उदाहरण के लिये, औद्योगिक मज़दूर होने के नाते मज़दूरों का सामूहिक हित अपनी मज़दूरी बढ़वाने में होता है परन्तु चुनाव के समय यदि उनसें पूछा जाये तो हो सकता है कि व्यक्तिगत स्तर पर वे एक स्वस्थ अर्थव्यवस्था और मुद्रा-स्फीति को समाप्त करने के पक्ष में हों, चाहे इसके कारण उनके वेतन पर प्रतिकूल प्रभाव ही क्यों न पड़े।

आलोचक इस तर्क से भी प्रभावित नहीं हैं कि चुनाव प्रणाली और प्रतिस्पर्धा लोकतन्त्र की सन्तोषजनक सुरक्षा है। उदाहरण के लिये माईकल मैवगोलिस का कहना है कि बहुलवादी सिद्धान्त निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर नहीं देता:

1. यह निर्वाचित विधानमण्डल द्वारा विशाल नौकरशाही को नियन्त्रित करने का कोई तरीका नहीं सुझाता।

2. यह बजट स्रोतों तथा कई तरह की तकनीकी जानकारी पर सेना के नियन्त्रण पर कोई रोक नहीं लगाता। परिणामस्वरूप सेना को सार्वजनिक नीतियां अपने हित में मोड़ने का मौका मिल जाता है।

3. यह धन, आय और रोजगार के अवसरों को कुछ निजी निगमों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों में केन्द्रित होने से रोकने की योग्यता नहीं रखता।

4. यह सामाजिक स्रोतों के पुनर्वितरण के लिये कोई ऐसे तरीके नहीं सुझाता जिससे कि परम्परागत दृष्टिकोण से पिछड़े लोग—जैसे अल्पसंख्यक, नारी जाति अथवा सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोण से निम्न वर्ग—भी राजनीति में भागीदारी के अवसर प्राप्त कर सकें और वे अन्य लोगों के बराबर आ सकें।

बहुलवाद की छवि में सुधार लाने के लिये एवं उपरोक्त आलोचनाओं का उत्तर देने के अभिप्राय से कई लेखकों ने बहुलवादी सिद्धान्त को पुन: परिभाषित करने की कोशिश की है ताकि उपरोक्त आपत्तियों को दूर किया जा सके। उदाहरण के लिये, रॉबर्ट डाहल का विचार है कि निजी निगमों का सार्वजनिक स्वामित्व अथवा नियन्त्रण द्वारा समाजीकरण कर दिया जाना चाहिए। डाहल के अनुसार, इन निगमों के निवेश तथा योजनाओं सम्बन्धी निजी निर्णयों का सार्वजनिक क्षेत्र पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अत: यदि किसी राजनीतिक व्यवस्था को प्रजातान्त्रिक कहना है तो आम जनता को इनके निर्णयों में हस्तक्षेप करने का अवसर दिया जाना चाहिए।

इसी तरह अन्य लेखकों का विचार है कि आम जनता को सरकार से सूचनाएँ प्राप्त करने तथा प्रशासन की विभिन्न फाईलों की जांच करने को अधिकार होना चाहिए। कम्प्यूटरीकरण के बाद यह सूचनाएँ जनता तक पहुंचाना आसान हो गया है। आम जनता का सरकार के कार्यों में हिस्सा लेने का यह कारगर तरीका सिद्ध हो सकता है। एक अन्य लेखक का विचार है कि निर्णय लेने का अधिकार कुछ उच्च पदाधिकारियों तक न छोड़कर इसे छोटे-छोटे व्यक्तिगत समूहों के संगठनों को दे देना चाहिए।

प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त तथा प्रजातान्त्रिक प्रशासन के व्यवहार में तालमेल हमेशा काफी मुश्किल रहा है। समकालीन कल्याणकारी राज्य के बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र ने इसे और जटिल बना दिया हैं। विशिष्ट-वर्गीय और बहुलवादी सिद्धान्त इन कमियों के ही परिणाम हैं। ये चुनाव प्रक्रिया, राजनीतिक दलों, विशिष्ट-वर्गों और हित समूहों के माध्यम से जनसाधारण और प्रतिनिधियों में सम्बन्ध स्थापित करके लोकतन्त्र को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते है तथापि इनके आलोचकों का कहना है कि इन गतिविधियों पर आधारित सरकार लोकतन्त्र की शर्तों को पूरा नहीं करती।

4. सहभागी लोकतन्त्र का सिद्धान्त (Theory of Participatory Democracy)

पिछले 200 साल में लोकतन्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों की यह मूल धारणा रही है कि सरकार की उपयुक्त व्यवस्था वह है जो जनसाधारण को राज्य के कार्यों में हिस्सा लेने का अवसर प्रदान करती है। जहां निश्चित अवधि के बाद चुनाव में वोट देने का अवसर लोकतन्त्र की न्यूनतम शर्त है, वहां सहभागी लोकतन्त्र (Participatory Democracy) के विचारकों का कहना है कि राजनीतिक भागीदारी के व्यापक अवसर और विभिन्न स्वरूप ही लोकतन्त्र का सार हैं। सहभागिता सिद्धान्त जनता की भागीदारी को एक आदर्श (अर्थात् लोगों को राजनीतिक कार्यों

नोट

में हिस्सा लेना चाहिए) और एक व्यावहारिक आवश्यकता (अर्थात यह भागीदारी कैसे और किस सीमा तक लेना होनी चाहिए) दोनों दृष्टिकोणों से न्यायोचित ठहराता है। 'सहभागी लोकतन्त्र' शब्दावली का प्रयोग ग्रीक राज्यों से लेकर मार्क्सवादी परम्परा लोकतन्त्र के कई मॉडलों के साथ प्रयुक्त किया जाता रहा है, तथापि जिस सहभागी लोकतन्त्र के सिद्धान्त की हम यहां बात कर रहे हैं, यह लोकतन्त्र का नया मॉडल है जिसकी उत्पत्ति का श्रेय 1960 के बाद कुछ वामपन्थी लेखकों को जाता है। यह सिद्धान्त वापन्थी विचारधारा के अन्तर्गत चल रही चर्चाओं लोकतन्त्र के उदारवादी तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अधूरेपन तथा 1960 के बाद यूरोप और अमरीका में उभरी राजनीतिक उथल-पुथल एवं विद्यार्थी आंदोलनों के प्रत्यनों का मिला-जुला परिणाम है। लोकतन्त्र के इस मॉडल में कई लेखकों का योगदान है, परन्तु मुख्यत: इसे तीन लेखकों के साथ जोड़ा जाता है। ये हैं: मैकफरसन, कैरोल पैटमैन तथा पोलान्ज़े। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह सिद्धान्त नोज़िक द्वारा प्रतिपादित क़ानूनी लोकतन्त्र (Legal Democracy) के विरोध में स्थापित किया गया। हालांकि बीसवीं शताब्दी की चुनौतियों का सामना करने के लिये कई लेखकों ने सहभागी लोकतन्त्र को एक उपयुक्त अनुक्रिया माना है। तथापि इस मॉडल के सिद्धान्त और व्यवहार अभी काफी सीमित हैं।

सहभागी लोकतन्त्र के सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है:

(*i*) सहभागी लोकतन्त्र क्या है?

(*ii*) सहभागी लोकतन्त्र की आवश्यकता

(*iii*) सहभागिता के तरीके तथा कार्यक्षेत्र

(*iv*) सहभागी लोकतन्त्र की विशेषतायें

(*v*) सहभागी लोकतन्त्र की समस्यायें

सहभागी लोकतन्त्र क्या है? (What is Participatory Democracy)

सहभागी लोकतन्त्र का विकास लोकतन्त्र के विशिष्ट-वर्गीय और बहुलवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ। वास्तव में यह जनसाधारण का 'विशिष्ट' अथवा विशेषज्ञ (Experts) के विरुद्ध एक रोषाभिव्यक्ति है। विशिष्ट वर्गीय एवं बहुलवादी सिद्धान्तों में निर्णय-निर्माण को कुछ विशेषज्ञों अथवा समूहों का एकाधिकार बना दिया गया और आम जनता को इन्हें चुनने का एक साधन मात्र। सहभागी लोकतन्त्र निर्णय-निर्माण की इस शक्ति को अधिक समतावादी आधारों पर खड़ा करना चाहता है। राज्य के निरन्तर बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र के सामने व्यक्ति की असमर्थता तथा निर्णय-निर्माण प्रक्रिया का कुछ अल्पसंख्यक लोगों तक सिमट जाना—इन दो विशेषताओं ने ऐसे कई आन्दोलनों को जन्म दिया जिनका उद्देश्य आम लोगों को निर्णय-निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से शामिल करना था। समानता तथा बहुमत-शासन में विश्वास रखते हुए, सहभागी लोकतन्त्र निर्णय-निर्माण प्रक्रिया को स्थानीय स्तर तक पहुंचाकर राजनीतिक समानता का विस्तार करना चाहता है। कुक और मोरगन के अनुसार, सहभागी लोकतन्त्र के पक्ष है: (*i*) निर्णय-निर्माण प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण करना ताकि इसे उन लोगों तक लाया जा सके जो इन फैसलों से सीधे प्रभावित होते हैं, तथा (*ii*) निर्णय-निर्माण में आम लोगों की सीधी भागीदारी।

भागीदारी प्रजातन्त्र परम्परागत उदारवादी विचार को स्वीकार करता है कि लोकतन्त्र केवल सरकार का स्वरूप ही नहीं है बल्कि आत्म-विकास के समान अधिकार का एक साधन भी है। यह विकास केवल सहभागी समाज में ही सम्भव हो सकता है—एक ऐसा समाज जो सामूहिक समस्याओं का ध्यान रखता है और राजनीतिक दृष्टिकोण से ऐसे सक्रिय नागरिक समूह का निर्माण करता है जो शासन प्रक्रिया में निरन्तर हिस्सा लेते है। यह समाज की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं में नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी में विश्वास करता है, राजनीतिक दलों को और अधिक उत्तरदायी तथा खुला बनाना चाहता है, एक ऐसी उन्मुक्त संस्थात्मक व्यवस्था की सुरक्षा करना चाहता है जिसमें भागीदारी के नये स्वरूपों का प्रयोग सम्भव हो सके।

नोट

क्योंकि सहभागी लोकतन्त्र जनसाधारण की राजनीतिक व्यवस्था में भागीदारी को वापस लाना चाहता है, अत: सवाल उठते हैं: (*i*) भागीदारी की आवश्यकता क्यों है? तथा (*ii*) यह सहभागिता कैसे और किस सीमा तक सम्भव है। आइये इन प्रश्नों पर चर्चा करें।

सहभागिता की आवश्यकता (Need for Participation)

जैसे कि ऊपर चर्चा की गई है, सहभागी लोकतन्त्र का अर्थ है नीति-निर्माण प्रक्रिया में जनसाधारण की भागीदारी। उदारवाद के प्रारम्भिक लेखक जे. एस. मिल ने इस भागीदारी को दो आधारों पर न्यायसंगत ठहराया था: (*i*) यह आम जनता को शासकों की तानाशाही से बचाती है, तथा (*ii*) यह सम्पूर्ण मानवजाति के विकास और उन्नति का साधन है। ये विशिष्ट-वर्गीय तथा बहुलवादी सिद्धान्त थे जिन्होंने व्यक्ति की भागीदारी को हतोत्साहित किया। सहभागी लोकतन्त्र इस भागीदारी को वापस लाना चाहता है। कैरोल पैटमैन के अनुसार, आज के लोकतन्त्रों में स्वतन्त्र और समान व्यक्ति मिलना मुश्किल हो गया है। अधिकारों का औपचारिक रूप से प्रदान किया जाना (हालांकि यह अनावश्यक नहीं है) कोई महत्त्व नहीं रखता यदि उन्हें वास्तविक स्तर पर अमल में न लाया जा सके। स्वतन्त्रता के अधिकार को केवल उन वास्तविक नागरिक स्वतन्त्रताओं और अवसरों के सन्दर्भ में आंका जा सकता है जो व्यक्ति को राजनीतिक और नागरिक जीवन में सक्रिय तौर पर हिस्सा लेने के लिये उपलब्ध होते हैं। रूसो और मिल के विचारों से प्रेरणा लेते हुए पैटमैन लिखती है कि सहभागी लोकतन्त्र मानवीय विकास में वृद्धि करता है, राजनीतिक कार्यकुशलता को बढ़ाता है, शासकों और शासितों के अलगाव को काम करता है, सामूहिक समस्याओं के बारे में चिन्तित रहता है तथा ऐसे सक्रिय नागरिक समूह पैदा करता है जो सरकार के कार्यों में हिस्सा लेने के काबिल होते है। यदि लोगों को यह पता हो कि प्रभावशाली सहभागिता लाभकर है तो वे अवश्य ही सक्रिय तौर से भाग लेना पसन्द करेंगे। इसी तरह मैकफरसन का भी यह तर्क है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता तभी चरितार्थ हो सकती है यदि उसे राज्य के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने को अवसर दिया जाये।

सहभागिता का एक अन्य औचित्य है कि यह सीखने की प्रक्रिया (learning process) है। सहभागिता व्यक्ति की सोच में परिवर्तन कर देती है। यह लोगों को सामाजिक बनाकर उनमें नये विश्वास, दृष्टिकोण और मूल्यों की स्थापना करती है। कुक और मोरगन के अनुसार सहभागिता राजनीतिक कार्यकुशलता को बढ़ाती है और व्यक्ति को अपनी परिस्थितियां नियन्त्रित करने के योग्य बनाती है। आज के युग में जबकि व्यक्ति प्रशासनिक जटिलताओं के समक्ष स्वयं को असहाय पाता है, सहभागिता के माध्यम से निर्णय-निर्माण में यह परिवर्तन उसके इस असहायपन पर विजय पाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। सहभागिता से सार्वजनिक विषयों के बारे में अधिक सूचनाएँ मिल सकती हैं। लोग समस्याओं को हल करने के विभिन्न विकल्पों के बारे में सोच सकते हैं। सहभागिता व्यक्ति की सामुदायिक एकता की भावना को सुदृढ़ कर सकती है और आधुनिक जीवन के तनावों को कम करने में सहायक हो सकती है।

सहभागिता का एक अन्य लाभ यह है कि इससे बेहतर निर्णय लिये जा सकते हैं। जैसे कि ऊपर चर्चा की गई है, सहभागी लोकतन्त्र आम व्यक्ति की 'विशेषज्ञ' के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। इस लोकतन्त्र के समर्थकों का कहना है कि आम व्यक्ति भी विशेषज्ञ हो सकता है। कई बार आम व्यक्ति निर्वाचित प्रतिनिधियों से बेहतर सिद्ध होते हैं। आज के औद्योगिक और तकनीकी समाजों में सामूहिक बुद्धि (व्यक्तिगत बुद्धि के विपरीत) ज्यादा तर्कसंगत है। व्यक्ति जितना मिलकर सोचे उतना बेहतर है। इसके अतिरिक्त तानाशाही के विरुद्ध उत्तम सुरक्षा शक्ति का विकेन्द्रीकरण होता है। सहभागी लोकतन्त्र व्यक्ति को निष्क्रियता, अनभिज्ञता और अलगाव से बचा सकता है।

संक्षेप में, लोकतन्त्र का सार सहभागिता में है। आम व्यक्ति को निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के साथ जोड़े बिना लोकतन्त्र व्यर्थ है।

सहभागिता के तरीके तथा कार्यक्षेत्र (Method and Scope of Participation)

यदि सहभागिता लोकतन्त्र की आवश्यक शर्त है तो सवाल उठता है कि उसे कार्यान्वित करने के लिये आम व्यक्ति के पास तरीके कौन-कौन से हैं। विभिन्न विचारकों में सहभागिता के साधन और सीमाओं के बारे में मतभेद होने

नोट

के बावजूद आधुनिक प्रजातान्त्रिक देशों में हमें भागीदारी के अनेक साधन देखने को मिलते हैं। इनमें से कुछ हैं: स्थानीय और राष्ट्रीय चुनावों में वोट देना, चुनावों में किसी व्यक्ति के समर्थन में प्रचार करना, किसी राजनीतिक दल का सक्रिय सदस्य बनाना, किसी दबाव-गुट का सदस्य बनना, राजनीतिक प्रदर्शनों में हिस्सा लेना, राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित हड़तालों में हिस्सा लेना, सार्वजनिक नीतियों में परिवर्तन करने के आन्दोलनों में हिस्सा लेना, असहयोग आन्दोलनों (जैसे टैक्स न देना) में हिस्सा लेना, सामाजिक नीतियों को लागू करने में हिस्सा लेना, सामुदायिक विकास की योजनाओं जैसे नारी विकास, परिवार नियोजन, पर्यावरण विकास आदि में हिस्सा लेना, जनमतसंग्रह (Plebiscite), प्रत्याह्वन (Recall) जैसी प्रत्यक्ष प्रजातान्त्रिक प्रक्रियाओं में हिस्सा लेना इत्यादि।

सहभागी लोकतन्त्र प्रतिनिधि लोकतन्त्र में कई कमियां पाता है और निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में जनसाधारण की भागीदारी के विभिन्न साधनों द्वारा इन कमियों को जहां तक हो सके दूर करना चाहता है। तथापि लोग इस प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से कैसे हिस्सा लें—इस प्रश्न पर विभिन्न लेखकों में काफी मतभेद हैं और इसके लिये वे कई तरह के विकल्प प्रस्तुत करते हैं।

लोकतन्त्र के परम्परागत उदारवादी सिद्धान्त ने राजनीति में भागीदारी के कई साधनों का विकास किया, जैसे वयस्क मताधिकार, व्यक्तिगत अधिकार और स्वतन्त्रताएँ, विचार और विश्वास की स्वतन्त्रता, स्थानीय शासन में हिस्सेदारी, सार्वजनिक विषयों पर आम चर्चा, ज्यूरी में प्रतिनिधित्व आदि। इसके बावजूद सहभागी लोकतन्त्र इन साधनों को अधूरा मानता है। इसके अनुसार आधुनिक लोकतन्त्र में लोग अपने आप को अकेला और असहाय पाते हैं। और निर्वाचित सरकारों में भी औचित्य की कमी है। सत्ता और स्रोतों में असमानता के कारण जनसाधारण के जीवन, स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों में भी कमी आ जाती हैं जिससे वे राजनीतिक जीवन में प्रभावशाली ढंग से हिस्सा नहीं ले पाते। राज्य अपने कानूनों के माध्यम से दैनिक जीवन में कई तरह की असमानतायें पैदा करता है। मात्र चुनाव प्रतिनिधियों के जनता के प्रति उत्तरदायित्व का सन्तोषजनक साधन सिद्ध नहीं हुए हैं। अत: प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया पर जनसाधारण का नियन्त्रण एक नितान्त आवश्यकता बन गया है।

पोलान्जे के अनुसार, इसमें कोई शक नहीं कि राज्य के आकार और शक्ति दोनों में वृद्धि होने के कारण प्रत्यक्ष लोकतन्त्र सम्भव नहीं है। फिर भी, जनसाधारण की भागीदारी को दो तरह के परिवर्तनों द्वारा बढ़ाया जा सकता है: (*i*) राज्य की संसद, नौकरशाही तथा राजनीतिक दलों को और पारदर्शी तथा उत्तरदायी बनाकर, तथा (*ii*) नये तरीके के जन आन्दोलनों —नारी आन्दोलन, पर्यावरण आन्दोलन, स्थानीय उद्योगों की मांगें आदि—में जनसाधारण को हिस्सेदार बनाकर उन्हें राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति सचेत करे। परन्तु इन दोनों प्रकार की प्रतिविधियों में समन्वय कैसे किया जायेगा, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

इसी तरह मैकफरसन का भी यही विचार है कि आधुनिक राज्यों का आकार और उनकी जनसंख्या इतनी अधिक है कि ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना करना ही मुश्किल है जिसमें राजनीतिक मुद्दों पर जनता को आमने-सामने चर्चा में भागीदार बनाया जा सके। तथापि इसका अर्थ नहीं कि कोई परिवर्तन सम्भव ही नहीं है। लोगों की भागीदारी प्रतिस्पर्धा राजनीतिक दलों और प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के कुछ तरीकों का सम्मिश्रण करके प्राप्त की जा सकती है। सामाजिक स्तर पर समस्याओं में अनेकता होने के कारण राजनीतिक दलों के निर्माण से छुटकारा नहीं मिल सकता। परन्तु इन दलों को अपेक्षाकृत कम श्रेणीबद्धता के आधार पर संगठित करके प्रशासकों और प्रबन्धकों को जनता के प्रति अधिक जिम्मेवार बनाया जा सकता है। सहभागी लोकतन्त्र के लिये एक अच्छा वातावरण तैयार हो सकता है (*i*) यदि राजनीतिक दलों को प्रत्यक्ष प्रजांतत्र के नियामानुसार संगठित किया जाये ये (*ii*) ये 'वास्तविक' राजनीतिक दल संसदीय ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करें, तथा (*iii*) इनके साथ-साथ व्यवसाय और स्थानीय समुदायिक स्तर पर स्वप्रबन्धित संगठन हों जिनमें लोग प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा ले सकें। केवल इस तरह की राजनीतिक व्यवस्था ही आत्मविकास के समान अधिकार की प्रजातान्त्रिक मान्यता को पूरा कर सकती है।

कैरोल पैटमैन के अनुसार, जनसाधारण के दैनिक जीवन में प्रजातन्त्र को एक हिस्सा बनाकर उनकी भागीदारी को बढ़ाया जा सकता है। ऐसा उन संस्थाओं पर प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण में विस्तार करके किया जा सकता है जो व्यक्ति

नोट

के जीवन को प्रभावित करती हैं। इसके लिए प्रजातान्त्रिक अधिकारों को आर्थिक संस्थानों तथा समाज की अन्य संस्थाओं तक बढ़ाने की आवश्यकता है। व्यक्ति को राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ काम करने के क्षेत्र तथा सामुदायिक सम्बन्धों से सम्बन्धित अधिकार देने की भी आवश्यकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की संस्थाएँ समाज के सभी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों पर लागू नहीं की जा सकती। इसी तरह प्रतिस्पर्धात्मक दल, राजनीतिक प्रतिनिधित्व तथा चुनाव जैसी उदारवादी संस्थाओं से भी छुटकारा नहीं पाया जा सकता। तथापि स्थानीय समस्याओं में प्रत्यक्ष हिस्सेदारी और नियन्त्रण तथा सरकार के क्षेत्र में दलों तथा दबाव गुटों की प्रतिस्पर्धा–ये दोनों मिलकर सहभागी लोकतन्त्र को आगे बढ़ा सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक स्तर पर हिस्सेदारी का अधिकार राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला सकता है। लोगों को राष्ट्रीय स्रोतों के उत्पादन, निर्माण और उपभोग के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिल सकती हैं। इससे वे राष्ट्रीय प्रश्नों पर अपना निर्णय देने के योग्य ही नहीं हो सकते बल्कि अपने प्रतिनिधियों की वरीयताओं को भी आंक सकते हैं। इस प्रकार प्रतिनिधि लोकतन्त्र का सहभागी लोकतन्त्र में रूपान्तर किया जा सकता है।

सहभागी लोकतन्त्र की विशेषतायें (Characteristics of Participatory Democracy)

उपरोक्त चर्चा के आधार पर सहभागी लोकतन्त्र की मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित आधार पर रेखांकित किया जा सकता है:

1. लोकतन्त्र केवल शासन का रूप ही नहीं बल्कि व्यक्ति के आत्म-विकास का साधन भी है। आत्म-विकास का यह अधिकार केवल सहभागी समाज में ही प्राप्त हो सकता है–एक ऐसा समाज जो राजनीतिक कार्यकुशलता को बढ़ावा दे, सार्वजनिक समस्याओं के बारे में चिन्तित हो और ऐसे नागरिकों की सृष्टि करे जो शासन प्रक्रिया में निरन्तर रुचि रखते हों।

2. प्रतिनिधि संस्थाओं के साथ-साथ सहभागी लोकतन्त्र कार्य करने के स्थान तथा स्थानीय समुदायों की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के नियमन के लिये लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी सुनिश्चित करना चाहता है।

3. राजनीतिक दल व्यवस्था का इस तरह पुनर्संगठन किया जाये कि वे जनता के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हो सकें।

4. केवल इस तरह के पुनर्संगठित 'वास्तविक' राजनीतिक दलों को ही संसदीय सरकार को चलाने की अनुमति होनी चाहिए।

5. प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण के नये आयामों की संभावना को सुरक्षित करने के लिये राज्य की संस्थात्मक व्यवस्था खुली होनी चाहिए।

6. आर्थिक अधिकारों तथा भौतिक साधनों के पुनर्वितरण द्वारा यह जनसाधारण और सामाजिक समुदाय के अल्प स्रोत साधनों में वृद्धि करना चाहता है।

7. यह सार्वजनिक और निजी जीवन में अनुत्तरदायी नौकरशाही की शक्ति को कम-से-कम करना चाहता है।

सहभागी लोकतन्त्र की समस्यायें (Problems of Participatory Democracy)

डेविड हैल्ड के अनुसार, सहभागी लोकतन्त्र जहां लोकतन्त्र के पहले स्वरूपों (परम्परागत-उदारवादी, विशिष्ट-वर्गीय, बहुलवादी) की कठिनाइयों को ध्यान में रखता है और उनमें सुधार लाने का प्रयत्न भी करता है, वहां कुछ महत्त्वपूर्ण सवालों का जवाब यह मॉडल भी नहीं दे पाता। इसमें कोई शक नहीं कि राजनीति में सक्रिय हिस्सा लेना हम केवल सहभागिता के अवसरों से ही सीख सकते हैं और यह एक सक्रिय और सुविज्ञ नागरिकता के विकास में सहायक भी होती है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं यह है कि सक्रिय भागीदारी से मानवीय विकास में अपने आप क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जायेगा। यह कोई जरूरी नहीं कि भागीदारी से लोग अधिक प्रजातान्त्रिक, सहभागी और सामान्य हित

नोट

के प्रति समर्पित हो जायें। बल्कि ऐसा सोचना अधिक विवेकपूर्ण होगा कि सहभागिता का अवसर देने पर भी लोगों के नैतिक अथवा बौद्धिक व्यवहार में कोई खास अन्तर नहीं आयेगा। ऐसा भी सम्भव है कि अधिक भागीदारी समाज में संघर्ष, टकरावों और हिंसा को बढ़ा दे जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, वितरणात्मक न्याय और प्रजातान्त्रिक निर्णयों में विरोधाभास पैदा हो जाये।

दूसरे, सहभागी लोकतन्त्र इस परिकल्पना पर आधारित है कि लोग राज्य के कार्यों पर अपना नियन्त्रण बढ़ाना चाहते हैं। सार्वजनिक कार्यों में हिस्सा लेने का संवैधानिक अधिकार होना एक बात है। परन्तु हम सार्वजनिक जीवन में हिस्सा जरूर लें, चाहे हमारी इच्छा हो या न हो, यह दूसरी बात है। यदि लोग हिस्सा नहीं लेना चाहते तब क्या होगा? यदि वे अपने सामाजिक और आर्थिक मामलों के नियन्त्रण में भाग नहीं लेना चाहते तो क्या उन्हें भाग लेने पर मज़बूर किया जाना चाहिए? यदि वे लोकतान्त्रिक विचारधारा या चेतना का अंग नहीं बनना चाहते तो क्या उनके साथ जबरदस्ती की जानी चाहिए? और यदि वे प्रजातान्त्रिक शक्ति का तानाशाही तरीकों से प्रयोग करते हैं तो उनके विरुद्ध क्या कार्रवाई की जा सकती है? सहभागिता सिद्धान्त इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देता।

तीसरे, सहभागी सिद्धान्त लोकतन्त्र को केवल शासन का रूप ही नहीं बल्कि मानवीय विकास का एक यन्त्र मानता है। डेविड के अनुसार, इसमें कोई शक नहीं कि सहभागी सिद्धान्त के विचारक राज्य और समाज के ढाँचे में परिवर्तन लाने के लिये प्रजातान्त्रिक नियमों को लागू करने की बात करते हैं; तथापि इन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, वितरणात्मक समस्याओं और प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया के जटिल सम्बन्धों पर गहराई से विचार नहीं किया है। सामूहिक निर्णय-निर्माण प्रक्रिया पर बल देकर यह इन सम्बन्धों को प्रजातान्त्रिक समझौतों और लेन-देन पर छोड़ना चाहते हैं। परन्तु मौलिक समस्या यह है कि क्या लोगों की राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन लाने की शक्ति पर कोई सीमाएं होनी चाहिए? क्या स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया की मनमर्जी पर छोड़ देना चाहिए? सहभागी लोकतन्त्र के लेखक इस मुद्दे पर अस्पष्ट हैं।

चौथे, कुक और मोरगन के अनुसार, सरकार के एक स्वरूप के रूप में भी सहभागी लोकतन्त्र एक तर्कसंगत सिद्धान्त नहीं है। स्थानीय और राष्ट्रीय स्तरों की निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में जनसाधारण की प्रत्यक्ष भागीदारी कई तरह की समस्यायें खड़ी कर सकती है जिन्हें सैद्धान्तिक स्तर पर सही तरीके से स्पष्ट नहीं किया गया। इस तरह की कुछ समस्यायें हैं: निर्णय लेने की उचित इकाई क्या होगी? सहभागी इकाई का आकार तथा कार्यक्षेत्र क्या होगा? अधिक लोगों की भागीदारी क्या निर्णयों की कार्यकुशलता एवं क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगी? स्थानीय स्तर पर लिये गए निर्णयों को राष्ट्रीय स्तर के निर्णयों के साथ और सम्पूर्ण समाज के कल्याण के साथ कैसे जोड़ा जायेगा?

उपरोक्त विभिन्न समस्याओं ने सहभागी लोकतन्त्र के कार्यान्वयन में कई तरह की कठिनाइयां पैदा हैं। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त दक्षिणपन्थी और इच्छास्वातंत्र्यवादी लेखकों की तीखी आलोचना का लक्ष्य भी बना है।

14.2.3 लोकतन्त्र का मार्क्सवादी सिद्धान्त अथवा जनवादी लोकतन्त्र की धारणा (Marxist Theory of Democracy or Concept of People's Democracy)

लोकतन्त्र यूरोप उदारवादी देशों का एकाधिकार नहीं है। इस धारणा को मार्क्स, एंगेल्स और अन्य मार्क्सवादी लेखकों ने भी अपने अध्ययन का विषय बनाया यद्यपि इनका अर्थ उदारवाद से सर्वथा भिन्न था। जैसा कि ऊपर चर्चा की गई है, उदारवाद लोकतन्त्र को राजनीतिक संस्थाओं जैसे संसद, वयस्क मताधिकार, प्रतिस्पर्धात्मक दल पद्धति, विचाराभिव्यक्ति आदि के साथ जोड़ता है। इसके विपरीत मार्क्सवाद लोकतन्त्र को समाजवादी क्रान्ति के व्यापक दर्शन के सन्दर्भ में परिभाषित करता है। यह लोकतन्त्र को सर्वहारा वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) (या जन प्रजातन्त्र), समाजवादी समाज की स्थापना और साम्यवादी समाज के उच्च चरण में एक शासन के रूप में इसको समाप्त करने के सिद्धान्तों के साथ जोड़ता है।

शासन के रूप में मार्क्सवाद लोकतन्त्र को एक ऐसा स्वरूप मानता है जो अन्ततोगत्वा किसी भी समाज के उत्पादन के सम्बन्धों द्वारा निश्चित होता है। एक वर्ग विभाजित समाज में लोकतन्त्र वास्तव में समाज के प्रभुताशाली वर्ग के

नोट

हितों का संरक्षक होता है। उदाहरण के लिये, पूंजीवादी समाज में लोकतन्त्र पूंजीपति-वर्ग की तानाशाही का ही एक रूप है। हालांकि यह संविधान, पार्लियामेन्ट, वयस्क मताधिकार तथा नागरिक स्वतन्त्रतायें आदि प्रदान करता है तथापि इस राज्य की नौकरशाही को इस तरह संगठित किया जाता है कि समाज का सम्पत्तिहीन बहुसंख्यक वर्ग निर्णय-निर्माण प्रक्रिया से कोसों दूर रहता है। संविधान में सुरक्षित अधिकार वास्तव में शासक वर्ग के विशेषाधिकार बन रह जाते हैं। अत: मज़दूर वर्ग के लिये लोकतन्त्र का संघर्ष वास्तव में मज़दूर वर्ग द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना के संघर्ष का रूप ले लेता है। मार्क्स के अनुसार, समाजवादी लोकतन्त्र लोकतन्त्र का उच्चतम चरण होगा क्योंकि यह बहुसंख्यक लोगों की इच्छाओं पर आधारित पहला लोकतन्त्र होगा। यह वास्तव में जनवादी लोकतन्त्र होगा।

लोकतन्त्र की मार्क्सवादी धारणा की व्याख्या मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के अतिरिक्त यूरोपीय परंपरा में पले अन्य मार्क्सवादी लेखकों, जैसे बर्नस्टीन, रोज़ा लग्ज़म्बर्ग, कॉटस्की, आस्ट्रो-मार्क्सवादी चिन्तकों की रचनाओं में मिलती है। सोवियत रूस तथा पूर्वी-यूरोपीय देशों में जनवादी लोकतन्त्र की स्थापना ने लोकतन्त्र के मार्क्सवादी सिद्धान्त और व्यवहार में कई विरोधाभास पैदा किये। 1970 के दशक में यूरो-साम्यवाद ने उदारवादी लोकतन्त्र और साम्यवाद को मिलाने की असफल कोशिश की।

लोकतन्त्र के मार्क्सवादी सिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है:

1. उदारवादी (बुर्जुआ) लोकतन्त्र की आलोचना
2. लोकतन्त्र की मार्क्सवादी अथवा जनवादी धारणा
3. जनवादी लोकतन्त्र की विशेषतायें
4. लेनिन और स्टालिन द्वारा किये गये परिवर्तन
5. लोकतन्त्र पर पश्चिमी यूरोपीय मार्क्सवादी लेखकों के विचार
6. साम्यवादी राज्यों में लोकतन्त्र का मूल्यांकन।

उदारवादी (बुर्जुआ) लोकतन्त्र की आलोचना (Criticism of Bourgeois Democracy)

1840 के दशक में मार्क्स और एंगेल्स ने अपने आपको लोकतन्त्र के साथ जोड़ा जिसे उन्होंने एक ऐसी समतावादी आन्दोलन माना जो समाजवाद की नींव बन सकता था। उन दिनों मार्क्स ने लोकतन्त्र पर बारह लेख लिखे। मार्क्स ने अपनी पत्रिका का नाम 'Organ of Democracy' रखा। मार्क्स का दृढ़विश्वास था कि केवल लोकतन्त्र ही राज्य को तर्कसंगत आधारों पर खड़ा कर सकता है। इस सन्दर्भ में उसने कुलीनतन्त्र, वंशानुगत शासन, जमींदारी हित और वोट के लिये सम्पत्ति की अनिवार्यता आदि की आलोचना की तथा यह विचार व्यक्त किया कि जनसाधारण की इच्छा राज्य का आधार बने। इस काल में मार्क्स द्वारा तानाशाही राजनीतिक संस्थाओं की आलोचना उसके मानवतावादी विचारों पर आधारित थी। मार्क्स ने लोकतन्त्र को व्यापक मानव मुक्ति के पहलू के साथ जोड़ा। हालांकि मार्क्स ने उदारवादी राज्य द्वारा प्रदान किये गये अधिकारों की आलोचना की, फिर भी इनके ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार किया क्योंकि यह कम-से-कम मज़दूर वर्ग को अपने आप को संगठित करने का अवसर प्रदान कर रहे थे। इसी तरह उदारवादी स्वतन्त्रता के अधिकार को भी मार्क्स ने सम्पूर्ण मानव स्वतन्त्रता का एक भाग माना। यद्यपि मार्क्स ने अभी लोकतन्त्र की वर्ग धारणा की अभिकल्पना नहीं की थी फिर उसकी साम्यवाद के बारे में धारणा स्पष्ट थी कि यह एक वर्गविहीन और व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण के अभाव पर आधारित समाज होगा।

1848 की यूरोपीय क्रान्तियों ने मार्क्स के विचार में आमूल परिवर्तन कर दिया। इन क्रान्तियों ने साम्यावाद और लोकतन्त्र की धारणाओं में एक विरोधाभास पैदा कर दिया। लोकतन्त्र के समर्थक जहां सामन्तवाद और वंशानुगत पर आधारित विशेषाधिकारों को समाप्त करना चाहते थे, वहां वे लोकतान्त्रिक प्रतिनिधि संस्थाओं को पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत स्थापित करना चाहते थे। अर्थात् वे राजनीतिक शक्ति को मज़दूर वर्ग तक नहीं पहुंचाना चाहते थे। अत:

नोट

मार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि सामन्तवादी विरासतों के विरुद्ध संघर्ष में तो लोकतन्त्र प्रतिवादी था परन्तु साथ ही यह पूंजीवादी व्यवस्था का एक रूप होकर ही रह गया। यह साम्यवाद के उच्च उद्देश्यों (वर्ग-विहीन समाज की स्थापना) के दृष्टिकोण से निन्दनीय है। जहां उदारवादी लेखकों के अनुसार लोकतन्त्र जनता की इच्छाओं को जानने का एक कारगर यन्त्र था, वहां मार्क्सवाद ने इसे लोकतन्त्र का मजाक बताया क्योंकि इसमें स्वार्थी और भ्रष्ट राजनीतिक नेता प्रजातान्त्रिक ढांचे को अपने निहित स्वार्थों के लिये प्रयोग करते हैं। मार्क्स ने इसे बुर्जुआ लोकतन्त्र (Bourgeois Democracy) का नाम दिया और कई कारणों से गलत माना। **पहली** बात तो यह कि बुर्जुआ लोकतन्त्र का आधार एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है जिसमें उत्पादन के साधन पूंजीवादी वर्ग के हाथ में होते हैं। राज्य निजी सम्पत्ति के अस्तित्व, पूंजी के असीमित स्वामित्व, मुक्त प्रतियोगिता और मुक्त बाज़ार को मान्यता देना है। एक वर्ग-विभाजित समाज में जहां बुर्जुआ वर्ग उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण और स्वामित्व रखता है, वहां यह राज्य पर भी प्रभुत्व जमा लेता है। यह राज्य द्वारा प्रदान किये जाने वाले अधिकारों, शक्तियों और स्वतन्त्रताओं को इस तरह परिभाषित और प्रबन्धित करता है कि मजदूर-वर्ग बहुसंख्या में होने के बावजूद भी इन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। **दूसरे,** राज्य की नौकरशाही, न्यायालय, पुलिस, सेना तथा कानून व्यवस्था औपचारिक रूप से तटस्थ होते हैं परन्तु वे वास्तव में सम्पत्तिशाली हितों की सुरक्षा करते हैं। यहां मार्क्सवादी ने उदारवादी लोकतन्त्र की आलोचना का मूल-मन्त्र दिया कि राज्य की संसद तथा अन्य राजनीतिक संस्थायें तटस्थ आधारों पर नहीं खड़ी होतीं जिसमें संख्या अथवा तर्क के आधार पर कोई भी सफलता प्राप्त कर लेगा। ये वे माध्यम हैं जिनके द्वारा जनता को यह धोखा दिया जाता है कि वह राज्य की सत्ता की असली धारक है जबकि वास्तव में यह सत्ता बुर्जुआ वर्ग द्वारा नियन्त्रित और कार्यान्वित की जाती है। पार्लियामेन्ट एक बतियाने वाली दुकान (Talking Shop) के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह समाज की राजनीतिक और आर्थिक-सामाजिक शक्ति (जो बुर्जुआ वर्ग के हाथ होती है) में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं कर सकता। अत: लोकतन्त्र केवल एक वर्ग के शासन को न्यायसंगत बनाने का एक तरीका है। स्वतन्त्रताओं की जगह औपचारिक स्वतन्त्रतायें ही देता है और मानवीय मुक्ति की जगह केवल राजनीतिक स्वतन्त्रतायें ही प्रदान करता है।

यह मानते हुए भी कि बुर्जुआ लोकतन्त्र मज़दूर-वर्ग के लिये वास्तविक लोकतन्त्र है और मज़दूर वर्ग बहुसंख्यक होने के बावजूद शासन में नहीं आ सकता मार्क्स और एंगेल्स का विचार था कि मज़दूर वर्ग इसे स्वयं को संगठित करने, अपनी राजनीतिक चेतना का स्तर ऊंचा उठाने और मज़दूर वर्ग की क्रान्ति के लिये तैयारी के रूप में प्रयोग कर सकता है। बुर्जुआ लोकतन्त्र द्वारा प्रदान किये जाने वाले वयस्क मताधिकार तथा समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार मजदूर वर्ग चेतना बढ़ाने और क्रान्तिकारी आन्दोलनों को चलाने की सीमित सुविधा प्रदान करते हैं। अपने अन्तिम वर्षों में मार्क्स ने यह स्वीकार किया कि मताधिकार कुछ अपवादी स्थितियों में समाजवाद को शान्तिपूर्ण तरीकों से लाने का एक माध्यम भी सिद्ध हो सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह तर्क कि एक क्रान्तिकारी दल का पार्लियामेन्ट और चुनावी तरीकों में विश्वास नहीं होता, मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं में नहीं मिलता। उनके लिये क्रान्तिकारी और संसदीय तरीके एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक थे। उन्होंने संसदीय तरीकों को वर्ग संघर्ष का रूप माना। परन्तु उनके लिये इसका अर्थ यह नहीं था कि क्रान्ति के दूसरे तरीकों का तिलान्जलि दे दी जाए।

जनवादी लोकतन्त्र या मजदूर-वर्ग की तानाशाही
(People's Democracy or Dictatorship of the Proletariat)

मार्क्स और एंगेल्स ने लोकतन्त्र के बौद्धिकवादी आदर्श (Enlightenment ideal of democracy) को स्वीकार किया जिसमें इसे एक सहभागी क्रिया माना गया था। अत: उन्होंने बुर्जुआ लोकतन्त्र के संसदीय मॉडल को सहभागिता के प्रतिकूल माना जो राजनीतिक को समाज की कुछ विशिष्ट-क्रियाओं तक सीमित रखना चाहता था। मार्क्स के अनुसार, वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना केवल मजदूर-वर्ग की क्रान्ति के बाद ही हो सकती है जब राज्य को समाप्त कर दिया जायेगा और शक्ति जनता को सौंप दी जायेगी। वे सारे कार्य जो पहले राज्य द्वारा होते थे, समुदाय के माध्यम से होगें जहां सारे पदाधिकारी जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जायेंगे और जहां मज़दूर-वर्ग अथवा उनके प्रतिनिधियों का बहुमत होगा। यह एक सामाजिक व्यवस्था होगी जिसमें पुलिस अथवा

नोट

सेना की आवश्यकता नहीं होगी बल्कि इसमें लोग ही सशस्त्र सैनिकों का काम करेंगे। अन्य सार्वजनिक पदों की तरह न्यायाधीशों का भी चुनाव होगा और सभी पदाधिकारी मज़दूर-वर्ग के समान वेतन ग्रहण करेंगे। एक समाजवादी समुदाय मज़दूर-वर्ग को सारी शक्ति देगा और एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करेगा जो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के करीब होगी।

मार्क्स ने मजदूर-वर्ग के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को मजदूर-वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat) का नाम दिया। परन्तु मार्क्स द्वारा इस शब्द का प्रयोग तथा बाद में लेनिन द्वारा रूस की क्रान्ति के सन्दर्भ में किये गये प्रयोग में अन्तर था। सलूकी के अनुसार, मार्क्स की सारी रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग केवल पांच बार किया गया है। इसी तरह हॉल ड्रेपर का भी मानना है कि मार्क्स और एंगेल्स दोनों ने इनका प्रयोग ग्यारह बार किया। मार्क्स के सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग उसकी प्रजातान्त्रिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करता है। अपनी पुस्तक *The class 'Struggle in France'* में मार्क्स ने मजदूर-वर्ग की तानाशाही को वर्ग-विहीन समाज तक पहुंचने का संक्रांति काल माना। जैसा कि वे लिखते हैं, 'पूंजीवादी समाज और साम्यवादी समाज के बीच एक क्रांतिकारी परिवर्तन का काल होगा। और यह काल मज़दूर-वर्ग की क्रांतिकारी तानाशाही के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।' पेरिस कम्यून की स्थापना के बाद मार्क्स ने लोकतन्त्र पर अपने विचारों की और आगे व्याख्या की। यह अर्थ 'मजदूर-वर्ग की तानाशाही' के बिना नहीं समझा जा सकता। 'लोकतन्त्र' 'मज़दूर-वर्ग की तानाशाही' परस्पर विरोधी शब्द नहीं है। यहां तानाशाही 'बुर्जुआ लोकतन्त्र' और 'मज़दूर-वर्ग के लोकतन्त्र' का अन्तर स्पष्ट करती है। मार्क्स और एंगेल्स ने प्रत्येक शासन को शासक-वर्ग की तानाशाही माना। यहां उन्होंने तानाशाही का प्रयोग एक विशेष सामाजिक वर्ग की तानाशाही (Dictatorship of a Social Class) के रूप में किया न कि 'केवल एक राजनीतिक दल की सरकार के रूप में'। उनके लिए 'तानाशाही' एक राजनीतिक धारणा न होकर सामाजिक धारणा थी। 'मजदूर-वर्ग की तानाशाही' का विलोम था 'बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही'। इससे निरंकुश राजतन्त्र संवैधानिक राजतन्त्र अथवा प्रजातान्त्रिक गणराज्य जैसे बुर्जुआ तानाशाही के विभिन्न स्वरूपों का भी पर्दाफाश हो गया कि रूप अलग अलग होने के बावजूद सार रूप में सारे एक है। इसी तरह 'मजदूर-वर्ग ही तानाशाही' का प्रयोग भी विभिन्न रूपों के सामूहिक अर्थ में किया गया, अर्थात्, क्रान्ति के बाद उनके रूप अलग-अलग हो सकते हैं परन्तु उनके सार में अन्तर नहीं होगा। सार रूप में लोकतन्त्र का अर्थ है बहुमत का शासन। क्योंकि मार्क्स और एंगेल्स इस बात से पूरी तरह आश्वस्त थे कि समाजवादी क्रान्ति के बाद मज़दूर-वर्ग का शासन होगा और वह बहुमत में होगा, अत: 'मज़दूर-वर्ग की तानाशाही' के रूप में लोकतन्त्र का अर्थ होगा 'बहुमत द्वारा, बहुमत के लिये शासन'। यह वास्तविक अर्थ में जन-लोकतन्त्र होगा।

मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार, प्रजातान्त्रिक सम्भावनाओं की उपस्थिति के अनुरूप क्रान्तिकारी परिवर्तन हिंसात्मक अथवा शान्तिपूर्ण कोई भी हो सकता है। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चाहे शान्तिपूर्ण हो या न हो, समाजवादी क्रान्ति प्रजातान्त्रिक अवश्य होनी चाहिए। यद्यपि *कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो* लिखते समय किसी भी तरह का सामाजिक परिवर्तन शान्तिपूर्ण तरीकों से लाना सम्भव नहीं था तथापि *मैनीफैस्टो* ने यह घोषणा की कि 'क्रान्ति का पहला कार्य मजदूर-वर्ग को प्रजातन्त्र के स्तर पर लाना होगा'। अपने आपमें अपूर्ण और अधूरी होने के बावजूद, मार्क्स और एंगेल्स ने प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया (वोट तथा अन्य अधिकार) द्वारा व्यक्ति की राजनीतिक मुक्ति के ऐतिहासिक महत्व का सकारात्मक दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया। उन्होंने इंग्लैण्ड और अमरीका में शान्तिपूर्ण तरीकों से समाजवादी परिवर्तन की सम्भावनाओं की भविष्यवाणी की। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में एंगेल्स ने यह स्पष्ट कहा कि 'मजदूर-वर्ग की तानाशाही' बुर्जुआ संसदीय गणराज्यों के राजनीतिक स्वरूप में ही अभिव्यक्त होगी। जैसा कि उसने लिखा, 'यदि कोई चीज निश्चित है तो यह कि हमारा दल और मजदूर-वर्ग केवल प्रजातान्त्रिक गणराज्यों के माध्यम से ही शासन में आ सकता है। यह मजदूर-वर्ग की तानाशाही का विशिष्ट स्वरूप है जैसा कि महान फ्रांस की क्रान्ति पहले ही स्पष्ट कर चुकी है'।

नोट

जनवादी लोकतन्त्र की विशेषतायें (Characteristics of People's Democracy)

1. लोकतन्त्र का अर्थ है राज्य के कार्यों में प्रत्यक्ष साधनों द्वारा मजदूर-वर्ग की सहभागिता। मजदूर वर्ग के रूप में यह बहुमत का, बहुमत के लिए, बहुमत द्वारा शासन है।

2. जनवादी लोकतन्त्र केवल क्रान्ति के माध्यम से मज़दूर-वर्ग को शासन और निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के स्तर पर उठाने से ही स्थापित हो सकता है। यह बुर्जुआ-वर्ग के विशेषाधिकारों का विनाश और मजदूर-वर्ग की एकता की मांग करता है।

3. आर्थिक स्तर पर, जनवादी लोकतन्त्र का अर्थ है उत्पादन के साधनों का समाजिक स्वामित्व, निजी पूंजी का राज्य द्वारा अपनाना, उत्पादन पर राज्य का नियन्त्रण, उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि, परिवहन और संचार पर राज्य का नियन्त्रण, तथा नागरिकों का काम करने का समान कर्तव्य।

4. राजनीतिक स्तर पर जनवादी लोकतन्त्र का अर्थ है कार्यकारिणी और वैधानिक कार्यों का समन्वय, सभी सरकारी पदाधिकारियों का सार्वजनिक चुनाव और प्रत्याह्वान (Recall) का प्रावधान। न्यायाधीशों का भी चुनाव, पुलिस और सेना का जन-सेना (People's Militia) द्वारा प्रतिस्थापन, स्थानीय स्वतंत्रता और सार्वजनिक पदाधिकारियों एवं मज़दूर-वर्ग में वेतन की समानता।

5. सामाजिक स्तर पर वंशानुगत अधिकारों की समाप्ति, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, उत्तरोत्तर कर प्रणाली, जनसंख्या का सारे देश में समान वितरण के आधार पर शहर और गांवों में भेद की समाप्ति; उत्पादन के साधनों में निरन्तर वृद्धि ताकि जनसाधारण की न्यूनतम आवश्यकताओं की चिन्ता दूर हो सके और उन्हें अपने जीवन की अन्य गतिविधियों और रुचियों को पूरा करने का अवसर मिल सके।

6. जन-लोकतन्त्र पूंजीवादी लोकतन्त्र तथा साम्यवाद के बीच संक्रान्ति काल है। वर्गों की समाप्ति और समाजवादी समाज के बाद साम्यवाद का चरण आरम्भ होगा। यह एक ऐसा समाज होगा जो निजी सम्पत्ति, पूंजी, बाज़ार-अर्थव्यवस्था तथा श्रम के विभाजन की पूर्ण समाप्ति पर आधारित होगा। इसमें सरकार और राजनीति का स्थान आत्म-नियमन ले लेगा, सार्वजनिक कार्य सामूहिक स्तर पर सम्पन्न होंगे, प्रशासनिक कार्य चुनाव और चक्रानुसार (election and rotation) होंगे तथा सभी सार्वजनिक प्रश्नों को जन-सहमति से हल किया जायेगा। साम्यवाद के अन्तर्गत केवल राज्य का ही नहीं बल्कि शासन के रूप में लोकतन्त्र का भी विलोप हो जायेगा। लोकतन्त्र जीने की एक शैली बन जायेगा और यह असली अर्थ में स्वशासन होगा।

मजदूर-वर्ग की तानाशाही में लेनिन और स्टालिन द्वारा किये गये परिवर्तन (Change Made by Lenin and Stalin in the Concept of Dictatorship of the Proletariat)

लेनिन और स्टालिन द्वारा विकसित मजदूर-वर्ग की तानाशाही के रूप में लोकतन्त्र की धारणा तथा रूस और अन्य पूर्वी-यूरोपीय देशों में जन-प्रजातन्त्रों की स्थापना ने मार्क्स की मौलिक धारणा में काफी परिवर्तन कर दिया। लेनिन ने मजदूर-वर्ग की तानाशाही को मार्क्स के राज्य सम्बन्धी विचार, समाजवादी क्रान्ति और मजदूरों की विजय के लिए महत्त्वपूर्ण माना। परन्तु उसने इस धारणा के अलग-अलग व्याख्यायें दीं। 1918 में लेनिन ने मजदूर-वर्ग की तानाशाही को 'बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध मजदूरों द्वारा हिंसा से जीता गया शासन' के रूप में परिभाषित किया-एक ऐसा शासन जो किसी कानून से बंधा हुआ नहीं है। 1919 में लेनिन ने हिंसा के तत्व पर बल न देकर समाजवाद के प्रबन्धकीय कार्य पर अधिक बल दिया। 1920 में लेनिन ने स्पष्ट किया कि मजदूर-वर्ग की तानाशाही न तो सामूहिक वर्ग के रूप में और न ही मजदूर संगठनों के माध्यम से स्थापित हो सकती है-**इसके लिए दल के रूप में एक अग्रणी (Vanguard) की आवश्यकता है जो मजदूर-वर्ग के नाम पर शासन करेगा।**

लेनिन ने लोकतन्त्र की व्याख्या तीन चरणों में की-पूंजीवादी, समाजवादी और साम्यवादी। लेनिन के अनुसार, लोकतन्त्र सरकार का एक रूप है। एक वर्ग-विभाजित समाज में सरकार तानाशाह और प्रजातान्त्रिक दोनों होती है।

नोट

यह एक वर्ग के लिए प्रजातान्त्रिक होती है और दूसरे के लिए तानाशाह। उदाहरण के लिए, बुर्जुआ लोकतन्त्र पूंजीपति के लिए तो लोकतन्त्र है परन्तु मजदूर-वर्ग के लिए तानाशाही। यह अल्पमत के लिए लोकतन्त्र है। यह केवल सम्पत्तिशाली वर्ग का लोकतन्त्र है जो अपनी सम्पत्ति के बल पर राजनीतिक संस्थाओं को भी अपने नियन्त्रण में रखता है और अन्य संस्थाओं को भी इस तरह से मोड़ लेता है कि वे केवल एक वर्ग के हितों की ही रक्षा करें। क्योंकि यह मज़दूर-वर्ग के हितों की रक्षा नहीं करता, अत: इसे समाप्त करके एक नये राज्य तथा राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण की आवश्यकता है जो मजदूर-वर्ग के हितों के अनुरूप हो।

समाजवादी लोकतन्त्र के सन्दर्भ में लेनिन ने स्वीकार किया कि वर्ग-राज्य होने के कारण 'मज़दूर-वर्ग की तानाशाही' भी एक वर्ग का शासन होगा और इसकी प्रकृति भी विराधी-वर्ग पर अपने हित लागू के लिए अपनी ज़ोरजबरदस्ती की संस्थाओं का निर्माण करेगा। सम्पत्तिशाली वर्ग पर विजय एक लम्बा युद्ध है जो केवल दृढ़ विश्वास और हिंसा के प्रयोग से ही जीता जा सकता है। पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच के संक्रान्ति काल में वर्ग-संघर्ष चलता रहेगा जिसका उद्देश्य पूंजीवादी वर्ग का सफाया होगा। इस काल में राज्य ऐसा होना चाहिए जो मज़दूर-वर्ग के लिए तो प्रजातान्त्रिक होगा परन्तु पूंजीपति-वर्ग के लिए तानाशाही। मज़दूर-वर्ग का राज्य भी वर्ग-राज्य है परन्तु यह ऐसा राज्य है जहां मज़दूरों का बहुमत सम्पत्तिशाली अल्पमत पूंजीपति वर्ग को समाप्त करना चाहता है। अन्ततोगत्वा यह राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन अल्पमत पूंजीपति वर्ग को समाप्त करना चाहता है।

मज़दूर-वर्ग की तानाशाही के दो उद्देश्य है: क्रान्ति की सुरक्षा करना तथा एक नयी समाजवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना। लेनिन के अनुसार, ये कार्य साम्यवादी दल द्वारा सम्पन्न किये जायेंगे जो मजदूर-वर्ग के लिए अग्रणी (Vanguard) और निर्देशक का काम करेगा। लेनिन के चिन्तन में मजदूर-वर्ग की तानाशाही धीरे-धीरे 'साम्यवादी दल की तानाशाही' में बदल गई। उसके अनुसार समाजवाद से साम्यवाद में परिवर्तन साम्यवादी दल द्वारा लाया जायेगा जो न केवल शोषक वर्ग का दमन करेगा बल्कि मज़दूर-वर्ग तथा पूरे समाज को अनुशासन में रखेगा।

संक्षेप में, लेनिन का तर्क था कि प्रत्येक राज्य एक वर्ग का यन्त्र होता है। जहां प्रभुत्व है वहां न तो स्वतन्त्रता होगी और न ही लोकतन्त्र। केवल साम्यवादी समाज में जब वर्ग संघर्ष समाप्त हो जायेगा और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो जायेगी, तभी हम स्वतन्त्रता की बात कर सकते हैं। तभी हम वास्तविक लोकतन्त्र की अवस्था प्राप्त कर सकते है। साथ ही साथ, सरकार के रूप में यह लोकतन्त्र के विलोप का समय भी होगा। लेनिन के अनुसार, जैसे-जैसे हम लोकतन्त्र को सुदृढ़ करते जायेंगे, वैसे-वैसे हम अपनी आवश्यकता से भी मुक्त होते जायेंगे। साम्यवाद राज्य की समाप्ति के साथ-साथ लोकतन्त्र को भी समाप्त कर देगा। लोकतन्त्र की सम्पूर्णता लोकतन्त्र की अनावश्यकता भी होती है।

अत: बुर्जुआ लोकतन्त्र के रूप में लोकतन्त्र शून्यमात्र है; मजदूर-वर्ग की तानाशाही में पहले से अधिक लोकतंत्र होगा क्योंकि यहाँ बहुसंख्यक मजदूर-वर्ग अल्पसंख्यक सम्पत्तिशाली वर्ग पर शासन करता है। फिर भी यह सच्चा लोकतंत्र नहीं क्योंकि साम्यवाद से ही सच्चा लोकतंत्र प्राप्त हो सकेगा। परन्तु तब लोकतंत्र की आवश्यकता ही नहीं रहेगी; यह फालतू की चीज हो जायेगा। जहाँ मार्क्स के लिए लोकतंत्र का अर्थ वर्ग-विहीन समाज से था वहाँ लेनिन के लिए लोकतंत्र राज्य का एक रूप है और राज्यविहीन अवस्था का अर्थ है लोकतंत्रविहीन अवस्था।

स्टालिन ने सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही को हिंसा और आतंक में बदल दिया। क्रान्ति को एक नया मोड़ दे दिया गया। दल का अत्यधिक केन्द्रीकरण कर दिया गया तथा इसे केन्द्रीकृत और शक्तिशाली नौकरशाही में बदल दिया गया। यह एक ऐसा शासन बन गया जिसमें एक व्यक्ति के पास निरंकुश शक्ति थी जिसकी लेनिन ने भी कल्पना नहीं की थी। स्टालिन ने इस शक्ति का दिल खोलकर प्रयोग किया तथा लाखों लोगों को, विशेषकर जो समाज के उच्च-वर्ग से सम्बन्धित थे, मौत के घाट उतार दिया।

जहां लेनिन ने मजदूर-वर्ग की तानाशाही को दल की तानाशाही में बदल दिया वहां स्टालिन में इसे एक व्यक्ति की तानाशाही तक संकुचित कर दिया। ऐसा मानकर चला गया कि दल तथा मज़दूर-वर्ग दोनों एक ही हैं और दल मजदूर-वर्ग का शत-प्रतिशत प्रतिनिधित्व करता है।

लोकतन्त्र पर अन्य मार्क्सवादी लेखकों के विचार (Other Marxist Writers on Democracy) नोट

पश्चिमी देशों के मार्क्सवादी लेखकों द्वारा समझी और व्याख्या की गई लोकतन्त्र की धारणा लेनिन और स्टालिन के विचारों से भिन्न थी। उदाहरण के लिए, बर्नस्टीन ने न केवल मार्क्स के पूंजीवाद के विश्लेषण को चुनौती दी बल्कि यह तर्क भी पेश किया कि समाजवादी क्रान्ति तथा मज़दूर-वर्ग की तानाशाही की आवश्यकता ही नहीं है। उसका विश्वास था कि मज़दूर-वर्ग के लिए राजनीतिक लोकतन्त्र और उदारवादी स्वतन्त्रताएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिंसात्मक वर्ग-संघर्ष केवल कच्चे और अपरिपक्व तरीके का राज्यवाद ला सकती है। एक अन्य लेखक कार्ल कॉटस्की ने यहां मार्क्सवाद की मौलिक धारणाओं को स्वीकार किया, वहां उसने लेनिन द्वारा स्थापित 'मजदूर-वर्ग की तानाशाही' की निन्दा की। उसका विचार था कि लेनिन द्वारा लोकतन्त्र को केवल सरकार का एक रूप समझना गलत था। मार्क्स ने लोकतन्त्र के सामाजिक पक्ष पर अधिक बल दिया था जिसकी लेनिन ने अवज्ञा की। इसी तरह जब तक मज़दूर-वर्ग जनसंख्या के बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं करता, कोई भी समाजवादी क्रांति सम्भव नहीं हो सकती और यदि वह बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है तो तानाशाही की आवश्यकता नहीं है। कॉटस्की ने समाजवाद के बजाय लोकतन्त्र को अधिक महत्त्व दिया और मार्क्सवादी समाजवाद और उदारवादी लोकतन्त्र का समन्वय करके प्रजातान्त्रिक तरीकों से समाजवाद की स्थापना की नींव रखी।

एक अन्य मार्क्सवादी क्रान्तिकारी लेखिका रोज़ा लग्ज़मबर्ग ने भी लेनिन द्वारा स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन का दमन करने तथा मजदूर-वर्ग की तानाशाही के बजाय 'मजदूर-वर्ग के ऊपर तानाशाही' जमाने वाली लोकतन्त्र विरोधी नीतियों की आलोचना की। उसने लेनिन के इस विचार को तो माना कि दल को सत्ता प्राप्त करने के संघर्ष अवश्य करना चाहिए। उसने प्रजातान्त्रिक समाजवादियों के इस तर्क को भी अस्वीकार कर दिया कि दल पहले बहुमत प्राप्त करे और बाद में सत्ता प्राप्त करने का सपना देखे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि दल बहुमत के अभाव में भी सत्ता हथियाए, स्वयं को आतंक के बल पर शासन में रखे और समाज में स्वतन्त्रता और प्रतिनिधित्व के सभी मानदण्ड रद्द कर दे। प्रजातान्त्रिक संस्थाएँ सम्पूर्ण नहीं होती परन्तु उन्हें समाप्त कर देना गलत है क्योंकि इससे जनसाधारण का राजनीतिक जीवन पंगु हो जायेगा। रोज़ा ने समाज में असीमित लोकतन्त्र, स्वतन्त्र जनमत, चुनाव तथा प्रेस की स्वतन्त्रता, समुदाय बनाने और सभाएँ करने के अधिकारों का समर्थन किया क्योंकि इनके बिना सर्वहारा वर्ग की तानाशाही एक गुट की तानाशाही में बदल जायेगी। तानाशाही का अर्थ लोकतन्त्र को समाप्त करना नहीं है बल्कि उसे सही तरीके से लागू करना है। और यह तानाशाही एक वर्ग की होनी चाहिए, इसके अल्पमत नेतृत्व की नहीं। रोज़ा का विचार था कि जनसाधारण को राजनीतिक जीवन और नयी समाजवादी व्यवस्था के निर्माण में हिस्सा लेना चाहिए। उसके लिए समाजवाद और स्वतन्त्रता दोनों अटूट थे।

प्रथम विश्वयुद्ध और 'सेकण्ड इन्टरनेशनल' के पतन के बाद मार्क्सवाद की सभी धारणायें जैसे मजदूर-वर्ग की तानाशाही, मज़दूर-वर्गीय लोकतन्त्र, वर्ग-संघर्ष आदि चर्चा का विषय बन गई। परिणामस्वरूप मार्क्सवाद और मार्क्सवादी लोकतन्त्र की कई धारणायें सामने आईं। इसे अतिरिक्त यूरोप में कल्याणकारी राज्य के उदय ने पूंजीवाद के ढांचों में काफी परिवर्तन कर दिया। उदारवादी देशों में मजदूर-वर्ग क्रान्ति का दूत बनने के बजाय पूंजीवादी व्यवस्था का अभिन्न अंग बन गया। यूरोप के कई साम्यवादी दलों ने क्रान्ति के उद्देश्यों और समाजवादी लोकतन्त्र को चुपचाप तिलांजलि दे दी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप के कई देशों में साम्यवादी दलों ने विरोधी पूंजीवादी राजनीतिक दलों के साथ संविद सरकारें बनायीं। जहां ये साम्यवादी दल सैद्धान्तिक स्तर पर समाजवादी लोकतन्त्र तथा मार्क्सवादी विचारों के साथ जुड़े रहे, वहां व्यवहारिक स्तर पर इन्होंने उदारवादी संविधानवाद, संसदीय प्रजातन्त्र, चुनाव प्रक्रिया तथा प्रतिनिधि संस्थाओं को स्वीकार कर लिया। जैसा कि इटली के साम्यवादी दल के नेता पालमिरो टोगलाईटी ने स्पष्ट किया, 'हम इस विचार से आरम्भ करते हैं कि समाजवाद एक ऐसा राज्य है जिसमें मज़दूरों को व्यापक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और वे सामूहिक एवं सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को दिशा देने की प्रक्रिया में भाग लेते है।' टोगलाईटी के विचार आगे चलकर ऐतिहासिक समझौता (Historical Compromise) का आधार बने जिसके द्वारा फ्रांस, इटली और स्पेन के साम्यवादी दलों ने हिंसात्मक क्रान्ति के सिद्धान्त को त्यागकर संवैधानिक तरीकों साम्यवाद लाने के लिए यूरो-साम्यवाद (Euro-communism) की धारणा की नींव रखी। इन दलों ने रूस

नोट

में विकसित सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही की आलोचना की और यह विश्वास प्रकट किया कि समाजवादी परिवर्तन शान्तिपूर्ण एवं प्रजातान्त्रिक साधनों के माध्यम से भी सम्भव है।

संक्षेप में, पश्चिमी देशों में लोकतन्त्र की मार्क्सवादी धारणा का विकास लेनिन की मज़दूर-वर्ग की तानाशाही के विपरीत हुआ। इसका मानना था कि यूरोप के विकसित पूंजीवादी राज्यों में समाजवादी परिवर्तन बुर्जुआ प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। समाजवाद शान्तिपूर्ण तरीकों से लाया जा सकता है। इसमें संसदीय लोकतन्त्र, बहुदलीय प्रणाली, नागरिक स्वतन्त्रताएँ, विचार अभिव्यक्ति और ट्रेड-यूनियनों की क्रियाएँ शामिल हैं। लोकतान्त्रिक विशेषताएँ केवल बुर्जुआ शासनों का एकाधिकार नहीं है बल्कि ये पश्चिमी सभ्यता की बौद्धिकवादी परंपरा का अभिन्न अंग है। आज के बदले हुए सन्दर्भ में विकसित पूंजीवादी समाजों में मज़दूर-वर्ग की तानाशाही जैसे हिंसात्मक तरीकों द्वारा सत्ता हथियाने का तरीका सम्भव नहीं है।

साम्यवादी राज्य कहां तक प्रजातान्त्रिक थे?
(To What Extent were the Communist States Democratic)?

दुर्भाग्यवश मज़दूर-वर्ग की तानाशाही का ऐतिहासिक अनुभव मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित किये गये सिद्धान्त के अनुरूप नहीं था। मार्क्सवाद का उद्देश्य एक ऐसे मज़दूर-वर्गीय राज्य और समाज की स्थापना था जिसमें लोग पूंजीवादी बन्धनों से मुक्त होकर उत्पादन प्रक्रिया को सार्वजनिक हित के लिए प्रबन्धित करेंगे। रूस में समाजवादी क्रान्ति इस उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकी क्योंकि यह लेनिन द्वारा लोकतन्त्र की व्याख्या के अनुसार मज़दूर-वर्गीय थी। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया, लेनिन के नेतृत्व में मज़दूर-वर्ग की धारणा को एक अल्पसंख्यक शासन में परिवर्तित कर दिया गया। स्टालिन के शासन में मज़दूर वर्ग की तानाशाही ने आतंक का रूप ले लिया। 1936 के संविधान में साम्यवादी दल को राज्य का एकमात्र दल घोषित कर दिया गया। साम्यवादी दल अपनी सीमित सदस्यता के कारण कभी भी एक जन दल (Mass Party) नहीं बन सका। संक्षेप में, प्रयत्न दल के मज़दूर-वर्गीय और प्रजातान्त्रिक तत्व को कम करके इसकी केन्द्रीकृत नौकरशाही को बढ़ावा देना था।

1956 में ख्रुश्चेव द्वारा स्टालिन की निन्दा ने साम्यवादी आन्दोलन को काफी प्रभावित किया। ख्रुश्चेव ने व्यक्ति पूजा (Personality Cult) की आलोचना की और समाजवादी लोकतन्त्र के लेनिन के सिद्धान्तों को अपनाने की अपील की। साम्यवादी दल को मज़दूर-वर्ग का नेता न होकर 'सारे लोगों का दल' (Party of the Whole People) में बदल दिया गया। तथापि 1977 के संविधान ने दल की शक्ति को पुनः मान्यता प्रदान की और तद्नुसार दल के सचिव और देश के राष्ट्रपति के पदों को मिला दिया गया। इसी प्रकार मज़दूर वर्ग की तानाशाही की धारणा को समाप्त करके 'सभी लोगों का राज्य' (State of the Whole People) की धारणा प्रस्तुत की गई। इसके बावजूद रूस में नागरिक स्वतन्त्रताओं की कमी और समाजवाद को ऊपर से आरोपित करने के प्रयत्नों की कई मार्क्सवादी लेखकों और रूसी भिन्नमतावलम्बियों ने आलोचना की जिसमें स्टोजेनोविक, मेडवेडेव, सखारोव, सोल्ज़ेनित्सीन आदि प्रमुख है। उदाहरण के लिए, स्टोजेनोविक ने रूस की समाजवादी व्यवस्था के गैर-प्रजातान्त्रिक तत्वों की आलोचना की जिसमें 'मजदूर वर्ग की सरकार' की धारणा अनुपस्थित थी। उसका मानना था कि रूस में राज्य की बढ़ती हुई शक्ति ने एक नये वर्ग-नौकरशाही वर्ग-और एक नौकरशाही-समाजवादी समाज को जन्म दिया। इसी तरह मेडवेडेव ने भी शक्ति के विकेन्द्रीकरण, सामाजिक जीवन के लोकतन्त्रीकरण, दल को प्रजातान्त्रिक आधारों पर चलाने, अल्पसंख्यक जातियों के हितों की सुरक्षा तथा प्रेस की स्वतंत्रता की मांग की।

अतः साम्यवादी राज्य लोकतान्त्रिक थे या नहीं-यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम लोकतन्त्र का क्या अर्थ लेते हैं। मैकफरसन के अनुसार, यदि हम लोकतन्त्र का अर्थ सरकार को चुनने और उसे शासन करने की सहमति देने से लेते है तो साम्यवादी राज्य अग्रणी राज्य (Vanguard State) होने के कारण 'लोगों के लिए' थे परन्तु 'लोगों द्वारा' नहीं थे। एक अग्रणी राज्य प्रजातान्त्रिक हो सकता है यदि उसके दल में आन्तरिक लोकतन्त्र हो और पार्टी की सदस्यता जनसाधारण के लिए खुली हो। इस दृष्टिकोण से भी साम्यवादी राज्यों को प्रजातान्त्रिक नहीं कहा जा सकता। परन्तु लोकतन्त्र का एक और व्यापक अर्थ भी है जिसका सम्बन्ध मानव समानता के आदर्श से है-एक ऐसा आदर्श

नोट

जो केवल एक वर्गविहीन समाज में ही प्राप्त हो सकता है। इस अर्थ के अनुसार साम्यवादी राज्य लोकतान्त्रिक थे। कुल मिलाकर, जहां मार्क्स की बुर्जुआ लोकतन्त्र की नकारात्मक आलोचना की धारणा को तो इन राज्यों में बरकरार रखा गया, वहां मार्क्स के लोकतन्त्र पर सकारात्मक विचारों को पूरा करने की कोशिश नहीं की गई।

निष्कर्ष (Conclusion)

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्त ने लोकतन्त्र की धारणा को व्यापक बनाया और लोकतन्त्र का सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों तक विस्तार किया। अत: इसकी लोकतन्त्र की सम्पूर्ण धारणा उदारवाद से अधिक परिपूर्ण और परिपक्व थी। परन्तु जहां इसकी बुर्जुआ लोकतन्त्र की आलोचना काफी सशक्त थी, वहां सकारात्मक दृष्टिकोण से अपनी उपलब्धि काफी नगण्य रही। इसकी असफलता ने केवल मार्क्सवादी समर्थकों को ही नहीं बल्कि उन सबको चुनौती दी है जो प्रजातान्त्रिक मूल्यों के प्रति कटिबद्ध हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

निम्नलिखित कथनों में सत्य/असत्य बताइए (State whether the following Statements are True/ False)–

7. लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की राजनीति में भागीदारी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।
8. सहभागी लोकतन्त्र इस परिकल्पना पर आधारित है कि लो राज्य के कार्यों पर अपना नियन्त्रण बढ़ाना चाहते हैं।
9. बुर्जुआ लोकतन्त्र के रूप में लोकतन्त्र शून्यमात्र है।

14.3 सारांश (Summary)

- सार्वजनिक हित सामूहिक रूप से जनता के हित को कह सकते हैं। इसकी अवधारणा लोकनीति, प्रजातन्त्र, सरकार के स्वरूप, राजनीति, नीतिगत बहस, जनकल्याण, सरकारी नियोजन, न्याय के लिये आवश्यक है।
- लिंकन: लोकतन्त्र लोगों का, लोगों के लिये और लोगों द्वारा शासन है।
- आधुनिक लोकतन्त्र 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' है। यद्यपि ग्रीक राज्यों में लोकतन्त्र का उदय और विकास राज्य के कार्यों में नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी के साथ जोड़ा जाता है तथापि आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के उदय ने प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को असंगत बना दिया।
- लोकतन्त्र का विशिष्ट-वर्गीय सिद्धान्त सरकार के कार्यों में जनता की भागीदारी को सन्देह की नज़र से देखता है और इसे सीमित करना चाहता है।
- लोकतन्त्र के विशिष्ट सिद्धान्त के दो पहलू हैं–प्रजातान्त्रिक पक्ष और विशिष्ट-वर्गीय पक्ष। जहां विशिष्ट वर्गीय पक्ष विशेषज्ञता और नेतृत्व पर बल देता हैं वहां प्रजातान्त्रिक पक्ष विशिष्ट वर्गों की बहुलता तथा उनके सार्वजनिक होने में है।
- विशिष्ट-वर्गीय का सिद्धान्त लोकतन्त्र को मुख्यत: एक कार्यप्रणाली के रूप देखता है: फैसले लेने का तरीका तथा सरकार को चुनने और शासन करने का अधिकार देने वाली प्रणाली।
- लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति की राजनीति में भागीदारी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि सामाजिक हितसमूह व्यक्ति की भागीदारी की सारी कमियों को पूरा कर देते हैं और लोकतन्त्र को भी कायम रखने में सफल हो जाते हैं।
- सहभागी लोकतन्त्र का विकास लोकतन्त्र के विशिष्ट-वर्गीय और बहुलवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ।

नोट

- लेनिन और स्टालिन द्वारा विकसित मजदूर-वर्ग की तानाशाही के रूप में लोकतन्त्र की धारणा तथा रूस और अन्य पूर्वी-यूरोपीय देशों में जन-प्रजातन्त्रों की स्थापना ने मार्क्स की मौलिक धारणा में काफी परिवर्तन कर दिया।
- संक्षेप में, पश्चिमी देशों में लोकतन्त्र की मार्क्सवादी धारणा का विकास लेनिन की मज़दूर-वर्ग की तानाशाही के विपरीत हुआ। इसका मानना था कि यूरोप के विकसित पूंजीवादी राज्यों में समाजवादी परिवर्तन बुर्जुआ प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

14.4 शब्दकोश (Keywords)

1. **समूह (Group):** बहुत-सी चीजों का समूह, राशि, झुंड।
2. **प्रतिनिधि (Representative):** प्रतिमा, प्रतिमूर्ति, किसी की ओर से कोई काम करने के लिए नियुक्त व्यक्ति।

14.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सार्वजनिक हित से आप क्या समझते हैं?
2. लोकतन्त्र के बहुलवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
3. लोकतन्त्र के मार्क्सवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
4. विशिष्ट-वर्गीय लोकतन्त्र की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. सहभागी लोकतन्त्र की समस्याओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. सामूहिक	2. व्यक्तियों	3. हित
4. (अ)	5. (ब)	6. (ब)
7. सत्य	8. सत्य	9. सत्य

14.6 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. पॉलिटिकल थ्योरी: आइडियल एंड कान्सेप्ट्स–एस. रामास्वामी।
2. द पॉलिटिकल थ्योरी: ऑनलाइन लिम्प–आर.के. परूथी।

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in